Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०९(क)

पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन

[पाणिनीय व्याकरण के शास्त्रीय पक्षों, विशिष्ट तथ्यों एवं भाषा-सम्बन्धी निर्देशों का स्फुट विवेचन]

प्रणेता

डा० रामशंकर भट्टाचार्य

व्याकरणाचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

[अनुसन्धान–संस्थान,

वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय]

प्रकाशक

इण्डोलाजिकल बुक हाउस

सी. के. ३१/१०, नैपाली खपड़ा

वाराणसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

209 (अ)
महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी...............
पु०सं०...............
1582

पाणिनि-प्रशस्तिः

मैत्र्या प्रशान्तो दयया शरण्यो
वदान्यमूर्तिर्मुदितावलेन ।
शब्दार्थसंबन्धरहस्यविज्ञो
जयत्यसौ पाणिनिनामधेयः ॥ १ ॥

यस्तप्तवान् घोरतपो महात्मा
गोपर्वते शैववराभिलाषी ।
येनार्षदृष्ट्या विहितं च शास्त्रं
दाक्षीसुतं तं शरणं व्रजामि ॥ २ ॥

येनाष्टकं वै ग्रथितं सुबुद्ध्या
अध्यायपादैः सुविभक्तरूपम् ।
गूढार्थकैः सूत्रचतुःसहस्रैः
शालातुरीयं तमहं नमामि ॥ ३ ॥

आश्रित्य तन्त्राणि महान्ति प्राचां
विहाय तन्त्रान्तरसंस्थदोषान् ।
अकालकं शास्त्रमतीव रम्यं
येनर्षिणोक्तं तमिह प्रपद्ये ॥ ४ ॥

शब्दार्थनिश्चायकमार्गभूतं
अनेकवृत्त्यादियुतं महद् यत् ।
सप्रातिशाख्यं सखिलं सशिक्षं
धिया विनेया नितरां पठन्तु ॥ ५ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पण

भारत के उन युवक शब्दविदों को यह ग्रन्थ समर्पित है, जो शब्दशास्त्र का यथाविधि अध्ययन कर ही उस पर अनुसन्धान करेंगे और अपने वाग्योगवेत्तृत्व का परिचय देंगे

तथा

इन्द्र, शाकटायन, यास्क, आपिशलि, पाणिनि, पतञ्जलि आदि आचार्यों द्वारा चिन्तित मार्ग को अक्षुण्ण रखेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
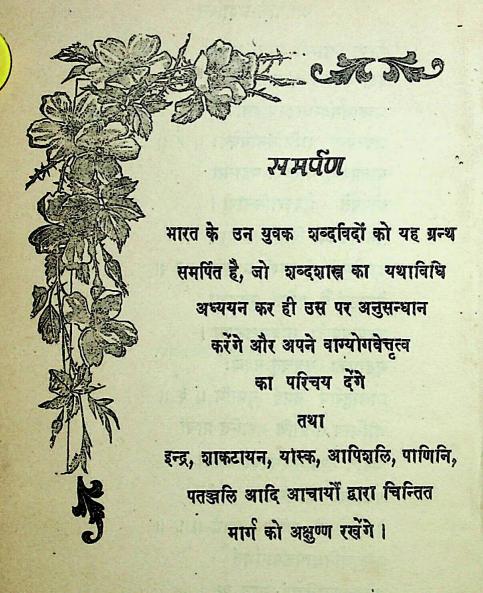
लेखक का निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाणिनीय व्याकरण के शास्त्रीय पक्ष से सम्बद्ध गवेषणा-प्रधान लेखों का संग्रह है। इन लेखों में पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर पाणिनीय-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक विशिष्ट विषय सप्रमाण विचारित हुए हैं। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'व्याकरणशास्त्र के विषयों का शास्त्रीय पद्धति के अनुसार विचार करने का अकपट प्रयास' इस ग्रन्थ में किया गया है। हिन्दी में शास्त्रीय विषयों को शास्त्रीय पद्धति से कितनी सफलता से प्रदर्शित किया जा सकता है—यह इस ग्रन्थ से सहज रूप से जाना जा सकता है। हमारा पूर्ण विश्वास है कि सभी शास्त्र (शास्त्रीय पद्धति को क्षुण्ण न कर) संस्कृत-प्रधान हिन्दी में यथार्थतः व्याख्यात और विवृत हो सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नोक्त दृष्टियाँ पाठकों को मिलेंगी :—

(क) पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन : हमने यह दिखाया है अनेक स्थलों में व्याकरणशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकार भ्रान्त हुए हैं। अष्टधा व्याकरण का तात्पर्य, सूत्र का छन्दोरूपत्व आदि लेख इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य हैं। हमारी मान्यता है कि जैसे-जैसे प्राचीनतर ग्रन्थ मिलते जाएंगे, वैसे-वैसे अनेक भ्रान्त मतों का परिज्ञान होता जाएगा।

(ख) आधुनिक गवेषकों के मतों का खण्डन : कई लेखों में यह दिखाया गया है कि व्याकरणशास्त्र के आधुनिक गवेषक शास्त्रीय पद्धति को न जानने के कारण या अन्य कारणों से कहीं-कहीं भ्रान्त मत का प्रचार करते हैं। यवनानी, पदकार, शिशुक्रन्दीय आदि शब्दों के विचारप्रसङ्ग में यह भ्रान्ति भलीभाँति दिखाई गई है। आधुनिक गवेषकों से हमारा अनुरोध है कि वे शास्त्रीय पद्धति को जानने के बाद ही शास्त्रीय निर्देशों के गूढ़ तात्पर्य का अन्वेषण करें। शास्त्रकार जिस पद्धति से शास्त्र रचते हैं, उस पद्धति को न जानकर शास्त्रीय विवरणों से कुछ निष्कर्ष निकाल लेना अशोभनीय कार्य ही है।

(ग) अष्टाध्यायी के गूढ़ रहस्यों का प्रदर्शन : सम्भवतः प्रस्तुत ग्रन्थकार ने ही यह चेष्टा सर्वप्रथम की है कि अष्टाध्यायी के प्रकरणक्रमों का स्थापन साभिप्राय एवं तर्कसङ्गत है। निपातनसूत्र एवं संज्ञापदघटित सूत्रों पर इतना विशद विचार शायद ही अन्यत्र किया गया है। कवर्ग का उच्चारणस्थान सम्बन्धी लेख यह सिद्ध करता है कि प्राचीन निर्देशों का तात्पर्य कभी-कभी कितना गूढ़ होता है और यदि शास्त्रीय प्रक्रिया को न जाना जाय तो भ्रान्ति होने की सम्भावना रहती ही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) व्याकरणवाङ्मयपरक सामग्री : कुछ लेखों में व्याकरण-साहित्य-संबंधी चर्चा की गई है। अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियां, भ्राज श्लोक और वाक्यपदीय श्लोक-परक लेख इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य हैं। पाणिनीय सामग्री में सम्मिलित पूर्व व्याकरणों के अंश कैसे जाने जा सकते हैं—यह यहाँ सविस्तार विवेचित हुआ है। पाणिनीय सूत्र-रचनारीति पर विचार करने से पूर्व सभी को इस निबंध में प्रतिपादित तथ्यों पर दृष्टि डालनी चाहिए, अन्यथा उनका निष्कर्ष असङ्गत हो सकता है।

(ङ) अस्पष्ट और सूक्ष्म स्थलों का स्पष्टीकरण : हिन्दीभाषा के वैयाकरण एवं भाषावैज्ञानिकों के लिये हमने पाणिनिव्याकरण की कुछ अन्तरङ्ग दृष्टियों पर विशद विचार भी किया है। कारकसंबंधी लेख इसका प्रमुख उदाहरण है। क्षेप-कुत्सादिपरक तथा पूजाप्रशंसापरक शब्दशास्त्रीय निर्देशों को लेकर जो विचार यहाँ किया गया है, उसका उद्देश्य यही है कि हिन्दी के व्याकरणों में इन दृष्टिकोणों का सार्थक उपयोग हो। ऋग्वेदीय कठशाखा लेख में 'पूर्वाचार्य निर्देशों की यथार्थता' का दृढ़ ज्ञान पाठकों को होगा। परम्परागत अध्ययन होनेके कारण अधिकांश पूर्वाचार्यनिर्देश समूल हैं—यह सबको स्वीकार करना ही चाहिए, जैसा कि कई लेखों में दिखाया गया है।

(च) शब्दसाधुत्वविचार : कुछ लेखों में शब्दों की साधुता-असाधुता-सम्बन्धी विचार किया गया है। छात्री, ज्योतिष, राष्ट्रीय आदि शब्दों पर यहाँ जो शास्त्रानुग विचार किया गया है, वह संस्कृत के वैयाकरणों के लिये विशेषतः उपयोगी है। संस्कृत के आधुनिक वैयाकरण कभी-कभी कितने भ्रान्त हो जाते हैं—इसका निदर्शन भी ऐसे लेखों में मिलेगा।

(छ) अष्टाध्यायी का रचनाकौशल : प्रस्तुत ग्रन्थ में इसपर जो विचार किया गया है, वह आवश्यक और उपादेय है, पर पूर्णाङ्ग नहीं है। पाणिनिसंमत शब्दार्थ-ज्ञापक कौशल, सूत्रगत बहुवचन आदि लेखों में (तथा अन्य लेखों में भी यथास्थान) सूत्रकार की सूक्ष्म रचनारीति का स्पष्टीकरण किया गया है। अष्टाध्यायी की रचना के मूल में सूत्रकार की जो अमित प्रज्ञा थी, उसका आभास इस ग्रंथ में अनेकत्र पाठकों को मिलेगा।

(ज) सूत्रोपात्त शब्दों और उदाहरणों के अर्थ : यह हर्ष का विषय है कि अनेक विद्वानों ने पाणिनिस्मृत इतिहास-संस्कृति-सम्बद्ध शब्दों के अर्थों पर विचार किया है। सूत्रोपात्त जिन शब्दों (यथा ज्ञानसम्बद्ध शब्द, क्रिया-कर्तृत्व-सम्बद्ध शब्द) पर विद्वानों का विशेष ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है उन पर विशद विचार किया गया है। व्याख्यानग्रन्थगत प्रसिद्ध उदाहरणों के अर्थ भी विचारित हुए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान पु०सं०...1542...

(झ) संस्कृत भाषा और व्याकरण का स्वरूप : यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में इन दो विषयों पर विचार करना प्रसक्त नहीं था, तथापि पाणिनीय वैयाकरणों का उपर्युक्त विषयों में जो दृष्टिकोण है, वह यहाँ एकाधिक लेखों में विवृत हुआ है। लोकप्रामाण्यवाद, व्याकरण की मर्यादा, अभिधान-अनभिधान, प्रकृतिप्रत्यय का विश्लेषण आदि पर जो पुष्कल सामग्री इस ग्रन्थ में समाहृत हुई है, उस पर आधुनिक भाषाशास्त्री को ध्यान देना चाहिए और यह देखना चाहिए कि प्राचीन वैयाकरणों की मान्यताएँ कहाँ तक न्याय्य हैं।

(ञ) सूत्र-भाष्यादि के पाठ : अष्टाध्यायी के पाठान्तरों का संकलन एवं पाठान्तर विचार—ये दो विशिष्ट लेख इस ग्रन्थ में हैं। पाठान्तरों का संग्रह इससे पहले किसी ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं हुआ है। पाठान्तर-सम्बन्धी विचार कीलहर्न आदि कई विद्वानों ने किया है। इस ग्रन्थ में जो सरणि दिखाई गई है, वह व्यापकतर है—ऐसी मेरी धारणा है। भाष्यादि के पाठों की कुछ अशुद्धियों पर स्पष्ट विवेचन किया गया है। ऐसे अनेक स्थल हैं जिन पर व्याकरणाध्येताओं को विचार करना चाहिए।

इस अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ के प्रकाशन के समय मैं सर्वाधिक कृतज्ञता के साथ जिनका नाम स्मरण कर सकता हूँ वे शब्द-विद्या में कृतपरिश्रम डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल महोदय हैं, जिनकी प्रेरणा, अनुकम्पा और परामर्श के कारण मैं ग्रन्थलेखन में समर्थ हुआ हूँ। 'अनुसन्धान' शब्द से जो भी कुछ मैं समझता हूँ, वह अग्रवाल महोदय की देन है। तथैव मैं नतशीर्ष होकर स्वीकार करूँगा कि जो भी मुझमें व्याकरणशास्त्रसंबद्ध शास्त्रीय ज्ञान है, वह पूर्णरूप से मुझे विद्यार्हन्तीचरण वेदान्तचुञ्चु रघुनाथ शर्मा महोदय से ही मिला है। शास्त्रीय दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ में क्वचित् स्खलन दृष्ट हो तो वह मेरी बुद्धि का ही दोष है, गुरुवर का नहीं—यह निवेदनीय है।

यह मेरा सौभाग्य है कि आरम्भ से ही प्रख्यात विद्वानों का ध्यान मेरे शब्दशास्त्रीय लेखों पर आकृष्ट हुआ था। म० म० गोपीनाथ कविराज, श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर, डा०मङ्गलदेव शास्त्री, पं० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी, श्री युधिष्ठिर मीमांसक, श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, डा० आर्येन्द्र शर्मा, श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री गुरुपद हालदार, डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि अनेक सुगृहीतनामधेय विद्वानों द्वारा मैं इस मार्ग में कार्य करने के लिये अनुप्रेरित और उपदिष्ट हुआ हूँ। इन विद्वानों से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मुझे जो उत्साह मिला है, तदर्थ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में मेरे दो मित्रों का सहयोग स्मरणीय है। श्री गोपाल शर्मा के दीर्घकालीन प्रेमपूर्वक सहयोग से ही पूर्वप्रकाशित लेखों का संग्रथन, सज्जीकरण आदि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन करना इतना शीघ्र संभव हो सका। अनुक्रमणिकादि कार्य में श्री रमापद चक्रवर्ती ने निष्ठापूर्वक जो श्रम किया है, वह प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री रामेश्वर सिंहजी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने नीरस शब्दविद्या से सम्बद्ध एक ग्रन्थ का प्रकाशन केवल प्राचीन भारतीय विद्या के प्रचार की दृष्टि से किया।

अनिवार्य कारणों से ग्रन्थ में कुछ मुद्रणप्रमाद हो गए हैं, शुद्धिपत्र के अनुसार जिनका संशोधन कर लेना आवश्यक है।

इस ग्रन्थ में जो विचार प्रदर्शित हुए हैं, उनपर यदि कोई संशय उत्थापन करें या मतविशेष का कोई खण्डन करें तो मैं सहर्ष उत्तर देने के लिये प्रस्तुत हूँ। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' न्याय को मानकर ही कोई विचारक अपने विचार को प्रकटित कर सकता है। ग्रन्थ में कुछ ऐसे मत अवश्य ही प्रतिपादित हुए हैं, जो न प्राचीनपन्थी को रुचिकर लगेगा और न नवीनपन्थी को ही सङ्गत प्रतीत होगा। मैंने अपनी ओर से विचार का मार्ग खुला ही रखा है।

व्याकरणसम्बन्धी कुछ गूढ़ तथ्य इस ग्रन्थ में विवृत नहीं हुए। 'संस्कृतभाषा का अनुशीलन' नामक आगामी ग्रन्थ में उन पर विवेचन किया जाएगा। इति—

रामनवमी
३० मार्च, १९६६
१३।१०३ सोनारपुरा,
वाराणसी

निवेदक
रामशंकर भट्टाचार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

परिच्छेद	निबन्धनाम	पृष्ठ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—:o:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	२२	को	के
५	२५	ष	षष्ठ
१४	३२	सत्र	सूत्र
२०	२७	गौण भी संबन्ध	गौण संबन्ध भी
२१	२९	किया है	की है
३२	१३	कृन्	कृत्
४४	२७	इस	इन
५०	२९	पाष्ठिक	षाष्ठिक
५१	२४	उसके	इसके
५५,५७,५९		(लेख नाम का निर्देश 'अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियां' होगा)	
६१	४	उस	उन
६३		(लेख नाम का निर्देश 'पाणिनि के ग्रन्थों से............' होगा)	
६३	११	सङ्खाय	सङ्ख्या
६५	२८	१।४।०५	१।४।१०५
६९	२९	प्रसद्ध्येह	प्रसिद्ध्येह
७१	२	कर	को
७८	२१	व्यपहार	व्यवहार
८७	४	काशिका	काशिका का ऐसा कहना अनावश्यक है, छन्दसि दृष्टानुविधिः न्याय से ही उक्त कार्य हो सकता है।
९२	१४	उसका	उसके
९३	३०	भृङ्गोति	भृङ्गेति
१०६	२०	सिद्धयर्थ	सिद्ध्यर्थ
११०	३१	मनीत्ये	मनित्ये
१११	९	ब्रह्मचारिणी	ब्रह्मचारिणि
१११	२८	संज्ञा	संज्ञायाम्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
११२	४	रुढ्यर्थे	रूढ्यर्थे
११७	२४	नागेश ने	नागेश
११८	२	वाला	वाले
११९	९	अवयवानुसारी	अवयवार्थानुसारी
१२५	२१	इग	इन
१२६	२०	हार्षो	हार्थो
१३४	२५	स्वाङ्गाभ्यु	स्वाङ्गाभ्युच्चयं
१३७	३०	पण	पर्णं
१३८	२४	के	को
१४०	११	विपय	विषय
१४१	२९	दैविध्य	द्वैविध्य
१४२	३	हव	वह
१४२	९	पकाचयति	पाचयति
१४२	१८	यौगिशब्द	यौगिकशब्द
१४२	३०	कियया	क्रियया
१४२	३०	हरिनामामृत क्रियाकार	हरिनामामृतकार क्रिया
१४३	५	स्यय:	स्तय:
१५१	२६	का ही	की ही
१५८	२१	अंगुल्य	अङ्गुल्य
१६४	६	प्रतीतस्तु	प्रतीतिस्तु
१७०	२९	वैद्य को	वैद्य की
१७४	२३	खसुचि	खसूचि
१९०	१२	(& चिह्न नहीं रहेगा तथा As से नया वाक्य शुरू होगा)।	
१०९	१३	522	422
१९४	२०	Period compared	period. Compared
१९५	१६	विवक्षा ही	विवक्षा में ही
२०६	२८	षास्त्र	शास्त्र
२१३	४	वस्तुपगमेत्	वस्तूपगमे
२१३	१८	यगा	गया
२१५	२३	उसको	उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२१५	२४	और वलिष्ठ	अधिक बलिष्ठ
२१६	२६	तत्वतः	तत्त्वतः
२१७	१५	भाषाशिक्षार्थी	वे भाषाशिक्षार्थी
२१८	१०	का व्यापार	के व्यापार
२१९	१८	पाणिनि को	पाणिनि के
२१९	२३	शब्दों को	शब्दों के
२२१	१५	कैयट से	कैयट ने
२२४	९	दोनों संबन्ध	दोनों का संबन्ध
२२४	१०	नित्य	नित्यत्व
२२७	३०	मनुकृर्त्यम्	मनुवर्त्यम्
२३२	१०	समनुपाती	समानुपाती
२३४	२२	नीयां पृथग् गणनायानां	नीयानां पृथग् गणनायां
२३५	१	प्रसंग होता	प्रयोग होता
२३५	१६	और इसका	और इसके
२३७	४	(भाषा वैज्ञानिक शब्द को आधुनिक शब्द के बाद पढ़ें)	
२३८	१२	म्रष्ट	भ्रष्ट
२४०	१७	कठ्यौ	कण्ठ्यौ
२४७	२३	व्यापितत्वात्	व्यापित्वात्
२४९	२६	वैज्ञानिक	वैज्ञानिक
२५२	१३	मनोवज्ञानिक	मनोवैज्ञानिक
२५३	१८	उनके	उसके
२५४		नहीं सकता	नहीं हो सकता
२५६	१५	असमजता	असमञ्जसता
२६२	१७	होता	होती
२६४	टि० १	महाभाष्य	सिद्धान्तकौमुदी
२६९	९	संस्क	संस्कृत
२६९	२३	राष्ट्रक	राष्ट्रिक
२६९	२७	तद्धितीय	तद्धित
२८३	११	लोकापे या	लोकापेक्षया
२८३	२७	कियते	क्रियते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२८८	१०	हुए हैं	हुआ है
२८८	२६	न्युच्यते	न्युच्यन्ते
२८९	३०	ब्याकरम्	व्याकरणम्
२९१	११	निष्पल	निष्पन्न
२९१	२९	प्रज्ञा	प्रज्ञावृक्षं
२९३	२४	हो	है
२९५	१०	प्रयग	प्रयोग
२९५	१८	दिष्ट	दिष्ट का
२९९	२२	सामान्त	सामान्य
२९९	२७	कर्तुत्व	कर्तृत्व
३०१	१३	ग्रहृण	ग्रहण
३०३	२९	सानत्य	सातत्य
३०४	५	यणाधिकाया:	यणादिकार्याः
३०४	१३	क्रियान्तर० गृय	क्रियान्तरव्य
३०४	११	भुशता	भृशता
३०४	२७	संभवति मुख्यस्य	संभवति...मुख्यस्य
३०४	२९	मानकप्रधान	मानप्रधान
३०५	२८	क्रियायों	क्रियाओं
३०५	२९	प्रधान्यात्	प्राधान्यात्
३०६	२२	आधीत	आधित
३०८	२६	नुसतत्वाद्	नुसृतत्वाद्
३०९	१५	का अधीन	के अधीन
३११	१६	प्रकृति विकृत	प्रकृति-विकृति
३१२	२६	आसादेष्ट	प्रासादेष्ट
३१३	६	अनाश्र	अन्याश्र
३१३	२६	यन्	यत्
३१४	२२	को	की
३१७	२९	रूविषयम्	रूढविषयम्
३१७	३०	ढबाल	बाल
३१९	३०	सिद्धो	सिद्धे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
३२०	३१	धवनी	धमनी
३३१	३	न—चापरं	—नचापरं
३४१	२४	हेलाराजेक्त	हेलाराजोक्त
३४३	१४	पणिनि	पाणिनि
३४७	३	१। ।२२	१।४।२२
३४७	१५	परि उन्होंने इति पद का त्याग	उन्होंने इति पद का परित्याग
३५२	२५	किल्वपो	विकल्पो
३५२	२६	वर्तेत	वर्तते
३५३	१९	उनके	उनको
३५७	१	प्रचलित	प्रचलित था
३५७	२	तदनुसारी का	तदनुसारी,
३६१	२	विडूर आ	विडूर आदि
३६२	१२	वृत्तकारेण	वृत्तिकारेण
३६३	३	आनुमानित	आनुमानिक
३६४	२३	नडशादा	नडशादाड्
३६७	८	पाठ के	पाठ का
३६७	११	अन्य	अन्यत्र
३७१	१६	रावय	रावाय
३७७	२३	काशिकानरूप	काशिकानुरूप
३७८	२३	अप्रशस्ता	अप्रशस्तता
३८०	१९	पिभ्या	पिभ्यां
३८०	२०	(" चिह्न नहीं होगा)	
३८१	३	व्रतीण	व्रतीण्

—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन

प्रथम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के प्रकरण-क्रमों की संगति

अष्टाध्यायी के प्रकरणों के क्रमिक स्थापन में कोई यौक्तिकता है या नहीं, यह यहाँ विवेचित हो रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर यह विज्ञात हो जाता है कि भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्रकरणों का क्रम पर्याप्त विचार पूर्वक ही रखा है। हम यह भी देखते हैं कि प्रकरणक्रम के विचार से व्याकरणगत अनेक गूढार्थों का ज्ञान हो जाता है। पूर्वाचार्यों को भी यह तथ्य ज्ञात था और कहीं कहीं उन्होंने भी प्रकरणबल पर विचार किया है।

अष्टाध्यायी और प्रकरण—विचार आरम्भ करने से पहले अष्टाध्यायी और प्रकरण-क्रम के स्वरूप के विषय में कुछ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य-पाणिनि-रचित यह अष्टाध्यायी आठ अध्यायों में विभक्त है, तथा प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में शब्दशास्त्र-सम्बन्धी विषय अनेक प्रकरणों में बाँटे गए हैं। प्रकरण='एकार्थविच्छिन्नः सूत्र-समुदायः', अतः प्रत्येक प्रकरण में एक ही विषय होना चाहिए, तथा एक विषय अनेक स्थलों पर भाषित नहीं होना चाहिए, ऐसा कहना असंगत नहीं है, पर वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि एक ही विषय अष्टाध्यायी में एकाधिक स्थलों पर उपन्यस्त है तथा असंबद्ध विषयों का क्रमिक स्थापन भी किया गया है।

पाणिनि जैसे क्रान्तदर्शी प्रमाणभूत आचार्य ने इस प्रकार असामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार असावधानी से किया है, ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती। स्वयं भाष्यकार ने पाणिनि की विमल प्रतिभा तथा अनवद्य यश की स्थान-स्थान पर प्रशंसा की है, तथा अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी नतमस्तक होकर पाणिनि के प्रामाण्य को माना है। जिस शास्त्र का एक वर्ण भी निष्प्रयोजन नहीं है, उस शास्त्र को प्रकरण-क्रमों में असामञ्जस्य तथा न्यायदोष है, ऐसा कहना अनुचित प्रतीत होता है। यदि अष्टाध्यायी में कहीं पर उपर्युक्त असमञ्जसता दिखाई पड़ती है, तो उसके लिये कोई गूढ कारण या रहस्य होगा, ऐसा प्रतीत होता है। स्वयं पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"यदि एकं वाक्यं तच्च इदं च, किमर्थं नानादेशस्थं क्रियते ? कौशलमेतदाचार्यो दर्शयति, यदेकं वाक्यं सन्नानादेशस्थं करोति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यदपि किञ्चित् संग्रहीष्यामीति" (४।१।१)। शंकाकारी द्वारा दिखाए गए प्रत्येक असामञ्जस्य के लिये कोई न कोई विशिष्ट कारण है, ऐसा हमारा विश्वास है और यही प्रतिपद इस निबन्ध में दिखाया गया है।

प्रकरण-संगति—शास्त्र-सम्बन्धी आलोच्य विषयों में 'प्रकरण-संगति' भी एक अवश्यविचार्य विषय है, जो पूर्वोत्तरमीमांसा में दिखाई पड़ती है। इन शास्त्रों के व्याख्याकार यत्नपूर्वक प्रकरण-संगति दिखाते हैं, तथा इस संगति के बल पर सूत्रार्थसम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णय भी करते हैं। (देखिए—वैयासिक न्यायमाला आदि प्रकरण-ग्रन्थ तथा वेदान्तदर्शन की टीकाएँ)। प्राचीन पद्धति के अनुसार रचित होने के कारण अष्टाध्यायी में भी यह रीति चरितार्थ होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रकरणबलसंबन्धी शब्दशास्त्रीय उदाहरण—पाणिनिशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारगण भी प्रकरण-बलसंबन्धी विचार कर अनेक स्थलों पर गूढ अर्थों का ज्ञापन कर चुके हैं, जो उपर्युक्त धारणा के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं तथा शंकाकारियों के मतों के खंडन में समर्थ भी है। यहाँ कुछ ऐसे स्थल उपस्थित किए जा रहे हैं, जो प्रकरण-महिमा के स्पष्ट ज्ञापक हैं :—

(क) ३।१।२७ सूत्र-वार्त्तिकादि में प्रकरण-बल से सौत्र शब्द की प्रकृति का निर्णय किया गया है

(ख) प्रकरण विशेष-अर्थ के निर्धारण में सहायक होता है; ऐसा भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है (वाक्यप० २।३१७-३१८)। टीकाकार ने लौकिक उदाहरण से इसको समझाया है।

(ग) प्रकरण-बल से बहुवचन नहीं होने पर भी बहुवचन का ज्ञान कराया गया है (प्रदीप ४।१।१)।

(घ) नागेश भट्ट ने कहा है—'प्रकरणस्य अभिधानियामकत्वसिद्धात्' (परिभाषेन्दुशेखर-परिभाषा ९)। यह वाक्य अर्थव्यापार में प्रकरण की शक्ति का ज्ञापक है।

(ङ) एक सूत्र को उसके नियत प्रकरण में न पढ़कर अन्यत्र पढ़ने से उस सूत्र से सिद्ध कार्य में अन्यथाभाव हो जाता है, इसका सोदाहरण विचार कैयट ने किया है (प्रदीप ३।१।१)।

(च) कभी-कभी कोई ज्ञापकसिद्ध नियम उस प्रकरणविशेष में ही प्रवर्त्तित होता है, सर्वत्र नहीं। इससे प्रकरण तथा प्रकरण की अवधि का ज्ञान शास्त्रीय कार्य के लिये एक अवश्य विज्ञेय तथ्य है—यह सिद्धान्त निर्गलित होता है (देखिए—उद्द्योत ४।१।१४ तथा प्रदीप ४।१।१ आदि)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त अल्प उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि सूत्रार्थविचार के लिये प्रकरण-संगति भी एक आश्रयणीय विषय है। प्रकरण बल का दूसरा उदाहरण है—यत्तु तत्र......एव प्रकरणत्वात्' वाक्य (उद्द्योत २।४।६२), अतः प्रकरण की संगति लौकिक बुद्धि से विचार्यमाण होने पर सूत्रार्थ यथार्थ रूप से हृदयङ्गम होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

अष्टाध्यायी की रचनापद्धति—जिस पद्धति से अष्टाध्यायी की रचना की गई है, उसको जानना आवश्यक है। आजकल जिस उद्देश्य से व्याकरण ग्रन्थों की रचना की जाती है, उस उद्देश्य से अष्टाध्यायी की रचना नहीं की गई है, क्योंकि पाणिनि के समय संस्कृतभाषा सिखाने मात्र के लिये व्याकरण की आवश्यकता नहीं थी। अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा के शब्दों का विश्लेषण कर उसका साधुत्व दिखाया गया है। व्याकरण (प्राचीन ऋषियों के मतानुसार) अन्वाख्यान करता है और अष्टाध्यायी से साधु शब्द का ज्ञान होता है, (द्र० 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' ६।३।१०९ का भाष्य), इसलिये अष्टाध्यायी में पदसिद्धि की अपेक्षा (जैसा कि अर्वाचीन व्याकरणों में है) शाब्दिक उपादानों के क्रमिक उल्लेख पर अधिक ध्यान दिया गया है। यदि पदसिद्धि करना ही पाणिनि का अभीष्ट होता, तो जिस रीति से आशु पद का निर्माण होता है, उस रीति का ही पाणिनि आश्रय लेते; ऐसा होने पर अष्टाध्यायी में 'समास' के बाद 'समासान्त', 'तद्धित' प्रकरण के साथ सम्बद्धपदों की षत्व-णत्वविधि...इस प्रकार के क्रम ही होते, क्योंकि इस प्रकार के प्रकरण-सन्निवेश से शीघ्र पद-निर्माण हो जाता है; अर्वाचीन व्याकरणों में यही पद्धति दिखाई पड़ती है। पाणिनि द्वारा प्रकरण-क्रम इस प्रकार सज्जित हैं कि पूर्ण अष्टाध्यायी के ज्ञान के बिना एक भी पद नहीं बनाया जा सकता, वाक्य बनाना तो दूर की बात है; अतः मानना पड़ता है कि पाणिनि ने अज्ञात भाषा की शिक्षा नहीं दी है (जो आजकल व्याकरण से दी जाती है) प्रत्युत सुज्ञात भाषा के शब्दों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, जिससे संस्कृत शब्दों का साधुत्व अवगत हो जाए।

उद्देश्य की भिन्नता से क्रिया में विभिन्नता होती है, अतः अर्वाचीन व्याकरण की रचना-पद्धति से अष्टाध्यायी की रचना-पद्धति पूर्णतः पृथक् है। इसमें प्रकरण-क्रम मूलतः ज्ञानक्रमानुसार (शास्त्र से सिद्ध ज्ञानक्रमानुसार, लौकिक ज्ञानक्रमानुसार नहीं) सज्जित है। दूसरे शब्दों में सिद्ध शब्दो का अन्वाख्यान करने के लिये लोपागमवर्णविकार तथा पदविभाग आदि सामग्री का जो ज्ञान क्रमशः उपस्थित होता है, उसके अनुसार ही मुख्यतया प्रकरण-क्रम संस्थापित हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टाध्यायी के तीन भाग—पाणिनीय दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी में तीन भाग हैं। पहले भाग (१-२ अध्याय) में पाणिनि ने वाक्यों से पदों का संकलन किया, उसके बाद दूसरे भाग (३-५ अध्याय) में उन पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विश्लिष्ट किया, तथा तीसरे भाग (६-७ अध्याय) में पुनः आगम-आदेशादि का विधान कर तथा विश्लिष्ट प्रकृति-प्रत्ययों को जोड़कर पदनिर्माण किया। त्रिपादी अंश (अष्टम अध्याय के २-४ पाद) ऐच्छिक हैं; अर्थात् विशिष्ट संकेत कर त्रैपादिक विषयों का सन्निवेश षष्ठ या सप्तम अध्याय में किया जा सकता था, पर आचार्य ने लाघव के लिये वैसा नहीं किया। अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में पद-कार्य है, इसी लिये अन्यत्र इसका पाठ नहीं किया गया है।

सूत्रक्रम की संगति:—प्रकरण-क्रम-विचार के साथ-साथ और भी एक विचार प्रसक्त होता है! वह है प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत सूत्रक्रम की संगति, अर्थात् एक विषय के अनेक सूत्रों को जिस नियम के अनुसार क्रमशः रखा गया है, उसका प्रतिपादन। यह विषय स्वतंत्रनिबन्धसाध्य है। अष्टाध्यायी का प्रकरणक्रम अर्वाचीन व्याकरणों की अपेक्षा निरतिशय उत्कर्ष-सम्पन्न है; इसका सप्रमाण निरूपण अन्यत्र किया जाएगा।

यहाँ यह निवेदन करना है कि प्रकरण-क्रम-संगति-सम्बन्धी यह विचार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, अतः इसमें भ्रान्तियों का होना असम्भव नहीं है। मैंने यथास्थान अपने सन्देहों का भी उल्लेख कर दिया है, तथा जहाँ प्रकरण-क्रम में असंगति प्रतीत हुई, उसका भी संकेत कर दिया है, जिससे भावी विद्वान् उसका समाधान कर सकें।

प्रथम अध्याय का संगति-विचार—इस अध्याय में मूलतः वाक्यों से सामान्य पदों का संकलन किया गया है। प्रक्रियादशा में व्याकरणशास्त्र का अन्वाख्यान दो भागों में विभक्त होता है—'वाक्य-विभज्यान्वाख्यान' तथा 'पदविभज्यान्वाख्यान'। प्रथम विभाग में वाक्यों से पदों का पृथक्करण तथा पदों के जाति-निर्देश आदि किए जाते हैं और द्वितीय विभाग में संकलित पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त किया जाता है। वैयाकरणों के अनुसार शाब्दबोध मूलतः वाक्य से होता है, पदों से नहीं, अतः वाक्यों से पदों का संकलन जब तक नहीं किया जाएगा, तब तक पद-निर्माण-रूपी मुख्य प्रक्रिया का प्रसंग ही नहीं हो सकता है; इसलिये पाणिनि ने सबसे पहले प्रथम अध्याय में सभी प्रकार के पदों का संकलन किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयाकरण अन्वाख्यान करने के लिये वाक्य से पदों का पृथक्करण कर सकता है। आचार्य भर्तृहरि ने यथार्थतः कहा है—'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा, अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः—' (वाक्यपदीय ३।१)। शङ्का हो सकती है कि उन्होंने तो यह भी कहा है—'वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन'; (१।७३) पर यह बात स्फोटदृष्टि से ही संगत होती है, व्याकृति की दृष्टि से नहीं, अतः अन्वाख्यानपरायण व्याकरण में इस प्रकार का तर्क निरर्थक है।

यद्यपि अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में सामान्य पदों का संकलन है, तथापि पद-विवरण से पहले कुछ आवश्यक संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र में प्रवेश के लिये कुछ विशिष्ट संज्ञाओं का ज्ञान शास्त्र-सम्बन्धी पदार्थ-ज्ञान से पहले आवश्यक होता है। पदविभागभूत नाम भी संज्ञा शब्द से कहे जाते हैं, अतएव प्रथम अध्याय को 'संज्ञाध्याय' कहा जा सकता है (संज्ञाधिकारश्चायम्—१।४।१ भाष्य)। नागेशभट्ट ने भी इस मत की पुष्टि की है (तस्मात् संज्ञाप्रकरणे प्रथमाध्याये—५।२।१२२ उद्द्योत)। संज्ञाओं के आरम्भ से पहले पाणिनि ने 'अथ संज्ञा' नहीं कहा है, तथापि संज्ञा का बोध जिस रीति से होता है, पतञ्जलि ने उसका विचार किया है (भाष्य १।१।१)।

प्रथम अध्याय के चारों पादों में संज्ञाओं का विवरण है। यह निश्चित है कि इन चारों पादों की संज्ञाओं में कुछ विलक्षणता है (अन्यथा एक ही पाद में सभी संज्ञाओं का उल्लेख हो सकता था), क्योंकि विलक्षणता के विना पादभेद करने का कारण प्रतीत नहीं होता। यहाँ एक पाद से अन्य पाद की संज्ञाओं की विलक्षणता का विचार किया जाएगा और साथ-साथ यह भी दिखाया जाएगा कि प्रत्येक पाद की संज्ञाओं के क्रमिक स्थापन का कारण क्या है।

प्रथम पाद :—व्यापित्व की दृष्टि से संज्ञा दो प्रकार की होती है—सर्वशास्त्रव्यवहार्य, तथा प्रकरणनियत। अष्टाध्यायी के आरम्भ में जिन वृद्धि, गुण आदि संज्ञाओं का विवरण है, वे सर्वशास्त्र में व्यवहार्य हैं (अर्थात् उनका संज्ञी किसी प्रकरणविशेष का विषय नहीं है) परन्तु तृतीय या षष्ठ अध्याय आदि में व्यवहृत संज्ञाएँ तत्तत् प्रकरण के लिये नियत हैं, जैसा कि 'उपपद' (३।१।९२) 'अभ्यास' (६।१।४) आदि अध्यायान्तरीय संज्ञाओं में दिखाई पड़ता है। इन संज्ञाओं के संज्ञी अपने-अपने प्रकरण में नियत हैं, और इसीलिये अभ्यास-संज्ञा का व्यवहार अष्टम अध्याय के द्वित्व-प्रकरण (८।१।१) में नहीं होता है, यद्यपि दोनों स्थलों पर द्वित्व रूप सामान्य धर्म है। अन्य अध्यायान्तरीय संज्ञाओं के विषय में भी यही बात है। किञ्च अन्य अध्यायों में जो संज्ञा पठित हुई है, उसका पाठ प्रथम अध्याय में नहीं हो सकता (यद्यपि प्रथम अध्याय के संज्ञाध्याय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण सभी संज्ञाओं का पाठ प्रथम अध्याय में ही होना चाहिए), स्वयं पतञ्जलि ने इसका सोदाहरण विवेचन किया है (द्र० भाष्य ३।२।१२७)। संज्ञाओं का उपर्युक्त विभाग प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों में यद्यपि दृष्ट नहीं है, तथापि संज्ञासंज्ञि-संबन्ध के विचार से उक्त निर्णय तर्क-सम्मत होता है। पतञ्जलि ने संज्ञाओं का जो 'कृत्रिमाकृत्रिम'-रूपविभाग किया है, उससे इस विभाग का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह विभाग अर्थवत्ता की दृष्टि से किया गया है।

अष्टाध्यायी का आरम्भ वृद्धि संज्ञा से है। वृद्धि शब्द मङ्गलार्थ है, अतः सर्वादि में इसका उपन्यास किया गया है; यह समाधान पतञ्जलि आदि आचार्यों को अनुमत है। व्याकरणप्रक्रिया में गुण-वृद्धि का साहचर्य अतिप्रसिद्ध है अतः वृद्धि के वाद गुणसंज्ञा का उल्लेख किया गया है। गुण-वृद्धि-संज्ञा के बाद १।१।३ सूत्रमें एक परिभाषा कही गई है। अष्टाध्यायी में सर्वत्र संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्रों का मिश्रित पाठ है। चूँकि ये दोनों एक ही पदार्थ नहीं हैं, इसलिये इन दोनों का मिश्रित पाठ क्यों किया गया—ऐसा प्रश्न हो सकता है। देखा जाता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण में एक स्वतन्त्रपाद में सभी परिभाषाओं का पाठ है। पाणिनि ने यही रीति क्यों नहीं अपनाई ? उत्तर यह है कि यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से संज्ञा और परिभाषा में भिन्नता है, पर वस्तुगत्या दोनों समानजातीय ही हैं, और इसीलिये इन दोनों का मिश्रित पाठ पाणिनि ने किया है। व्यवहारतः संज्ञा और परिभाषा दो पदार्थ हैं (अर्थात् विधिसूत्रों के व्यापार में कोई असमञ्जसता या बाधा न हो, तथा लाघव हो इसलिये संज्ञा-परिभाषा-सूत्रों की रचना की जाती है; 'लघ्वर्थं संज्ञाकरणम्', 'अनियमे नियम-कारिणी परिभाषा'), पर दोनों में समान रूप में 'यथोद्देश' तथा 'कार्यकाल' पक्ष का आश्रय लिया जाता है (देखिए—परिभाषेन्दुशेखर २–३ परिभाषा)। छह प्रकार के सूत्रों (संज्ञासूत्र, परिभाषासूत्र, विधिसूत्र, नियमसूत्र, अतिदेशसूत्र तथा अधिकारसूत्र) में संज्ञा-परिभाषासूत्र ही ऐसे सूत्र हैं, जो एक शब्द की सिद्धि के लिये रचित नहीं होते हैं, यद्यपि प्रयोगसाधक सूत्र एक उदाहरण के लिये भी रचे जाते हैं [1]। दीपिका टीका में आचार्य भर्तृहरि ने भी इस सिद्धान्त

१—इस प्रसङ्ग में निम्नोक्त विषय द्रष्टव्य है। भाष्यकार ने कहा है 'नह्ये-कमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' (७।१।९६)। आजकलके कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ किया है–'एक उदाहरणके लिये सूत्र रचा नहीं जाता है' (देखिए 'गतद्विसह-स्राब्दी में संस्कृत व्याकरण का विकास' लेख, नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, पृ० ३०३,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पुष्टि की है (१।१।४१ सूत्रीयटीका)।

वस्तुतः संज्ञा और परिभाषाओं में इतनी समानता है कि कभी-कभी कोई सूत्र संज्ञासूत्र है या परिभाषासूत्र है—इसके निर्णय में भी सन्देह होता है (देखिए 'अपृक्त' १।२।४१ सूत्र पर कैयट तथा नागेश के मत); यदि संज्ञा तथा परिभाषा सम्पूर्ण विजातीय पदार्थ होतीं, तो कदापि दोनों से इस प्रकार का अविशेष बोध नहीं हो सकता था। दोनों पदार्थों में असाधारण सदृशता होने पर ही संशय उत्पन्न हो सकता है। यह भी देखा जाता है कि जिस संज्ञा के प्रयोग-विषय में जिस परिभाषा की मुख्य या गौणरूप से आवश्यकता है, उस परिभाषा का पाठ उस संज्ञा के बाद प्रायेण किया गया है। संज्ञा और परिभाषा परार्थ होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध हैं (संज्ञा-परिभाषयोः परार्थयोरपि परस्परसम्बन्धदर्शनात्—उद्द्योत ५।१।१), अतएव संज्ञा और परिभाषा का एकत्र पाठ दोषावह नहीं है।

पुनः शङ्का हो सकती है कि संज्ञासूत्र के बाद ही परिभाषा-सूत्र क्यों पठित हुआ है? उत्तर यह है कि संज्ञा-सूत्र से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होने के बाद ही उसके प्रयोग में असमञ्जसता या अनियम का बोध हो सकता है, जिसके निवारण के लिये परिभाषासूत्र रचित है; अतः ज्ञानक्रमानुसार ही संज्ञा एवं परिभाषा का क्रमिक पाठ है। सरस्वतीकण्ठाभरण की परिभाषा से पाणिनि-पठित अष्टाध्यायीस्थ परिभाषाओं में भेद है। अष्टाध्यायी में पठित परिभाषा केवल सूत्रार्थ-निर्णय या क्वचित् सूत्र-व्यापार-सम्बन्धी विवाद के निर्णय के लिये है, पर कण्ठाभरण की परिभाषा इन दोनों उद्देश्यों के अतिरिक्त प्रक्रियानिर्वाह के लिये भी है। प्रक्रिया-निर्वाह के लिये (सूत्रार्थ-व्यापार-निर्वाह के लिये नहीं) जिन परिभाषाओं की आवश्यकता है, उनको पाणिनि ने अपने सूत्रों की रचना-रीतिसे ज्ञापित किया है, जिनको लेकर आचार्य व्याडिने परिभाषा-पाठकी रचना की थी। ग्रन्थशरीर में लाघव के लिये पाणिनि ने इन परिभाषाओं को 'ज्ञापक-

---

वर्ष ४९, अङ्क १–४, संवत् २००१); पर यह अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि अष्टाध्यायी में कितने ही ऐसे सूत्र हैं, जिनसे एक ही शब्द बनता है, यथा 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) 'इच्छा' (३।३।१०१) आदि। इस वाक्य का यथार्थ अर्थ है—'एक उदाहरण के लिये सामान्य सूत्र की रचना नहीं होती है' अर्थात् यदि अग्नि शब्द से कोई शास्त्रीय कार्यविशेष अभिप्रेत हो, तो 'इवर्ण से शास्त्रीय कार्य होगा' ऐसा न कहकर अग्नि शब्द का उल्लेख ही कर दिया जाता है। यह पाणिनि की सूत्र-रचना-सम्बन्धी एक विशिष्ट रीति है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध' किया, कण्ठरव से नहीं पढ़ा—यह पाणिनि की एक मौलिक विशिष्टता है।

अप्रकरणनियत संज्ञाओं के स्थापन में निम्नलिखित क्रम रखा गया है :—

पहले पाणिनि ने वर्णसम्बन्धी वृद्धि-गुण आदि संज्ञाओं का उल्लेख किया है, और तदनन्तर प्रगृह्यसंज्ञा (१।१।११) से वर्णसमूहात्मक-शब्दस्वरूपविषयिणी संज्ञाओं का सङ्कलन है। यह प्रकरण १।१।४३ सूत्र पर्यन्त व्यापी है।

'विभाषा' संज्ञा का उल्लेख इस प्रकरण के बाद है (१।१।४५)। यहाँ इसके स्थापन के लिये निम्नलिखित रहस्य द्रष्टव्य है। स्वरूप-दृष्टि से संज्ञा दो प्रकार की है—शाब्दी संज्ञा (अर्थात् जब संज्ञी कोई शब्दविशेष होता है) तथा आर्थी संज्ञा (अर्थात् जब संज्ञी कोई अर्थ = मनोभाव होता है)। विभाषा संज्ञा से आर्थी संज्ञा का आरम्भ होता है, अर्थात् 'नवेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्र का अर्थ है—"न-वा-शब्द का जो अर्थ है उसकी विभाषा संज्ञा है।" ठीक इसी प्रकार सम्प्रसारण संज्ञा (१।१।४५) भी आर्थी है (अर्थात् सम्प्रसारण संज्ञा का संज्ञी अर्थ है, शब्द नहीं); चूँकि सिद्धान्तपक्ष में यही माना जाता है कि इस सूत्र से वाक्य की संज्ञा की गई है, इसलिये यह भी सिद्ध होता है कि सम्प्रसारण आर्थी संज्ञा है, शाब्दी नहीं। काशिकाकार ने भी कहा है—'वाक्यार्थः संज्ञी' (१।१।४५)। पर उन्होंने यह भी दिखाया है कि कोई-कोई आचार्य इस संज्ञा को शाब्दी संज्ञा भी मानते थे (वर्णश्च), तथा भर्तृहरि ने भी दीपिका में इसका उल्लेख किया है—'उभयथा आचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वर्णस्य केचिद् वाक्यस्य' (१।१।१।४५ सूत्रटीका), पर किसी ने यह निर्णय नहीं किया कि पाणिनि के अनुसार कौन सिद्धान्त यथार्थ है। यदि सम्प्रसारण संज्ञा वर्णसंज्ञा ही होती, तो वर्णसंज्ञाओं के साथ इसका भी पाठ होता, पर वैसा न कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि उनके अनुसार यह संज्ञा आर्थी है, शाब्दी नहीं।

सम्प्रसारण-संज्ञा के बाद पुनः 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४५) सूत्र से परिभाषा-प्रकरण का आरम्भ किया गया है। इसका कारण यह है—सम्प्रसारण संज्ञा में 'यणः स्थाने विधीयमानः' ऐसा अर्थ किया जाता है, और चूँकि विधीयमानरूप धर्म आदेश तथा आगम में ही दिखाई पड़ता है, अतः सम्प्रसारणसंज्ञा के बाद ही आदेश तथा आगम-सम्बन्धी परिभाषाओं का विवरण किया गया है। अनेक स्थलों में अष्टाध्यायी में कार्यसादृश्यनिबन्धन प्रकरण-क्रमों को रखा गया है, जैसा कि यथास्थान विवृत होगा।

आगम और आदेश-सम्बन्धी परिभाषाओं का पाठ एकत्र क्यों है ? उत्तर यह है कि संज्ञा और परिभाषा की तरह आगम तथा आदेशों में भी वास्तविक सरूपता है (प्रक्रियादृष्टि से भिन्नता होने पर भी)। कहा भी गया है—'अनागमनकानां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सागमका आदेशाः' या 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' इत्यादि (भा० १।१।२०)। यदि आगम और आदेशों में वस्तुगत्या एकजातीयता नहीं होती, तो उपर्युक्त वचनों का अर्थ बुद्धिग्राह्य नहीं होता। आगम-सम्बन्धिनी परिभाषा के उल्लेख के बाद ही आदेशविषयिणी परिभाषा का पाठ किया गया है, क्योंकि आगम-सम्बन्धी परिभाषाएँ अत्यल्प हैं, अतः 'सूचीकटाह' न्यायानुसार आगमीय परिभाषा का उल्लेख पहले किया गया है—ऐसा समझना चाहिए। आदेशीय परिभाषा के साथ-साथ आदेश का वैशिष्ट्य भी कहा गया है। इस प्रकार यह प्रकरण १।१।५९ सूत्र पर समाप्त होता है।

प्रासंगिक विधीयमानत्वविचार के बाद पुनः १।१।६० सूत्र में अर्थसंज्ञा रूप लोप-संज्ञा का विधान किया गया है। यह संज्ञा वस्तुतः पदार्थ की है, शब्द की नहीं, जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—"पदार्थस्येयं संज्ञा, न शब्दस्य" (१।१।६०)। यहाँ लोप का विशेष विवरण भी दिया गया है।

उसके बाद १।१।६४ सूत्र में 'टिसंज्ञा' तथा १।१।६५ सूत्र में 'उपधा-संज्ञा' का विवरण है। यद्यपि इन दोनों संज्ञाओं का स्थापन आर्थी संज्ञा से पहले (क्योंकि ये शाब्दी संज्ञाएँ हैं) शब्दसंज्ञाओं के साथ करना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, तथापि 'आदेश' और 'लोप' के साथ 'टि' तथा 'उपधा' का सम्बन्ध निकटतम है (अर्थात् आगमादेश बहुलतया टि-उपधास्थल में ही होते हैं), ऐसा जानकर यहाँ इन दोनों संज्ञाओं का पाठ किया गया है। इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि टि और उपधा संज्ञा वृद्धि आदि संज्ञाओं की तरह 'किसी के स्थान पर आदिष्ट होने वाली संज्ञाओं' की तरह नहीं है, अर्थात् टि तथा उपधा किसी के स्थान पर नहीं होती हैं, प्रत्युत शास्त्रीय कार्य टि तथा उपधा के स्थान पर होते हैं। वृद्धि आदि को कार्य की दृष्टि से 'आधेय संज्ञा' कहा जा सकता है, तथा टि–उपधा को 'आधार संज्ञा'।

उसके बाद १।१।६६ सूत्र से सौत्र शब्द-सम्बन्धी कुछ परिभाषाओं और उसके बाद अन्य संज्ञाओं का उल्लेख है। आदेश आदि के विधायक सूत्रों के सार्थक प्रयोग के लिये इन सूत्रों की आवश्यकता है, इसलिये इनका पाठ यहाँ किया गया है। शास्त्रज्ञान के लिये पहलेही इन सूत्रों का ज्ञान अपरिहार्य है, अतः पहले पाद के अन्तिमांश में आचार्य ने इनका पाठ किया है। अन्त में 'वृद्ध' संज्ञा (१।१।७३) क्यों है ? टि तथा उपधा संज्ञा की तरह यह भी 'आधारसंज्ञा' है, अतएव उनके साथ ही इसका पाठ होना चाहिए; किन्तु उनके साथ यह क्यों पठित नहीं हुई—यह चिन्तनीय है। सम्भव है कि उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता की रक्षा के लिये सूत्रकार ने अन्तिमांश में अत्यन्तसदृश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वृद्धि-वृद्ध) इस संज्ञा का पाठ किया है, यद्यपि यह समाधान सर्वथा चिन्त्य है।

द्वितीय पाद :—ङित्‌कित्‌प्रत्यय-सम्बन्धी निर्देश आरम्भ में ही है। यह प्रकरण प्रत्ययविषयक है, अतः प्रत्यय-संकलनात्मक तृतीय-अध्याय में इसका पाठ होना चाहिए, पर वहाँ पाठ करने से प्रयोग-व्यापार में कुछ दोष होता (देखिए–१।२।१ की प्रदीप–उद्द्योत–टीकाएँ) अतएव पाणिनि ने वैसा नहीं किया है। प्रचलित व्याख्यान-ग्रन्थों में इस प्रकरण को 'अतिदेशप्रकरण' कहा गया है (अतिदेश = अन्यधर्मस्य अन्यत्र आरोपणम्) और इस अतिदेशप्रकरण के बाद पुनः संज्ञाओं का विवरण है। शङ्का हो सकती है कि दो संज्ञा-प्रकरणों के मध्य में एक अतिदेशप्रकरण का पाठ क्यों है ? क्या यहाँ पर 'प्रक्रमभङ्गदोष' नहीं हुआ है ? उत्तर है कि वस्तुतः यह प्रकरण संज्ञाप्रकरण ही है। भाष्यकार ने संज्ञापक्ष का उल्लेख कर उस पक्ष में अपनी दृष्टि से दोष दिखाकर अतिदेशपक्ष को ही सिद्धान्तित किया है। किसी-किसी वृत्तिकार के मतानुसार यह 'संज्ञा-प्रकरण' ही है और दृष्टि भेद से यही पक्ष निर्दोष ठहरता है, तथा भाष्य का दोष-प्रदर्शन निर्मूल हो जाता है। यह विचार अत्यन्त जटिल है, अतः यहाँ उसका उपन्यास नहीं किया गया।

देखा जाता है कि ऐसे स्थलों में प्राचीन उणादि वृत्तिकारों ने संज्ञापक्ष ही माना है, जहाँ भाष्यकारीय दृष्टि के अनुसार अतिदेश पक्ष होना चाहिए (देखिए दशपादी उणादिवृत्ति १।३२, १।३९ आदि)। यहाँ यह उत्तर भी हो सकता है कि 'अतिदेश' संज्ञा से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है, वस्तुगत्या अतिदेश आरोपित संज्ञा ही है, अतः संज्ञाधिकार में इस प्रकरण का पाठ असङ्गत नहीं है। इस अध्याय में अनेक प्रकार की संज्ञाओं का संकलन है, शाब्दी संज्ञा, आर्थी संज्ञा, वर्तमान अतिदिष्टा संज्ञा तथा वक्ष्यमाण धर्मसंज्ञा आदि। अतः पृथक् पाद में किञ्चित्पृथक्‌धर्मयुक्त संज्ञा का कथन न्यायसंगत तथा रोचक ही होता है।

उसके बाद १।२।२७ सूत्र से ह्रस्व आदि संज्ञाओं का विवरण है। शङ्का हो सकती है कि ये संज्ञाएँ तो सम्पूर्ण रूप से शाब्दी हैं, अतः प्रथम पाद में क्यों नहीं पठित हुईं ? उत्तर—इन संज्ञाओं की मौलिक विशिष्टता तथा वृद्धि आदि संज्ञाओं से विलक्षणता ही दोनों के एकत्र पाठ की बाधिका है, क्योंकि ये सँज्ञाएँ न केवल शब्दशास्त्रके ही पारिभाषिक शब्द हैं परन्तु समान रूपसे शिक्षाशास्त्रीय भी हैं, जैसा कि कैयटने कहा है—'सिद्धो हि वेदाध्यायिनां शिक्षायामेव उदात्तादिव्यवहारः' (प्रदीप१।१।२२)। इस वाक्य में जो 'एव' पद है, वह ज्ञापित करता है कि ये संज्ञाएँ व्याकरणशास्त्र की स्वकीय नहीं हैं (टि, घ आदि की तरह),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः तान्त्रिकी वृद्धि आदि संज्ञाओं के साथ इनका पाठ आचार्य ने नहीं किया है। वस्तुतः यहाँ का स्वरप्रकरण (१।२।२९ से १।२।४० सूत्र तक) अतिसामान्य तथा अल्पविषयक है, और इस विषय के पूर्णज्ञान के लिये अन्य प्रातिशाख्यादि शास्त्र भी गम्भीर रूप से आलोच्य हैं। किञ्च ह्रस्व आदि संज्ञाएँ वस्तुतः शब्दरूपी धर्मों की नहीं हैं, प्रत्युत शब्दधर्म (क्योंकि ह्रस्वादि मात्रास्वरूप हैं, तथा उदात्त आदि वायुनिष्ठ हैं—ये वैयाकरणों के सिद्धान्त हैं) की हैं, अतः पृथक् पाद में इन संज्ञाओं का विवरण दिया गया है। अनुनासिक संज्ञा चूँकि धर्मी की संज्ञा है (मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः—१।१।८) अतः प्रथम पाद में ही कही गई है; यदि अनुनासिक केवल वायु के आघातजन्य ही होता तो निश्चय ही इस द्वितीय पाद में इसका भी पाठ होता। स्वर से तथा उच्चारण-धर्म से सम्बन्धित होने के कारण इस प्रकरण में एकश्रुति आदि उच्चारण-विशेषों का भी विचार किया गया है। यह प्रकरण १।२।४० सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद 'अपृक्तसंज्ञा' (१।२।४१) का पाठ है। हम पहले कह चुके हैं कि इस अध्याय में सभी प्रकार की संज्ञाओं का संकलन है, अतः प्रत्ययसम्बन्धी एक संज्ञा का विवरण यहाँ दिया गया है, यद्यपि प्रत्ययाध्याय में भी इसके पाठ होने से कोई दोष प्रतीत नहीं होता। यह भी हो सकता है कि यह संज्ञासूत्र नहीं है, परिभाषासूत्र है (प्रदीप १।१।१) और चूँकि यह अल्विषयिणी परिभाषा है, अतः यह सूत्र अल्संज्ञाओं के साथ पठित हुआ है।

इसके बाद समास-सम्बन्धी 'कर्मधारय' (१।२।४२) तथा 'उपसर्जन' (१।२।४२) संज्ञा का पाठ है। ये संज्ञाएँ समास-सम्बन्धी हैं, अतः समासप्रकरण में (द्वितीय अध्याय इनका पाठ करना यद्यपि उचित प्रतीत होता है, तथापि वहाँ पाठ करने से पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार विपर्यय होता, इसलिये वैसा नहीं किया गया, जैसा कि कर्मधारय के विषय में कैयट ने कहा है—तत्पुरुषसंज्ञाप्रकरणे इयं संज्ञा न कृता, एकासंज्ञाधिकारात् तत्पुरुषसंज्ञाया बाधो भविष्यति (प्रदीप १। २।४२) । उपसर्जन संज्ञा के विषय में भी ऐसी कोई बाधा रही होगी, जो हमलोगों को विज्ञात नहीं है। संभव है कि यदि समासप्रकरण में उपसर्जन संज्ञा का पाठ होता तो 'कष्टश्रितः' प्रयोग में कष्ट की उपसर्जन संज्ञा नहीं हो सकती थी, क्योंकि समास में कष्ट शब्द में प्रथमा नहीं है। इस सूत्र में समास का अर्थ 'समासार्थ शास्त्र' (भाष्य) है। समासप्रकरण में इसका पाठ होने से यह अर्थ नहीं हो सकता, अतएव इसका पाठ समासप्रकरण में नहीं किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार शास्त्र में प्रवेशार्थ जितनी संज्ञाओं का विवरण अपेक्षित था, उन सभी का विवरण यहाँ पर समाप्त हो गया है। अब पदों के संकलनकार्य का आरम्भ हो रहा है। प्रयोगनिर्वाहक संज्ञाओं की समाप्ति के ज्ञापन के लिये पाणिनि ने १।२।४४ सूत्र में 'च' का पाठ किया है। वस्तुतः यह 'च' अनुवृत्ति के लिये नहीं है, पर विषय-समाप्ति के द्योतन के लिये हैं। अष्टाध्यायी में 'च' का प्रयोग अनेक अर्थों के द्योतन के लिये किया गया है, यह ज्ञातव्य है।

पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार पद चार या पाँच प्रकार का होता है। उन पदों में जो सबसे मुख्य है, उसका उल्लेख सबसे पहले प्रातिपदिक नाम से (१।२।४५) किया गया है। पाणिनि के अनुसार जो प्रातिपदिक है, यास्क के अनुसार उसी को नाम कहा जाता है—'यत् प्रातिपदिकं प्रोक्तं तन्नाम्नो नातिरिच्यते' (शब्दशक्तिप्रकाशिका १४)। यह नाम अन्य चार प्रकार के पदों ('चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च'—निरुक्त १।१) में मुख्यतम है, यह निरुक्त टीका में आचार्य दुर्ग ने सयुक्तिक दिखाया है। निरुक्त का यह सिद्धान्त वैयाकरण-सम्प्रदाय में भी मान्य है, अतः मुख्य होने के कारण प्रातिपदिक का ही उल्लेख सबसे पहले किया गया है। प्रातिपदिक से नित्यसम्बद्ध होने के कारण ही यहाँ पर युक्तवद् का विचार (१।२।५१) तथा उसका प्रत्याख्यान आदि किए गए हैं।

प्रातिपदिक-विचार के साथ-साथ १।२।६४ सूत्र में 'एकशेष' का विचार है। यहाँ पर एकशेष के पाठ के विषय में निम्नलिखित युक्ति विशेष रूप से अवधानयोग्य है—

पाणिनि ने प्रातिपदिकविचार के साथ 'एकशेष' का पाठ किया है, जिससे यह स्पष्ट रूपसे विज्ञापित होता है कि उनके अनुसार 'प्रातिपदिकानामेकशेषः' यह सिद्धान्त ही मान्य है, 'सुबन्तानामेकशेषः' यह मत सुतरां अपाणिनीय है। दृढ़ तर्कों से भाष्यकार ने भी इसी मत का मण्डन किया है, पर प्रकरण-सङ्गति से भो यही मत न्याय-सङ्गत होता है। यदि सुबन्तपदों का एकशेष होता, तो द्वन्द्वसमास के बाद 'एकशेष' का पाठ होता, क्योंकि सुबन्त पदों का द्वन्द्वसमास होता है। इससे एक सिद्धान्त यह भी निगंलित होता है कि 'कृतद्वन्द्वानामेकशेषः' यह पक्ष पाणिनिसम्मत नहीं है, क्योकि यदि वैसा ही होता, तो द्वन्द्वसमास के बाद ही एकशेष का प्रसङ्ग किया जाता।

इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित मत विचारणीय है। पाणिनि ने 'अशिष्य' सूत्र (१।२।५३) के बाद वचन तथा एकशेषप्रकरण को पढ़ा है, यद्यपि सम्बन्ध की निकटता की दृष्टि से अशिष्यप्रकरण को बाद में ही पढ़ना चाहिए था। इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरण-विभाग से सूत्रकार यह विज्ञापित करते हैं कि 'एकशेष' भी अशिष्य है, अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने उसको अपने शास्त्र में विवृत किया है, पर पाणिनि उसकी लोकप्रमाणगम्यता के कारण उसको 'अशिष्य'=अशासनीय समझते हैं। यह बात हमलोगों की स्वकपोलकल्पित नहीं है, भाष्य से प्राचीन माथुरी वृत्ति में यह मत स्पष्ट रूप से कहा गया है (द्रष्टव्य—भाषावृत्ति १।२।२७), अतः एकशेषप्रकरण में अशिष्य पद की अनुवृत्ति हो, इसलिये पाणिनि ने अशिष्यप्रकरण के बाद एकशेष प्रकरण का पाठ किया है। वस्तुतः एकशेष 'वृत्ति' नहीं है, शब्देन्दुशेखरादि में इसकी वृत्तिता का खण्डन द्रष्टव्य है। यदि एकशेष कोई वृत्ति होती तो 'समर्थः पदविधिः' (२।१।१) सूत्र के बाद ही इसका पाठ होता। कैयट ने स्पष्टतया कहा है—'एकशेषो न वृत्तिः'। इस मत की युक्तता को देखकर ही आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने चान्द्र व्याकरण में एकशेष का विवरण नहीं दिया है। चन्द्राचार्य प्रातिपदिक में ही एकशेष का अन्तर्भाव करते थे, जो पाणिनि की दृष्टि से भी सङ्गत है। इस विषय में यह भी जानना चाहिए कि पदविधित्व एकशेष में नहीं है (देखिए—वैयाकरण-भूषणसार की प्रभा टीका पृ० २७९)। पाणिनि ने प्रातिपदिक की एक विशिष्टता की तरह एकशेष का उपन्यास किया है। यह पाद इस प्रकरण के साथ समाप्त होता है।

तृतीय पाद—आरम्भ में धातु=आख्यात (भू आदि) का उल्लेख है। एक विजातीय पद के लिये पृथक् पाद का व्यवहार सङ्गत ही है [नाम=सत्त्व-वाची; आख्यात=क्रियावाची]। धातु नाम का अधीन होता है (आख्यातस्य नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रियोपलक्ष्यत्वात्—दुर्गनिरुक्तटीका १।१। ख०), अतः नाम=प्रातिपदिक के बाद धातु का उपन्यास किया गया है। इसी पाद में पहले प्रकृति-सम्बद्ध धातु संज्ञा का उल्लेख है, और उसके बाद उपग्रह (अर्थात् आत्मनेपद—परस्मैपद) का विवरण १।३।१२ सूत्र से किया गया है। आत्मनेपद के बाद परस्मैपद का विवरण 'विप्रतिषेध' नियम (१।४।२) के अनुसार है, अर्थात् किसी प्रयोग में आत्मनेपद और परस्मैपद में विप्रतिषेध हो जाए, तो परस्मैपद ही होगा (द्र० आत्मनेपद-परस्मैपद प्रकरण की व्याख्याएँ)।

धातु और उपग्रह के बीच 'इत्संज्ञा' का प्रसङ्ग है। यहाँ शङ्का होती है कि धातु और उपग्रह के मध्यमें इत्संज्ञा का विचार किसलिये किया गया है? धातु या उपग्रह से इत्संज्ञा का कोई भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, अतः इत्संज्ञा के शब्दसंज्ञात्व के कारण प्रथमपाद में ही इसका उपन्यास क्यों नहीं किया गया? उत्तर—पाणिनि ने आत्मनेपद और परस्मैपद का द्योतन इत्संज्ञक वर्ण के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार भी किया है (अर्थात् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी होगा इत्यादि) अतः उपग्रह से पहले ही इत् का विचार अपेक्षित होता है। किञ्च पाणिनि ने धातुओं को अनुबन्ध (=इत्संज्ञायोग्य वर्ण) के साथ पढ़ा है, अतः धातुस्वरूप के ज्ञान के लिये भी अनुबन्ध का ज्ञान नित्य अपेक्षित होता है (धातोः सानुबन्धकत्वात्—उद्द्योत ४।१।१५ वाक्य आलोचनीय)। अपि च धातुजन्य तिङन्त प्रयोगों के अनेक कार्य अनुबन्ध से निर्दिष्ट हुए हैं, अतः धातु के साथ अनुबन्धज्ञान की अपरिहार्यता के कारण धातु के बाद अनुबन्ध का विचार किया गया है।

चतुर्थ पाद—परिशिष्ट संज्ञा (जिनका पाठ पहले होने से न्यायदोष होता) तथा अवशिष्ट पदों का विवरण यहाँ दिया गया है। इस पाद की कुछ संज्ञाओं (यथा नदी आदि) को यद्यपि प्रथम पाद में पढ़ा जा सकता था, पर चूंकि इन संज्ञाओं को वहां पढ़ने से पाणिनि-प्रक्रिया के अनुसार असमञ्जसता होती, अतएव चतुर्थ पाद में इन संज्ञाओं को पढ़ा गया है। इन संज्ञाओं में 'एकसंज्ञा' (१।४।१) तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) रूप दो विशेष नियम प्रवर्तित होते हैं, जो प्राकृतन संज्ञाओं में नहीं होते।

इस पाद में लघु (१।४।१०) आदि कुछ संज्ञाएँ हैं, जो धर्मसंज्ञाएँ हैं, अतः धर्मसंज्ञाओं के साथ (द्वितीय पाद) ये क्यों नहीं पठित हुईं? उत्तर—इन संज्ञाओं में उपर्युक्त दो नियम प्रवर्तित होते हैं, अतः धर्मसंज्ञाओं के साथ इनका पाठ नहीं किया गया। किञ्च ह्रस्व तथा लघु का स्वरूप प्रक्रियाक्षेत्र में सर्वथा एकरूप नहीं है। ह्रस्व होता हुआ भी स्वर गुरु हो सकता है, पर दीर्घ नहीं हो सकता, अतः 'सन्वल्लघुनि......' (७।४।९३) आदि सूत्रों में ह्रस्व के स्थान पर 'लघु' शब्द का ग्रहण किया गया है (व्याख्यान-ग्रन्थ द्रष्टव्य); लघु आदि संज्ञाओं का पाठ पृथक् पाद में करना अन्याय्य नहीं है; लघु आदि धर्मसंज्ञा नहीं हैं, प्रत्युत अक्षर की संज्ञाएँ हैं (द्र० प्रक्रिया सर्वस्व), अतः इनका पृथक् पाठ उचित है—ऐसा भी कहा जा सकता है। इस पाद में अङ्ग (१।४।१३) आदि संज्ञाओं के पाठ के विषय में विशेष नियम-प्रवर्तन-रूप कारण के अतिरिक्त अन्य हेतु भी है। इन अङ्ग भ आदि संज्ञाओं में 'यथोद्देश पक्ष' ही प्रवर्तित होता है, 'कार्यकालपक्ष' नहीं (यद्यपि अन्य सभी संज्ञाओं में दोनों पक्ष समान रूप से प्रवर्तित होते हैं), अतः वृद्धि आदि संज्ञाओं के साथ इन संज्ञाओं का पाठ होने से इन संज्ञाओं के प्रयोग में विपर्यास होता। यह प्रकरण १।४।२० सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद कारकाधिकार १।४।२३ सत्रसे प्रवर्त्तित होता है। कारक से पहले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकवचन और द्विवचन का उल्लेख किया गया है (१।४।२१-२२), क्योंकि कारकविधायक सूत्र के साथ वचनविधायक सूत्र की एकवाक्यता है तथा संख्या-बोध के बाद ही कारक का बोध होता है (द्रष्टव्य—'कुत्सिते' ५।३।७४ का भाष्य)। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वाक्यार्थ में क्रिया प्रधान होती है ('आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्'; क्रियामुख्यविशेष्यक वाक्यार्थ वैयाकरणों का सिद्धान्त है) अतः क्रिया-सम्बद्ध आख्यातप्रकरण के बाद ही कारकप्रकरण का आरम्भ न्याय-प्राप्त होता है। चूँकि नदी आदि संज्ञाएँ प्राक्तन संज्ञाओं की परिशिष्टस्वरूप हैं, अतः चतुर्थ पाद के आरम्भ में ही उनका उल्लेख कर दिया गया गया है। कारकप्रकरण में यथाक्रम अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्तृकारकों को रखा गया है। यह क्रम विप्रतिषेधनियम के अनुसार है, अर्थात् यदि युगपत् दो कारकों की प्राप्ति हो, तो परस्थ कारक ही प्रयुक्त होगा। भर्तृहरि ने भी इस मत का उल्लेख किया है—'अपादान-सम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्, कर्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेकं प्रवर्त्तते' [१]। भाष्यकार ने भी कहा है 'अपादानसंज्ञाम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' (१।४।१)। कारकप्रकरण १।४।५५ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद १।४।५६ सूत्र से 'निपात'-संज्ञक पदों का सङ्कलन किया गया है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्यों 'निपात' तथा वक्ष्यमाण 'उपसर्ग' कारक के बाद कहे गए हैं, जबकि अन्य दो पद (नाम तथा आख्यात) कारक से पहले हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि कारक का साक्षात् सम्बन्ध आख्यात तथा नाम से है और उपसर्ग-निपात-संज्ञक पदों से कारक का कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है—इसलिये कारकप्रकरण से पहले निपात तथा उपसर्ग का विवरण नहीं किया गया है ?

पाणिनि ने पहले निपात (१।४।५६) और उसके बाद उपसर्ग (१।४।५९) का विचार किया है, परन्तु आचार्य यास्क के क्रम में उपसर्ग के बाद निपात आता है (निरुक्त १।१ ख०); वस्तुतः यह भ्रम या विपर्यास के कारण नहीं हुआ है। भगवान् पाणिनि ने निपातसंज्ञक प्रादि को क्रियायोग होने पर उपसर्ग-संज्ञक माना है, अतः निपातविचार के बाद ही उपसर्ग का विचार प्रसक्त होता

१—यह कारिका मुद्रित वाक्यपदीय में नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में (८२ कारिका) इस वचन को भर्तृहरि-वचनरूप से उद्धृत किया है। व्याख्यानग्रन्थों में ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनको व्याख्याकार 'भर्तृहरिवचन' कहते हैं, पर वाक्यपदीय में वे नहीं मिलते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि नामाख्यादिसम्बद्ध कई विषयों में यास्क और पाणिनि का मत सम्पूर्ण सदृश नहीं है। यास्कानुसार जो उपसर्ग तथा नि।ात हैं, पाणिनि के अनुसार वे अव्यय हैं। यास्क की वचोभङ्गी से यह पता चलता है कि प्राचीनकाल में प्र परा आदि शब्द नाम या आख्यात में से किसी के साथ युक्त होने पर उपसर्ग नाम से अभिहित होते थे, पर पाणिनि ने प्र, परा आदि के विभिन्न प्रकार के पदों के साथ योग होने पर, विभिन्न नाम रखे हैं (१।४।५०–६०)। उपसर्ग के बाद गतिसंज्ञा (१।४।६०) का विचार किया गया है, क्योंकि उपसर्ग ही क्रियायोग से शून्य होने तथा अन्य विशेषगुण से युक्त होने पर गतिसंज्ञक होते हैं।

चूंकि निपात के विचार में सदृशता-सम्बन्ध से उपसर्ग विचार भी प्रसक्त होता है, तथा अनु आदि उपसर्ग अर्थविशेष में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं, अतः गति-संज्ञा-प्रसङ्ग के बाद १।४।८३ सूत्र से 'कर्मवचनीय' संज्ञा का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय एक पदभेद ही है। (पञ्चधापद-वादी की दृष्टि में)। पाणिनिदर्शन में सायणाचार्य ने कहा है—'कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान्' (सर्वदर्शन-संग्रह पृ० २९९)।

पहले कहा गया है कि इस अध्याय में वाक्यस्थ पदसामान्यों का संकलन है। वाक्य = एकतिङ् (भाष्य २।१।१), अतः तिङ्विचार के विना वाक्यावयवों का संकलन पूर्ण नहीं हो सकता है और इसीलिये १।४।९९ सूत्र से तिङ् का उल्लेख भी किया गया है। जिस प्रकार तिङ् विभक्ति है, उसी प्रकार सुप् भी विभक्ति है, किञ्च सुप् के विना पदों का ज्ञान नहीं हो सकता है—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः'—इस न्याय से (३।१।९४ भाष्य); अतः यहाँ सुप् का भी विवरण दिया गया है।

१।४।९९–१०० सूत्र में परस्मैपद तथा आत्मनेपद संज्ञा का उल्लेख है। शङ्का हो सकती है कि इस अध्याय के तृतीय पाद में परस्मैपद तथा आत्मनेपद कार्य का विधान है (१।३।१२ सूत्र से), पर संज्ञा का उल्लेख बाद में क्यों किया गया ? संज्ञा के ज्ञान के विना तत्सम्बद्ध कार्य का ज्ञान कैसे हो सकता है ? उत्तर—आत्मनेपद संज्ञा से परस्मैपद संज्ञा का बाध हो जाए, इसलिये तृतीय पाद में पाठ न कर चतुर्थ पाद में इन दोनों संज्ञाओं का पाठ किया गया है, क्योंकि चतुर्थ पाद से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' रूप न्याय प्रवर्तित होता है (प्रदीप १।४।९८)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।४।१०१-१०८ सूत्र में प्रथमादि 'पुरुष' संज्ञा का विचार है। इस स्थल पर इस संज्ञा के पाठ का विशेष कारण है। परस्मैपद तथा आत्मनेपद संज्ञा से पुरुष संज्ञा का समावेश हो—यह इस क्रम का प्रथम कारण है। शङ्का हो सकती है कि चतुर्थ पाद से एकसंज्ञाधिकार (आकडारादेका संज्ञा १।४।१) प्रवर्तित होता है, अतः दोनों संज्ञाओं का समावेश कैसे हो सकता है? उत्तर—पतञ्जलि ने ज्ञापक बल से यह प्रमाणित किया है कि इस प्रकरण में एक संज्ञाधिकार प्रवर्त्तित नहीं होता (१।४।९८ भाष्य)। यदि यहाँ पर पुरुष संज्ञा (काशिका १।४।१०५) का पाठ नहीं होता, तो जो दोष होता, उसे कैयट ने निम्नलिखित शब्दों में दिखाया है—'अन्यथा पुरुष-संज्ञाः सावकाशाः तङ्क्षु अनवकाशया आत्मनेपद-संज्ञया बाध्येरन्' (१।४।९८)। तिङ् विभक्ति के उल्लेख के समय (तृतीय अध्याय, चतुर्थ पाद) भी परस्मैपद संज्ञा का विधान नहीं किया गया, क्योंकि वैसा करने पर आत्मनेपद संज्ञा का बाध नहीं होता।

अन्त में संहिता (१।४।१०९) तथा अवसान (१।४।११०) संज्ञा का विचार है। चूँकि प्रत्येक वाक्य प्रक्रिया की दृष्टि से पदसमष्टि ही है (पदसमूहो वाक्यम्—न्यायभाष्य २।१।५५), अतः प्रत्येक वाक्य में वर्णों की अत्यन्त-सन्निधिरूप संहिता तथा वर्णोच्चारण-प्रयत्न-विरामरूप अवसान अवश्य होंगे। चूँकि ये वर्ण पद तथा वाक्य के सिद्ध होने के बाद होते हैं, अतः अध्याय के अन्त में ही इन दोनों का उपन्यास किया गया है।

द्वितीय अध्याय का संगति-विचार—पहले अध्याय में वाक्य से सामान्य पदों का संकलन किया गया है। द्वितीय अध्याय में विशेष पदों का संकलन किया जाएगा। विशेष पद का अर्थ यह है कि या तो वह एकाधिक पदों के मिश्रण से बनता है, या उस पद का स्वरूप कुछ विचित्र प्रकार का है, जो रामादि सामान्य पद की तरह नहीं है। इस अध्याय में विशेष पदों से साक्षात् सम्बद्ध कुछ विषयों का भी उल्लेख किया गया है, क्योंकि उन विषयों के विना विशेष पदों का अर्थ बोधगम्य नहीं हो सकता है।

प्रथम-द्वितीयपाद:—विशिष्ट पद का प्रथम प्रकार 'समास' है और मुख्यता के कारण सबसे पहले 'समर्थः पदविधिः' (२।१।१) सूत्र से इसका ही विवेचन किया गया है। चूँकि यहाँ से 'पद-विधि' (=पद-सम्बन्धी विधि) का आरम्भ किया गया है, इसलिये इससे पहले प्रथम अध्याय में ही पद-सामान्यों का विवरण करना युक्तियुक्त हुआ है—ऐसा जानना चाहिए। व्याकरण शास्त्र के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—व्यासरूप तथा समास-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप ('पदसमूहो वाक्यम्' इस मत के अनुसार)। समासरूप वाक्य का लक्षण है—'एकार्थीभावापन्नः' अर्थात् समुदायशक्तियुक्त पदसमुदायविशेष (वैयाकरण-भूषणसार का समासशक्तिप्रकरण द्रष्टव्य)। समास के उपयोगी होने के कारण पहले व्यासरूप वाक्य (=सामान्य पद) का निरूपण किया गया है, और उसके बाद इस अध्याय में अर्थवान् सामान्य पदों के विशेष रूप (अर्थात् समास) का विवेचन किया जाएगा। यही दोनों अध्यायों की शास्त्रीय संगति है। पहले समास का सामान्य सूत्र (सह सुपा २।१।४) तथा तत्सम्बन्धी स्वर है, और उसके बाद विशेष समासों का विवरण है।

इन विशेष समासों (अव्ययीभाव आदि) के स्थापन-क्रम का रहस्य यहाँ आलोचित हो रहा है। पाणिनीय सम्प्रदाय एकार्थीभाववादी (समास के अवयवभूत पदों में शक्ति का अस्वीकारकारी) है, और पदप्राधान्य-प्रयुक्त व्यवस्था[1] (अर्थात् पूर्वपदप्रधान, उत्तरपदप्रधान इत्यादि) को प्रायिक मानता है, ऐसा कहना न्याय्य होगा (द्र० वैयाकरणभूषणसार का समासशक्ति-प्रकरण)। मालूम पड़ता है कि अव्ययीभाव के प्रायेण पूर्वपदार्थ प्रधान होने के कारण[2] सब से पूर्व उसका ही अनुशासन किया गया है। उसके बाद २।१।२२ सूत्र से प्रायेण उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष समास का आरम्भ होता है। चूंकि तत्पुरुष प्रायेण द्विपदघटित है, अतएव द्वन्द्व-बहुव्रीहि से स्वल्प-शरीर होने के कारण इन दोनों से पहले इसका प्रसङ्ग किया गया है। उसके बाद २।२।२३ सूत्र से प्रायेण अनेकपदघटित बहुव्रीहि और तदनन्तर द्वन्द्व (२।२।२९) है। अव्ययीभाव और तत्पुरुष समासघटित शब्दों की अपेक्षा द्वन्द्व-बहुव्रीहिसमास-घटित पद प्रायः अधिक शब्दयुक्त होते हैं, अतः अव्ययीभाव के बाद द्वन्द्व या द्वन्द्व के बाद तत्पुरुष इत्यादि क्रम से समासों का स्थापन नहीं किया गया है।

तत्पुरुष समास में द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तिसंबद्ध समासों का जो क्रम रखा गया है, वह सुप् विभक्ति के अनुसार है। इस प्रसङ्ग में यह लक्षणीय है कि इस पाद में षष्ठीतत्पुरुष का अनुशासन नहीं है, जिससे यह ज्ञापित होता है कि

१—इह कश्चित् समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुत्तरपदार्थप्रधानः, कश्चिदन्यपदार्थप्रधानः, कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः (भाष्य २।१।६)।

२—अन्वर्थसंज्ञा चेयं महती पूर्वपदार्थप्राधान्यम् अव्ययीभावस्य दर्शयति (काशिका २।१।५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि के अनुसार 'सम्बन्ध' कारक नहीं है[1]। पहले विभक्तिसहभावी तत्पुरुष, और उसके बाद सामानाधिकरण्य-घटित तत्पुरुष का उल्लेख है। द्वितीय पाद में तत्पुरुष के जिस अंश का विवरण है, उसे तत्पुरुष का परिशिष्टभूत कहा जा सकता है। यह प्रकरण २।२।२२ सूत्र पर समाप्त होता है। तत्पुरुष को दो पादों में रखने का कारण क्या है, यह चिन्त्य है। हो सकता है कि तत्पुरुष के जितने सूत्र द्वितीय पाद में हैं, उनकी निजी विशिष्टता है। वे मुख्यतः षष्ठीविभक्ति से सम्बद्ध हैं। और, षष्ठी वस्तुतः कारक नहीं है। इससे यह निर्गलित होता है कि प्रथम पाद में कारक से सम्बद्ध तत्पुरुष का विवरण है, तथा द्वितीय पाद में उससे भिन्न तत्पुरुष का सङ्कलन है और इस भेद के ज्ञापन के लिये पृथक् पाद का व्यवहार किया गया है।

२।२।२३ सूत्र से बहुव्रीहि समास का आरम्भ है। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि सम्पूर्ण तत्पुरुषप्रकरण ही क्यों नहीं प्रथम पाद में पढ़ा गया? किस हेतु से एक विषय दो पाद में विभाजित हुआ? उत्तर—बहुव्रीहि तत्पुरुषसमास का ही शेष है (शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३); यदि तत्पुरुष और बहुव्रीहि पृथक् पृथक् पाद में पठित हों तो शेष-शेषि-सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, अतः तत्पुरुष के परिशिष्ट भाग को पृथक् पाद में कहकर उसके बाद बहुव्रीहि का अनुशासन आचार्य ने किया है। पुनः शंका की जा सकती है कि तब तत्पुरुष और बहुव्रीहि को एक पाद में ही क्यों नहीं आचार्य ने पढ़ा, जिससे शेष-शेषि-सम्बन्ध और भी स्पष्ट रूप से द्योतित होता? उत्तर यह है कि अवयव की दृष्टि से तत्पुरुष और बहुव्रीहि में विलक्षणता है (जैसा कि पहले कहा गया है), और चूंकि द्वन्द्व के साथ समता है, अतएव द्वन्द्व और बहुव्रीहि के लिये पृथक् पाद की रचना करना ही आचार्य ने न्याय्य समझा। इससे यह भी ज्ञापित होता है कि तत्पुरुष का ही शेष बहुव्रीहि है, अव्ययीभाव का नहीं। यह बात भाष्य से भी प्रमाणित होती है[2]। यह प्रकरण २।२।२९ सूत्र में समाप्त होता है।

१—कारकाणामविवक्षा शेषः (भाष्य २।३।५०)। द्र० वाक्यपदीय ३ का०—'संबन्धः कारकेभ्योऽन्यः ... भिधीयते' (साधनसमुद्देश १५६)।

२—तत्पुरुषसमास में अनुक्त प्रथमा विभक्ति ही 'शेष है'—त्रिकतस्तर्हि शेषग्रहणम्। यस्य त्रिकस्य अनुक्तः समासः स शेषः। कस्य चानुक्तः, प्रथमायाः (भाष्य २।२।२३)। प्रथमान्तानां पदानां बहुव्रीहिरित्यर्थात् समानाधिकरणानां भवति। कण्ठेकाल इत्यादौ सप्तमीविशेषणे इति पूर्वनिपातविधानात् ज्ञापकाद् भवति (प्रदीप)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसर्जन का प्रयोग सभी समासों से सम्बद्ध है; अतएव सभी समासों के बाद २।२।३० सूत्र से उपसर्जन का उपन्यास किया गया है। इस प्रसङ्ग में और एक विषय आलोच्य है। यद्यपि उपसर्जनप्रकरण अन्यत्र भी पढ़ा जा सकता था, तथापि यहीं पर पढ़ने का एक गूढ़ उद्देश्य है। व्याकरणशास्त्र में उपसर्जन पद दो अर्थों में व्यवहृत होता है—अप्रधान (गौण) अर्थ में तथा पाणिनि दर्शित पारिभाषिक अर्थ में (द्र० १।२।४३)। समासप्रकरण के साथ उपसर्जनप्रकरण का पाठ कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि यह शब्द यहाँ पर पारिभाषिक अर्थ को ही कहेगा, (क्योंकि पारिभाषिक अर्थ समास से ही सम्बद्ध है)—अप्रधान अर्थ को नहीं कहेगा। साथ ही यह भी विज्ञापित होता है कि असमासप्रकरण में कथित उपसर्जन शब्द सदैव अप्रधानवाची ही होगा, जैसे 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) आदि सूत्रों में देखा जाता है। प्रकरण के बल पर अनेक सन्दिग्धार्थक शब्दों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं,[1] जिसके अनेक उदाहरण इस निबन्ध में यथास्थान दिए गए हैं। कुछ शब्द भिन्न प्रकरण में भिन्नार्थ के वाचक होते हैं, अष्टाध्यायी में व्यवहृत 'गोत्र' शब्द इसका एक उदाहरण है। व्याख्याकारगण कहते हैं कि अपत्याधिकार (चतुर्थ अध्याय का प्रथम पाद) से अन्यत्र पठित गोत्र शब्द लौकिक गोत्रवाची है, पाणिनि द्वारा परिभाषित अर्थ का वाचक नहीं है।

तृतीय पादः—सुप् विभक्तियों का अर्थ (अर्थात् किस अर्थ में कौन विभक्ति होती है) और उन विभक्तियों का विधान इस पाद में हैं। समास के बाद भिन्न पाद में विभक्तियों का अनुशासन क्यों किया गया है, इसके उत्तर में वक्ष्यमाण न्याय द्रष्टव्य है, यथा—पूर्वोक्त समास के बाद समास के प्रकृतिभूत सुबन्त पद की घटक सुप् विभक्तियों का अर्थ-कथन न्याय-प्राप्त होता है (अष्टाध्यायी में सर्वत्र किसी विषय के निर्देश के बाद उसका अर्थ कहा गया है, क्योंकि शब्दज्ञान के बाद ही उसके अर्थज्ञान के लिये प्रवृत्ति होती है); अतः सुप् विभक्तियों का अर्थ तथा उनका विषय-निर्देश यहाँ पर किया गया है। बाद के अध्यायों में इसका अनुशासन हो नहीं सकता, क्योंकि उन अध्यायों के विषय से इस विषय का कोई गौण भी सम्बन्ध नहीं हैं। पहले अध्याय में भी यह विषय

१—देवतान्तात्............(५।४।२४) सूत्र पर नागेश कहते हैं—तदर्थे लाक्षणिकात् स्वार्थे यद् इत्यर्थः। प्रकरणाविरोधाय एवमेव युक्तं व्याख्यानम् (बृहच् शब्देन्दु० पृ० १५३८)। प्रकरण के विरोध-अविरोध के प्रभाव के लिये यह स्थल द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथित नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य पदों के सङ्कलन से इन विभक्तियों का कोई साक्षात् सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता। यह कहना और भी युक्ततर होगा कि अब तक पदों का सम्पूर्ण भेद और कारक का विवरण दिया गया है, पर पद और कारक की सिद्धि के लिये विभक्ति का प्रयोगात्मक ज्ञान अपरिहार्य है, अतः तृतीय पाद में (इन विषयों के कथनानन्तर) उसका अनुशासन किया गया है। यह भी जानना चाहिए कि समास का अर्थ सुप् विभक्ति से रहित नहीं है (द्र० शब्दरत्न १.२।४६), अतः समास के बाद सुप् विभक्ति का अनुशासन सर्वथा न्याय्य है।

विभक्तियों के निर्देश-क्रम में रहस्य है। क्रम है--द्वितीया, चतुर्थी, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, प्रथमा और षष्ठी। कुछ ऐसे स्थल हैं, जहाँ चतुर्थी द्वितीया की बाधिका होती है, तथा कुछ विशेष स्थलों पर सप्तमी चतुर्थी की बाधिका होती है। तृतीया और पञ्चमी के विषय में भी यही नियम प्रवर्तित होगा; अतः स्पष्ट है कि इस क्रम में विप्रतिषेध-नियम (१।४।१) अनुस्यूत है। षष्ठी सब के अन्त में है, क्योंकि सभी विभक्तियों से षष्ठी बलिष्ठ और व्यापकतम है; जैसा कि कहा जाता है--'सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी'। किञ्च कारकान्तर की अप्राप्ति के स्थल में षष्ठी ही होती है। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि किस प्रकार वैयाकरण-सम्प्रदाय में प्रचलित अनेक मुख्य सिद्धान्त सूत्रक्रमविचार से ही ज्ञापित होते हैं। भाष्यवार्त्तिकों के अनेक मौलिक मत सूत्रों में बीज रूप में अवश्यमेव निहित हैं (सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके—तन्त्रवार्त्तिक पृ० ६०६)—यह प्राचीन मत कपोलकल्पित नहीं है[1]।

चतुर्थ पाद :—समास-सम्बन्धी लिङ्ग-वचनों का निर्देश आरम्भ में किया गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सामान्यपदों की सिद्धि के लिये

१—इस मत का अतिरेक भी है (द्र० शब्देन्दु, बहुव्रीहिप्रकरण भैरवमिश्रटीका) जिसमें यह सोचा जाता है कि सूत्रकार ने वार्त्तिकोक्त सभी बातों को जानकर भी उनका संनिवेश सूत्र में नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि वार्त्तिककार उन मतों को बाद में कहेंगे। सूत्रकार ने संक्षेपार्थ अनेक प्राचीन शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किया, यह मानना ही संगत जँचता है। यह भी असम्भव नहीं कि पाणिनि के बाद भी कुछ नए शब्द प्रवर्तित हुए हों। सूत्रों से सभी वार्त्तिकोक्त बातों को निकालने के लिये जो चेष्टा न्यासकार ने किया है, वह कहीं कहीं हास्यजनक ही है, यद्यपि यह भी सत्य है कि वार्त्तिकोक्त कुछ बातें सूत्रों से भी न्याय्य पन्था से सिद्ध होती हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार विशेषपदरूप समास के विचित्र अवयव-ज्ञान के लिये (अर्थात् कभी-कभी समास के कारण ही लिङ्ग-वचन में विलक्षणता आ जाती है, अन्यथा नहीं आती—यही अवयव-वैचित्र्य है) भी लिङ्ग और वचन का ज्ञान अवश्य करणीय होता है, क्योंकि 'सुब्रहित समासार्थ नहीं हो सकता है' तथा लिङ्ग-वचनों के साथ सुप् का सम्बन्ध अविच्छेद्य है; अतः चतुर्थपाद में इन दोनों विषयों का उपन्यास किया गया है। पहले वचन का उल्लेख और उसके बाद लिङ्ग का उल्लेख क्यों किया गया—यह चिन्तनीय है। सम्भव है कि यहाँ वचन के रूप में 'एकवद्भाव' का विचार है, जो औत्सर्गिक एकवचन के कारण लिङ्ग से अधिक व्यापक है, और इसलिये प्रधानता के कारण पहले उल्लिखित हुआ है। इस प्रसङ्ग में यह भी विज्ञेय है कि चूँकि यह प्रकरण समासरूप पदविशेष के लिये है, इसलिये व्यासरूप सामान्यपद के लिये भाषित विभक्त्यर्थ-विचारात्मक पाद से पृथक् पाद में यह अनुशिष्ट हुआ है। यह प्रकरण २।४।३१ सूत्र में समाप्त होता है।

२।४।३२ सूत्र से जिन विषयों का उपन्यास किया गया है, वे विशेष पद के परिशिष्टभूत हैं—ऐसा कहा जा सकता है। पाणिनि ने अन्वादेश को विशेष पद की तरह पढ़ा है। इस विषय में निम्नलिखित न्याय द्रष्टव्य है—अन्वादेशजन्य पद राम इत्यादि पदसामान्यों की तरह नहीं हैं (क्योंकि अन्वादेशजन्य पद का अर्थ अन्य-पदार्थ सापेक्ष है, जबकि रामादि पदों का अर्थ स्वप्रतिष्ठ हैं) तथा यह कारक, पाचक आदि की तरह स्पष्ट रूप से प्रकृति-प्रत्ययों में विभजनीय भी नहीं हैं, अतः इस विषय को प्रथम तथा तृतीय अध्याय में नहीं कहा गया है (यदि उपर्युक्त विशिष्टता न होती, तो यह इन दोनों अध्यायों में से किसी एक में अवश्य पठित होता, क्योंकि प्रथम अध्याय में पदसामान्य का सङ्कलन है, तथा तृतीय अध्याय में पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग है)। समास जिस प्रकार विशिष्ट पद है (एकाधिक बोध से सम्पृक्त होने के कारण) उसी प्रकार अन्वादेश भी विशिष्ट पद है (बोधान्तरसापेक्षता के कारण), अतः पाणिनि ने अन्वादेश को समास के बाद पढ़ा है। यह भी जानना चाहिए कि अन्य अध्यायों में जो पद के स्थान में आदेश हैं (जैसे षष्ठ अध्याय में) वे प्रत्यय-सापेक्ष हैं, और यहाँ का अन्वादेश बोधसापेक्ष है, अतः प्रत्ययादिसापेक्ष अन्य प्रकार के पदादेशों के साथ इसका पाठ पाणिनि ने नहीं किया है। यह प्रकरण २।४।३४ पर्यन्त है।

जिस प्रकार अन्वादेश एक विशिष्ट पद है, उसी प्रकार आर्धधातुक-सम्बन्धी धात्वादेश भी एक विशिष्ट धातु ही है, अतः नामादेश के बाद २।४।३५ सूत्र से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धात्वादेशों का उपन्यास किया गया है। आर्धधातुक-सम्बन्धी अन्य एक अधिकार-सूत्र षष्ठ अध्याय (६।४।४६) में भी है, पर इन दोनों धात्वादेशों में मौलिक भेद होने के कारण एकत्र दोनों का पाठ नहीं किया गया है। षष्ठ अध्याय गत आर्धधातुकीय सूत्रों से निर्दिष्ट कार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि आर्धधातुक प्रत्यय वस्तुतः आगे (पर में) उपस्थित हो, अर्थात् षष्ठ अध्याय के 'आर्धधातुके' (६।४।४६) सूत्र में जो सप्तमी है, वह परसप्तमी है, पर यहाँ आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में (अर्थात् भविष्य में प्रत्यय आनेवाला है) धात्वादेश प्रसक्त होता है, अतएव आर्धधातुक-सम्बन्धी धात्वादेशों को दो पृथक् अध्यायों में विभाजित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकरण का आदेश यथार्थ आदेश भी नहीं है, क्योंकि जितने धातु आदिष्ट हुए हैं (यथा भू, ख्या, वच् आदि) वे स्वतन्त्र धातु हैं। अन्य अध्यायों के आदेशों में यह बात सर्वतोभाव से घटती नहीं है। प्रक्रिया में लाघव के लिये पाणिनि ने दोनों धातुओं में स्थान्यादेशभाव की कल्पना की है। यह प्रकरण २।४।५७ सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद २।४।५८ सूत्र से पदसम्बन्धी लुक्प्रकरण का आरम्भ होता है (प्रसङ्गतः गौणरूप से विकरण-सम्बन्धी लुक् भी है [२।४।७२], पर मूलतः यह लुक्प्रकरण नामसम्बन्धी है)। यद्यपि यह प्रकरण तद्धितप्रत्यय-सम्बन्धी है, तथापि यहाँ पर पढ़ने का विशिष्ट कारण है, यथा—जिस प्रकार प्रत्ययविशेष के विषय में स्वतन्त्र धातु (वच्यादि) आदेश रूप से निर्दिष्ट हुए हैं, उसी प्रकार प्रत्यय-विशेषरूप लुक् के विषय में भी स्वतन्त्र (शब्दजन्य नहीं) शब्द की सिद्धि लुग्विधान के द्वारा यहाँ की गई है, और इसी साम्य के कारण ही धात्वादेश के बाद लुक्प्रकरण का आरम्भ किया गया है। जैसे औडुलोमि शब्द (इकारान्त) के बहुवचन में अकारान्त शब्द की तरह रूप होता है—'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः'—इस वार्त्तिक (४।१।८५) से। यद्यपि प्रक्रिया में लाघव के लिये ऐसा किया जाता है, पर इस बहुत्व में जो अकारान्त उडुलोम शब्द है वह औडुलोमि शब्द से जात नहीं है—स्वतन्त्र है। यह हमलोगों की कपोल-कल्पित बात नहीं है, स्वयं भट्टोजिदीक्षित ने इस मत का स्पष्ट उल्लेख किया है—'तथा च बहुत्वाभावे औडुलोमिशब्द इकारान्तः। बहुत्वे तु अकारान्त उडुलोमशब्दोऽन्य एव। तस्य चेकारान्तेषु व्युत्पादनं प्रासङ्गिकमिति भावः। तथा च औडुलोमिशब्दस्य इदन्तस्य बहुत्वेऽदन्तत्वम् इति न भ्रमितव्यम्' (प्रौढमनोरमा, अजन्तपुंलिङ्गप्रकरण)। जान पड़ता है कि शब्द और अर्थ के साम्य को देखकर ही आचार्य ने एक से अन्य की उत्पत्ति दिखाई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लुक् के प्रसङ्ग में अन्यविषय-सम्बन्धी लुक् का विवरण भी है। यहाँ यह शङ्का होती है कि चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में भी (४।१।१७५–१७८) नाम-सम्बन्धी तद्धित-प्रत्ययपराश्रित लुक् का विवरण है, जो इस प्रकरण के लुक् के सदृश है, अतः चतुर्थ पाद के लुक्[1] प्रकरण में ही तद्धितीय लुक् प्रकरण का पाठ क्यों नहीं किया गया ? ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने इसका उचित उत्तर दिया है, यथा—"तद्राजस्य बहुषु (२।४।६२) इति प्रकरणे एवेदं न कृतम्, द्वयेकार्थवाचकस्याञो लुगभावप्रसङ्गात्। यद्यपि लुगधिकारे पुनर्लुग्विधानसामर्थ्यात् द्वयेकयोरप्यञो लुग्भविष्यत्येवेति वक्तुं शक्यं, तथापि अतद्राजस्यापि लुक्प्रसङ्गशङ्कापत्तेर्लाघवाभावाच्च तत्प्रकरणे न कृतमित्याहुः" (तत्त्वबोधिनी ४।१।१७५)। यद्यपि यह विचार केवल 'कम्बोजाल्लुक्' (४।१।१७५) सूत्र के लिये किया गया है, तथापि यह पूर्ण प्रकरण में चरितार्थ होगा।[2]

लुक्प्रकरण के बाद 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' (२।४।८५) सूत्र से इस पाद की समाप्ति होती है। यह सूत्र नाम-सम्बन्धी नहीं है, प्रत्युत लादेश-सम्बन्धी है, अतः तृतीय अध्याय के लादेशों (३।४।७९–११७) के साथ इसका पाठ क्यों नहीं किया गया है—ऐसी शङ्का होती है। उत्तर में वक्तव्य है कि पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता के लिये ही इस सूत्र को यहाँ पर पढ़ा गया है, अन्यथा यह 'परस्मैपदानाम्..........' (३।४।८२) सूत्र के साथ ही पठित होता। अर्थात् यदि यह सूत्र प्रत्ययाधिकार (अर्थात् तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद) में पठित होता, तो ड् की इत् संज्ञा होने के कारण अनेकाल्त्व न रहने से 'डा' आदेश का सर्वादेशत्व

---

१. गोत्रेऽलुगचि (४।१।८९) से तद्राजप्रकरणविहित (२।४।६२) लुक् का अलुक् होता है, अतः गोत्रेऽलुगचि सूत्र को द्वितीयाध्याय में ही क्यों नहीं रखा गया—यह प्रश्न हो सकता है। नागेश कहते हैं—प्राग् दीव्यतीय इति विषयलाभार्थं द्वितीये नेदमकारि (शब्देन्दु, तद्धित प्रकरण पृ० १९२)।

२. एकवाक्यता के कारण उत्सर्गापवाद के बाध्य-बाधकभाव की स्थिति अष्टाध्यायी में सर्वत्र है। वाक्यपदीय के ये श्लोक इस प्रसङ्ग में स्मार्य हैं—अनेकाख्यातयोगेऽपि वाक्यं न्यायापवादयोः। एकमेवेष्यते कैश्चिद् भिन्नरूपमिव स्थितम्॥ नियमः प्रतिषेधश्च विधिशेषः तथा सति। द्वितीये यो लुगाख्यातः तच्छेषमलुकं विदुः" ॥ (२।३५३–३५४); द्वितीयअध्याय–गत लुग्विधि का शेष षष्ठाध्यायगत लुक्-प्रतिषेध है; उसी प्रकार षष्ठाध्याय के 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र में जिस लुक्प्रतिषेध का विधान है, वह 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) सूत्र का अङ्ग है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध नहीं होता और इस सर्वादेशत्व के विना 'भविता' प्रयोग का निर्माण दुष्कर होता, अतः प्रक्रियालाघव के लिये इस सूत्र को प्रत्ययाधिकार से हटाकर (जो इसका उपयोगी स्थल है) यथेच्छरूपेण द्वितीय अध्याय के अन्त में (अर्थात् प्रत्ययाधिकार से पहले) पढ़ा गया है।

इस प्रकार इन दोनों अध्यायों में वाक्यों से सामान्य तथा विशेष पदों का संकलन समाप्त हो जाता है; इसके बाद संकलित पदों का विश्लेषण (प्रकृति-प्रत्ययविभाग) किया जाएगा।

तृतीय अध्याय का संगतिविचार—अब हम अष्टाध्यायी के द्वितीय भाग (३—५ अध्याय) अर्थात् पद-विश्लेषण-प्रकरण की संगति के विषय में आलोचना करेंगे। प्रथम और द्वितीय अध्याय में यथाक्रम सामान्य तथा विशेष पदों का संकलन हो चुका है, अतः यहाँ से उन संकलित पदों का विश्लेषण (प्रकृति-प्रत्यय में विभाग) किया जाएगा। कैयट ने कहा है—'पदनिमित्तात् प्रत्ययविधेः' (प्रदीप ३।१।९२), अतः पदों का संकलन करने के बाद प्रकृति-प्रत्यय-प्रकरण का आरम्भ करना संगत ही होता है।

शङ्का हो सकती है कि इस अध्याय का प्रथम सूत्र 'प्रत्ययः' (३।१।१) ही क्यों है, जब कि प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों का ही उल्लेख इन अध्यायों में किया जाएगा? उत्तर यह है कि प्रत्यय सदा प्रकृतिसापेक्ष ही होता है, क्योंकि प्रत्ययों के स्वकीय अर्थ नहीं हैं, अतः प्रत्यय के उल्लेख से ही प्रकृति का भी उल्लेख अविनाभावी सम्बन्ध के कारण हो जाता है—ऐसा समझना चाहिए। किंच व्याकरण की यह विशिष्टता है कि वह पदों का अन्वाख्यान प्रकृति तथा प्रत्यय में विभागकर करता है, निरुक्तशास्त्र की तरह केवल प्रकृति का उल्लेख कर ही शब्दों का विश्लेषण नहीं करता, अतः व्याकरणशास्त्र की अपनी विशिष्टता के ज्ञापनार्थ पाणिनि ने 'प्रत्ययः'—ऐसा अधिकार-सूत्र रचा है। धातु और नाम रूप प्रकृतिद्वय का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह भी विज्ञेय है कि शब्दशास्त्र में एक न्याय है—'प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'[1] अतः 'प्रत्यय' के लिये पृथक् अध्यायों की रचना (३–५ अध्याय) करना उचित ही है।

अष्टाध्यायी के प्रथम विभाग से इस दूसरे विभाग की एक मौलिक विशिष्टता है। इस विभाग में जिस प्रकार का शाब्दिक विश्लेषण किया जाएगा, वह काल्पनिक (शास्त्रमात्रगम्य) है, अर्थात् लोकविदित नहीं है। लोक में पदप्रयोग

१. वैयाकरणभूषणसार (८ कारिका)-गत विवरण द्रष्टव्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समय प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञानपूर्वक पदों का प्रयोग नहीं किया जाता। व्याकरण-शास्त्र में पदों के अर्थ की तरह प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थों का अनुशासन किया गया है, पर पदों का अर्थ प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थ की तरह काल्पनिक नहीं है। 'पद' को जब अर्थवान् कहा जाता है तब वह अर्थ लौकिक (लोकविदित), आपामर-बोधगम्य होता है, पर प्रकृति-प्रत्यय को जब अर्थवान् कहा जाता है, तब वह अर्थ केवल शास्त्रीय (व्याकरण में दर्शित) मात्र होता है—व्याख्याकारों ने स्पष्ट रूप से इस मत का प्रतिपादन किया है। प्रकृत्यादि के अर्थों की शास्त्रीयता के विषय में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—प्रकृत्यादिविभागः, तत्तदर्थविभागश्च सर्वः कल्पित एव (प्रौढ़मनोरमा १।२।४५)।[1]

इस द्वितीय भाग में पहले धातु के विकसित स्वरूप का विवरण, उसके बाद उन धातुओं से नामों का व्युत्पादन, तथा धातुजन्य तिङन्त पदों का प्रयोग और उसके बाद नाम से नाम का व्युत्पादन किया गया है। यहाँ पहले कारणीभूत शब्दों का उल्लेख, और उसके बाद उससे जात शब्दों का उल्लेख, ऐसा क्रम रखा गया है, तथा कदाचित् अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग दृष्टि से भी प्रकरणों की स्थापना की गई है, जैसा आगे स्पष्ट दिखाया जाएगा।

प्रथमपाद—'प्रत्ययः' 'परश्च' इन दोनों सूत्रों (३।१।१—२) के बाद प्रत्यय-सम्बन्धी मुख्य स्वर का उल्लेख 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) सूत्र में किया गया है। शङ्का हो सकती है कि यह स्वर-विधि षष्ठ अध्याय के विस्तृत स्वर-विधि के साथ क्यों नहीं पठित हुई? प्रत्यय के साथ ही प्रत्यय-स्वर का उल्लेख क्यों किया गया, जब कि इसके अन्य सजातीय स्वर षष्ठ अध्याय में विहित हुए हैं? भाष्यकार ने इस पर विस्तृत विचार कर उत्तर दिया है (द्र० भाष्य ३।१।३)। नागेश ने उसका सारांश निम्नलिखित वाक्य में दिखाया है—'एवं च शेषनिघातद्वारा आगमानुदात्तत्वसिद्धये एवात्रास्य सूत्रस्य पाठः' (उद्द्योत)। यदि यह विशिष्ट प्रयोजन नहीं होता, तो यह अवश्य ही षष्ठ अध्याय में पठित होता।

१—इस प्रकृतिप्रत्यय-विभाग में यह भी ज्ञातव्य है कि तद्धित में जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग है, उसमें प्रकृति-अंश उतना कल्पित नहीं, जितना कि 'भवति' प्रयोग गत भू-धातु-रूप प्रकृति भाग कल्पित है। तद्धित-प्रत्यय की प्रकृति निश्चित है, सम्भवतः 'सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः' कहने से भी यही सिद्ध होता है। समास में एकार्थीभाव मानने पर भी उसके अवयव निश्चित रहते हैं, जब कि 'भवति' के धातुरूप अवयव को 'भू' भी माना जा सकता है, 'भव' भी। प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की काल्पनिकता पर स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जाएगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्यता के कारण प्रत्यय-विचार के बाद ही कृत्रिम धातु के निष्पादक प्रत्ययों का उल्लेख ३।१।५ सूत्र से किया गया है। पहले धातु-सम्बन्धी प्रत्ययों का उल्लेख है, क्योंकि शब्दशास्त्र के अनुसार धातु ही सभी शब्दों के मूल हैं ('धातूनां सर्वमूलत्वात्'—शब्देन्दुशेखर ३।१।७१)। प्रयोग की दृष्टि से (परमार्थतः नहीं) धातु दो प्रकार का होता है—मौलिक (भू आदि) तथा कृत्रिम, अर्थात् मूलधातु से प्रत्यय जोड़कर जो नूतन धातु बनता है (यथा भू से बुभूष् धातु)। चूँकि ये दो प्रकार के धातु ही कृदन्त शब्दों के मूल हैं, अतः कृत् प्रत्यय के आरम्भ से पहले ही इन धातुओं का विवरण दिया गया है (सन्, यङ् आदि प्रत्ययों के उल्लेख के साथ), क्योंकि कृत्रिम (प्रत्ययान्त) धातु, इन्हीं सन्-यङ् आदि प्रत्ययों से बनते हैं। सनादि प्रत्यय धात्वंशभूत प्रत्यय कहे जाते हैं, और अंशभूत होने के कारण ही इसी स्थल पर इनका उपन्यास किया गया है—किसी स्वतन्त्र प्रघट्टक में नहीं। इन सनादि प्रत्ययों का विवरण ३।१।३१ सूत्र पर समाप्त होता है।

यहाँ पर दो शङ्काएँ होती हैं। प्रथम—पहले अध्याय में जहाँ धातु का उल्लेख है (भूवादयो धातवः १।३।१), वहीं इन कृत्रिम धातुओं का उल्लेख क्यों नहीं किया गया है, तथा द्वितीय—क्यों नहीं धातुसंज्ञाविधायक सूत्र (१।३।१) ही इस स्थल पर पठित हुआ? यदि पाणिनि 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) सूत्र के बाद 'भूवादयश्च'—ऐसा सूत्र-क्रम रखते, तो अवश्य ही लाघव होता।

प्रथम शङ्का के उत्तर में यह वक्तव्य है कि भू आदि मौलिक धातुओं और और इन कृत्रिम धातुओं में व्यवहारतः भेद है; भू आदि धातु विभाज्य नहीं हैं, और ये सनाद्यन्त धातु प्रकृति-प्रत्यय में विभाज्य हो सकते हैं, अतः अखण्ड-सखण्ड-रूप विशिष्टता के कारण आचार्य ने पृथक् प्रत्ययविवरणात्मक अध्याय में सखण्ड धातुओं का उपन्यास किया है। द्वितीय शङ्का के उत्तर में यह जानना चाहिए कि सूत्रकार ने वैसा नहीं किया है, क्योंकि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) सूत्र में धातुपद की अनुवृत्ति की आवश्यकता है, जो पहले धातु-संज्ञासूत्र के रहने पर ही सम्भव हो सकता है, अतः 'भूवादयो धातवः' सूत्रों को पृथक् कर प्रथम अध्याय में पढ़ना पड़ा। पुनः यह शङ्का उठाई जा सकती है कि 'अनुदात्त......' (१।३।१२) सूत्र को ही तृतीय अध्याय में पढ़कर इस स्थल पर भूवादि सूत्र का पाठ क्यों नहीं किया गया? उत्तर यह है कि प्रत्यय-विधानात्मक इस विभाग में आत्मनेपद के उपन्यास की कोई भी सङ्गति नहीं होती, अतः पाणिनि ने वैसा नहीं किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातुस्वरूप के विवरण के बाद ३।१।३३ सूत्र से 'विकरण' (एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यय) का आरम्भ किया गया है। चूंकि ये विकरण धातु के अव्यवहित पर में होते हैं, तथा कृत्प्रत्यय से ये अन्तरङ्ग हैं, अतः कृत्प्रत्ययों से पहले इन विकरणों का उपन्यास किया गया है। विकरणों के स्थापन-क्रम में भी एक लक्षणीय बात है, यथा—विकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) आर्धधातुक विकरण—स्य, सिच् आदि तथा (२) सार्वधातुक विकरण-श, शप् आदि। आर्धधातुक विकरणों के उल्लेख के बाद सार्वधातुक विकरणों का उल्लेख किया गया है, क्योंकि गणभेद होने पर भी आर्धधातुक विकरण परिवर्तित नहीं होते हैं, अतः नियतता के कारण आर्धधातुक विकरणों का उल्लेख पहले किया गया है। किं च स्य, सिच् आदि आर्धधातुक विकरण अन्तरङ्ग हैं, और श, शप् आदि बहिरङ्ग[1] हैं (भाष्य ३।१।३३), इसलिये भी आर्धधातुक विकरण के बाद सार्वधातुक विकरण कथित हुए हैं। यह भी जानना चाहिए कि कृत्प्रत्ययों से पहले इन विकरणों के उल्लेख का कारण यह है कि अनेक कृदन्त प्रयोगों में (यथा धारयः, पारयः आदि पदों में) कृत्प्रत्यय से पहले विकरण होते हैं, अतः प्रयोग में प्राथम्य के कारण विकरणों का उपन्यास पहले किया गया है। यह प्रकरण ३।१।८६ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद ३।१।८७ सूत्र में कर्मकर्तृवाच्य का प्रसंग है। यद्यपि यहाँ पर इस सूत्र का औचित्य प्रतीत नहीं होता है (कारकप्रकरण में इसको कहना चाहिए था—ऐसा कहा जा सकता है), तथापि यहाँ पर इसको कहने का एक विशिष्ट प्रयोजन है। कर्मकर्तृ भाव से यक्, चिण् आदि का सम्बन्ध है, और वे यहीं उपदिष्ट हुए हैं, अतः लाघव के लिये सूत्रकार ने यहाँ पर कर्मवद्भाव का प्रसङ्ग किया है। किञ्च कर्मकर्तृभाव में कर्तृपद की आवश्यकता है, और कर्तृत्व-सम्बन्धी विकरण इस स्थल के 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) सूत्र में कहा गया है, अतः लाघव के लिये सूत्रकार को यहीं कर्मवद्भाव का प्रसंग करना पड़ा।

कृत्प्रत्ययों की प्रकृतिभूत सामग्री का विवरण यहाँ तक हो जाता है, अतएव 'धातोः' (३।१।७१) इस अधिकारसूत्र से कृत्प्रत्ययों का आरम्भ किया गया है। यदि 'धातोः' सूत्र यहाँ पर पठित नहीं होता, तो नाम से भी कृत्प्रत्यय होने लगते, इस दोष के निराकरण के लिये यहाँ इस सूत्र का पाठ किया गया है।

१—अथवा अन्तरङ्गाः स्यादयः। काऽन्तरङ्गता? लावस्थायामेव स्यादयः, सार्वधातुके श्यन्नादयः। इस स्थल पर प्रदीपोद्द्योत का विचार महत्त्वपूर्ण है। स्यादि विकरण अल्पापेक्ष है, यह भी एक मत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्प्रत्ययों के दो मुख्य विभाग हैं—कृत् और कृत्य। कृत्य तथा कृत् में कुछ मौलिक भेद है, जिसके लिये आचार्य को एक कृत् प्रत्यय के दो भाग करने पड़े। कृत्य प्रत्ययों में कालावलम्बी बोध आवश्यक नहीं है, वस्तुतः इन प्रत्ययों में विधि आदि प्रकारों एवं भाव-कर्म का बोध प्रबल है, इसलिये कृत्प्रत्ययों में कृत्यरूप एक अवान्तर विभाग की कल्पना करनी पड़ी। किञ्च स्वर-विधि में कृत्यसंज्ञक प्रत्यय में विशिष्ट कार्य होता है (अष्टा० ६।२।१६०) तथा कृत् और कृत्य प्रत्ययों के निश्चित अर्थ भी हैं[1]। अतः इन दोनों विभागों की कल्पना करना न्यायसंगत है। इस विषय में यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि कुछ कृत् प्रत्यय (यथा ण्वुल्, तृच् आदि) और सभी कृत्यप्रत्ययों का कालविशेष से अनवच्छिन्नअर्थ-बोधन में साम्य है (अर्थात् ये दो ही त्रैकालिक क्रिया का द्योतन करते हैं) तथापि इन दोनों का पृथक्करण न्याय्य है क्योंकि कृत्यसंज्ञक प्रत्यय सकर्मक और अकर्मक रूप प्रकृतिभेद से क्रिया तथा कारक—इन दोनों का वाचक होता है, परन्तु कृत् प्रत्यय सदैव कारकवाचक होता है; अतः कृत् प्रत्ययों से कृत्य नामक एक अवान्तर भेद की कल्पना पाणिनि को करनी पड़ी। स्वरूप में लघुता(संख्याल्पता) के कारण पहले कृत्य प्रत्यय हैं और उसके बाद कृत्प्रत्यय हैं (सूचीकटाह-न्याय से)। यह प्रकरण ३।१।१३२ सूत्र पर समाप्त होता है।

नाम-विशेषण-निष्पादक कृत्य प्रत्ययों के बाद नाम-विशेषण-निष्पादक कृत् प्रत्ययों का आरम्भ ३।१।१३२ सूत्र से है। ये प्रत्यय (ण्वुल्, तृच् आदि) कालानुसार विभक्त हैं, कारक तथा साधन आदि के अनुसार नहीं। कालानुसार कृत्प्रत्ययों के विभाजन के विषय में कैयट ने कहा है—'कालप्रकरणात् कालेन सामानाधिकरण्यार्थम्' (प्रदीप ३।३।१३१)। इस विषय में निम्नलिखित न्याय भी द्रष्टव्य हैः—कृत्प्रत्ययों से द्रव्य (लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्; यह द्रव्य शब्दशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, वैशेषिक के 'गुणक्रियावद् द्रव्यम्' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है) का अभिधान होता है। वह द्रव्य दो प्रकार का है—कारकरूप तथा क्रियारूप। कारकरूप जैसे 'पक्व', 'पक्ता', 'पाचक' इत्यादि और क्रियारूप जैसे 'पाक', 'पक्ति' इत्यादि। भाष्य में भी दो प्रकार के 'भावों' का उल्लेख है—जो

---

१. यद्यपि कर्ता और करण में भी कभी-कभी कृत्यप्रत्ययान्त शब्द निष्पन्न होते हैं, तथापि कृत्यप्रत्यय के भावकर्म रूप दो अर्थ लिए जाते हैं। जयकृष्ण कहते हैं—"यद्यपि कृत्यानामर्थौ भव्यगेय इत्यादौ कर्तापि, वह्यं स्नानीयमित्यादौ करणादिरपि, तथापि न तत्र कृत्यत्वेन कर्त्रादिषु विधानं किं तर्हि स्वरूपेण। कृत्यतया विधानं तु भावकर्मणोरेवेति (कृत्यार्थे...३।४।१४ सुबोधिनी)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति' (३।१।६७) इस वाक्य से ध्वनित होता है। 'द्रव्यवत् भवति' का अर्थ है—द्रव्यधर्मान्[1] लिङ्गसंख्यादीन् गृह्णाति (प्रौढ-मनोरमा भावकर्मप्रक्रिया पृ० ७५०)। 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) सूत्रभाष्य में इन दोनों प्रकार के भावों का सविशेष वर्णन है। कृत् प्रत्यय से कारक का अभिधान होने पर भी प्रकृति के द्वारा क्रिया का ही अभिधान होता है और क्रिया सदैव कालसापेक्ष ही होती है, जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है— 'क्रियाभेदाय कालस्तु (३।९।२), अतः यद्यपि कृत्प्रत्यय कारक-विशेष में विहित है तथापि कालानुसार उसका विधान न्यायसंगत ही होता है। आकर ग्रन्थों में इस युक्ति का विषदीकरण द्रष्टव्य है।

कालानुसारी कृत्प्रत्यय-विभाग में निम्नलिखित क्रम है। पहले (३।१।१३३ सूत्र से ३।२।८३ सूत्र तक) सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्यय, उसके बाद ३।२।८४ सूत्र से भूतकाल-सम्बन्धी प्रत्यय और उसके बाद वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय हैं। तीसरे पाद में पहले भविष्यत्कालद्योतक प्रत्यय और उसके बाद विशेष्यपद-निष्पादक कृत्प्रत्यय हैं। चूंकि वर्तमानकाल से पहले भूतकाल होता है और वर्तमानकाल के बाद भविष्यत्काल होता है, अतएव 'भूत-वर्तमान-भविष्य' कालक्रमद्योतक प्रत्ययों का विभाग न्याय्य है। यदि ऐसा तर्क किया जाए कि भूत-भविष्यत्प्रत्ययों को एक स्थल में तथा वर्तमान प्रत्ययों को अन्य स्थल में पृथक्-पृथक् क्यों नहीं पढ़ा गया, तो उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्रानुसार भविष्यत्काल से वर्तमानकाल का बाध होता है, अतएव ऐसा क्रम युक्त नहीं है (प्रदीप ३।३।३)। चूंकि पाणिनीय-परिभाषा के अनुसार विप्रतिषेध में 'पर' ही बलवान् होता है (१।४।२) इसलिये भविष्यत् को वर्तमान के बाद पढ़ना पड़ा।

द्वितीय पाद :—सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्ययों में भी अवान्तर क्रम है। प्रथम पाद में वे प्रत्यय हैं, जिनमें उपपद (३।१।९२) की अपेक्षा नहीं है, और द्वितीय पाद से उपपदसापेक्ष सार्वकालिक प्रत्यय हैं। इसीलिये सूत्रकार ने सार्वकालिक प्रत्ययों को दो पृथक् पादों में रखा है। द्वितीयपाद में भी पहले कर्तृद्योतक प्रत्ययों का उपन्यास है, और उसके बाद अन्यकारकद्योतक

१—इस पर शब्दरत्नकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है—एवं च घटादिपद-प्रतिपाद्यघटादिद्रव्यमिव लिङ्गादिहेतुना घञन्तादि-प्रतिपाद्ये सत्त्वमनुमीयते इति भावः। इदमपि अव्ययकृदतिरिक्तविषयम्। कृत्येषु नपुंसकेतरलिङ्गयोगा-भावेन असत्त्वव्यवहारः केषांचिदिति बोध्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्ययों का। इन सार्वकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद मुख्यतः विशेषणभूत हैं। भूतकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद भी तादृश ही हैं।

तृतीय पाद--पहले उणादि-सम्बन्धी विवेचन है (३।३।१ से ३।१।३ तक) और उसके बाद भविष्यत्कालिक प्रत्यय हैं। उणादि सूत्रों का अनुशासन यहाँ पर क्यों है—यह एक गम्भीर प्रश्न है। उत्तर में वक्तव्य यह है कि उणादि-निष्पन्न शब्दों के अर्थों तथा इस पाद में दर्शित घञादिप्रत्ययनिष्पन्न शब्दों के अर्थों में पर्याप्त समानता है, अर्थात् द्वितीयपादपर्यन्त जितने कृत्-प्रत्यय हैं, उनसे निर्मित शब्दों में यौगिक भाव अत्यधिक है, और तृतीय पाद में दर्शित प्रत्ययों से निर्मित शब्दों में रूढ़ अर्थ अधिक मात्रा में है, अतः तृतीय पाद में ही रूढ़शब्द-निष्पादक उणादिप्रकरण का आरम्भ किया गया है[1]। किञ्च द्वितीय पाद पर्यन्त जितने शब्द बनते हैं, वे सभी कर्तृवाच्य में होते हैं (स्वल्प अपवादों को छोड़कर), पर तृतीयपादीय प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द वाच्यान्तर में भी होते हैं, और चूंकि उणादि में भी यही बात दिखाई पड़ती है, अतः यहाँ पर उणादि अनुशिष्ट हुआ है।

नाम-विशेषण-निष्पादक प्रत्ययों के बाद ३।३।१८ सूत्र से 'भाव' का अधिकार किया गया है (अर्थात् इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची हैं) क्योंकि कारकार्थक प्रत्ययविधान के बाद क्रियार्थक प्रत्यय का विधान ही प्रसक्त होता है। भावाधिकार के साथ 'कर्तृभिन्नकारक' (३।३।१९) का अधिकार भी है, क्योंकि भावार्थक प्रत्यय शब्दशक्तिस्वाभाव्य के कारण कारकार्थक भी होते हैं, अतः अर्थभेद होने पर भी लाघव के लिये पाणिनि ने भावप्रत्ययों का कारकार्थकत्व भी दिखाया है। करणादिकारक में जो ल्युडादि प्रत्यय होते हैं, वे भी प्रसङ्गतः इस प्रकरण में सङ्कलित हुए हैं। इस प्रकार कृत्प्रत्ययों का विचार ३।३।१३० सूत्र में समाप्त होता है।

पहले कहा जा चुका है कि 'धातोः' (३।१।७१) सूत्र का अधिकार तृतीय-अध्यायपर्यन्त है। धातु से दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं, कृत् और तिङ्। कृत् की

१—'उणादिजनित रूढ शब्द' पर निम्नोक्त वाक्य द्रष्टव्य है—प्राय उणादि-प्रत्ययान्ता रूढिशब्दाः अवयवार्थशून्याः, असन्तमपि अवयवार्थमाश्रित्य व्युत्पाद्यन्ते। तत्रापि प्रायः कर्तरि। बाहुलकादन्यत्रापीति द्रष्टव्यम्। तत्रापि प्रायो वर्तमानकाले एवेति भूते इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् (बृहच्छब्देन्दु पृ० २०७८)। वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय के बाद उणादि का जो अनुशासन किया गया, उसका यह एक कारण प्रतीत होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्ति के बाद तिङ्सम्बन्धी चर्चा ('ल'—का प्रयोग) का आरम्भ ३।३।१३१ सूत्र से किया गया है। इसमे पहले लट्, लुट् आदि लकारों का विधान यथास्थान किया गया है। अब उन सभी का अर्थ-प्रदर्शन (लकारार्थ) प्रसक्त होता है। अष्टाध्यायी में प्रत्ययविधान के बाद ही प्रत्ययार्थ का अनुशासन किया गया है, क्योंकि शब्दश्रवण के बाद सहजतः अर्थ-जिज्ञासा उत्पन्न होती है। व्याकरण शब्दप्रधान है ('व्याकरणे लक्षणप्रधाने—निरुक्त की दुर्गटीका २।२ ख०) अतः प्रत्ययानुशासन के बाद ही प्रत्ययार्थानुशासन करना युक्त होता है।

चतुर्थ पाद—आरम्भ में जो विचार है, वह कृत्प्रकरण का परिशिष्ट कहला सकता है। अव्ययकृत्प्रत्ययों का विवरण इसमें मुख्यतया है। अन्तिम अंश में (३।४।७७ सूत्र से) लादेश (ल् के स्थान में आदेश; ल् = दश लकार) का प्रसंग है। यहाँ इस प्रकरण के उपस्थापन का कारण यह है कि लादेशसिद्ध पद विशेष्यवाची होता है (वैयाकरणमत), अतः विशेष्यपदनिष्पादक अव्यय-कृत् (३।४।९ से आरब्ध) के बाद लादेश का प्रसंग अन्याय्य नहीं है। विकरण और कृत् की अपेक्षा लादेश बहिरङ्ग है (भाष्य ३।१।३२ द्रष्टव्य), अतः लकार-विधान के बाद लादेश का कथन न्यायसंगत ही है। यह भी हो सकता है कि जो 'सिद्धा कारकाङ्गरूपा भावरूपा क्रिया' है उसका विवरण समाप्त हो चुका है, 'विशेषणभूता साध्या क्रिया' भी समाप्त हो गई है, केवल 'विशेष्यभूता साध्या क्रिया' ही अवशिष्ट है, अतः ३।४।७७ सूत्र से उसका विवरण दिया गया है। लादेश में भी पहले टित्लकार (लट्, लिट् आदि) और उसके बाद ङित्लकार (लङ्, लिङ् आदि) का विवरण है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि टित्लकार में धातु का अधिकतर अंश अविकृत रहता है पर ङित् में अधिकांश विकृत हो जाता है; संभव है कि इस विचित्रता के लिये ही पाणिनि ने टित् के बाद ङित् का विधान किया हो।

चतुर्थाध्याय का संगति-विचार :—तृतीय अध्याय में धातु से सर्वविध नामों की उत्पत्ति दिखाई गई है। अब ४-५ अध्यायों में प्रधानतः नाम से नाम की उत्पत्ति दिखाई जाएगी। जिस प्रकार की प्रकृति से प्रत्यय जोड़कर नाम बनेंगे, उस प्रकृति का नाम सबसे पहले लिया गया है--'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' (४।१।१) सूत्र से। उसके बाद सुब्विभक्ति का सूत्र है (स्वौजसमौट्...४।१।२)। इस सूत्र को यहाँ पढ़ने का कारण यह है कि व्याकरणशास्त्र के अनुसार सुबन्तपद से तद्धितप्रत्यय होते हैं (सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः), अतएव सुप् विभक्ति के अनुशासन के बाद ही तद्धित का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशासन करना न्याय्य है। 'स्त्रियाम्' सूत्र से पहले 'स्वादिसूत्र' क्यों है—यह चिन्त्य है। कुछ ऐसे स्त्रीप्रत्यय हैं, जो सुप् के बाद होते हैं (या, सा आदि स्त्रीलिङ्ग पद इसके उदाहरण हैं), अतः स्त्रीप्रत्ययों से पहले सुब्विभक्ति का अनुशासन किया गया है, ऐसा कहना सम्भवतः अनुचित नहीं होगा।

सुप्सूत्र के बाद 'स्त्रियाम्' (४।१।३) सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का अधिकार किया गया है। तद्धित से पहले स्त्रीप्रत्ययों के उपन्यास का विशेष कारण है, क्योंकि वक्ष्यमाण तद्धितप्रत्यय जिस प्रकार सामान्य नाम से होता है, उसी प्रकार ङ्याबन्त से भी होता है (ङ्याबन्तात् तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूत्—सिद्धान्तकौमुदी ४।१।१)[1]। यह भी जानना चाहिए कि किसी प्रयोग में यदि स्त्रीप्रत्यय तथा तद्धितप्रत्यय युगपत् प्राप्त हों, तो स्त्रीप्रत्यय की प्राप्ति के बाद ही तद्धितप्रत्यय होगा—इस तत्त्व के ज्ञापनार्थ भी पहले स्त्रीप्रत्यय कहा गया है। स्त्रीप्रत्यय में दो अवान्तर भेद हैं—पहला साधारण स्त्रीप्रत्यय तथा दूसरा 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) सूत्राधिकार के अन्तर्गत। यह प्रकरण ४।१।८१ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद 'समर्थानां प्रथमाद् वा' (४।१।८२) सूत्र से तद्धितप्रकरण का आरम्भ होता है। शङ्का हो सकती है कि कृत् और तद्धित—इन दोनों से नाम का ही निर्माण किया जाता है, अतः दोनों के लिये पृथक् अध्याय क्यों है? उत्तर—कृत्प्रत्यय तथा तद्धितप्रत्यय की प्रकृति में भेद है, इसलिये पृथक् अध्यायों की आवश्यकता हुई। महाभाष्यकार भी कहते हैं कि 'तद्धित में सब उत्सर्गापवाद विभाषा होते हैं तथा तद्धित में प्रकृति प्रकृत्यर्थ में रहती है और अन्यशब्द से प्रत्ययार्थ का अभिधान होता है।' कृत् का यह वैशिष्ट्य नहीं है, यह ज्ञातव्य है (भाष्य ३।१।९४)। कृत् प्रत्यय के अनन्तर तद्धितप्रत्यय का स्थापन किया गया है (तद्धित के बाद कृत् नहीं, जैसा कि

१—अथ तद्धिताधिकारः स्त्रीप्रत्ययानामादित एव कस्मान्न क्रियते? किमेवं सति भवति? ङ्याबन्तमपि तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकमिति ङ्याप् प्रातिपदिकाद् इत्यत्र ङ्याब्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। प्राचां स्फस्तद्धिते इत्यत्र च तद्धितग्रहणम्। यस्येति चेतीकारग्रहणं च। तद्धित इत्येवं सिद्धत्वात्। अशक्यमेवं कर्तुम्। एवं हि क्रियमाणे तत्र ङ्याब्ग्रहणस्य यत् पूर्वं प्रयोजनमुक्तं तन्न स्यात्। ङीब्-ङीष्-ङीनां च ङकारस्येत्संज्ञास्तद्धित इति (३।१।८) प्रतिषेधात्। इह च पट्वीत्योर्गुण इति गुणः स्यात्। तस्माद् यथान्यासमेवास्तु (न्यास ४।१।७६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी किसी अर्वाचीन व्याकरण में देखा जाता है) क्योंकि 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' न्याय है (शिशुपालवधसर्वङ्कषा १।१७)। तद्धित की इस बलवत्ता के द्योतन के लिये भी पाणिनि ने कृत् के बाद तद्धित का अनुशासन किया है।

पञ्चम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त यह तद्धितप्रकरण है। जिस पद्धति के अनुसार तद्धित के प्रकरणक्रम रखे गए हैं, वह निम्नप्रकार है :—

तद्धितप्रकरण में दो मुख्य विभाग हैं—अस्वार्थिक प्रत्यय (अर्थात् प्रत्ययनिष्पन्न शब्द का अर्थ मूल प्रकृति से कुछ अधिक होता है) तथा स्वार्थिक प्रत्यय (अर्थात् प्रत्यय जोड़ने पर भी प्रकृति के अर्थ में परिवर्त्तन नहीं होता)। मुख्य होने के कारण पहले अस्वार्थिक प्रत्ययों का उपन्यास किया गया है। कृत्प्रत्ययों में जिस प्रकार कालानुसार प्रत्यय-विभाजन किया गया है, तद्धित प्रत्ययों में उस प्रकार विभाग नहीं किया गया, क्योंकि काल-विभाग के साथ तद्धितप्रत्ययों का कुछ भी सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता। तद्धितप्रत्यय और उनके अर्थक्रम में कोई समञ्जसता नहीं है, अतएव अर्थानुसारी प्रत्यय-व्यवस्था भी पूर्ण तद्धितप्रकरण में नहीं है। इसलिये आचार्य पाणिनि ने अस्वार्थिक प्रत्ययों में प्रत्ययावधि को लेकर अर्थों का उपदेश किया है। अपरिमित तद्धितार्थ की जटिलता के ह्रास के लिये सूत्रकार की यह प्रणाली उनकी लोकोत्तर प्रतिभा का एक निदर्शन है। अर्थोपदेश के क्रम में कोई वैज्ञानिक रहस्य नहीं है। तद्धितप्रत्ययों से जिन अर्थों का भान होता है, वे अर्थ उन प्रत्ययों के अधिकार में स्वेच्छा से रखे गए हैं। तद्धित प्रकरण में प्रत्ययावधि नियत है, उसके अन्तर्गत अर्थक्रम ऐच्छिक है। इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि अर्थनिर्देश का क्रम ऐच्छिक है तथापि प्रकरण-क्रम में कदाचित् बलाबलचिन्ता का निदर्शन मिलता है। ४।१।९२ सूत्र का श्लोकवार्त्तिक (तस्येदमित्यपत्येऽपि) इस विषय में प्रमाण है। पर-विप्रतिषेध की तरह क्वचित् पूर्वविप्रतिषेध भी तद्धितप्रकरण में दृष्ट होता है (४।१।८५ सूत्रवार्त्तिक द्रष्टव्य)।[1]

चतुर्थ अध्याय में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है। (महाधिकार = अनेक क्षुद्र अधिकारों के ऊपर जिसका अधिकार है, अतएव जिसकी अवधि बहुविस्तृत है)। ये तीन यथाक्रम अण् (४।१।८३ सूत्र से तृतीय पादतक), ठक् (४।४।१ से ४।४।७४ तक) तथा यत् (४।४।७५ से पादसमाप्तितक) हैं। सबसे

१—४।१।८५ सूत्र का सिद्धान्तवार्त्तिक है—ण्यादयोऽर्थविशेषलक्षणाद् अणपवादात् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। भाष्यकार ने परशब्द को इष्टवाची मान कर पूर्वविप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक व्यापित्व के कारण पहले अण् प्रत्यय का उपन्यास है, और उससे अल्पव्यापी होने के कारण ठक् का, उससे भी अल्पव्यापित्व के कारण यत् का उल्लेख अन्त में है। अण् के अधिकार में जो प्रत्यय अपवादरूप से होते हैं, उनका उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। अतिव्यापक होने के कारण सबसे पहले अपत्याधिकार है। अपत्याधिकार में भी अवान्तर विभाग हैं, जैसे गोत्रार्थकप्रत्यय, अपत्यार्थक प्रत्यय आदि। ये सब विप्रतिषेध नियम (१।४।१) के अनुसार रखे गये हैं—ऐसा कहीं-कहीं प्रतीत होता है।

अपत्यार्थक प्रकरण के बाद दूसरे पाद का आरम्भ होता है। यहाँ रक्तार्थक, चातुरर्थिक आदि कई अवान्तर प्रकरण हैं। इन प्रकरणों की अवधि का ज्ञान अपरिहार्य हैं, क्योंकि कुछ स्थलों पर प्रत्यय का प्रयोगक्षेत्र इन अवान्तर अवधियों के अनुसार है, जैसा कि 'सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्' (४।२।७ सूत्र का वार्त्तिक) की व्याख्या में कैयट ने कहा है: 'सर्वत्रेति। सर्वेषु प्राग्दीव्यतीयेषु इत्यर्थः'। अब यदि प्राग्दीव्यतीय आदि अवान्तर अधिकार नहीं होते, तो 'सर्वत्र' शब्द से विहित ढक् प्रत्यय का प्रयोग-क्षेत्र निश्चय ही पूरे तद्धितप्रकरण तक हो जाता, जो अनिष्ट है। इससे पता चलता है कि सूत्रकार पाणिनि ने अत्यन्त सावधानी के साथ इन प्रकरणों की अवधि का निरूपण किया था जिससे प्रत्यय और अर्थ का सांकर्य न हो जाए।

अण् के अधिकार में शैषिकरूप एक विशिष्ट अवान्तर अधिकार है (शेषे ४।२।९२ सूत्र ; यह लक्षण भी है)। इस प्रकरण के अन्य प्रत्ययों से शैषिक प्रत्ययों की विशिष्टता है, जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है—'शैषिकान्मतुबर्थी-याच्छैषिको मतुवर्थिकः, सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान् न सनिष्यते' (३।१।७ सूत्र का वार्त्तिक)। तद्धित प्रकरण में अर्थों की अपेक्षा अवधि का ज्ञान अधिक आवश्यक है। शैषिक प्रकरण दूसरे पाद से आरब्ध होकर तृतीय पाद तक व्याप्त है। दोनों पादों में एक प्रकरण के सूत्रों को रखने का कारण यह है कि द्वितीय पाद में देशाधिकार है, तृतीय पाद में देशाधिकार नहीं है। यद्यपि इतने सामान्य भेद के लिये पृथक्पाद की रचना की गई है, ऐसा कहना संगत नहीं होता, पर अन्य युक्ततर उत्तर प्रतीत नहीं होता। अधिकारी विद्वान् इसका युक्ततर उत्तर दे सकते हैं।

इस प्रकरण में पहले प्रत्ययों का अनुशासन और उसके बाद 'तत्र जातः' (४।३।२५) सूत्र से शैषिक-सम्बन्धी अर्थानुशासन का आरम्भ किया गया है। पहले प्रत्यय-निर्देश और उसके बाद अर्थ-निर्देश किया गया है। इस पद्धति के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये लाघव ही मुख्य प्रयोजक है, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि जब एक ही प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है, तब प्रत्येक अर्थ में उस एक प्रत्यय के बार-बार कथन से शाब्दिक गौरव अवश्य होगा, इसलिये सामान्य प्रत्ययानुशासन के बाद अर्थ-निर्देश तथा प्रत्येक अर्थ में होने वाले विशेष प्रत्ययों का विधान किए गए हैं। परन्तु जहाँ कोई प्रत्यय एक अर्थ में ही होता है, वहाँ अर्थ-कथन के बाद ही उस प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। तद्धितप्रकरण में अर्थ और प्रत्यय के विभाग का यही सामान्य नियम है। सर्वादिम अण् प्रत्यय का अधिकार तृतीय पाद के साथ समाप्त होता है।

चतुर्थ पाद में पहले ठक् का अधिकार है। जिन अर्थों में ठक् प्रत्यय उत्सर्ग-रूपेण होता है, वे अर्थ इस अधिकार में संगृहीत हुए हैं। उसके बाद ४।४।७५ सूत्र से यत्प्रत्यय का अधिकार प्रवर्तित है। इस अध्याय की समाप्ति के साथ यह अधिकार भी समाप्त होता है।

पञ्चमाध्याय का संगति-विचार—पञ्चम अध्याय के तद्धित प्रत्ययों की प्रकरण-क्रम-संगति आलोचित हो रही है। क्यों तद्धितप्रकरण दो अध्यायों में विभक्त हुआ है, यह विचारणीय है; ज्ञातव्य है कि विलक्षणता के विना एक विषय दो अध्यायों में उपदिष्ट नहीं हो सकता। मालूम पड़ता है कि पाणिनि ने अस्वार्थिक प्रत्ययों को छ भागों में बाँटा है—अण्, ढक्, यत्, छ, ठक् और ठञ्। अण्, ढक्, यत् के लिये एक अध्याय तथा बाकी तीन प्रत्ययों के लिये अन्य अध्याय की रचना की गई है। इस विभाजन के अन्य युक्ततर हेतु के लिये हम विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं, जिससे इस अध्याय-विभाजन का यथार्थ रहस्य बोधगम्य हो जाए।

प्रथम पाद—आरम्भ में प्रत्यय का अधिकार है और उसके बाद ५।१।२२ सूत्र से ठञ् का अधिकार किया गया है। ठञधिकार में जो प्रत्यय इस अधिकार के अन्तर्गत सब अर्थों में होते हैं (अपवादों को छोड़कर) वे ठक्, यत् आदि प्रत्ययार्थनिर्देश से पहले ही उपदिष्ट हुए हैं। यही क्रम शैषिक प्रकरण में भी रखा गया है। इस प्रकार ठञ् के अधिकार के साथ प्रथम पाद की समाप्ति होती है।

द्वितीय पाद—इसे वस्तुतः अस्वार्थिक प्रत्ययों का परिशिष्ट कहा जा सकता है। प्रत्ययावधि के आश्रय से अर्थ-प्रत्यय-विभाग की जो व्यवस्था उपर्युक्त पादों में व्यवहृत हुई है, वह इस पाद में नहीं है। इस पाद में वस्तुतः पूर्व पादों की तरह प्रत्ययाधिकार नहीं है (और इसीलिये इन प्रत्ययों के लिये सूत्रकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पृथक् पाद की रचना करनी पड़ी), क्योंकि अधिकार के लिये एक लक्ष्य के अभिमुख अनेक योग (=सूत्र) चाहिए, जो यहाँ नहीं है। चूंकि यह अस्वार्थिक प्रत्ययों का परिशिष्ट है, इसलिये अस्वार्थिक प्रत्ययों के बाद यह प्रकरण रखा गया है।

तृतीय-चतुर्थ पाद—स्वार्थिक प्रकरण का आरम्भ इस पाद से होता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि तद्धित प्रकरण में 'समर्थानां प्रथमाद् वा' (४।१।८२) का अधिकार है, पर इन स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययों में 'समर्थ' तथा 'प्रथमा का अधिकार' नहीं है; केवल 'वा' पद की अनुवृत्ति चलती है, इसलिये वैकल्पिक रूप से स्वार्थिक तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं (काशिका ५।३।१)।[1]

स्वार्थिक प्रकरण में भी अवान्तर भेद दृष्ट होते हैं। पहले ५।३।२६ सूत्र तक विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययों का विवरण है और उसके बाद ५।३।२७ सूत्र से केवल स्वार्थिक का आरम्भ होता है। व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिये विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिकों का पृथक्करण किया गया है, अर्थबोधन में कोई विलक्षणता इन दोनों में नहीं है। स्वार्थिक प्रत्ययों में भी 'अत्यन्त स्वार्थिक' तथा 'केवल स्वार्थिक' रूप दो भेद दिखाई पड़ते हैं (चतुर्थ पाद में) पर दोनों की अवधि का निर्णय करना कठिन है। इन दोनों का उपन्यास मिश्रित रूप से किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। अत्यन्त स्वार्थिक के विषय में नागेशभट्ट ने कहा है 'अत्यन्तस्वार्थिकानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव प्रवृत्तिरिति भावः' (उद्द्योत ४।१।४८)। हरिदीक्षित भी कहते हैं—'कुत्साद्यर्थकस्वार्थिकानां कुत्सिते इति सूत्रस्थभाष्योक्तरीत्या ङ्यावन्ताद् उत्पत्तेः सिद्धत्वात् अत्यन्तस्वार्थिके फलमाह तथाहीत्यादिना (शब्दरत्न का अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण)।

स्वार्थिक प्रत्ययों की समाप्ति के बाद ५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' संज्ञक प्रत्ययों का आरम्भ किया गया है। तद्धित प्रत्ययों के साथ समासान्तों का पाठ उनके तद्धितप्रत्ययत्व के द्योतन लिये किया गया है। यदि समासान्त-प्रत्यय तद्धित नहीं होता, तो 'उपराजम्' प्रयोग में 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से "टि' भाग का लोप नहीं होता। किञ्च प्रक्रिया-निर्वाह के लिये समासान्त को प्रत्ययसंज्ञक होना चाहिए और इसीलिये समासप्रकरण के साथ समासान्त का उपदेश नहीं किया गया है। चूंकि समासान्त स्वार्थिक तद्धित है (द्र०

१—स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययों की प्रवृत्ति प्रातिपदिक से होती है, जबकि अन्य तद्धितप्रत्यय सुबन्त से होते हैं। वासुदेव दीक्षित कहते हैं—अतएव स्वार्थिक-तद्धितानां प्रातिपदिकादेव प्रवृत्तिविज्ञानाद् (बालमनोरमा ५।४।३१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्य ४।१।१) इसलिये स्वार्थिक के साथ समासान्त पठित है। शङ्का हो सकती है कि स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययों से पहले ही समासान्त क्यों नहीं पढ़ा गया? उत्तर—विप्रतिषेध (१।४।१) नियम की प्रवर्तना के लिये ऐसा नहीं किया गया है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है: 'समासान्ता अपि स्वार्थिकाः, उभयोः स्वार्थिकयोः परत्वात् समासान्ता भविष्यन्ति' (४।१।१)।

इस प्रकार अष्टाध्यायी का यह दूसरा विभाग समासान्त के बाद समाप्त होता है।

षष्ठाध्याय का सङ्गतिविचार—षष्ठ अध्याय से अष्टाध्यायी के तृतीय भाग का आरम्भ हो रहा है। पूर्व अध्यायों में पदों का सङ्कलन तथा विश्लेषण हो चुका है, अब उन विश्लिष्ट उपादान (अर्थात् प्रकृति आदि) के योग से किस प्रकार शब्द बन सकते हैं—यह इस भाग में दिखाया जाएगा।

इस भाग में विश्लिष्ट प्रकृति आदि के स्थान पर आगम तथा आदेशादि का विधान यथान्याय (विप्रतिषेधन्याय, उत्सर्गापवादन्याय) किया जाएगा। शङ्का हो सकती है कि पदों के विभाजन के बाद शास्त्र पूर्ण हो ही जाता है, अतः पुनः पदसिद्धि की आवश्यकता ही क्या है (क्योंकि सिद्ध पदों का ही विश्लेषण किया गया)? उत्तर—यतः विश्लिष्ट प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक होते हैं, अतः इनसे सम्बद्ध कुछ कार्यों के बिना पूर्णतः पदसिद्धि नहीं हो सकती। यदि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग वास्तविक होता, तो इस तृतीय विभाग की विशेष आवश्यकता नहीं होती।

इस विभाग में पहले प्रकृति-सम्बन्धी (आदेशादि) कार्यों का उल्लेख है, और उसके बाद प्रत्यय-सम्बन्धी कार्यों का। इसका कारण यह है कि प्रकृत्याश्रित

१—आगम-आदेश के स्वरूप के विषय में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य हैं—'आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्', 'स्थाने शत्रुवदादेशा भाले पुण्ड्रवदागमाः'। आगम को प्राचीन ग्रन्थों में उपजन भी कहा गया है। पतञ्जलि भी 'उपजन आगमः; विकार आदेशः' कहते हैं। कभी कभी विकार और आदेश में भेद भी किया गया है। केवल वर्णात्मक आदेश विकार है, ऐसा भट्टोजि ने कहा है—विकारो नाम वर्णात्मक आदेशः। यह दृष्टि आपिशलसंप्रदाय में प्रसिद्ध थी—एकवर्णकार्यं विकारः अनेकवर्णकार्यमादेश इत्यापिशलीयं मतम् (Technical Terms, p. 273).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य अन्तरङ्ग होता है, और प्रत्ययाश्रित कार्य वहिरङ्ग[1]। पुनः प्रक्रिया-निर्वाहक विभाग में दो मौलिक अन्तर्विभाग हैं—निरपेक्ष तथा सापेक्ष। अङ्गा-धिकार (अ० ६ पा० ४ से सप्तम अध्याय पर्यन्त) सापेक्ष विभाग है, क्योंकि अङ्गसंज्ञा (१।४।१३) नित्य प्रत्ययसापेक्ष है, और अन्य प्रकरण निरपेक्ष हैं। पहले निरपेक्ष विभाग का उपन्यास किया गया है और उसके बाद सापेक्ष विभाग का।

प्रथम पाद—निरपेक्ष विभाग के अवान्तर प्रकरण-क्रमों की संगति निम्नप्रकार की है :–

पहले धातु-सम्बन्धी द्वित्वविधि ६।१।१ से ६।१।१२ सूत्र तक निर्दिष्ट है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में वस्तुतः आदेशों का विवरण है, तथापि यह द्वित्वविधि आदेश नहीं है (भाष्यकार के मत में), क्योंकि यहाँ 'द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम्' यह पक्ष ही पतञ्जलि ने माना है (भाष्य ६।१।१)। इस विषय पर 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) सूत्र का भाष्य भी आलोचनीय है। यदि भाष्यसम्मत इस पक्ष को माना जाए, तो यह कहना होगा कि षष्ठाध्यायीय आदेशों के आरम्भ से पहले आदेश सदृश द्विर्वचन विधि का उपन्यास अध्यायादि में किया गया है। यह भी हो सकता है कि यह द्विर्वचन विधि आदेश ही है (जैसा कि भाष्य में पक्षान्तर रूप में कहा गया है, और भाष्यकार ने अपनी दृष्टि से इस पक्ष का खण्डन भी किया है), और तब आदेश-कथनाध्याय में द्वित्व का कथन न्याय-सङ्गत ही होता है। द्विर्वचन-सम्बन्धी अभ्यास-विधि सप्तम अध्याय में है। इस भेदपूर्वक कथन का कारण उस स्थल में कहा जाएगा।

द्वित्वविधि के बाद ६।१।१३ सूत्र से सम्प्रसारण रूप आदेश प्रकरण का आरम्भ होता है और उसके बाद ६।१।४५ सूत्र से आत्वविधि का विवरण है। ये सब विधियाँ मूलतः धातु-सम्बन्धी हैं, यद्यपि प्रासङ्गिक रूप से कदाचित् नाम-सम्बन्धी सूत्र भी हैं। आदेश-सम्बन्धी प्रकरण-क्रम के विषय में निम्नोक्त न्याय द्रष्टव्य है :—

१—बहिरङ्गविधिभ्यः स्यादन्तरङ्गविधिर्बली।
प्रत्ययाश्रितकार्यं तु बहिरङ्गमुदाहृतम् ॥
प्रकृत्याश्रितकार्यं स्यादन्तरङ्गमिति ध्रुवम्।
प्रकृतेः पूर्वपूर्वं स्यादन्तरङ्गतरं तथा ॥
(मुग्धबोध, अच्मन्चि २१ सूत्र की दुर्गादासीय टीका में उद्धृत)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेशों का क्रम मूलतः विप्रतिषेधनियम के अनुसार है, कदाचित् पूर्व-विप्रतिषेध भी स्वीकृत हुआ है। किञ्च आदेशों के साथ आगमों का भी पाठ है। शङ्का हो सकती है कि आदेश और आगमों का इस प्रकार मिश्रित पाठ क्यों किया गया है, जब कि आदेश अर्थवान् होता है, और आगम अर्थशून्य (द्र० ३।१।१ सूत्र का भाष्योद्द्योत)। इस प्रश्न का उत्तर भी संज्ञा-परिभाषा-सम्बन्धी पूर्वोक्त उत्तर के समान है, अर्थात् जिस आदेश के साथ जिस आगम का अपरिहार्य सम्बन्ध है, उसको उस आदेश के साथ पढ़ा गया है। विधेयत्वांश में समान होने पर भी आदेशशक्ति से आगमशक्ति वलीयसी है—'आगमादेशयोर्मध्ये बलीयानागमोविधिः' अतएव आदेशों के साथ अविशेष रूप से आगमों का पाठ नहीं किया गया है।

किञ्च यह भी द्रष्टव्य है कि आगम आदेश से कोई सम्पूर्ण विजातीय पदार्थ नहीं है, वह भी एक प्रकार का आदेश ही है। यदि पाणिनि चाहते तो प्रक्रिया-विशेष से संकेत कर आदेशों को आगमविशिष्ट कर पढ़ सकते थे, पर सूक्ष्म-भेददर्शी आचार्य ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि आगम अर्थरहित है, और आदेश अर्थवान् है—यह मत उनको दिखाना था। लाघव के लिये तथा विधीयमानत्व में समता के लिये दोनों का मिश्रित पाठ तो उन्होंने किया पर आदेश से आगमों का पृथक्करण उनको करना पड़ा क्योंकि व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार आदेश किसी के स्थान में होता है पर आगम एक अपूर्व उपजन है—इसीलिये प्रक्रिया में दोनों में पूर्ण एकरूपता लाना सम्भव भी नहीं है[1]। आदेशों के साथ आचार्य ने 'निपातन' सूत्रों का भी पाठ किया है। पर इसमें कोई विसदृशता नहीं है क्योंकि आदेशभूत सूत्रों का ही एक विशिष्ट रूप निपातन सूत्र है। प्रक्रिया निर्वाह में लाघव के लिये स्थान्यादेशागमादिकों का उल्लेख न कर सिद्ध पदों का निपातन किया जाता है। निपातित शब्दों के रूढ्यर्थ दिखाने के लिये भी निपातनरीति का आश्रय लिया जाता है ('रूढ्यर्थे च निपातनम्')।

उपर्युक्त आदेशों में किसी की अपेक्षा नहीं है। पर ६।१।७२ सूत्र से जिन आदेशों का विवरण है वे संहिता ('परः सन्निकर्षः संहिता' १।४।१०९) होने पर ही होते हैं अतः 'संहिता' के अधिकार के बाद उन आदेशों का प्रसंग किया गया है। संहितासापेक्ष आदेशक्रम की जो संगति है वह निम्नप्रकार की है :—

१—आगम और आदेश में यह भी भेद है कि आगम में 'यदागमास्तद्गुणी-भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' न्याय प्रवर्तित होता है, आदेश में यह दृष्टि नहीं घटती। आगमानुशासन अनित्य भी होता है। आदेश को अनित्य नहीं माना जाता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश के दो मौलिक विभाग हैं; प्रथम—वर्ण सम्बन्धी तथा द्वितीय—पद-सम्बन्धी। वर्ण-सम्बन्धी आदेश भी दो प्रकार के हैं—एकवर्णात्मक तथा अनेक-वर्णात्मक। प्रथम का नाम 'विकार' तथा दूसरे का 'आदेश'—यह प्राक्-पाणिनीय वैयाकरण आपिशलि का मत था। परवर्ती काल में इस भेद का निश्चित व्यवहार नहीं रहा; पाणिनि ने भी आदेशप्रकरण में इस भेद को मानकर प्रकरण-व्यवस्था नहीं की है। आचार्य पाणिनि ने वर्णविकार को अपनी दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया है—पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वयादेश तथा 'एकादेश' (६।१।८४)। इस एकादेश का अधिकार ६।१।११२ सूत्र पर्यन्त है।

एकादेश प्रकरण के बाद ६।१।११५ सूत्र से 'प्रकृतिभाव' प्रकरण का आरम्भ किया गया है। जिस प्रकार संहिता में वर्णों का विकार (यह विकार शास्त्रीय प्रक्रिया की दृष्टि से कहा जा रहा है, वास्तव नहीं) होता है, उसी प्रकार विकार के कारण उपस्थित होने पर भी कदाचित् विकार नहीं भी होता है। इस विकाराभाव (सन्ध्यभाव) का नाम 'प्रकृतिभाव' (प्रकृत्या स्वरूपेण अवस्थानम्) है। सन्धिप्रकरण के बाद ही इस सन्ध्यभाव प्रकरण को कहा गया है क्योंकि वर्णों की स्वतःसिद्धता तथा नित्यता होने के कारण जब तक वर्णविकार-सम्बन्धी उपदेश नहीं किया जाएगा, तबतक वर्णों के प्रकृतिभाव-सम्बन्धी आदेश के प्रसङ्ग करने से वह बुद्धिग्राह्य नहीं होगा। जिसे सिद्धान्ततः नित्य माना गया है, यदि प्रक्रियादशा में उसकी विकृति का उल्लेख पहले न किया जाए, तो उसके प्रकृतिभाव का उपन्यास करने से वह अबोध्य होगा—इसलिये पाणिनि ने सन्धिप्रकरण के बाद असन्धिप्रकरण को रखा है[1]।

१—सन्धि के विषय में कुछ ज्ञातव्य विषय हैं। सन्धि में प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती, वर्ण की अपेक्षा होती है। (कदाचित् उपसर्ग आदि की अपेक्षा से भी सन्धि की जाती है, पर ऐसी सन्धियाँ अत्यल्प हैं)। मूलतः सन्धि वर्णानुबन्धी है और कदाचित् ही सन्धि विषयापेक्षी होती है। इस विषय में प्रयोगरत्नमाला का निम्नलिखित वाक्य (१।१६५) द्रष्टव्य है :—

प्रकृतेः प्रत्ययस्यापि सम्बन्धनियमं विना।
वर्णसंज्ञानुबन्धी यः स कार्यः सन्धिरुच्यते॥

सन्धिस्वरूप के विषय में हरिनामामृत व्याकरण में कहा गया है :—

'सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तकः
वार्णो विकारः सन्धिः स्याद् विषयापेक्षकः क्वचित्॥ (१।४५)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिभाव प्रकरण के बाद ६।१।१३५ सूत्र से सुडागम का प्रकरण है। चूंकि संहिता में ही सुडागम होता है, इसलिये यहाँ पर इसका विधान किया गया है।

सुड्विधि के बाद ६।१।१५८ सूत्र से स्वरप्रकरण का आरम्भ किया गया है। स्वरप्रकरण ग्रन्थ के अन्त में पृथक् पाद या अध्याय में न कर, क्यों एक पाद के मध्य से किया गया है—ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि स्वर लौकिक तथा वैदिक—इन दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होता है। लौकिक प्रयोग में स्वर नहीं होता, ऐसा कहना भ्रम है, जैसा कि नागेश भट्ट ने कहा है—'एतेन भाषायां स्वरो नास्त्येवेति भ्राम्यन्तः परास्ताः' (शब्देन्दुशेखर १।२।३६)। अतएव लौकिक शब्दों के अनुशासन के बाद पृथक् अध्याय में स्वर का अनुशासन करना ही न्याय्य है, यह मत युक्तिसंगत नहीं होता, क्योंकि स्वर से लौकिक प्रयोगों का भी अर्थ-नियमन होता है। किञ्च स्वर-विधि आदेश विधि की तरह है (अर्थात् न तो यह किसी प्रकार का पद-सङ्कलन है, और न यह प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन में अन्तर्भूत हो सकती है), अतएव आदेश-सम्बन्धी षष्ठ अध्याय में इसका अनुशासन करना असङ्गत नहीं है। अपि च स्वर-विधि में चूंकि संहिताधिकार नहीं है, इसलिये संहिताधिकार के बाद ही स्वर का उपन्यास किया गया है। तृतीयपाद में इसका विधान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उत्तरपदसापेक्ष विधियों का विवरण है, तथा चतुर्थ पाद में भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें प्रत्ययसापेक्ष विधियों का विवरण है। सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में भी इसका उपन्यास नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ प्रत्ययसापेक्ष विधि है, अतः पारिशेष्य न्याय से षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में ही स्वर का उपन्यास किया गया है।

शङ्का हो सकती है कि अष्टम अध्याय (प्रथम पाद) में जो स्वरप्रकरण है, वहीं यह प्रकरण क्यों नहीं पठित हुआ? उत्तर—पाणिनि की पारिभाषिक

चूंकि सन्धि निरपेक्ष है, इसलिये सापेक्ष अङ्गाधिकार से पहले ही उसका अनुशासन किया गया है। अन्य व्याकरणों में प्रारम्भिक अंश में सन्धि का अनुशासन किया गया है, पर पाणिनि ने वैसा नहीं किया है, क्योंकि सन्धि वार्ण विकार है, और संहितावच्छिन्न वर्णों का संश्लेष तबतक नहीं हो सकता, जबतक पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त न किया जाए; अतः अष्टाध्यायी में प्रकृति-प्रत्यय-विश्लेषण के बाद ही सन्धि का प्रसंग किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया के अनुसार प्रयोगनिर्वाह के लिये स्वर-विधि को पृथक् रूप से दोनों स्थलों पर पढ़ना आवश्यक था, जैसा कि पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है (भाष्य ३।१।३)। पुनः शङ्का होगी कि स्वर-विधि षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के अन्तिम अंश से आरब्ध होकर पूर्ण द्वितीय पाद पर्यन्त व्याप्त है, पर प्रथम पाद के अन्तिमांश की स्वर-विधि द्वितीय पाद के साथ ही क्यों नहीं पठित हुई, जिससे एक अविभक्त विषय के लिये अविभक्त रूप से एक पूर्ण पाद का व्यवहार होता। उत्तर—स्वरविधि दो प्रकार की है—सामान्यपद-सम्बन्धी तथा समासरूप विशेषपद-सम्बन्धी। प्रथम पाद में केवल पदसामान्य-सम्बन्धी स्वर-विधि है और सम्पूर्ण द्वितीय पाद में समास-सम्बन्धी स्वर-विधि प्रोक्त है। प्रथम पाद में प्रत्ययादिकों का जो स्वर दिखाया गया है, वह भी अन्ततोगत्वा ('अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'—इस न्याय से) पद-सम्बन्धी स्वर में पर्यवसित होता है, अतएव नामसंबद्ध सामान्य स्वर-विधि के साथ प्रत्ययस्वरों का कथन असंगत नहीं है। प्रथम पाद के स्वरों में आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त के रूप में दो विभाग दिखाई पड़ते हैं। द्वितीय पाद में भी पहले पूर्वपद के स्वर और १११ सूत्र से उत्तरपद के स्वर—ऐसी पदक्रमानुसारिणी व्यवस्था है।

तृतीय पाद—इसमें भी प्रकृतिकार्य का उपदेश है, पर यहाँ के प्रकृति-कार्य में विशिष्टता यह है कि उत्तरपद यदि पर में हो तभी ये कार्य होंगे, अन्यथा नहीं, जैसा कि 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) सूत्र से ज्ञात होता है। उत्तरपदसापेक्ष कई कार्य हैं, उनमें सबसे पहले अलुक् का उपन्यास किया गया है। उत्तर-पदपरत्वाश्रित कार्य सामासिक पद में ही हो सकते हैं, और समास में प्रक्रिया-दृष्टि से अलुक् की ही सर्वाधिक प्रधानता है (क्योंकि समास में एक पद होने पर भी मध्यस्थ विभक्ति का लोप न होना एक विचित्र तथ्य है) अतएव सबसे पहले उसका उपन्यास करना न्याय्य होता है। अलुक् के बाद ६।३।२५ सूत्र से समासाश्रय अन्य कार्यों का विवरण है, जो वस्तुतः प्रकीर्णक हैं। इस पाद में किसी-किसी कार्य के साथ मुम् तथा नुट् आदि आगमों का भी उल्लेख है, क्योंकि तत्तत् कार्यों के साथ उन आगमों का निकटतम सम्बन्ध है, अतएव आगमों का उपन्यास दोषावह नहीं है। यह बात इस अध्याय के आरम्भ में भी कही गई है। पाणिनि ने उत्तरपदसापेक्ष सब कार्यों का एक पाद में संकलन इसलिये किया कि इन सभी में समान रूप से 'तस्य च तदन्तस्य च' रूप परिभाषा प्रवर्त्तित हो जाए अन्यथा भिन्न स्थलों पर पढ़ने से (अर्थात् जिस कृदन्त पद की सिद्धि के लिये मुम् का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसको कृत्प्रत्यय-सूत्र के साथ पढ़ने से)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त परिभाषा के साथ सब का सम्बन्ध दिखाना कठिन हो जाता, अतएव सब उत्तरपदसापेक्ष कार्यों का एक पाद में प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थपाद—'अङ्गस्य' (६।४।१) सूत्र का अधिकार आरम्भ में किया गया है, जो सप्तम अध्याय पर्यन्त व्याप्त है। प्रत्यय परे रहते प्रकृति की अङ्ग संज्ञा होती है (सूत्र १।४।१३), अतएव विद्यमान-प्रत्यय-सापेक्ष कार्यों का विवरण यहाँ से किया जाएगा, ऐसा जानना चाहिए। शङ्का हो सकती है कि इस स्वतन्त्र विषय के लिये एक स्वतन्त्र अध्याय ही क्यों नहीं व्यवहृत हुआ? षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद से इसका आरम्भ क्यों किया गया? इस पाद के सूत्रों को सप्तम अध्याय में पढ़ने से कौन-सा दोष होता? उत्तर– हम पहले ही कह चुके हैं कि षष्ठ अध्याय में प्रकृति-सम्बन्धी विशेष कार्य दिखाए गए हैं, अतः विद्यमान-प्रत्यय सापेक्षताश्रित कार्यों का भी उल्लेख (अर्थात् आङ्ग कार्य) इस अध्याय में किया गया है। यदि आङ्ग कार्य प्रकृतिकार्य नहीं होता, तो पाणिनि अवश्यमेव सप्तम अध्याय में अङ्गाधिकार का आरम्भ करते।

इस अङ्गकार्य (अर्थात् प्रकृतिकार्य) के संकलन में निम्नलिखित क्रम रखा गया है। प्रथम—सिद्ध कार्य, तथा द्वितीय—असिद्ध कार्य, जिसका आरम्भ ६।४।२२ सूत्र से होता है। चूंकि 'असिद्ध' शब्द अभाव से सम्बद्ध है, और अभाव का ज्ञान भावज्ञानसापेक्ष है अतः सिद्ध कार्यों के उपन्यास करने के बाद ही असिद्ध कार्यों का उपन्यास करना उचित है। असिद्ध कार्यों के भी दो भाग हैं, पहला—साधारण, तथा दूसरा भसंज्ञा-सम्बन्धी, जिसका आरम्भ ६।४।१२९ सूत्र से पादान्तपर्यन्त है। पूर्वाचार्यों की यह शैली है कि वे सामान्य विषयों के उल्लेख के बाद ही विशेष विषयों का उल्लेख करते हैं, अतएव पाणिनि ने पहले साधारण असिद्ध कार्यों का उल्लेख किया है और उसके बाद भत्वविशिष्ट विशेष असिद्ध कार्यों का।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद में भी एक असिद्ध प्रकरण है (पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१), वहाँ पर इस प्रकरण (जो असिद्ध है) का उपन्यास क्यों नहीं किया गया? उत्तर—पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार इस दोनों असिद्ध प्रकरणों में मौलिक भेद है—यथा (१) आष्टमिक असिद्ध प्रकरण में प्रत्ययपरत्व की अपेक्षा नहीं है, जो इस स्थल की विशिष्टता है, (२) तथा आष्टमिक असिद्ध प्रकरण में 'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्' रूप एक नियम प्रवर्तित होता है, जो इस काण्ड में नहीं घटता, अतः दोनों असिद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरणों का एक साथ उपदेश करना असंभव है।[1]

प्रकीर्ण कार्यों में प्रकरण-क्रमों में तात्त्विक दृष्टि का कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है, न हो ही सकता है। निमित्त, कार्यी तथा कार्य की सदृशता के अनुसार यहाँ प्रकरण-क्रम रखे गए हैं। (निमित्त = जिस परिस्थिति में या जिसके परे रहते कोई कार्य होता है; कार्यी = जिसका कार्य निर्दिष्ट होता है; कार्य = सूत्रों से जो आगमादेश आदिकों का विधान किया जाता है)। दुर्गादास ने मुग्धबोध की टीका (२१ सूत्र) में इन तीनों के स्वरूप के विषय में कुछ प्राचीन श्लोक उद्धृत किए है। प्रासंगिक होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है—

"कार्यी कार्यं निमित्तं च त्रिभिः सूत्रमुदाहृतम्।
कदाचित् कार्यिकार्याभ्यां क्वचित् कार्यनिमित्ततः॥
यस्य निर्दिश्यते कार्यं स कार्यो गदितो बुधैः।
क्रियते यत्तु तत् कार्यम् आदेश-प्रत्ययागमम्॥
यस्मात् परं परे यस्मिन् तन्निमित्तं द्विधा मतम्।
आकाङ्क्षायां तु सर्वेषां अनुवृत्तिः पदे पदे॥"

अष्टाध्यायी के शास्त्रीय कार्य-सम्बन्धी सूत्रों के रचना-क्रम के रहस्य इन कारिकाओं की सहायता से विज्ञात हो सकते हैं। सूत्रों में कार्यी इत्यादिकों का प्रयोग कैसे होना चाहिए, इस विषय में हरिनामामृतव्याकरण (२।१५६) की वृत्ति में कहा गया है—

"प्राङ्निमित्तं तथा कार्यी कार्यं परनिमित्तकम्।
अत्र क्रमेण वक्तव्यं प्रायः सूत्रेषु सर्वतः॥"

इन शैलियों के अपवादस्थल हैं, पर मौलिक शैली यही है।

१—शास्त्रीयप्रक्रियागत ऐसी विलक्षणता के कारण ही पाणिनि को बहुधा एक विषय को विभिन्न स्थलों पर पढ़ना पड़ा। प्रत्ययसम्बन्धी स्वर तृतीय अध्याय में है (३।१।३) जिसे स्वरविवरणात्मक षष्ठाध्याय (१–२ पाद) में पढ़ा जा सकता था, पर अष्टाध्यायीरचना-रीति की विशिष्टता के कारण ऐसा नहीं किया जा सकता जैसा कि स्वरसिद्धान्त चन्द्रिककार ने दिखाया है—स्वरप्रकरण एव ञ्नित्यादिर्नित्यम् इत्यनन्तरं प्रत्ययस्य च इति सूत्रयितव्ये किमर्थं प्रकरणभेदेनात्रेदमाद्युदात्तत्वमुच्यते .... तेनैव सिद्धत्वात् (पृ० २१–२२)। ऐसा ही विचार ३।१।४ सूत्र के विषय में भी किया गया है (पृ० ७७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तमाध्याय का संगतिविचार—षष्ठ अध्याय में प्रकृति-कार्यों का विवरण किया गया है, अतः सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में प्रत्यय-कार्यों का विवरण किया जाएगा। चूंकि प्रत्यय काल्पनिक होते हैं, अतएव प्रत्यय के स्थान में आदेश आदि के विना पद की सिद्धि नहीं हो सकती, यही कारण है कि प्रत्यय-कार्य के लिये भी पाणिनि को पृथक् अध्याय का आरम्भ करना पड़ा। यही दोनों अध्यायों की संगति है।

प्रथमपाद—आरंभ में ७।१।४५ सूत्र तक प्रत्ययादेश का विवरण है। चूंकि विभक्ति प्रत्यय के अन्तर्गत ही है (एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यय का नाम विभक्ति है; जगदीश तर्कालङ्कार के शब्दों में विभक्ति का लक्षण है : 'संख्यात्वव्याप्यसामान्यैः शक्तिमान् प्रत्ययस्तु यः, सा विभक्तिः'-शब्दशक्ति-प्रकाशिका ६१) अतः प्रत्यय-कार्य के उल्लेख के बाद ही विभक्ति–कार्य का उल्लेख किया गया है। प्रत्यय-कार्य के साथ-साथ सम्बद्ध आगमों का भी विवरण है। प्राग्वर्णित आगमों से इस पाद के आगमों में भेद है, प्राग्वर्णित आगम प्रकृति से सम्बद्ध होकर अपने टित् या कित् स्वभाव के अनुसार यथास्थान प्रयुक्त होते हैं (जैसा कि लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१ सूत्र में दिखाई पड़ता है); और इस पाद के आगम प्रत्यय से सम्बद्ध होकर अपनी विशिष्टता के अनुसार स्थान लाभ करते हैं, जैसा कि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) सूत्र में देखा जाता है। मुख्यतया इस भेद के द्योतन के लिये ही अडागम षष्ठ अध्याय में तथा नुडागम सप्तम अध्याय में उक्त हुआ है।

द्वितीय-तृतीय पाद—पहले अंश में (७।२।१ से ७।२।७ पर्यन्त) सिज्विकरणपरत्वाश्रित कार्यों का विवरण है। प्रत्यय-कार्य के बाद प्रत्यय-व्याप्यजातिभूत विकरणपरत्वाश्रित कार्य ही प्रसक्त होता है, इसलिये पाणिनि ने द्वितीय पाद में सिजागमसम्बद्ध कार्यों का उल्लेख किया है। यद्यपि यह कार्य सिच् में नहीं होता हैं, प्रत्युत प्रकृति में होता है, तथापि षष्ठ अध्याय में इसका प्रसङ्ग नहीं किया गया, क्योंकि षष्ठ अध्याय के तृतीय पाद पर्यन्त प्रत्ययनिरपेक्ष (अथच प्रकृति-सम्बन्धी) प्रकृति-कार्य का विवरण है, अतः उस स्थल पर प्रत्ययजाति के अन्तर्गत विकरण (अर्थात् सिच्) सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख नहीं किया गया है; अतएव पाणिनि ने मौलिक प्रत्यय कार्य के बाद (अर्थात् सप्तम अध्याय के प्रथम पाद के बाद) प्रत्ययान्तर्गत सिच्-कार्य का उल्लेख किया है, जो न्यायसंगत ही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिच् प्रकरण के बाद ७।२।८ सूत्र से इडागम का प्रकरण है। 'सिच्-वृद्धि' का कार्य कदाचित् इडागम से भी सम्बद्ध होता है (नेटि ७।२।४ सूत्र द्रष्टव्य)। अतएव सिच् प्रकरण के बाद प्रासङ्गिक रूप से इडागम का प्रकरण रखा गया है। इडागम में दो मुख्य विभाग हैं, पहला इट्निषेधप्रकरण (७।२।३४ सूत्र तक) और दूसरा इड्विधि प्रकरण (७।२।३५ सूत्र से ७।२।७८ सूत्र तक)। सभी शास्त्रों में यह नियम है कि विधि के बाद ही निषेध का उल्लेख करना चाहिए और पाणिनि ने भी सभी स्थलों पर इस नियम को माना है, पर उन्होंने इडागमप्रकरण में इस नियम का अतिक्रमण किया है। यह अतिक्रमण दोषावह नहीं है, क्योंकि इस नियमोल्लङ्घन से पाणिनि ने एक गूढ़ अर्थ का ज्ञापन किया है। वह यह है कि इडागमप्रकरण में पहले प्रतिषेधकाण्ड के आरम्भ के कारण प्रतिषेधकाण्ड की अधिक बलवत्ता द्योतित होती है, यद्यपि १।४।२ सूत्रीय नियम से उसमें यह शक्ति नहीं होनी चाहिए थी, क्योंकि प्रतिषेध का अनुशासन पहले है, और उसके बाद विधिकाण्ड है। भट्टोजिदीक्षित तथा आचार्य सायण ने इस वैचित्र्य को दिखाया है[1], यथा—स्वरतिसूतिसूयति…' (७।२।४४) सूत्र विधिसूत्र है, पर बाद में है, तथा 'श्र्युकः किति' (७।२।११) सूत्र निषेधसूत्र है, पर पहले है, परन्तु उक्त नियम के अनुसार 'श्र्युकः किति' सूत्र 'स्वरति—' सूत्र का बाध करेगा, यद्यपि साधारण नियम से ऐसा होने की सम्भावना नहीं है। यह प्रकरण ७।२।७८ सूत्र में समाप्त होता है।

इसके बाद कुछ प्रकीर्णकप्रत्ययाश्रित कार्यों का विवरण है। पुनः ७।२।८४ सूत्र से ७।२।११३ सूत्र तक विभक्तिपरत्वाश्रित कार्यों का विवरण किया गया है। इसके बाद ७।२।११४ सूत्र से 'वृद्धि' कार्य का उल्लेख है, और यह वृद्धिकार्य तृतीयपाद के ३५ सूत्र पर्यन्त व्याप्त है। उसके बाद वृद्धिकार्य से मुख्य या गौण रूप से सम्बद्ध आगमों का उल्लेख है, जो इदादेश (७।३।४३) से पहले समाप्त होता है।

इस वृद्धि-प्रकरण में निम्नलिखित विषय चिन्तनीय है: इस प्रकरण में तद्धितीय वृद्धिकार्य का ही मुख्यतः उपदेश है, पर उसका आरम्भ द्वितीय

१—स्वृ धातु के सस्वरिव प्रयोगगत इडागम के प्रसंग में कहा गया है—परमपि स्वरत्यादि विकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याद् अनेन निषेधे प्राप्ते……(सि० कौ० ७।२।११)। षिधू धातु के विवरण में 'पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यं' का निदेश मिलता है (माधवीय धातुवृत्ति १।४०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद के ११७ सूत्र से होता है; तथा तृतीय पाद में भी तद्धितीय वृद्धिकार्य का विवरण किया गया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि तद्धितीय वृद्धिकार्य के सम्पूर्ण सूत्र तृतीय पाद में ही क्यों नहीं पढ़े गए ? एक ही कार्य के कुछ सूत्रों का पाठ एक पाद में और कुछ सूत्रों का पाठ अन्य पाद में करने की कौन सी आवश्यकता थी ? शायद इसका यह उत्तर हो सकता हैं—तृतीयपाद में यद्यपि तद्धितीय कार्य है, पर वह कार्य पूर्णतः वृद्धिकार्य नहीं है, प्रत्युत वृद्धि के प्रसंग में होनेवाला अन्य कार्य है, अतः पृथक् पाद में उसका उपन्यास किया गया है। यह उत्तर पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण तद्धित में भी है। तद्धितीय शैषिक प्रकरण के सूत्र चतुर्थ अध्याय के दोनों पादों (द्वितीय तथा तृतीय) में विभक्त हैं। एक पाद में ही सभी सूत्रों का पाठ क्यों नहीं किया गया, यह चिन्त्य है। शायद द्वितीय पाद में देशाधिकार है और तृतीय पाद में वह नहीं है, इस भेद के लिये वैसा किया गया हो।

वृद्धिकार्य के बाद लोपागम-वर्ण-विकार के कुछ प्रकीर्णक कार्यों का विवरण है, जो प्रत्ययाश्रित है। इन कार्यों के प्रकरण-क्रम निमित्त-आदेशों की सदृशता के अनुसार रखे गए हैं, जैसा कि पहले कहा गया है।

चतुर्थ पाद—पहले विकरण से सम्बद्ध ह्रस्वादि कार्यों का विधान है, और उसके बाद तिङन्त-प्रयोग-सम्बन्धी प्रकीर्ण कार्यों का विवरण दिया गया है। यहाँ कार्य या निमित्त की सदृशता से सूत्रों का क्रम रखा गया है, तथा 'विप्रतिषेध' नियम भी सूत्र-क्रम में अनुस्यूत है, ऐसा जानना चाहिए।

७।४।५८ सूत्र से पादसमाप्तिपर्यन्त अभ्यास-विकार-सम्बन्धी कुछ कार्यों का विवरण है; यहाँ यह शङ्का होती है कि अभ्यास-संज्ञा-विधान तथा अभ्यास-कार्य षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद (६।१।१ सूत्र से ६।१।१२ सूत्र पर्यन्त) में हैं, वहीं इस अभ्यासविकार-प्रकरण का पाठ क्यों नहीं किया है ? उत्तर—यद्यपि ये दो प्रकरण सम्बद्ध हैं, तथापि इस प्रकरण से षष्ठाध्यायीय प्रकरण का मौलिक वैशिष्ट्य है, जिसके लिये इस अभ्यास-विकार-प्रकरण का पाठ अभ्यास कार्य के साथ नहीं किया जा सका। अभ्यासविकारीय सूत्रों में परस्पर बाध्यबाधकभाव प्रवर्त्तित नहीं होता [1] पर अन्यान्य सभी प्रकरणों के सूत्रों में बाध्यबाधकभाव

१—अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति (परिभाषेन्दुशेखर ६७; परिभाषावृत्ति ९९ ;) अभ्यासविकारेषु अपवादा नोत्सर्गान् विधीन् बाधन्ते (पुरुषोत्तमकृत परिभाषावृत्ति ११)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान रूप से प्रवर्त्तित होता है। इस विचित्रता के लिये ही पाणिनि को पृथक् पाद में इस प्रकरण का पाठ करना पड़ा।

अष्टमाध्याय का संगतिविचार—प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्धी कार्यों का विवरण पूर्ण हो गया है, अतः 'पद-निर्माण' भी समाप्त होगया है, ऐसा समझना चाहिए। अब द्वित्वरूप एक विशिष्ट कार्य (जो अपनी विशिष्टता के लिये किसी भी पूर्व अध्याय में नहीं कहा जा सकता) तथा पद-सम्बन्धी कार्यों का विवरण दिया जाएगा। यहाँ के पद-सम्बन्धी कार्यों से द्वितीय अध्याय के 'समर्थः पदविधिः' (२।१।१) सूत्रज्ञापित पदविधि में स्पष्ट भेद है; द्वितीय अध्याय में विवृत कार्य वस्तुतः प्रातिपादिक से सम्बद्ध है, पर उसकी पूर्णता पद में परिणत होने पर ही होती है, परन्तु इस स्थल में उक्त द्वित्व सिद्ध पदों का कार्य है, यहाँ पदों का निर्माण करना नहीं है। इस अध्याय में कुछ ऐसे कार्यों का भी उल्लेख किया जाएगा (अर्थात् असिद्ध कार्य), जो अन्यत्र भी कहे जा सकते थे, पर पाणिनि की शब्द-निर्माण-सम्बन्धी पद्धति की निजी विशिष्टता के कारण उन कार्यों का उल्लेख उनके सदृश (षाष्ठिक या साप्तमिक) कार्यों के साथ नहीं किया गया। देखा जाता है कि अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में सूत्रानुशासन को असिद्ध मानकर (अष्टाध्यायी की तरह) पदों की निष्पत्ति नहीं की गई है। सम्भव है कि यह पाणिनि की निजी सूझ हो।

प्रथम पाद—आरम्भ में 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) सूत्र से द्वित्वविधि का अनुशासन है। यद्यपि सूत्रकार ने स्पष्टतः नहीं कहा है कि यह द्वित्व पद का होता है या प्रातिपदिक का, तथापि व्याख्याकारों ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है—'पदस्येति अधिकरिष्यमाणमिहापकृष्यते' (बालमनोरमा)। वस्तुतः यह न्याय-सिद्ध भी है, क्योंकि सप्तम अध्याय पर्यन्त पद-निर्माण समाप्त हो गया है, अतः पदकार्य ही अवशिष्ट रह जाता है। वस्तुतः पदों का विश्लेषण कर प्रकृति-प्रत्यय का विचार करना तथा वाक्यों का विश्लेषण कर पदों का विचार करना—ये दो ही व्याकरण-प्रक्रिया के सार हैं।

चूँकि द्वित्व-विधि प्रकृति-प्रत्यय के अन्तर्गत नहीं है या प्रकृति-प्रत्यय से सम्बद्ध कोई कार्य-विशेष भी नहीं है, इसलिये तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय पर्यन्त स्थल में इसका विचार नहीं किया जा सकता। किञ्च यह सामान्य पद नहीं है, अतः प्रथम अध्याय में इसका उल्लेख करना अनुचित होगा, तथा द्वितीय अध्याय में भी इसका उल्लेख नहीं हो सकता, क्योंकि 'समर्थता' रूप वैशिष्ट्य (समर्थ=संगतार्थ, सम्बद्धार्थ इत्यादि) द्वित्व-विधि में दृष्ट नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सर्वस्य द्वे' सूत्र का अर्थ है—'कृत्स्नावयवविशिष्टस्य पदस्य अर्थतश्च शब्दतश्च अन्तरतमे द्वे पदे भवतः' अतः यह समर्थतारूप वैशिष्ट्य इस द्वित्व में नहीं है, यह सिद्ध हुआ। यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि द्वित्व होने पर नित्यता तथा वीप्सा (=व्याप्ति) का बोध होता है ('नित्यवीप्सयोः' ८।१।४ सूत्र-बल से) तथापि वस्तुतः वे अर्थ प्रकृतिगम्य हैं ('सत्यपि प्रकृतेर्द्वित्वे द्विरुक्तयोः प्रकृत्यनतिरेकात्' [बालमनोरमा]—इस हेतु से) अतः द्वितीयाध्यायस्थ समासप्रकरण के साथ इस द्वित्व का पाठ नहीं हो सकता। शङ्का हो सकती है कि कथंचित् सदृशता को देखकर षष्ठ अध्याय में ही (जहाँ धातु-द्वित्व का प्रकरण है) इसका पाठ क्यों नहीं किया गया? उत्तर—षष्ठ अध्याय की द्वित्व-विधि से इस स्थल की द्वित्व-विधि में मौलिक भेद है। वहाँ का द्वित्व अर्थविशेषद्योतनार्थ नहीं होता है, पर यहाँ का द्वित्व पौनःपुन्य तथा पूर्णता के द्योतन के लिये किया जाता है; किञ्च षष्ठ अध्याय की द्वित्व-विधि में 'द्विःप्रयोगो द्विर्वचनम्' पक्ष प्रवर्त्तित होता है, पर आष्टमिक द्विर्वचन में 'स्थाने द्विर्वचनम्' पक्ष ही सिद्धान्तभूत है, अतः प्रक्रियागत भेद के कारण भी इन दोनों का एकत्र उपन्यास नहीं किया गया।

द्वित्व-विधि के बाद ८।१।१६ सूत्र से 'पद' का अधिकार किया गया है। पद द्वित्व के बाद 'पद' का अधिकार क्यों किया गया (जबकि द्वित्व के साथ पद का अविनाभावी सम्बन्ध है) यह चिन्तनीय है। मालूम पड़ता है कि पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता ही इस असमञ्जसता का कारण है, क्योंकि 'पदस्य' सूत्र का अधिकार असिद्ध-काण्ड के अंश-विशेष को अपने में क्रोडीकृत करता है, और द्वित्व-विधि असिद्ध नहीं हो सकती, अतएव प्रक्रिया-निर्वाह में लघुता के लिये आचार्य ने पदाधिकार से पहले ही द्वित्व का अनुशासन किया है, अन्यथा अष्टम अध्याय का प्रथम सूत्र अवश्यमेव 'पदस्य' होता क्योंकि उससे पहले पदनिर्माण-कार्य समाप्त हो गया है।

'पदस्य' के अधिकार के अन्तर्गत एक अवान्तर प्रकरण का आरम्भ 'पदात्' (८।१।१७) सूत्र के अधिकार से किया गया है, जिसमें स्वरप्रक्रिया का विवरण है। यह स्वर-विधि सिद्ध है, अतः असिद्धकाण्ड (अर्थात् द्वितीय पाद से चतुर्थ पाद पर्यन्त) से पहले ही इसका उपन्यास किया गया है। शङ्का हो सकती है कि षष्ठ अध्याय की स्वर-विधि के साथ ही अत्रत्य स्वर-विधि का उल्लेख क्यों नहीं किया गया? उत्तर—षाष्ठिक स्वर के साथ आष्टमिक स्वर का पाठ नहीं हो सकता, क्योंकि आष्टमिक स्वर-विधि 'पदस्य' तथा 'पदात्' सूत्राधिकार से ज्ञापित धर्म से अन्वित है, परन्तु षाष्ठिक स्वर में यह विशिष्टता नहीं है तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों स्वरों की सिद्धि की प्रक्रिया भी समान नहीं है, ऐसा नागेशभट्ट ने कहा है ('अष्टमे तु नास्याः सिद्धान्तेऽप्युपस्थितिः'—उद्द्योत ६।१।१५७), अतः इन दोनों प्रकरणों का एकत्र पाठ नहीं हो सकता। स्वर-विधि में जो अवान्तर प्रकरण हैं, वे विप्रतिषेधनियमानुसार स्थापित हैं।

द्वितीय-चतुर्थ पाद :—अष्टम: अध्याय के द्वितीय पाद से 'असिद्ध काण्ड' का आरम्भ होता है (ग्रन्थान्तपर्यन्त)। इसमें तीन पाद हैं, अतएव यह अंश 'त्रिपादी' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काण्ड में पहले पदाधिकार से सम्बद्ध कार्यों का विवरण है, जो तृतीय पाद के ५४ सूत्र तक समाप्त होता है; उसके बाद पदाधिकार की निवृत्ति होती है और 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) सूत्र से पाद-समाप्ति पर्यन्त 'अपदान्त' तथा 'मूर्धन्य' का अधिकार किया गया है। अपदान्ताधिकृत कार्यों का उल्लेख पदाधिकार के बाद किया गया है, जो स्वाभाविक ही है।

चतुर्थ पाद में पहले णत्व का उल्लेख है। यहाँ भी अपदान्त का अधिकार है—ऐसा भाष्यकार ने कहा है, अतः अपदान्ताधिकृत षत्व के बाद णत्व का आरम्भ किया गया है। यह सकारण है, क्योंकि णत्व की उपपत्ति के लिये षवर्ण एक कारण होता है, अतः णत्व से पहले ही ८।३।५५ सूत्र से षत्व-सम्बन्धी विवरण दिया गया है। पहले कहा जा चुका है कि 'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्' रूप नियम यहाँ के प्रकरणों के क्रमिक स्थापन में हेतु है—अतः इस स्थल के अवान्तर प्रकरणों की सङ्गति की आलोचना करना अनावश्यक है।

णत्व के बाद ८।४।४० सूत्र से व्यञ्जन-सम्बन्धी विकारों का विवरण है। पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता के कारण ही इन सबों का उपन्यास अच्सन्धि के साथ (षष्ठ अध्याय में) नहीं किया गया। यह प्रकरण ६५ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद अन्तिम तीन सूत्रों में स्वर-सम्बन्धी विवरण है। इस स्थल पर इन विधियों के स्थापन की पूर्ण सार्थकता है। स्वर-सिद्धि के लिये इन विधियों को असिद्ध करना आवश्यक है, जो यहाँ पर पढ़ने से ही हो सकता था, अन्यथा नहीं; इनको चूँकि यहाँ पर पढ़ा गया है, इसलिये स्वर-सम्बन्धी एक विशिष्ट परिभाषा (अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ६।१।१५८) की प्रवर्तना इन सूत्रों में नहीं होती (काशिका ८।४।६६)—यह जानना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र 'अ अ' है। सम्पूर्ण शास्त्र के अन्त में इसको कहने की सार्थकता भट्टोजिदीक्षित ने निम्नलिखित शब्दों में दिखाई है—'विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते; अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रति असिद्धत्वात् शास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव' (सिद्धान्तकौमुदी ८।४।६८)। ग्रन्थरचना की दृष्टि से भी अन्त में इस सूत्र को रखा गया है; इस सूत्र में एक ही वर्ण दो बार उच्चरित हुआ है, और यह रीति (ग्रन्थान्त में द्विरुक्ति) ग्रन्थ समाप्ति-द्योतन करने के लिये प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है, अतः 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' न्याय से भी यह सूत्र ग्रन्थान्त में पढ़ा गया है, जिससे स्वर-सिद्धि के साथ ग्रन्थान्त का ज्ञापन भी हो जाए।[1]

१—भाष्यव्याख्याप्रपञ्च (परिभाषावृत्ति के अन्त में मुद्रित, वरेन्द्र रिसर्च म्युजियम प्रकाशित) में 'अथानुक्रमणिका:' कहकर अष्टाध्यायीगत मुख्य विषयों के क्रमिक स्थापन सम्बन्धी कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं, यथा—प्रत्याहारः सवर्णश्च परिभाषा च नाम च। एकशेषः कारकं च समासः पूर्वपातनम् ॥ अनुक्ते द्वितीयादीनां नियमो लिङ्गशेषणम्। सनादीनां विधिः कृत्या अणादि-र्भाववाचिनाम् ॥ विधानं खलु खल्वर्थक्तादीनां च स्त्रियां विधिः। तद्धितार्थ-विधिः सम्यक् समासान्तविधिः परम् ॥ द्विरुक्तौ पदविन्यासो विशेषे कौशलं परम्। ग्वादौ साधनसाध्यानां षत्व-णत्व-समाप्तियुक् ॥ यह अनुसन्धानयोग्य है कि अष्टाध्यायी की कोई विस्तृत अनुक्रमणी कभी बनी थी या नहीं। यदि पूर्वाचार्यकृत कोई विशद अनुक्रमणी मिल जाए तो प्रकरण सम्बन्धी विचार करना सरल हो जाएगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप

वृत्ति का स्वरूप—पाणिनि के सूत्रों पर वृत्तिनिर्माण की शैली प्राचीन काल से चली आ रही है। सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये वृत्तियाँ बनाई जाती हैं, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः' (पदमञ्जरी) काव्यमीमांसा के वृत्तिलक्षण में भी 'सूत्राणां सकलसारविवरणम्' कहा गया है। यह प्रसिद्ध बात है कि भाष्य, वार्तिक आदि तर्कपूर्ण व्याख्यान-ग्रन्थों से पहले वृत्ति लिखी जाती थी। वृत्ति की सहायता से सूत्रों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वृत्ति में न सूत्रों पर आलोचना की जाती है (जो कि वार्तिक का विषय है) और न विरुद्ध वादियों द्वारा उद्भावित शङ्काओं का खण्डन किया जाता है (जो भाष्य का मुख्य कार्य है) [1] यह ज्ञातव्य है।

वृत्ति की आवश्यकता—वृत्तियों में अपेक्षित शब्दों की पूर्ति के साथ सूत्रार्थ किया जाता है। सूत्र सोपस्कार होता है।[2] वाक्यपदीय में भी 'सोपस्कारेषु सूत्रेषु' कहा गया है (३।१४।४६७)।

पतञ्जलि इस तथ्य से परिचित थे और उन्होंने कहा भी है कि सूत्र के अर्थ के अधिगम के लिये व्याख्यान की आवश्यकता है। उन्होंने यह भी कहा है कि व्याख्यान केवल चर्चापद (अर्थात् पदच्छेद) ही नहीं है, बल्कि उसमें

१—द्र० मेरा लेख 'Kinds of Expositions in Sanskrit Literature', Annals of B. O. R. I. VOL. XXVI (I-II).

२—सूत्राणां सोपस्कारत्वात् (प्रदीप ६।१।१)। नागेश प्रदीप के 'सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्' वाक्य की व्याख्या में 'पूरणापेक्षत्वात्' कहते हैं (उद्द्योत १।४।१३)। सूत्ररचना सम्बन्धी विशेष विवरण के लिये मेरा Characteristics of the Sutras लेख द्रष्टव्य है, Calcutta Review, March 1956.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण, प्रत्युदाहरण एवं वाक्याध्याहार भी रहते हैं।[1] अतएव यह सिद्ध होता है कि यहाँ व्याख्यान शब्द से पतञ्जलि का अभिप्राय वृत्ति ही है।[2]

हम जानते हैं कि सूत्रों पर वृत्तिकी रचना अन्यान्य शास्त्रों में भी की गई थी। उदाहरणार्थं हम कह सकते हैं कि बोधायन ने वेदान्तसूत्र पर (शाङ्करभाष्य से पहले) वृत्ति लिखी थी[3]। पूर्वमीमांसा सूत्र में भी यही बात है, उसमें जैमिनि के सूत्रों पर उपवर्ष ने वृत्ति लिखी थी (शबर से पहले)—ऐसी प्रसिद्धि है।[4]

वृत्ति के विचार्य विषय—पाणिनि सूत्रों पर जो प्राचीन वृत्तियाँ थीं, उनमें जो विषय विचारित होते थे, इस निबन्ध में इस विषय पर कुछ सामग्री का संकलन किया जा रहा है:—

(क) 'अधिकार की आलोचना' वृत्ति में की जाती है। पतञ्जलि ने कहा है 'नैतदन्वाख्येयम् अधिकारा अनुवर्तन्ते' (७।४।२४); कैयट ने यहाँ वृत्ति का एक निश्चित कार्य दिखाया है, यथा—'वार्तिककारेण नैतदन्वाख्येयम्, सर्वाधिकाराणामन्वाख्यानप्रसङ्गात्। वृत्तिकारास्तु अधिकाराणां प्रवृत्ति-निवृत्ती

१—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आद् ऐजिति, किन्तर्हि उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः—एतत् समुदितं व्याख्यानं भवति। चर्चापद की व्याख्या में अन्नम्भट्ट कहते हैं—"चर्चा अभ्यासः। यथा वेदे अभ्यासार्थं विभक्तानि पदान्युच्यन्ते तद्वद् उक्तानीत्यर्थः" (उद्द्योतन)। वाक्याध्याहार का अर्थ है वाक्यशेष का अध्याहार—"आदैच् वृद्धिसंज्ञो भवतीति वाक्यशेषाध्याहार इत्यर्थः" (उद्द्योतन)।

२—पाणिनिसूत्रों पर चुल्लि-भट्टि-नल्लूर आदि अनेक आचार्यों की वृत्तियाँ थीं, ऐसा काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में न्यासकार ने कहा है। इन वृत्तियों के विषय में सं० व्या० शा० इ० (अ० १४) द्रष्टव्य है।

३—रामानुज ने श्रीभाष्य के प्रारम्भ में यह सूचना दी है। अगस्त्य आदि ने भी ऐसी वृत्तियाँ (विभिन्न सम्प्रदायों में स्वीकृत) लिखी थीं, ऐसा सांप्रदायिक विद्वान् कहते हैं। ऐसे उल्लेखों की प्रामाणिकता पर संशय करने का पर्याप्त अवकाश है।

४—उपवर्ष के वृत्तिकारत्व के लिये 'भारतीय संस्कृति और साधना' (पृ० ८३-८४) द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याचक्षते (प्रदीप)। इससे जान पड़ता है कि सूत्रीय अधिकारों की प्रवृत्ति और निवृत्ति पर विचार वृत्तियों में किया जाता था। माथुरीवृत्ति (महाभाष्य ४ । ३ । १०३ में स्मृत) में 'तदशिष्यं...' सूत्रीय अशिष्य पद की अनुवृत्ति कहाँ तक है—इस पर निर्देश किया गया था। पुरुषोत्तमदेव कहते हैं—"माथुर्यां तु वृत्तौ अशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते" (१।२।५७)।

(ख) सूत्रों के पदच्छेद पर विचार करना भी वृत्ति का मुख्य कार्य है। यदि पदच्छेद नहीं किया जाता, तो सूत्रार्थ का विचार करना सम्भव नहीं होता। सूत्रों का अर्थ एवं कार्य स्पष्ट करने के लिये पदच्छेद करना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन वृत्तियों के पदच्छेद सम्बन्धी उदाहरणों को कैयट ने दिखाया है। यथा—'एकादिश्चैकस्य चादुक् (६ । ३ । ७६) सूत्र पर उन्होंने कहा है कि प्राचीन वृत्ति में 'आदुक्' आदेश स्वीकार किया गया था यद्यपि पतञ्जलि ने इसे अदुक् माना है।[1]

(ग) वृत्ति का सर्वमुख्य कार्य है सूत्रों का उपयुक्त उदाहरण देना। पतञ्जलि ने कहा है—'यत् तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति, किं पुनस्तत् ? पट्व्या मृद्व्या (भाष्य १ । १ । ५०)। ये मूर्धाभिषिक्त उदाहरण समस्त वृत्तियों में उदाहृत हैं (मूर्धाभिषिक्तमिति सर्ववृत्तिषु उदाहृतत्वात्—प्रदीप)। समस्त वृत्तियों में इन उदाहरणों का उपयोग इन उदाहरणों की महत्ता को प्रमाणित करता है। इन उदाहरणों से सूत्रों का स्वरूप, उनके कार्य तथा सूत्र सम्बन्धी विभिन्न विषय भलीभाँति प्रकाशित हो जाते हैं तथा इन उदाहरणों से सूत्रार्थसम्बन्धी विवाद का समाधान भी किया जाता है।

(घ) वृत्ति में सूत्र के उदाहरणों के साथ प्रत्युदाहरणों पर भी विचार किया जाता है। उदाहरणों की तरह प्रत्युदाहरणों का भी मूल्य है अन्यथा पतञ्जलि प्रत्युदाहरणों पर कभी भी विचार नहीं करते। एक उदाहरण लीजिए—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१ । १ । ५६) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है 'अचः इति किमर्थम् ? प्रश्नो विश्नः'। यहाँ कैयट कहते हैं—'वार्तानि (=वृत्त्युदाहरणानि) प्रत्युदाहरणानि कानिचित् शक्यप्रतिविधानानि" (प्रदीप)। इससे यह ज्ञात होता है कि कुछ वृत्त्युक्त प्रत्युदाहरणों को खण्डित करने के लिये पतञ्जलि सचेष्ट थे। नागेश ने यहाँ वृत्तिकार का एक निश्चित

१—तुल्यायामपि संहितायां प्रतिपत्तिलाघवाय वृत्तिकारैरादुगाश्रितः, भाष्यकारेण तु न्यायाद अदुगेव स्थापितः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व दिखाकर कहा है—"प्रत्युदाहरणादि–चिन्ता वृत्तिकाराणामुचिता न तु भाष्यकृतः" (उद्द्योत)।

(ङ) हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वृत्ति का मुख्य कर्म है सूत्रों की व्याख्या करना। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि वृत्ति सूत्रों के पूर्ण अर्थ को कह देती है। अनेक स्थलों पर सूत्रार्थों को दिखा कर पतञ्जलि ने वृत्तिकारों के दृष्टिकोण पर विचार किया है। न बहुव्रीहौ (१।१।२८) सूत्र के आधार पर पतञ्जलि ने कहा है—'न खलु अवश्यं सर्वाद्यन्तस्यैव प्रतिषेधेन भवितव्यम्, किं तर्हि ? असर्वाद्यन्तस्यापि भवितव्यम्'। यहाँ दो पृथक् पृथक् दृष्टिकोण हैं। प्रथम मत (अर्थात् न खलु अवश्यम् इत्यादि) एक प्राचीन वृत्तिकार का है जिसे स्पष्ट करते हुए नागेश ने अपना मत इस प्रकार दिखाया है—भाष्ये वृत्तिकारोक्तं सूत्रार्थमाह न खल्वपि इति (उद्द्योत)।[1]

(च) इन प्राचीन वृत्तियों में गणपाठ की सामग्री भी विद्यमान थी। भर्तृहरि ने दीपिका में कहा है—'अतो गणपाठ एवं ज्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति (१।१।३८)।

(छ) भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में कहा है—विग्रहभेदं प्रतिपन्ना वृत्तिकाराः (सं० व्या० शा० इ० पृ० ३६१)। सामासिक पदों के पृथक्करण में वृत्तिकारों में मतभेद था, यह इससे ज्ञात होता है।

(ज) सूत्रपदसार्थक्य का प्रदर्शन करना भी वृत्तिकार का कार्य है। दीपिका का यह वाक्य इसमें प्रमाण है—अयमेवार्थो वृत्तिकारेण दर्शितः...एवं च केचिद् वृत्तिकाराः धातुलोप इति किमर्थमिति पठन्ति (सं० व्या० शा० इ० भाग १, पृ० ३५९)।

(झ) कुछ स्थलों में वृत्तिकारों ने प्रयोगसाधुता-सम्बन्धी अपना मत भी दिखाया है। कातन्त्रपरिशिष्ट १।३३ की व्याख्या में श्रीपति ने कहा है—'नलूँ रवृत्तौ चोक्तम् भाषायामपि यङो लुगस्तीति' जिससे उपर्युक्त बात प्रमाणित होती है।

१—५।१।५०में 'भाराद् वंशादिभ्यः' शब्द है। इस अंश की एक अन्य व्याख्या काशिका में 'अपरा वृत्तिः' कहकर उद्धृत हुई है। व्याख्याभेदजनित अर्थभेद का उदाहरण ५।१।९४ में भी मिलता है। यहाँ मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिकः' (ब्रह्मचारी) एवं 'मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं (ब्रह्मचर्यम्)' ये दो उदाहरण हैं जिनमें द्वितीय किसी प्राचीन वृत्तिकार का है (काशिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभाष्य एवं प्राचीन वृत्तियाँ—अब हम महाभाष्य के साथ विभिन्न टीकाओं में उद्धृत प्राचीन वृत्तियों की सामग्री की तुलना करने जा रहे हैं। 'प्राचीन' शब्द से उन पुरानी वृत्तियों का ग्रहण किया जाएगा, जिनके उद्धरण भाष्य, काशिका, प्रदीप, न्यास आदि में मिलते हैं। हम इनमें विभिन्न वृत्तियों के नाम उद्धृत पाते हैं—जैसे चुल्लि, नलूर आदि (न्यास आदि में निर्दिष्ट)। किन्तु सर्वत्र यह निर्णय नहीं किया सकता कि ये सब वृत्तियाँ भाष्य से पहले ही बनी हों, किन्तु हम निःसन्देह होकर कह सकते हैं कि जो वृत्ति पतञ्जलि के बाद बनी है उसमें भी पतञ्जलि से प्राचीन सामग्री अवश्यमेव विद्यमान है।

प्राचीन वृत्तियाँ एवं महाभाष्य के सम्बन्ध में हम सर्वप्रथम यह पार्थक्य देखते हैं कि पतञ्जलि ने कुछ स्थलों पर प्राचीनवृत्तियों के उदाहरणों को हटाकर ऐसे उदाहरणों को रख दियां है जिन उदाहरणों से सूत्रों के अर्थ स्पष्टतर हो जाते हैं। यथा—यमरमनमातां सक् च (७।२।७३) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है—किमुदाहरणम्? अयंसीत् अनंसीत्'। सूत्रों के उदाहरणों को लेकर पतञ्जलि ने क्यों इस प्रकार आलोचना की है, इस पर कैयट ने कहा है—'वृत्तिकारैरेकवचनान्तानि उदाहरणाति उपन्यस्तानि, तत्र विशेषं सगिटोरबुद्ध्वा पृच्छति' (प्रदीप)। कहने का तात्पर्य यह है कि वृत्तिकारों के उदाहरण सर्वत्र सार्थक नहीं होते और इसलिये ही पतञ्जलि ने कहीं कहीं प्राचीन उदाहरणों को हटाकर कुछ ऐसे शब्दों को रखा है जिनसे सूत्र-कार्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अन्य टीकाकारों ने भी इन प्राचीन वृत्तियों के उदाहरणों की कुछ त्रुटियों को दिखाया है। इस प्रकार के त्रुटियों का एक सुन्दर उदाहरण 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८७) सूत्र के 'पदलोपश्च' वार्त्तिक पर प्रदीप में देखा जा सकता है। प्रदीप का वाक्य इस प्रकार है-"यत्तु लूयते केदारः स्वयमेव इति वृत्तिकारैरुदाह्रियते, तत्र कर्त्तन्तराभावप्रतिपादनेन केदारस्यैव कर्तृत्वप्रतिपादनाय स्वयं शब्दः प्रयुज्यते। नत्वेतत् कर्मवद्भावस्योदाहरणम्, स्वयं शब्दस्य आत्मनेति तृतीयान्तार्थे वर्तनात् आत्मनः कर्तृत्वे केदारस्य प्राकृतकर्मत्वसद्भावात्।" प्रदीप १।३।६७ भी द्र०)

साधारणतः यह देखा जाता है कि पतञ्जलि, सूत्रों की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के न्याय विचारों को पदे पदे ले आते हैं। न्यायशास्त्र के नियमों के बलपर सूत्र-व्याख्या करना अथवा प्राचीन उदाहरणों को खण्डित करना पतञ्जलि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की एक प्रिय शैली है। प्राचीनवृत्तिकार सूत्रार्थ में सर्वत्र इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते थे। सूत्रों को सहज सरल पद्धति से समझाना उन लोगों का प्रधान उद्देश्य था। न्यायशास्त्र की पद्धति से सूत्र की व्याख्या करना वृत्तियों में कदाचित ही दृष्ट होता है। एक उदाहरण लीजिए—

एकादिश्चैकस्य चादुक् (६।३ ७६) सूत्र के भाष्य एवं वृत्ति में इस प्रवृत्ति का उदाहरण मिलता है। यहां प्राचीन वृत्तियों के प्रणेता 'आदुक्' आदेश मानते हैं क्योंकि इससे सूत्र का कार्य सरल हो जाता है, किन्तु पतञ्जलि ने यहां (अकारोच्चारणसामर्थ्यात् पररूपं भवति) न्याय-विचार-पूर्वक 'अदुक्' स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पतञ्जलि न्यायशास्त्रीय लाघव-विचार को बहुमान करते थे जबकि प्राचीन वृत्तिकार सूत्रप्रक्रिया को सरलतम बनाना चाहते थे।

कभी कभी देखा जाता है कि पतञ्जलि ने प्राचीन वृत्तियों का वही अंश ग्रहण किया है जिसमें उन्होंने तार्किक विचार पद्धति की छाया पाई है।[1] इन सब स्थलों में उन्होंने कालिक पौर्वापर्व विचार न कर केवल उसके न्यायबीजों पर विचार किया है। 'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७४) सूत्र भाष्य इसका उत्तम उदाहरण है। इस सूत्र के 'प्राचाम्' शब्द के तात्पर्य पर दो प्राचीन वृत्तिकारों के दो पृथक् पृथक् मत हैं, जैसा कि कैयट ने स्पष्ट रूप से दिखाया है। (एक का नाम कुणि और दूसरे का नाम अज्ञात है)। पतञ्जलि ने केवल कुणि के मत को ग्रहण किया है क्योंकि यहाँ दूसरे मत की अपेक्षा कुणि का मत न्याय के अनुसार अधिक संगत है।

६।४।१६३ सूत्र की व्याख्या में नागेश ने कहा है 'अत्र केचित्—इदं भाष्यं न सूत्रप्रत्याख्यानपरं, किन्तु वृत्त्याद्युक्तोदाहरणेषु अन्यथासिद्धिप्रतिपादनपरम्' (उद्द्योत)। इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि हम पतञ्जलि के सिद्धान्तों पर पूर्ण विचार करें तो इन प्राचीन वृत्तियों में प्रदत्त उदाहरणों की प्रामाणिकता कहाँ तक है, इसका परिज्ञान भी हो जाए।

यह भी जानना चाहिए कि आधुनिक व्याख्यानग्रन्थों में इन प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ और उदाहरणों की तीव्र आलोचना तथा खण्डन करने का प्रयास

---

१ महाभाष्य में प्राचीन वृत्तियों का खण्डन प्रचुर मात्रा में है। 'न बहुव्रीहौ' सूत्र भाष्य में 'अकच्स्वरौ तु···मुक्तसंशयौ' कहा गया है। नागेश कहते हैं—तदेतद् वृत्तिकारोक्तं दूषयति अकच्स्वरौ त्विति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है। आधुनिक वैयाकरण यह समझते हैं कि भाष्य के विरोध करने मात्र से वृत्तिव्याख्यान अशुद्ध होजाता है, पर यह दृष्टि न्याय्य नहीं है।[1]

कुछ सूत्रों में वार्त्तिक का मत वृत्तिमतों से पृथक् है। भाष्य की तरह वार्त्तिक भी न्यायशास्त्रीय विचार पद्धति से पूर्ण है। हम जानते हैं कि न्याय की विचारसरणि की सहायता से सूत्रार्थ पर विचार करना वार्त्तिक का कार्य है, जब कि सूत्र-व्याख्या के लिये वृत्ति कदाचित् ही किसी तार्किक विचार पद्धति को ग्रहण करती है। 'संज्ञायां जन्याः' (४। ४। ८२) सूत्र में प्रदीपकार कैयट ने कहा है कि प्राचीन वृत्तिकारों ने ४। ४। ८२ सूत्र को 'निपातन–सूत्र' के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु वार्त्तिककार ने कहा—'जन्या इति निपातनानर्थक्यं पञ्चमीनिर्द्देशात्'। यहाँ यदि हम वार्त्तिक का मत (यह विधिसूत्र है) स्वीकार करें तो 'प्रतिपत्तिगौरव' दोष होगा; अतएव प्राचीन वृत्तियों के अनुसार निपातन-सूत्र मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन वृत्तियों की व्याख्या वार्त्तिकों की तुलना में कहीं कहीं अनुमोदनयोग्य तथा न्याय्य है यद्यपि भाष्यवार्त्तिकसदृश तर्कपरायणता प्रतिपद उनमें नहीं मिलती।[2]

अनेक स्थलों में पतञ्जलि ने प्रश्न किया है—'किमिहोदाहरणम् ?' अर्थात् इस सूत्र का उदाहरण क्या है ? इस प्रश्न से यही समझा जाता है कि यहाँ पतञ्जलि उस उदाहरण को उदाहृत करना चाहते हैं जो पतञ्जलि-पूर्व ग्रन्थों में विद्यमान है। साधारणतया हम सोचते हैं कि 'किमिहोदाहरणम्' के कहने के बाद वही उदाहरण दिया जाएगा जो प्राचीन वृत्तियों में वर्तमान था। 'क्षेपे' (२।१।४७) सूत्रभाष्य को लीजिए। यहाँ भाष्य कहता है—'किमुदाहरणम् ? अवतप्नेनकुलस्थितं त एतत्'। यहाँ प्रकृत उदाहरण 'अवतप्ते

१—महाभाष्यकार पतञ्जलि का यादृश प्रामाण्य कैयट, भट्टोजि, नागेश आदि मानते हैं, तादृश प्रामाण्य काशिककार, नारायणभट्ट आदि नहीं मानते, यह उनके व्याख्यानों को देखने से ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऐसा पाणिनीय संप्रदाय था, जो 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' दृष्टि को नहीं मानता था। यह विषय स्वतन्त्रनिबन्धसाध्य है। प्रसंगतः हम विद्वानों का ध्यान पुण्यराज के वाक्यप० २। २८१ व्याख्यागत वाक्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जहां वार्त्तिककार और भाष्यकार के मतों की समीक्षा के प्रसंग में कहा गया है—भाष्यकारस्तु अभिप्रायानभिज्ञ एव।

२—यद्यपि विध्यर्थत्वेऽपि संख्याकालयोरविवक्षयैतत् सिध्यति तथापि न्यायानुसरणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यादिति निपातनाश्रयणम् (प्रदीप ४।४।८२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकुलस्थितं' है। यहाँ 'त एतत्' शब्दद्वय प्रकृत उदाहरण नहीं है यद्यपि उदाहरण की पूर्णता और सार्थकता के लिये इसकी आवश्यकता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राचीन वृत्तियों में थे; पतञ्जलि ने उन उदाहरणों की प्रसिद्धि के कारण उनका ही उपन्यास भाष्य में किया है। इस विषय में हम 'उपमानानि सामान्य-वचनैः (२।१।५४) सूत्रोदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। यहाँ भाष्यकार कहते हैं–'किं पुनरिहोदाहरणम्? शस्त्रीश्यामा'। पूर्वनिर्णय के अनुसार 'शस्त्रीश्यामा' उदाहरण पतञ्जलि-पूर्व ग्रन्थों में होना चाहिए। यहाँ हम देखते हैं कि इस सूत्र के वार्त्तिक में 'न वा श्यामत्वस्य' इत्यादि वाक्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पतञ्जलि के मन में जो 'शस्त्री श्यामा' उदाहरण था वह वार्त्तिक (पतञ्जलि-पूर्व-ग्रन्थ) में पहले ही दिखाया जा चुका था और इसीलिये उन्होंने 'किमुदाहरण' पूछने के पश्चात् उस उदाहरण की स्थापना की हैं। अतएव 'किमुदाहरणम्' प्रश्न के बाद उपन्यस्त उदाहरणों का मूल्य अधिक है क्योंकि ये उदाहरण भाष्य से पूर्व की वृत्तियों में विद्यमान थे।

हमने देखा है कि कभी कभी इन प्राचीन वृत्तियों के व्याकरण-प्रक्रिया-सम्बन्धी मत सर्वथा समान नहीं होते। अब हम देखेंगे कि किसी किसी स्थल में विभिन्न वृत्तिकारों के द्वारा स्वीकृत सूत्रों के पाठ भी समान नहीं हैं:—

एतदोऽन् (५।३।५) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यहाँ कैयट ने कहा है— 'इह केचिदशं पठन्ति केचिदनम्'। 'केचित्' की व्याख्या 'वृत्तिकृतः' के रूप में किया गया है (उद्द्योत)। यदि पहला मत किसी वृत्तिकार का है, तो दूसरा मत भी किसी वृत्ति का होगा, ऐसा सहजतः कहा जा सकता है। 'दानीं च' (५।३।१८) सूत्र में भी ऐसा ही मतभेद दिखाई पड़ता है।

पृथक् पृथक् वृत्तिकारों के द्वारा विभिन्न पाठों को क्यों स्वीकार किया गया, इस समय इसका निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के पृथक्मतों के लिये 'ल्यपि लघुपूर्वश्च' (६।४।५६) सूत्र पर कैयट का एक वाक्य देखिए—"केचिदाचार्येण ल्यपि लघुपूर्वस्येति षष्ठ्यन्तमध्यापिताः, अन्ये लघुपूर्वादिति पञ्चम्यन्तम् (प्रदीप)। 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर पतञ्जलि ने इस प्रकार की एक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा हैं—"उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति'। इस प्रकार का मतभेद दूसरे स्थलों में भी देखा जाता है। वस्तुतः विभिन्न सूत्रपदच्छेद विभिन्न वृत्तिकारों के अनुसार हैं; पदच्छेद करना वृत्तिकार का कार्य है, यह पहले ही कहा गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय परिच्छेद

पाणिनि के ग्रन्थों से प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय

प्राक्पाणिनीय सामग्री की सत्ता—पाणिनि के ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय आचार्यों की कृतियों का अंश अविकल रूप से विद्यमान है, ऐसा प्राचीन व्याख्याकार तथा आधुनिक समालोचक समान रूप से मानते हैं। पाणिनि की कृति के यथार्थ मूल्यांकन के लिये यह आवश्यक है कि उस प्राक्पाणिनीय अंशों का ज्ञान प्राप्त किया जाए, जिसे स्वेच्छा से पाणिनि ने अपने ग्रन्थों में लिया है। चूंकि प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका पूर्णतः निरूपण करना असंभव है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्राक्पाणिनीय अंशों की सत्ता प्रतिभासित होने लगती है। इस विषय की आलोचना के प्रसङ्ग में ह्विटनी ने कहा था कि "कितना अंश पाणिनि का अपना है, और कितना प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है, इसके स्पष्टीकरण के लिये, यदि कभी संभव हो सका तो, दीर्घ काल की अपेक्षा होगी"[1]। इस निबन्ध में प्राक्पाणिनीय अंशों के ज्ञान के लिये कुछ उपायों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस विषय में यह जानना चाहिए कि व्याकरण में विषय और प्रमाण ये दो शब्द ही हैं, अतः परवर्ती वैयाकरणों के लिये पूर्वभावी आचार्यों की उक्तियों का सम्पूर्ण त्याग कभी भी संभव नहीं हो सकता। यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्वाचार्य प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दों का सहसा परित्याग नहीं करते हैं। पतञ्जलि ने इसका एक स्पष्ट उदाहरण दिया है। 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' (पस्पशाह्निक) की व्याख्या में वे कहते हैं कि यहाँ सिद्ध का अर्थ है 'नित्य', अतः वार्तिककार ने 'नित्य शब्द का ही व्यवहार क्यों नहीं किया है; इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा

१—It will be long before we understand, if indeed we ever come to do so, what and how much of it is Panini's own, in addition to the work of his grammatical predecessors (The Veda in Panini p. I.)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि प्राचीनतर संग्रह-ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द का ही व्यवहार था, अतः वार्तिक-कार ने सिद्ध शब्द को ही ले लिया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दानुपूर्वी का परित्याग नवीन आचार्य सहसा नहीं करते हैं—यह उदाहरण इस सिद्धान्त का पोषक है। केवल शब्दानुपूर्वी में ही नहीं, उदाहरण में भी यही बात चरितार्थ होती है, अर्थात् परभविक वैयाकरण पूर्वभविक वैयाकरणों के उदाहरणों का सहसा त्याग नहीं करते। हरदत्त ने कई बार इस सिद्धान्त की ओर सङ्केत किया है। व्याकरणशास्त्र में अप्रसिद्ध उदाहरण क्यों दिया जाता है, इसके उत्तर में हरदत्त ने कहा है--'अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात्' (पदमञ्जरी २।१।६) अर्थात् चूँकि कोई उदाहरण परम्परागत है, इसलिये अप्रसिद्ध होने पर भी उसका त्याग नही किया जाता। वैयाकरण अपनी इच्छा से सहसा प्राक्तन आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दानुपूर्वी का परित्याग नहीं कर सकते। जब तक लोक में प्राचीन आचार्यों की शब्दानुपूर्वी प्रचलित रहेगी, तब तक उसका त्यागकर नूतन शब्दानुपूर्वी की रचना करने से उसके प्रचार में बाधा होगी, जैसा कि हम हरिनामामृत आदि नवीनतम व्याकरणों के विषय में देखते हैं; अत्यधिक नवीनता के कारण ये व्याकरण लोक में सुप्रचलित न हो सके।

पाणिनि द्वारा प्राचीन आचार्यों का अनुकरण—यह एक प्रमाणित तथ्य है कि पाणिनि ने एकाधिक स्थलों पर प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों का शाब्दिक अनुकरण किया है[१]। प्रत्यक्षतः हम देखते हैं कि पूर्वपाणिनीय आचार्यों के कुछ सूत्र अविकल रूप से पाणिनीय सूत्रों से मिल रहे हैं, जैसे—'आश्चर्यमनित्ये' सूत्र। यह सूत्र अष्टाध्यायी (६।१।१४७) और ऋक्तंत्र (४।७।१) दोनो में है। 'कास्तीराजस्तुन्दे नगरे' (अष्टा० ६।१।१६५) सूत्र भी ऋक्तंत्र (४।७।४) में मिलता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि के कुछ सूत्र अविकल रूप से निरुक्त, ऋक्प्रातिशाख्य आदि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों में मिलते हैं। पाणिनि का 'परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०) सूत्र निरुक्त (१।१७ ख०) में भी मिलता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य आदि प्रातिशाख्यों के अनेक वचन पाणिनि-

---

१. तिप्, शप्, तिङ्, श्लु श्तिप्, गति, कारक, उपपद आदि अनेक पारिभाषिक शब्द प्राक्पाणिनीय हैं—यह पूर्वाचार्यों को भी ज्ञात था (Structure of the Astadhyayi, p. 116)। पूर्वाचार्यों के सूत्रों के अनुकरण को लक्ष्यकर भाष्यकार ने 'पूर्वसूत्रनिर्देश' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है (१।२।६८, ४।४।१४, ६।१।१६३, ७।१।१८)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वत् हैं। यह मानना होगा कि या तो पाणिनि ने निरुक्तादि ग्रन्थों से इन सूत्रों को अविकल रूप से ले लिया है या पाणिनि आदि आचार्यों ने किन्हीं प्राचीनतर ग्रन्थों से इन सूत्रों को ले लिया है।

केवल भाष्य संप्रदाय ही नहीं, भाष्यपृथक् संप्रदाय के आचार्य भी मानते हैं कि पाणिनि की कृतियों में प्राक्पाणिनीय अंशों की सत्ता है[1]। काशिकाकार ने व'लुक्तपयुिद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र के विषय में कहा है—'व्यक्ति-वचने इति लिङ्गसङ्ख्ययोः पूर्वाचार्यनिर्देशः, तदीयमेवेदं सूत्रम्', अर्थात् १।२।५१ सूत्र प्राक्पाणिनीय है, और पाणिनि ने अविकल रूप में अपने ग्रन्थ में उस सूत्र का समावेश किया है। केवल एक-आध सूत्र ही नहीं, अष्टाध्यायी के कुछ प्रकरण भी पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से लिए गए हैं। जैसा कि नागेशभट्ट ने कहा है—'एवं च लिङ्गप्रकरणम्, जात्याख्यायामित्यादि सङ्ख्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतमिति ध्वनितं सूत्रकृता' (उद्द्योत १।२।५३)। इन उद्धरणो से यह प्रमाणित होता है कि पाणिनि के ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंश (पूर्वाचार्यों के सूत्रादि के अविकल अनुकरण) हैं।

अनुकरणहेतु—आचार्यों के प्रति श्रद्धातिशय ही इस प्रकार की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का कारण है, ऐसा आपाततः प्रतीत होता है। पाणिनि ने 'अनुशासन' किया है, और अनुशासन का अर्थ ही होता है, 'प्राक्सिद्ध वस्तु का विवरण' (शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम्), अतः पाणिनीय ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंशों का होना असंभव या दोषावह नहीं है। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिए कि कहीं-कहीं इस प्रकार के शाब्दिक अनुकरण कुछ विशेष प्रयोजन के लिये किए गए हैं, अर्थात् यदि सूत्रों में प्राक्पाणिनीय शब्दव्यवहार का अनुकरण नहीं किया गया होता, तो पाणिनि को कुछ अधिक यत्न करना पड़ता, या अन्य कोई दोष होता। कभी-कभी पणिनि यह भी चाहते हैं कि पूर्वाचार्य से निर्दिष्ट उपाधि भी मेरे शास्त्र में सार्थक रूप से प्रवर्तित हो, और इसीलिये उनको पूर्वा-

---

१. आधुनिक विद्वान् पवतेमहोदय गणपाठ और तत्संबद्ध सूत्रों को प्राक्-पाणिनीय समझते हैं—It seems that the whole of the Ganapatha and consequently, the sutras for which various Ganas were written, are pre-Paninian (The Structure of the Astadhyayi p. 86). यह मत कहां तक उपादेय है, इस विषय में डा० कपिलदेवकृत पाणिनीय गणपाठ संबंधी ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्यव्यवहृत शब्दों का अविकल रूप से व्यवहार करना पड़ता है, जहां वे उपयुक्त निर्देश देकर उन-उन शब्दों का त्याग कर सकते थे। कैयट ने इस तत्त्व को कण्ठतः कहा है—'पूर्वाचार्यविहितगुरुसंज्ञाश्रयणाद् यदुपाधीनां पूर्वाचार्याः संज्ञां व्यधिषत तदुपाधीनामेव एता भवन्ति (प्रदीप २।१।१९)। हरदत्त भी कहते हैं—महत्याः पूर्वाचार्यसंज्ञाया आश्रयणं तदीयोपाधिपरिग्रहार्थमेवेति भावः (पदमञ्जरी १।३।१)। (उपाधि = अर्थ)। पाणिनि के ग्रन्थ प्रोक्त' हैं, कृत नहीं; प्रवचनरीति से प्रणीत ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों के वाक्यों का रहना अनिवार्य हो जाता है—यह सर्वविध प्रोक्त ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है।

अनुकरण-प्रकार—अनुकरण दो प्रकार का होता है—शाब्दिक तथा आर्थिक। यहां शाब्दिक अनुकरणों के विषय में आलोचना की जा रही है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय शब्दव्यवहार का कितना अंश पाणिनीय ग्रन्थों में है, यह यह विवृत होगा। इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं, अतः अनुमान से गम्यमान फलों को हम प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकते हैं, पर जहां तक संभव है, हमने आनुमानिक फल को प्राचीन आचार्यों की धारणा से मिलाने का यत्न किया है। इस निबन्ध में कुछ अंशों की ही प्राक्पाणिनीयता प्रमाणित की जाएगी, तत्सदृश स्थल भी प्राक्पाणिनीय हैं, यह ज्ञातव्य है (यदि कोई बाधक तत्त्व न हो)।

प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय—जब यह निश्चय हो गया कि पाणिनीय ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंश हैं, तब तर्कसिद्ध उपायों से उन स्थलों की पहचान करना भी असंभव नहीं है। प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के सूक्ष्म मनन करने के बाद जिन उपायों का आविष्कार किया गया है उनसे कुछ हद तक प्राक्पाणिनीय अंशों की पहचान की जा सकती है। वे उपाय निरपवाद हैं, ऐसा नहीं, वे बहुत दूर तक ठीक हैं, केवल इतना कहा जा सकता है। आशा है अन्य विद्वज्जन भी इस विषय की आलोचना करेंगे, जिससे इस विषय का पूर्णाङ्ग ज्ञान हो जाए।

प्रथम कौशल—जो पारिभाषिक शब्द पाणिनि द्वारा अव्याख्यात होता हुआ भी अष्टाध्यायी में व्यवहृत हुआ है, वह प्राक्पाणिनीय है। (पारिभाषिक = शास्त्रकारीय-संकेतविषयप्रतिपादक)।

प्रत्येक शास्त्र के अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं, तथा उस शास्त्र का प्रत्येक ग्रन्थकार भी (यदि चाहे तो) कुछ स्वशास्त्रमात्र व्यवहार्य नूतन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों का व्यवहार भी कर सकता है। धातु, नाम आदि व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, जो व्याकरण के विभिन्न सम्प्रदायों में व्यवहृत हुए हैं, पर कुछ ऐसे भी पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका व्यवहार शास्त्र के एक या एकाधिक सम्प्रदाय में ही नियत रहता है। प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में स्वनिर्मित पारिभाषिक शब्दों का अर्थ प्रायेण विवृत कर देते हैं, जिससे ग्रन्थ के अर्थावधारण में बाधा या संशय न हो (अप्रसिद्धि आदि के कारण)। कोई पारिभाषिक शब्द यदि अवान्तर सम्प्रदायों में भिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ है, तो उस अर्थ के साथ अपने अभीष्ट साङ्केतिक अर्थ का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के कई कारणों से प्रत्येक आचार्य पारिभाषिक शब्दों का अर्थ प्रायः ग्रन्थ में ही कह देते हैं, यद्यपि ऐसा हो ही सकता है कि किसी शब्द के एकाधिक अर्थों में व्यवहार होने पर भी अर्थबोध में सन्देह होने की सम्भावना न हो। कभी-कभी यह भी दिखाई पड़ता है कि जिस आचार्य ने जिस पारिभाषिक शब्द का व्यवहार नहीं किया है, उसका व्यवहार भी उस सम्प्रदाय में चल पड़ता है। पाणिनि ने 'पुरुष' रूप पारिभाषिक शब्द का व्यवहार नहीं किया है, परन्तु उनके सम्प्रदाय में 'प्रथम पुरुष' 'मध्यम पुरुष' आदि शब्दों का व्यवहार चलता ही है।[1]

इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि पाणिनि के ग्रन्थों में ही कहीं ऐसा पारिभाषिक शब्द हो, अन्वर्थ न होने के कारण जिसकी व्याख्या आवश्यक थी, पर पाणिनि ने नहीं की है तो यह निश्चित है कि वह शब्द प्राक्पाणिनीय है, और अतिप्रसिद्धि या अन्य किसी विशेष कारण से पाणिनि ने उसे अविकल रूप से ले लिया है। पाणिनि यह भी समझते थे कि यह पद वैयाकरण-कुल में तो प्रसिद्ध है ही, अतः परम्परागत व्याख्या से इसका अर्थावधारण हो ही जाएगा, सुतरां इसके अर्थ-निर्देश की आवश्यकता नहीं है।

एक उदाहरण लीजिए—पाणिनि का सूत्र है 'औङ आपः' (७।१।१८)। पाणिनीय संप्रदाय में 'औङ्' एक अज्ञातार्थक शब्द है। यह पारिभाषिक शब्द है, और पाणिनि के द्वारा व्याख्यात भी नहीं हुआ है। अब पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार

१—अष्टा० १।४।१०१ में केवल प्रथम-मध्यम-उत्तम शब्द हैं, काशिकाकार कहते भी हैं—'प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञा भवन्ति'। पर १।४। ०५ सूत्र की व्याख्या में वे 'पुरुषनियमः क्रियते' कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम कह सकते हैं कि 'औङ्' पद प्राक्पाणिनीय है[1] और पाणिनि ने लाघवार्थ उस शब्द को ले लिया है। वस्तुतः यह अनुमान सत्य है, क्योंकि इसी सूत्र पर पतञ्जलि ने कहा है—'पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्' अर्थात् प्राक्पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह निर्देश है। आङो नास्त्रियाम् (७।३।१२०), आङि चापः (७।३।१०५) में आङ्=टा विभक्ति (पाणिनीय) है। यहां पूर्व पाणिनीय आङ् का अनुस्मरण है, ऐसा सभी व्याख्याकार कहते हैं; जो सर्वथा समीचीन है।

पाणिनि ने औङ् के स्थान पर नया शब्द बनाकर क्यों नहीं उसका व्यवहार किया (जैसा कि अन्यत्र उन्होंने किया है), जिससे इस शब्द के अर्थ-बोध में सन्देह ही न होता—इस प्रश्न के उत्तर में यह वक्तव्य है कि पाणिनि का यह व्यवहार अहेतुक नहीं है। पाणिनि यहाँ 'औ' तथा 'औट्' दोनों सुप् विभक्तियों का एक साथ ग्रहण करना चाहते हैं। पर इन दोनों का ग्रहण एक साथ तभी हो सकता है, जब वे इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करें, अर्थात् 'औऔटोः आपः' ऐसा कहें। इससे सूत्र में अधिक शब्द आ जाते हैं, और सन्धि होने पर सूत्र क्लिष्टार्थक भी हो जाता है। प्राक्पाणिनीय व्याकरण में औ तथा औङ् विभक्ति का एक नाम था 'औङ्' (जैसा कि कैयट ने कहा है)[2]। यह शब्द पाणिनिकालिक वैयाकरणों में अतिप्रचलित था, अतः पाणिनि ने सोचा कि यदि 'औङ्' शब्द का व्यवहार किया जाए, तो सूत्र में लाघव भी होगा तथा अर्थ में सन्देह भी नहीं होगा, अन्यथा सूत्रों में निरर्थक शब्दबाहुल्य करना होगा, अतः उन्होंने प्राक्पाणिनीय शब्द को अविकल रूप से अपने ग्रन्थ में ले लिया। आङ् घटित सूत्रों में भी कोई एतादृश हेतु है या नहीं, यह गवेषणीय है।

प्रथमा (सु–औ–जस्), द्वितीया (अम्–औट्–शस्) आदि सात शब्दों का अर्थ सूत्रकार द्वारा अनुक्त है। ये ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ न कहने पर ज्ञात नहीं हो सकता, अतः अनुक्तार्थक होने के कारण ये प्राक्पाणिनीय शब्द हैं यह

१—प्राक्पाणिनीय पद से युक्त सूत्र भी पूर्णतः प्राक्-पाणिनीय है या नहीं, यह एक आलोचनार्ह विषय है।

२—पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङित्तौ पठिते। न चेह क्वचिदपि औङ्प्रत्ययोऽस्ति, सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशः, तेन यः पूर्वसूत्रे औङ् तस्य ग्रहणं भवतीति प्रथमाद्वितीया-द्विवचनयोर्ग्रहणसिद्धिः (प्रदीप)। एवं च सामर्थ्यात् पूर्वसूत्रनिर्देशः तत्फलं च सामान्यग्रहणमिति भावः (उद्द्योत)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमित होता है। यह अनुमान पूर्वाचार्यों द्वारा समर्थित है। काशिका में कहा गया है—द्वितीयादयः शब्दाः सुपां त्रिकेषु स्मर्यन्ते तैरेवात्र व्यवहारः। धातुपाठ में व्यवहृत परस्मैभाषा और आत्मनेभाषा शब्द भी प्राक्पाणिनीय हैं (इसी युक्ति से)। धातुप्रदीप में मैत्रेय कहते भी हैं—परस्मैभाषा इति परस्मैपदिनः पूर्वाचार्यसंज्ञा (पृ० ९)।

इस नियम की पुष्टि 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र से भी हो जाती है। यहां व्यक्ति और वचन पारिभाषिक शब्द हैं, जिनकी व्याख्या पाणिनि ने नहीं की है। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ये प्राक्पाणिनीय शब्द हैं, सुतरां इस सूत्र को भी प्राक्पाणिनीय होना चाहिए (यदि अन्य बाधक न हो)। वस्तुतः यह अनुमान सत्य है, और काशिका में इस सूत्र को प्राक्पाणिनीय कहा गया है।

५।१।१३० गणसूत्र में समास के अर्थ में 'स' है, जो पाणिनिद्वारा अव्याख्यात है। इससे इस गणसूत्र की प्राक्पाणिनीयता ज्ञात होती है। समास की आख्या 'स' थी, यह शाकटायनीय लिङ्गानुशासन टीकाकार कहते हैं (४६ श्लोक)। संख्यावाची वचन शब्द भी प्राक्पाणिनीय है (६७ श्लोकटीका द्र०)। पाणिनि व्याख्याकार भी ऐसा कहते हैं। जे प्रोष्ठपदानाम् (७।३।१८) सूत्रगत 'ज' का अर्थ 'जात' (जातार्थप्रत्यय) है जो सूत्रकार द्वारा अकथित है, अतः यह भी प्राक्पाणिनीय सूत्र होगा। नामैकदेश की यह शैली प्राचीन ऋक्तन्त्र में दिखाई पड़ती है (यथा स्वर के लिये र, लघु के लिये घु, समास के लिये मास) अतः 'ज' शब्द का व्यवहार प्राक्पाणिनीय ग्रंथ में था, ऐसा कहना असमीचीन नहीं होगा।

पाणिनि ने चूंकि अनेक प्राक्पाणिनीय आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दों का तत्संमत अर्थानुसार ही ग्रहण किया है, इसीलिये कई स्थलों पर पाणिनि द्वारा व्यवहृत शब्दों के अर्थों में सन्देह हो जाता है। इस प्रकार 'सन्देह' का होना पाणिनीय तन्त्र में स्वाभाविक माना जाता है, जिसके लिये 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' यह परिभाषा पढ़ी गई है। पाणिनि-व्यवहृत शब्दों के अर्थ-निर्धारण में यादृश संशय होता है, तादृश संशय मुग्धबोधादि नवनिर्मित व्याकरणों के सूत्रों में उत्पन्न नहीं होता। चूंकि पाणिनि ने विभिन्न पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दों को अपनी कृति में अविशेष रूप से ले लिया है, अतः सन्देह उत्पन्न होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय कौशल—पाणिनि द्वारा निर्धारित पारिभाषिक शब्द (विशेष कर कृत्रिम पारिभाषिक शब्द) आदि यदि पाणिनीय निर्देश से पृथक् रूप से व्यवहृत हुए हों तो वे पृथक् शब्द प्राक्पाणिनीय हैं।

शब्दसिद्धि की प्रक्रिया प्रत्येक आचार्य के ग्रन्थ में कुछ न कुछ भिन्न होती है। प्रक्रिया में केवल शास्त्रगम्य जो कार्य होते हैं, उन कार्यों के लिये जिन काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना प्रत्येक शास्त्रकार करते हैं, उन काल्पनिक पदार्थों का स्वरूप भिन्न-भिन्न व्याकरणों में प्रायः कुछ न कुछ भिन्न होता है। जैसे—जिस धातु को कोई 'अस्' कहता है उसी को कोई 'स' कहता है; जिस प्रत्यय को कोई वतुप् कहता है, अन्य उसी को 'डावतु' कहता है, इत्यादि।

उपर्युक्त सिद्धान्त से एक और बात निकलती है। सभी शास्त्रकार स्वरचित ग्रन्थ में अपने अनुसार ही प्रत्यय-विभक्ति आदि का निर्देश अवश्यमेव करते हैं। अन्य आचार्यों के निर्देशों के साथ अपने निर्देशों का मिश्रण कोई भी नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से अध्येता के लिये अर्थबोध करना असम्भव हो जाएगा। यदि पाणिनि धातुपाठ में धातुस्वरूप दिखाने के समय 'अस्' धातु का पाठ करते हैं और सूत्र में 'स्' शब्द से उसका निर्देश करते हैं, तो पाणिनि का तात्पर्य किसी को हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतः मानना होगा कि पाणिनि ने अपनी दृष्टि से 'प्रत्यय' 'विभक्ति' आदि का जो स्वरूप निश्चित किया है (जो प्राक्पाणिनीय आचार्यों से अनेक अंशों में भिन्न है) यदि उन विभक्ति आदियों के अन्यत्र निर्देश स्थल में पहले से निश्चित शब्द की अपेक्षा ईषत् पृथक् शब्द से उल्लेख दिखाई पड़ता है, तो मानना होगा कि वह पृथक् शब्द प्राक्पाणिनीय है। यथा—

पाणिनि ने प्रथमाविभक्ति के बहुवचन को 'जस्' विभक्ति से सङ्केतित किया है, अतः सर्वत्र प्रथमाबहुवचन के लिये 'जस्' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। परन्तु 'आज्जसेरसुक् (७।१।५०) सूत्र में 'जस् के स्थान पर 'जसि' शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार के अन्यथा निर्देश से कोई लाभ या लाघव नहीं हुआ है, अतः मानना होगा कि 'जसि' शब्द प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है और पाणिनि ने उसको अविकल रूप से अपने शास्त्र में ले लिया है। यह हमारी कपोलकल्पना नहीं है, सुबोधिनीकार जयकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है—'जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः।' अन्य टीकाकारों का भी यही मत है। यदि यह नियम प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाए, तो अष्टाध्यायी में व्यवहृत अनेक प्राक्पाणिनीय शब्दों का परिचय हमें प्राप्त हो जाएगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न हो सकता है कि पाणिनि ने अपनी पद्धति के अनुसार ही निर्देश (अर्थात् जसि के स्थान में जस्) क्यों नहीं किया ? उत्तर—यह सूत्र वैदिक है, और अधिकांश वैदिक सूत्रों को पाणिनि ने प्राचीन प्रातिशाख्यादि से अविकल रूप से ले लिया है। वैदिक शब्द के अध्येताओं में 'जसि' शब्दार्थ का ज्ञान प्रचलित था, अतः पाणिनि को वैसा निर्देश करने में सङ्कोच नहीं हुआ, ऐसा अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा। अन्यान्य लौकिक सूत्रों में भी जहाँ इस प्रकार का अपाणिनीय निर्देश है, वहाँ भी कुछ न कुछ कारण अवश्य है जिसके अन्वेषण के लिये विद्वानों को सचेष्ट होना चाहिए। रात्रेश्चाजसौ (३।१।३१) सूत्र में भी 'जसि' है। यह भी वैदिक सूत्र है। साधारणतया टीकाकार 'जसि' के इकार को उच्चारणार्थ कह कर व्याख्या करते हैं (द्र० तत्त्वबोधिनी), पर यह आपातरमणीय समाधान है; वस्तुतः पूर्वाचार्यानुकृति ही यहाँ की गई है।[1]

तृतीय कौशल—पारिभाषिक एवं अपारिभाषिक अर्थ में एक ही शब्द का व्यवहार भी प्रायेण प्राक्पाणिनीय कृतियों के समावेश का फल है।

कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनका पाणिनि ने पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक इन दोनों अर्थों में ही व्यवहार किया है, जबकि वे अर्थभेदानुसार विभिन्न शब्दों का व्यवहार सहज रूप से ही कर सकते थे। गुण, अभ्यास, स्वाङ्ग, संबुद्धि, नदी, युवा, उपपद, आम्रेडित आदि कितने ही शब्द हैं, जिनका प्रयोग पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक इन दोनों अर्थों में किया गया है। इस प्रकार के अर्थसंशयोत्पादक व्यवहार का पूर्वोक्त कारण के अतिरिक्त अन्य कारण नहीं हो सकता। ये सब स्थल ऐसे हैं, जहाँ पृथक् शब्द का व्यवहार किया जा सकता था। उससे कोई शाब्दिक गौरव भी नहीं होता, प्रत्युत अर्थों में लाघव होता (वस्तुतः

१—इस प्रकार का विलक्षण निर्देश अर्वाक्पाणिनीय व्याकरणों में भी है, जहाँ पाणिनीय शास्त्र के अनुकरण का गमक चिह्न भी दृष्ट हो जाता है। संक्षिप्तसार व्याकरण में सुट् प्रत्याहार है (सुप्विभक्ति सम्बद्ध)। टीकाकार गोयीचन्द्र कहते हैं—सुडिति प्रथमैकवचनाद्यौट्पर्यन्तस्य ग्रहणमिति शास्त्रान्तरीयः प्रत्याहारः, तस्यैवात्र ग्रहणम्। एतदेव सूचयितुम् औटष्टकारानुबन्धः शास्त्रान्तर इवेहापि कृतः (६।५८)। सुपद्मव्याकरण की मकरन्दटीका का मत भी इस प्रसंग में उदाहार्य है। इस व्याकरण में सार्वधातुक—संज्ञा का व्यवहार है (३।२।१७), जिस पर टीकाकार कहते हैं—सार्वधातुकमिति गुरुसंज्ञा पूर्वाचार्यप्रसिद्धयेह निबद्धा, अतः स्वभावतो नपुंसकलिङ्गमपि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थलाघव ही लाघव है, ऐसा पाणिनीय सम्प्रदाय का मत है), तथापि पाणिनि ने इस ऋजुमार्ग का परित्याग किया, जिसके लिये उपर्युक्त कारण ही संगत प्रतीत होता है। पाणिनि ने एक ही शब्द का दो पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग किया है—'वृद्ध' शब्द इसका प्रमुख उदाहरण है (अपत्यमन्तर्हितम् वृद्धम् तथा वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्; प्रथमोक्त वृद्ध पारिभाषिक गोत्र है, द्र० काशिका १।२।६५)। यहाँ भी प्राक्पाणिनीय शास्त्रों का मिश्रण का फल है।

यदि प्रश्न हो कि पाणिनि ने पृथक् पृथक् शब्दों का व्यवहार ही क्यों नहीं किया, जिससे अर्थ में व्यामोह उत्पन्न न होता, तो उत्तर यह है कि पाणिनि के काल में ये सभी शब्द स्व-स्व-संप्रदायानुसार विभिन्न अर्थों में समान रूप से प्रचलित थे और व्याकरणशास्त्र की परम्परा के (उस समय तक) बहुत कुछ अक्षुण्ण रहने के कारण अर्थ-व्यामोह होने का अवसर नहीं था; यही कारण है कि पृथक्-पृथक् शब्दों का व्यवहार करना पाणिनि ने निष्प्रयोजन समझा, क्योंकि ऐसा करने से अनेक अप्रचलित शब्दों का ज्ञान अष्टाध्यायी के पाठकों को करना पड़ता, और शायद तब उनका शास्त्र अध्येताओं के लिये भारस्वरूप हो जाता। यही कारण है कि पाणिनीय संप्रदाय में बार-बार कहा जाता है कि 'व्याख्यान से अर्थ में सन्देह का निराकरण करना चाहिए, संशय होने मात्र से शास्त्र अप्रतिष्ठ नहीं हो जाता।' यदि पाणिनि के ग्रन्थों में इस प्रकार का अविकल अनुकरणात्मक शब्दप्रयोग नहीं होता, तो संशयोत्पादक शब्द सूत्रों में नहीं रहते। 'अर्थसंशय होने से शास्त्र अप्रतिष्ठ नहीं होता' यह मत ही प्रमाणित करता है कि अर्थसंशय होना अनिवार्य है और यह दोषावह भी नहीं है; यह तो स्पष्ट ही है कि एक स्वतन्त्र कृति में ऐसा होना अवश्यम्भावी नहीं है। अतः मानना होगा कि परानुकरणात्मक अंश के मिश्रण के कारण ही ऐसा हुआ है।

सभी आचार्यों की कृतियों को अपने में मिश्रित करने के कारण ही पाणिनीय तन्त्र सभी पक्षों और मतों में अंशतः चरितार्थ होता है। प्राचीन व्याकरणों में जितने स्वकीय पक्ष थे (जो एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न थे), वे यथासम्भव पाणिनीय शास्त्र में सार्थकरूप से प्रवर्तित होते हैं। पद का अर्थ जाति है, ऐसा मानकर भी कुछ सूत्र प्रणीत हुए हैं; तथा व्यक्तिपक्षाश्रित कुछ सूत्र भी हैं। 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्'—यह भाष्यवचन (६ । ३ । १४) पाणिनीय शास्त्र की इस प्रकृति का ज्ञापक है।

इस नियम का एक उदाहरण है—'अनुपसर्जनात्' सूत्र (४।१।१४)। भाष्यकार ने कहा है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के अनुसार है (पूर्वसूत्र-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देशो वा; तथा प्रदीप—पूर्वसूत्रशब्देन पूर्वाचार्यकृतं व्याकरणमुच्यते)। यह द्रष्टव्य है कि 'उपसर्जन' पद करे पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में भी व्यवहृत किया है, (द्रष्टव्य १।२।४३ सू०) और ४। १। १४ सूत्र में अपारिभाषिक प्राक्पाणिनीय अर्थ (=अप्रधान) ही ग्राह्य है। इस सूत्र में पारिभाषिक अर्थ का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता; यही कारण है कि यद्यपि 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्' न्याय से पारिभाषिक शब्द का ही ग्रहण होना चाहिए तथापि युक्तता के कारण पूर्वाचार्य-प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ (अप्रधान) का ही ग्रहण पाणिनि को इष्ट है।

चतुर्थ कौशल—पाणिनि की अभीष्ट शैली से विरुद्ध शैली में रचित कोई अंश यदि पाणिनीय ग्रंथों में हो, तो वह अंश प्राक्पाणिनीय है।

ग्रन्थ-रचना में ग्रन्थकार एक निश्चित पद्धति लेकर चलता है और स्वसंस्कार के अनुसार उसकी रचनाशैली में कुछ निजी उपज्ञा भी रहती है।[1] ग्रन्थ-प्रणयन में एक सुविचारित शैली[2] को अपनाने के बाद उससे विरुद्ध शैली का व्यवहार प्राज्ञ आचार्य कभी नहीं करता। अब यदि हम यह निरूपण कर सकें कि ग्रन्थ-रचना में पाणिनि की निजी शैली क्या थी, और यदि उस

१—एक ही विषय के प्रतिपादन में कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेते हैं, इसका एक स्पष्ट उदाहरण वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में है। शाकल्य आदि आचार्यों के पदपाठीयग्रन्थ-रचना की शैली के विषय में यह श्लोक प्रातिशाख्य में हैं—'पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः। अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति (४।१७७)। आचार्य भेदों से शैली-भेद होने का यह एक स्पष्ट उदाहरण है। प्राचीन आचार्यों के विषय में इस प्रकार की निश्चित शैलीप्रियता के कुछ उदाहरण यत्र तत्र मिलते हैं।

२—शीले भवा शैली समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः (हयवरट् सूत्रीय प्रदीप)। शैली स्वभावे भवा वृत्तिः शैली (प्रदीप २।१।३)। शैली का स्वरूप सावधानता-पूर्वक विचारणीय होता है, अन्यथा तथ्यनिर्धारण में भ्रम होने की सम्भावना रहती है। जिनेन्द्र बुद्धि धातु-विशेष से सम्बन्धित पाणिनिशैली का उदाहरण देते हैं—शैलीह्येयमाचार्यस्य यत्र यत्र धातोर्ग्रहणमिच्छति तत्र तत्र श्तिपा निर्देशं करोति (न्यास १।२।१२)। पर ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने सांशयिक स्थलों पर ही इस शैली को अपनाया है, सर्वत्र नहीं (द्र० सीरदेवीय परिभाषावृत्ति १४ परिभाषा)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शैली से विरुद्ध शैली से लिखित कोई अंश उनके ग्रन्थ में मिल जाए, तो हम कह सकते हैं कि वह अंश पाणिनि का स्वोपज्ञभूत नहीं है। हम ऐसे स्थलों को 'बाद में प्रक्षिप्त' भी नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत पहले से ही पाणिनिकृत ग्रन्थों का परिमाण निश्चित हो गया था; किंच व्याकरण ग्रन्थ में प्रक्षेप होने की सम्भावना अल्प है, क्योंकि यह कोई सर्वजन-ग्रहण-योग्यव्यवहार में आने वाले पुराणादि ग्रन्थों की तरह प्रचारप्रधान शास्त्र नहीं है। पाणिनिसूत्रों में न्यूनतम सूत्रों का प्रक्षेप अवश्य हुआ है, जिसका विवरण अन्यत्र दिया गया है; उनके गणपाठों में जिन शब्दों का प्रक्षेप हुआ हैं, उनकी तत्कालीन अनिवार्यता या सुप्रचलन ही उनके प्रक्षेप होने का कारण है, यह ज्ञातव्य है।

व्याख्याकारों ने कई स्थलों पर आचार्य की रचना-शैली के विषय में निर्देश किया है, जैसा कि शब्दरत्नकार ने कहा है—'आचार्यशैली वा' (७।२।२२ प्रौढ़मनोरमा पर)। यदि सब प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे स्थलों का संग्रह कर पाणिनि-शैली[1] का निश्चय कर लिया जाए, तो उस शैली से विरुद्ध शैली से रचित अंशों का परिज्ञान हो सकता है। हम एक ही उदाहरण देकर इस विषय को प्रमाणित कर रहे हैं—

भाष्यकार ने कहा है—'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत् तुल्य-जातीयान् तुल्यजातीयेषु उपदिशति, अचः अक्षु हलो हल्सु' (हयवरट् सूत्र-भाष्य), अर्थात् पाणिनि की यह शैली है कि वे तुल्यजातीय पदार्थों का एक साथ उपदेश करते हैं। भाष्यकार ने इसका उदाहरण भी दिया है। अष्टाध्यायी में वर्णित पदार्थों के उपदेशक्रम में भी हम देखते हैं कि वहां तुल्यजातीय पदार्थों का एकत्र उपदेश है। अब यदि कहीं पर ऐसा देखा जाए कि अतुल्य-जातीय पदार्थों का एकत्र उपदेश है (और इस प्रकार स्वशैली से विरुद्ध उपदेश के लिये कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं) तो यह अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा कि वह अंश प्राक्पाणिनीय है।[2]

१—भाष्यकार कहते हैं—एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—येनैव अवयव-कार्यं भवति तेनैव समुदायकार्यमपि भवति (२।१।३)। ऐसी शैलियों के अध्ययन से अष्टाध्यायीगत अनेक गूढार्थों का ज्ञान भी हो सकता है।

२—विलक्षण शैलियों के मिश्रण से शास्त्रान्तरवाक्यसंग्रह-कर्म का अनुमान करना पूर्वाचार्यानुमोदित पन्था है। गौतमधर्मसूत्र में मेध्याहार की गणना इस प्रकार की गई है—पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता, प्रसृतयावको हिरण्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के लिये हम पाणिनीय धातुपाठ को ले सकते हैं। इसमें कहीं-कहीं अतुल्यजातीय पदार्थों का सन्निवेश दिखाई पड़ता है, अर्थात् उदात्त धातुओं के बीच अनुदात्त धातुओं का पाठ तथा अनुदात्त धातुओं में उदात्त धातुओं का पाठ देखा जाता है। पूर्वोक्त भाष्यवचन के अनुसार ऐसी रचना पाणिनि की शैली के विरुद्ध है; किंच व्याकरण की प्रक्रिया-सिद्धि के लिये इस प्रकार के विपर्यस्त पाठ की कुछ भी सार्थकता नहीं है। अतः सङ्गतरूप से ही अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार का पाठ प्राक्पाणिनीय है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय धातुपाठ में इस प्रकार के विसदृश स्वर वाले धातुओं का एकत्र पाठ था और पाणिनि ने उस अंश को अविकल अपने ग्रन्थ में ले लिया है। यह निर्णय कपोल-कल्पित नहीं है। पाणिनीय धातुपाठ के प्राचीन वृत्तिकार क्षीरस्वामी ने स्पष्टतः कहा है—पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्। अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः (भ्वादि० १४९ सूत्र) अर्थात् पूर्वगामी आचार्यों के अनुसरण के कारण पाणिनि ने कहीं कहीं उदात्त धातु और अनुदात्त धातुओं का मिश्रित पाठ किया है। प्राक्पाणिनीय काशकृत्स्न आचार्य के धातुपाठ में यही स्थिति है (द्र० अस्मत्सम्पादित क्षीरतङ्गिणी की भूमिका पृ० २२)। धातुपाठ में या अन्यत्र जहाँ भी कहीं प्रकरणासङ्गति है, उसका कारण यह पूर्वाचार्यानुकरणपरायणता है, ऐसा सामान्यतः कहा जा सकता है।

जब हमारा अनुमान इस प्राचीनतम वृत्तिकार से भी समर्थित हो गया, तब उपर्युक्त नियम के अनुसार अन्य स्थलों का भी निरूपण होना चाहिए। यहाँ शङ्का हो सकती है कि पाणिनि ने पूर्वतन मिश्रित पाठ का संस्कार कर ही क्यों नहीं अपना धातुपाठ बनाया, जब कि उन्होंने अनेक स्थलों में प्राचीन आचार्यों से भिन्न प्रक्रिया तथा सिद्धान्त का अवलम्बन किया है। उत्तर यह है कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के धातुपाठों का यथासम्भव अपनी मान्यता के अनुसार

प्राशनं घृतप्राशनं सोमप्राशनमिति मेध्यानि (१९।१४)। यहाँ ता-प्रत्ययान्त पयोव्रतता आदि के साथ 'प्रसृतयावक' रूप द्रव्यवाचक शब्द को पढ़ा गया है, जो एक प्रकार का दोष ही है। भाष्यकार मस्करी कहते हैं—प्रसृतयावकाशनमिति वक्तव्ये एवमभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तविध्युपसंग्रहणार्थम्। यह कहकर मस्करी ने उशनाः का वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसमें 'प्रसृतयावकम्' पद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन कर ही अपना धातुपाठ बनाया और अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार जहाँ जहाँ स्वकृत धातुपाठ में परिवर्तन करना चाहिए था, उन सब स्थलों में परिवर्तन भी उन्होंने किया[1]। पूर्वाचार्य स्वशैली के अनुसार उदात्तानुदात्त धातुओं का पाठ पृथक् पृथक् स्थलों पर नहीं करते थे, और पाणिनि ने भी उनका अनुकरण करने का कारण पूर्वपाठ का सर्वथा परिवर्तन कर विजातीय धातुओं को पृथक्-पृथक् प्रकरणों में सर्वत्र नहीं पढ़ा। प्राचीन पाठ को लेने पर भी कोई न्यायदोष या प्रयोग में बाधा या अष्टाध्यायी के अनुसार कुछ विप्रतिपत्ति नहीं होती, अतः उन्होंने संस्कारवश पूर्वपाठ का संग्रह स्वग्रन्थ में किया, जो प्रवचनरीति से रचित ग्रन्थ के लिये एक स्वाभाविक बात है।

पञ्चम कौशल—जो सूत्र पाणिनीय पद्धति (प्रक्रिया) के अनुसार रचित नहीं है, वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

प्रत्येक शास्त्रकार किसी पदार्थ का निर्देश स्वभावतः अपनी उस प्रक्रिया के अनुसार ही करते हैं, जिसे वे अपनी रचना की विशिष्टता के अनुसार अपनाते हैं। व्याकरण में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ पाणिनि की निर्देश-प्रक्रिया प्राक्पाणिनीय निर्देश-प्रक्रिया से भिन्न है। पर यदि पाणिनि के ग्रन्थ में ही अपने से स्वीकृत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया उपलब्ध हो, और उस भिन्नता के लिये कोई सार्थक हेतु प्रतीत न हो, तो यह अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा कि वह अंश प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ का अनुकरणमात्र है। पाणिनि ने स्वेच्छा से अपनी प्रक्रिया की अवहेलना की और इस अवहेलना का कुछ कारण भी नहीं है, यह कहने की अपेक्षा पूर्वोक्त अनुमान ही अधिक सङ्गत है। निम्नाङ्कित उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है—

जिसके स्थान में कोई आदेश होता है, पाणिनि षष्ठी विभक्ति से उसका निर्देश करते हैं[2] जैसे—'ब्रुवो वचिः' (२।४।५३) 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) आदि। 'निर्दिश्यमानस्य आदेशा भवन्ति'—इस परिभाषा की व्याख्या में व्याख्याकारों ने यह प्रमाणित किया है कि षष्ठी विभक्ति से स्थानी का निर्देश करना पाणिनि की प्रक्रिया है, पर अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें

१—द्र०–Structure of the Astadhyayi ग्रन्थ का दूसरा अध्याय।

२—षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा उच्यन्ते (भाष्य १।१।१); षष्ठीनिर्दिष्टं विकारागमयुक्तं भवति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानी में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया गया है, जैसे—'चितः' (६।१।१६३) आदि। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार हम अनुमान करते हैं कि यह प्राक्पाणिनीय सूत्र का अनुकरणभूत स्थल है।

हम लोगों का यह निर्णय अमूलक नहीं है, क्योंकि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त प्रथमाविभक्तिघटित निर्देशस्थ अंश को प्राक्पाणिनीय ही कहा है—पूर्वसूत्र-निर्देशश्च चित्वान् चित इति (६।१।१६३)। प्राक्पाणिनीय आचार्यों की यह शैली थी कि वे स्थानी में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग करते थे—पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते (प्रदीप, अत्रैव)।

यदि अन्यान्य विषयों में भी पाणिनीय प्रक्रिया का निश्चय कर लिया जाए, तो उससे 'अष्टाध्यायी में कितना प्राचीनतर सूत्रांश' है, इसका निर्णय हो सकता है।

एक अन्य उदाहरण लें—पाणिनि का निर्देश है कि धातु के बाद प्रत्ययनिर्देश करते समय धातु में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाएगा[1]; बहुत सूत्रों में ऐसा ही व्यवहार दिखाई पड़ता है। पर कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जिनमें षष्ठी का व्यवहार किया गया है, जैसे—'यजजपदशां यङः' (३।१।१६६) स्वपितृषोर्नजिङ् (३।२।१७३) आदि। यहां व्याख्याकार एक स्वर से कहते हैं कि 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी'। जब पाणिनि ने यह नियम किया है कि प्रत्ययविधि के लिये पञ्चमीनिर्देश किया जाएगा, और बहुत स्थलों में उन्होंने ऐसा ही किया है, तब कुछ प्रत्ययविधायक सूत्रों में षष्ठी का प्रयोग उन्होंने क्यों किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। प्राचीन व्याख्याकार ऐसे स्थलों के लिये उत्तर देते हैं कि 'यहां आनन्तर्य में षष्ठी है और चूंकि अन्ततोगत्वा आनन्तर्य पञ्चम्यर्थ में ही पर्यवसन्न होता है, अतः षष्ठीनिर्देश करना अयुक्त नहीं है।' पर षष्ठी का अर्थ आनन्तर्य, और अन्त में जाकर उसकी पञ्चम्यर्थ में समाप्ति—इस दीर्घ पन्था की अपेक्षा स्पष्ट रूप से पञ्चमी का साक्षात् प्रयोग करना क्या अधिक समीचीन कार्य नहीं होता? यदि षष्ठीनिर्देश करना पाणिनि को इष्ट होता तो 'विकार और आगम के निर्देश के लिये षष्ठी-निर्देश,

---

१—पञ्चमीनिर्दिष्टाच्च प्रत्ययो विधीयते (भाष्य ३।१।१); यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) सूत्र से भी यह तथ्य ज्ञापित होता है। पञ्चम्याश्रयेण प्रत्ययपक्षाश्रयणम् (प्रदीप ५।३।१०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रत्ययके लिये पञ्चमी-निर्देश' इस प्रकार का अनुशासन पाणिनीय संप्रदाय में क्यों प्रवर्तित होता है? पाणिनि ने बुद्धिपूर्वक जिस निर्देशरीति अर्थात् 'प्रत्यय के लिये पञ्चमी' माना कहीं-कहीं किसी लाभ के विना ही उस रीति का त्याग किया, ऐसी निर्मूल कल्पना करना न्यायसङ्गत नहीं है। अतः यही सङ्गत है कि किसी प्राक्पाणिनीय आचार्य ने प्रत्यय के लिये षष्ठी का प्रयोग किया था, और पाणिनि ने उन प्राक्पाणिनीय सूत्रों को अविकलरूप से अपने ग्रंथ में ले लिया है।

इस विषय में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य है—वस्तुतः एक वैयाकरण संप्रदाय था जो प्रत्ययविधि में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी का प्रयोग करता था। क्षीरस्वामी ने धातुवृत्ति में कुछ ऐसे सूत्र उद्धृत किए हैं, जिनमें प्रत्ययविधि में षष्ठी का व्यवहार किया गया है[1]। ये सूत्र पाणिनि-सूत्र से अत्यन्त सादृश्य रखते हैं (विभक्ति अंश को छोड़ कर)। सम्भव है कि ये सूत्र उस व्याकरण के हैं, जिसमें प्रत्ययविधि के लिये षष्ठी का प्रयोग किया जाता है; षष्ठीविभक्तिवासना-वासित किसी अवान्तर संप्रदाय में पाणिनिसूत्र का ही ऐसा पाठान्तर उत्पन्न हो गया है—यह कहना युक्ततर है।

हमारा अनुमान है कि पाणिनि ने जिस संप्रदाय को लक्ष्य कर 'प्राचाम्' पद का व्यवहार किया है, वह संप्रदाय संभवतः प्रत्ययनिर्देश में षष्ठी का व्यवहार करता था। क्योंकि अष्टाध्यायी में 'प्राचाम्' पदघटित सूत्रों में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी विभक्ति का व्यवहार किया गया है, जैसे कि 'कृषिरजोः प्राचां श्यन्...' (३।१।९०) आदि सूत्रों में देखा जाता है। हम यह भी समझते हैं कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय आचार्यनामघटित सूत्रों में प्राक्पाणिनीय शब्दों को भी प्रायेण ले लिया है। सुतरां 'प्राचाम्' पदघटित सूत्रों की षष्ठी विभक्ति प्रमाणित करती है कि 'प्राचां' पदलक्षित सम्प्रदाय प्रत्ययविधि में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करता था और पाणिनि ने अविकलरूप में उनके कुछ सूत्र ले लिए हैं। 'प्राचाम्' पद में एकाधिक आचार्यों का ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यययुक्त अन्यान्य सूत्रों के संप्रदायों का परिज्ञान करना आज दुरूह ही है।

१—सूददीपदीक्षां च (३। १। १५३)—भ्वादिषूदधातु में उद्धृत (१।२५)। सनाशंसभिक्षाम् उः (३। २। १६८)—भ्वादि शसिधातु में उद्धृत (१।४१७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि के सूत्रों में अन्य प्रकार की विलक्षणता भी दिखाई पड़ती है, जहां प्राक्पाणिनीय अंश की सत्ता ज्ञात होती है। सूत्र है—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३ । १ । १३४)। पर नन्द्यादि आदि गणपाठों में धातुओं का पाठ न होकर प्रातिपदिकों का पाठ है। सूत्र और तत्संबद्ध गण का यह वैषम्य तभी उपपन्न हो सकता है जब हम मान लें कि इसमें दो शैलियों का संमिश्रण है, जिसके लिये प्राक्पाणिनीय व्याकरण के शैलीविशेष की सत्ता मानना अपरिहार्य है।

नित्यं सपत्न्यादिषु (४ । १ । ३५) सूत्र का गणपाठ भी सूत्रप्रक्रियानुसारी नहीं है। गणपाठ में समान, एक, वीर आदि प्रातिपादिक हैं, अतः सूत्र का रूप 'नित्यं समानादिषु' होना चाहिए था। इस सूत्र की प्राक्पाणिनीयता का एक प्रमाण सूत्रीय 'नित्य' शब्द की अनर्थकता भी है। जिस व्याकरण से यह सूत्र लिया गया है, उसमें 'नित्य' ग्रहण सार्थक था। इसी प्रकार कुम्भपदीषु च (५ । ४ । १३९) सूत्र भी प्राक्पाणिनीय है, अन्य निपातन सूत्रों की तरह यह भी 'कुम्भपद्यादयः' की तरह पढ़ा जा सकता था और इस पाठ में भी काशिकोक्त विषयनियम ज्ञापित हो सकता था। अतः निपातनसूत्र-पद्धति का परित्याग कर सप्तम्यन्तपद-घटित निपातनसूत्र की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इससे अनुवृत्त पदों का परस्परान्वय भी व्याहत होता है। यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है इसका एक प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र में 'च' का कोई सार्थक्य नहीं है। जिस व्याकरण का यह सूत्र है, उसमें 'च' का सार्थक्य था।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।१०२) सूत्र भी इस प्रकार विलक्षणशैलीयुक्त है। 'प्रथमयोः' का अर्थ 'प्रथमा-द्वितीययोः' है जो पाणिनीयप्रक्रियानुसारी नहीं है, अतः यह कोई प्राक्पाणिनीय सूत्र है। सूत्रस्थ 'प्रथमा' शब्द प्राक्पाणिनीय आचार्यकृत संज्ञा है, अतः इस सूत्र की प्राक्पाणिनीयता ज्ञात होती है। इस प्राक्पाणिनीय संप्रदाय में ऐसा कुछ संकेत था, जिससे इस प्रकार का एकशेष हो सकता था।

निष्ठायामण्यदर्थे (६ । ४ । ६०) सूत्र की रचना भी पाणिनीयानुसारी नहीं है। ण्यत् एक कृत्यप्रत्यय है, कृत्य भावकर्म में होता है, अतः अण्यदर्थ शब्द का प्रयोग 'अ-भावकर्म' रूप अर्थ के लिये किया गया है। पाणिनि 'अकृत्यार्थे' या 'अभावकर्मणोः' शब्द का प्रयोग अपनी प्रक्रिया के अनुसार कर ही सकते थे, वैसा न करने से अनुमित होता है कि यह किसी प्राक्पाणिनीय संप्रदाय का सूत्र है जिसमें ण्यत् आदि का भाव-कर्मरूप अर्थ प्रत्यक्षतः कहा गया था—'ण्यदादयो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावकर्मणोः' या इस प्रकार का कोई सूत्र उस व्याकरण में था तथा संभवतः ण्यत् प्रथम कृत्यप्रत्यय था।

महती संज्ञा की अन्वर्थता का न घटना भी पाणिनीयरीति से विरुद्ध है, और हम समझते हैं कि ऐसी महासंज्ञाएं प्राक्पाणिनीय व्याकरणों की ही हैं। महासंज्ञा का अर्थ कुछ अंशों में पाणिनीय प्रक्रिया में घटना ही चाहिए। यदि अन्वर्थता नहीं घटती तो उसकी प्राक्पाणिनीयता संभावित होती है।

'सर्वनामस्थान' रूप एक पारिभाषिक संज्ञा अष्टाध्यायी में है (१।१।४२)। यह 'महती संज्ञा' है पर अन्यान्य महती संज्ञाओं की तरह इसकी अन्वर्थता की सार्थकता अष्टाध्यायी में नहीं है, अतः जान पड़ता है कि पाणिनि ने प्राक्-पाणिनीय स्रोत से इस शब्द को लिया है। हम लोगों का यह अनुमान न्यासकार आदि द्वारा समर्थित है।

पाणिनि सूत्रों में व्यवहृत जो शब्द सौत्र प्रयोग के रूप में सिद्ध माने जाते हैं (पर अस्मदादिद्वारा प्रयोगार्ह नहीं माने जाते) वे भी प्राक्पाणिनीय स्रोत से आए हैं, ऐसा अनुमित होता है। अन्वचि (३।४।६४) तिर्यचि (३।४।६०) [यथाक्रम अनूचि-तिरश्चि होगा—पाणिनीयमतानुसार] आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। अतिशायन (५।३।५५), पुराण (४।३।१०५) आदि सूत्रकार-व्यवहार-सिद्ध शब्द सर्वव्यवहार्य माने जाते हैं, पर उपर्युक्त शब्द अव्यवहार्य माने जाते हैं। यह अव्यवहार्यता ही प्रमाणित करती है कि ऐसे शब्द प्राक्पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं; और चूंकि उन व्याकरणों का अधिकार अब नहीं है, अतः वे प्रयोग अनुकरणीय नहीं हैं। यदि वे शब्द पाणिनीय होते तो पाणिनीय सम्प्रदाय में उनका व्यपहार अवश्य रहता। व्याकरण का अधिकार कालावच्छिन्न होता है, अतः किसी उच्छिन्नसम्प्रदाय शब्द को साधु मानने पर भी उसका प्रयोग करना निषिद्ध माना जाता है[1]। काशकृत्स्न और आपिशलि के कुछ ऐसे विधान मिलते हैं, जिनका अनुस्मरण पाणिनि ने नहीं किया। हम तत्तत् विधानानुसारी प्रयोगों को साधु मानते हैं पर प्रयोग नहीं करते—ऐसी ही परम्परा है (उच्छिन्न व्याकरणों के अनुसार प्रयोग करने पर

१—आपिशल-काशकृत्स्नयोस्तु अग्रन्थे इति वचनात् अन्यत्र प्रतिषेधाभावः। नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभागः (प्रदीप ४।१।२१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दार्थ बोद्धव्य नहीं होगा, अतः ऐसा शिष्टाचार रहना आवश्यक है)। इस तत्त्व पर बहुत कुछ ज्ञातव्य हैं, जो अन्यत्र विवृत होगा।

सूत्रगत अन्यथाविभक्तिक पदों के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। इस विषय में हमारी युक्ति यह है—हम जिसको अन्यथा विभक्तिक कहते हैं, वह वस्तुतः अन्यथा विभक्तिक नहीं है, प्राचीन काल में उस अर्थ में उस विभक्ति का व्यवहार स्वरसतः होता था, तथा पूर्वाचार्यों का तादृश अनुशासन भी था। इसका प्रमाण यह है कि पाणिनि के विभक्तिविधान से प्राक्पाणिनीय आचार्यों के विभक्तिविधान में कहीं कहीं ईषद् भेद मिलता है, तथा प्राक्पाणिनीय महाभारतादि ग्रन्थों में कितने ही स्थलों में ऐसी विभक्ति दिखाई पड़ती है, जो पाणिनीय नियम के अनुसार घटती नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि अन्यथा-विभक्तिक (पाणिनीयानुसार) प्रयोग भी साधु हैं, और प्राक्पाणिनीय व्याकरणों में वैसे विभक्ति-प्रयोग के लिये अवश्य ही अनुशासन था। परवर्ती काल में काल के परिवर्तन के साथ साथ शब्दप्रयोग में अवश्यमेव कुछ न कुछ परिवर्तन या ह्रास हुआ होगा, और तत्तत् काल में पृथक् पृथक् व्याकरणों में तात्कालिक विभक्ति प्रयोग को देखकर ही विभक्ति-विधान अनुशिष्ट हुआ होगा। यह बात कल्पित नहीं है, क्योंकि 'युगे युगे व्याकरणम्' आदि प्रवाद इस 'परिवर्तन-सिद्धान्त' को ज्ञापित करते हैं। व्याकरण का अनुशासन स्मृतिशास्त्र की तरह निश्चित काल तक के लिये होता है, अतः किसी साधु पद को अन्यथाविभक्तिक कहने का अर्थ है 'एक समय के व्याकरण के अनुसार जो विभक्ति संगत होनी चाहिए, उस विभक्ति का प्रयोग न करना'—यद्यपि वह अन्य प्राचीनतर काल के व्याकरण की दृष्टि से साधु है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह भी निर्गलित होता है कि अष्टाध्यायी में जितने अन्यथाविभक्तिक पद हैं (अर्थात् जिन पदों को हम पाणिनीय सूत्र के अनुसार अन्यथाविभक्तिक मानते हैं), वे सभी प्राक्पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यथार्थ-विभक्तिक हैं, और पाणिनि ने उन ग्रन्थों से उन पदों को अविकलरूप से ले लिया है।

षष्ठ कौशल—अविभक्तिक पदप्रयोग प्राक्पाणिनीय है।

उपर्युक्त विषय में हेतु यही है कि साधुशब्दानुशासनकारी आचार्य पाणिनि अविभक्तिक पदों के प्रयोग शास्त्रमर्यादा को तोड़कर कदापि नहीं कर सकते हैं। उदाहरण के साथ इसका विवरण दिया जा रहा है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान के.
तिथी............
पु०सं०............
भारती पुस्तकालय
15

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि का सूत्र है—'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' (५।४।११५)। 'ष' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है, जो पाणिनीय नियम के अनुसार सर्वथा असाधु है, क्योंकि व्यवहार में केवल प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग करना पाणिनीय शास्त्र में निषिद्ध है (न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः)। सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में ऐसी रीति थी कि किसी परिस्थितिविशेष में विभक्ति के विना भी प्रयोग किया जा सकता है और पाणिनि ने ऐसे व्याकरणों से कुछ सूत्र अपने ग्रन्थ में ले लिए हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय लौकिक प्रयोगों में निर्विभक्तिक पदों को कदापि साधु नहीं मान सकता है, और यही कारण है कि कभी कभी निर्विभक्तिक पदों का सविभक्तिक पाठान्तर किया गया है (द्र० ४।१।१७ सूत्रीय न्यास की टिप्पणी)। प्रत्यय को निर्विभक्तिक पढ़ने वाला कोई व्याकरण सम्प्रदाय था, उसका यह सूत्र है, ऐसा कहना न्याय्य है।

दूसरा उदाहरण लें—पाणिनि का सूत्र है—'एक तद्धिते च' (६।३।६२)। यहाँ एक शब्द में किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। यह लिपिकार-प्रमाद भी नहीं है, क्योंकि सभी व्याख्याकारों ने इसे अविभक्तिक प्रयोग ही माना है। पर सोचना चाहिए कि इस प्रकार विभक्तिशून्य प्रयोग सूत्रकार ने क्यों किया, जब पाणिनीय तन्त्र में यह न्याय है—'अपदं न प्रयुञ्जीत'। पाणिनीय सम्प्रदाय में यह भी न्याय है कि असाधु का प्रयोग नहीं करना चाहिए (उदाहरण के रूप में भी), अतः पाणिनि ने स्वेच्छा से इस प्रकार के असाधु शब्दों का व्यवहार किया है, ऐसा कहना न्यायसङ्गत नहीं हो सकता। यद्यपि प्राचीन व्याख्याकार एक हेतु देते हैं—'स्वतन्त्रेच्छस्य महर्षेर्नियन्तुमशक्यत्वात्' पर यह कोई मौलिक कारण सम्बन्धी उपपत्ति नहीं है। हम समझते हैं कि अतिप्राचीन काल के किन्हीं व्याकरणों में इस प्रकार के अविभक्तिक शब्दों का व्यवहार विशेषरूप से होता था, और पाणिनि ने उन प्राचीनतम ग्रन्थों से ऐसे शब्दों को अविकल रूप से ले लिया है। यह बात असम्भव नहीं, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में बहुतेरे अविभक्तिक पदों के प्रयोग हैं, (और क्रमशः परवर्ती संस्कृत में एतादृश अविभक्तिक प्रयोग अल्प होने लगे हैं) सुतरां उस प्राचीन काल के शब्दशास्त्रकार ने भी तात्कालिक रीति के अनुसार लुप्तविभक्तिक शब्दों को लिया है। इस विषय में हम अन्य युक्ततर उत्तर के लिये विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं। हमने 'एक' आदि पूर्वोक्त शब्दों में जो विभक्तिशून्यता दिखाई है, उसे पाणिनि की स्वकीय प्रक्रिया के अनुसार ही जानना चाहिए। सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग साधु रूप से ही अनुशिष्ट हुआ हो; पाणिनि के अनुसार अविभक्तिक पद व्याकरणान्तर के अनुसार लुप्त-विभक्तिक पद भी हो सकता है ('दधि', 'मधु' की तरह) जो अब अप्रचलित है। वर्तमान सामग्री के आधार पर इस विषय में अधिक ज्ञान नहीं हो सकता।

सप्तम कौशल—यदि किसी सूत्र का कोई पद पूर्वसूत्रीय अनुवृत्ति से अनायास सिद्ध हो जाए या सूत्रोक्त पद की सार्थकता परवर्ती सूत्र में ही हो तो वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है (यदि उन शब्दों से अन्य कोई गूढ़ अभिप्राय सिद्ध न होता हो)।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पाणिनि से पहले आपिशलि आदि के कतिपय व्याकरण अष्टाध्यायी की तरह सूत्रबद्ध थे, तथा सूत्ररचनापद्धति भी बहुत अंश तक उभयत्र समान थी। विषयवस्तु तथा प्रतिपादन शैली के समान होने पर भी प्रकरणविन्यास आदि में यदि भेद हो (जैसा कि होना पूर्णतः स्वाभाविक है) और इस पर यदि परवर्ती ग्रन्थकार पूर्ववर्ती ग्रन्थ से सूत्रों को अपनी रचना के अनुसार परिवर्तित न कर अविकल रूप से ग्रहण करता है (किसी भी कारण से) तब उस ग्रन्थकार के सूत्रों में कहीं न कहीं कोई पद निष्प्रयोजन हो ही जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है। निम्नमुद्रित उदाहरण से यह बात प्रमाणित होगी—

पाणिनि का सूत्र है 'भुवो भावे' (३।१।१०७)। यहां शङ्का की गई है कि इस सूत्र में 'भाव' पद अनर्थक है, क्योंकि भू धातु अकर्मक है। उत्तर दिया गया है कि कभी-कभी उपसर्ग-योग से अकर्मक धातु भी सकर्मक होते हैं। इसकी व्यावृत्ति के लिये 'भाव' शब्द का ग्रहण किया गया है। भाष्यकार ने ठीक ही कहा है कि यह कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि पूर्वसूत्र (३।१।१००) से अनुपसर्ग पद की अनुवृत्ति आती है, अतः उपसर्ग से भू धातु के योग होने की सम्भावना नहीं है। इस दृष्टि से प्रोक्त सूत्र में भाव पद का ग्रहण व्यर्थ है। पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि परवर्ती सूत्रों में 'भाव' पद की आवश्यकता है और इसीलिये पाणिनि ने इसी सूत्र में 'भाव' पद को पढ़ा है, यद्यपि इस सूत्र में इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हम भाष्यकार के इस समाधान को 'चिन्त्य' समझते हैं। परवर्ती सूत्र में आवश्यकता है—इसलिये उपयुक्त स्थान में एक पद को न पढ़ कर अस्थान में उस पद को पढ़ा गया है, यह समाधान कदापि बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। क्या पाणिनि यह नहीं जानते थे कि 'भू' धातु अकर्मक है, और यहाँ यह धातु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोपसर्ग नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' पद की अनुवृत्ति आ रही है, जिससे इस सूत्र में 'भाव' पद का ग्रहण व्यर्थ होगा ? सत्य यह है कि जिस प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से यह सूत्र अविकल रूप से लिया गया है, उसमें 'भुवो भावे' सूत्र में किसी भी पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' की अनुवृत्ति नहीं आती थी, अतः उपसर्गव्यावृत्ति के लिये 'भाव' पद की आवश्यकता थी। पाणिनि के ग्रन्थ में 'भाव' पद इसलिये व्यर्थ जान पड़ता है कि पूर्वसूत्र से अनुपसर्ग की अनुवृत्ति आती है, और इसीलिये 'भाव' ग्रहण अनावश्यक मालूम पड़ता है, पर यदि अनुवृत्ति नहीं आती या ३।१।१०० सूत्र इस सूत्र के बाद पठित होता, तो अष्टाध्यायी में भी 'भाव' पद सार्थक होता। पर चूँकि वह असार्थक हो रहा है, अतः अनुमान करना पड़ता है कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से इस सूत्र को अविकल रूप से ले लिया, क्योंकि वे समझते थे कि उत्तरसूत्र में तो 'भाव' पद लेना ही पड़ेगा, तब प्राचार्य के सूत्र को ही क्यों न लिया जाए क्योंकि ऐसा करने से अनुवृत्ति के लिये क्लेश भी नहीं करना पड़ेगा। वस्तुतः यदि यह सूत्र पूर्वाचार्य के किसी सूत्र का अविकल अनुकरण नहीं होता, तो पाणिनि कभी भी 'भाव' पद का सन्निवेश इस सूत्र में नहीं करते। प्राक्पाणिनीय सूत्र में ऐसा दोष नहीं था, क्योंकि पाणिनि-प्राचीन सूत्र में इस सूत्र से पहले अनुपसर्गपदघटित कोई सूत्र नहीं था, ऐसा जानना चाहिए।

इस शैली का दूसरा उदाहरण है 'मन्त्रेषु आङ्यादेरात्मनः (६।४।१४१) सूत्र। इस सूत्र में 'आदि' पद व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ आकार-प्रकरण चल रहा है (द्र० वार्त्तिक)। शङ्का हो सकती है कि पुनः सूत्रकार ने 'आदि' पद का ग्रहण क्यों किया ? क्या पाणिनि ने नहीं सोचा था कि इस स्थल पर आकार का प्रकरण चल रहा है ? वस्तुतः इस समस्या के लिये पूर्वोक्त समाधान ही युक्ततर है, अर्थात् किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में यह सूत्र था, और पाणिनि ने अविकल रूप में उस सूत्र को ले लिया है। प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में सूत्रस्थ 'आदि' पद सार्थक था, क्योंकि उस ग्रन्थ में इस सूत्र से पहले आकार का प्रकरण नहीं रहा होगा, पर पाणिनि ने जब सूत्र को अविकल रूप से लेकर इस प्रकरण में पढ़ा, तब अष्टाध्यायी में सूत्र से पहले आकार का प्रकरण रहने से सूत्रोपात्त 'आदि' पद व्यर्थ हो गया। यदि पाणिनि इस सूत्र के रचयिता होते तो कदापि वे 'आदि' पद का व्यवहार नहीं करते। यदि कहा जाए कि पाणिनि ने 'आदि' पद का परित्याग कर ही क्यों नहीं सूत्र को पढ़ा, तो उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों की यह शैली है कि वे सिद्ध वस्तु को भी कभी-कभी पुनः कहते हैं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्पष्टार्थता आदि प्रयोजनों के लिये) जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'भवति वै किञ्चिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति' (६।१।६७) अर्थात् कभी-कभी आचार्य स्वेच्छा से सिद्ध का साधन भी करते हैं।

पूर्वोक्त अनुमान से यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र (६।४।१४१) प्राक्पाणिनीय है। इस निर्णय के लिये अन्य प्रमाण भी हैं। इस सूत्र में 'आङ्' पद का व्यवहार किया गया है, जो प्राचीन आचार्यों का है। यदि यह सर्वथा पाणिनीय होता, तो पाणिनि 'आङ्' के लिये अपने पारिभाषिक शब्द का व्यवहार करते, पर 'आङ्' को अविकल रूप से लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

'परवर्ती सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र के पद के सार्थक्य' का अन्य उदाहरण दिया जा रहा है : सूत्र है—अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५)। इस सूत्र में अयादेश का विधान सार्थक नहीं है, निषेधपरक सूत्र (नामन्ताल्वा···) ही पर्याप्त रहता, पर चूँकि उत्तरवर्ती 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) सूत्र में अयादेश की आवश्यकता है इसलिये ५५ वें सूत्रमें अयादेश का विधान किया गया है। जिस व्याकरण की प्रक्रिया में अयादेश का विधान सार्थक होता, उस व्याकरण का यह सूत्र है; यदि यह पाणिनि का नवनिर्मित सूत्र होता तो ऐसी व्यर्थता नहीं होती। पूर्वाचार्यों ने भी इस सूत्र को व्याकरणान्तर का ही कहा है। नागेश कहते हैं—अयामन्ता···इति सूत्रं व्याकरणान्तररीत्यैव सर्वनामस्थानमिति महासंज्ञावत् (विसर्गसन्धिप्रकरण)।

अष्टम कौशल—विशिष्ट शब्दों के ईषत् पृथक् अर्थों में व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि वे स्थल एक आचार्य (पाणिनि) के नहीं हैं, अपितु विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के हैं।

चूँकि व्याकरण शब्दों का विश्लेषण करता है और उसका प्रमाण और विषय शब्द ही हैं, इसलिये प्रत्येक सुहृद् आचार्य का कर्तव्य होता है कि वह विशिष्ट शब्दों का जहाँ तक सम्भव हो सके निश्चित अर्थों में ही व्यवहार करें जिससे अर्थ में संशय उत्पन्न न हो। यदि ऐसा न हो तो 'स्वेच्छया अर्थ-संशयोत्पादक शब्द-व्यवहार का कारण' क्या है, यह प्रष्टव्य हो सकता है, क्योंकि पृथक् अर्थों में पृथक् शब्दों का व्यवहार करना ही अधिकतर शोभनीय होता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब हम यह मान लें कि कोई एक विशिष्ट शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थों में थोड़े विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होता था (और यह दोषावह नहीं है, क्योंकि आचार्यभेद से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थभेद होने पर प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आचार्य द्वारा दर्शित अर्थ का ही ग्रहण करेगा, सुतरां अर्थ-साङ्कर्य नहीं होगा), और पाणिनि ने उन सभी स्थलों को अविकल रूप से अर्थ का यथायथ निर्देश किए विना ग्रहण किया है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

अष्टाध्यायी में 'छन्दस्' शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है— कभी संहिता के लिये, कभी मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के लिये और कभी वृत्त के लिये भी। इस प्रकार का अर्थसांकर्यात्मक शब्दव्यवहार क्या निष्कारण हो सकता है ? क्या इससे बुद्धिव्यामोह नहीं होगा ? क्या माङ्गलिक आचार्य पाणिनि के लिये यह उचित नहीं था कि वे इस प्रकार के स्वल्प अर्थभेदों के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का ही प्रयोग करें, जिससे अर्थावधारण में संशय या क्लेश न हो। भाष्यकारीय युक्ति के अनुसार हम कह सकते हैं कि चूंकि यह शास्त्र 'सर्ववेदपारिषद' है इस लिये अनेक पूर्वाचार्यों की कृतियाँ इसमें यथासम्भव सन्निविष्ट हो गई हैं। हम यह भी जानते हैं कि एक विशिष्ट शब्द को भिन्न भिन्न आचार्य थोड़े विभिन्न अर्थों में भी ग्रहण करते हैं। व्याकरण में इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'आख्यात' शब्द। किसी व्याकरण में आख्यात का अर्थ है 'केवल धातु', किसी में 'तिङन्त पद' और किसी में 'तिङ् प्रत्यय'। ऐसा कहना उचित जँचता है कि मूल में आचार्यों के ग्रन्थों में इस शब्द का एक ही अर्थ में नियत व्यवहार था, पर पाणिनीय सम्प्रदाय में तीनों अर्थों में ही इस शब्द का व्यवहार है। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त इसका और कोई अन्य बुद्धिग्राह्य समाधान नहीं हो सकता, अर्थात् प्राचीन आचार्य के शब्दों को उनके ईप्सित अर्थों में ही पाणिनि ने लिया है पर उनके अनुसार अर्थों का नियमतः निर्देश नहीं किया, क्योंकि तात्कालिक समाज में अर्थसाङ्कर्य होने की आशङ्का नहीं थी। यतः पाणिनि ने अर्थ-प्रदर्शन किये विना ही उन सभी शब्दों का व्यवहार किया, अतः पाणिनीय तन्त्र में इस प्रकार का अर्थमिश्रण हो गया है।

नवम कौशल—एक अर्थ के लिये अनेक शब्दों का व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि कई स्थलों में वे शब्द एक आचार्य (पाणिनि) के नहीं हैं, सुतरां प्राक्पाणिनीय हैं।

पाणिनि ने एक ही अर्थ के लिये अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, जैसे एक 'द्रव्य' के लिये अधिकरण (५।३।३४), बन्धु (५।४।९), सत्त्व (१।४।५७) आदि। काव्य में चमत्कारोत्पादनार्थ यदि इस प्रकार का शब्दव्यवहार किया गया होता, तो वह दोषावह नहीं होता। पर व्याकरण में इस प्रकार के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दवैचित्र्य की कोई आवश्यकता है, ऐसा समझ में नहीं आता। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में एक परिभाषा है—'पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचर्चा नाद्रियते' तथापि निष्प्रयोजन इतने पर्यायों का प्रयोग क्यों किया गया, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। हो सकता है कि प्रत्येक अवान्तर व्याकरण सम्प्रदाय में एक-एक शब्द का ही प्रचलन था, और चूंकि पाणिनि ने सभी सम्प्रदायों के सूत्रों को अपने शास्त्र में यथासम्भव ले लिया, अतः अनेक पर्यायों का प्रयोग उनके शास्त्र में दिखाई पड़ता हैं।

यदि यह तर्क किया जाए कि वैचित्र्यमात्र के लिये ही पाणिनि ने एक अर्थ में अनेक शब्दों का व्यवहार किया है, क्योंकि पाणिनि विचित्र-शैली-प्रिय थे। पतञ्जलि कहते हैं—'एवमर्थं खल्वपि आचार्यश्चित्रयति, क्वचिदर्था-नादिशति, क्वचिन्नेति'। इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है—'अनेकमार्ग-माश्रयतीत्यर्थः' (द्र० भाष्य ३।१।१९)। अतः अनेक शब्दों का प्रयोग प्राक्पाणिनीयत्व का ज्ञापक नहीं है तो उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य शब्दों के लिये यह तर्क कथञ्चित् सङ्गत हो भी जाए, पर एक अर्थ के लिये अनेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार अवश्य ही प्रमाणित करता है कि वे शब्द पाणिनि के नहीं हो सकते। यथा—वैकल्पिकत्व के लिये पाणिनि ने वा, विभाषा, विभाषित तथा अन्यतरस्याम् इन चार पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है यदि इन चार शब्दों के अर्थों में कुछ भी विलक्षणता नहीं है तो यह मानना अधिकतर युक्त होगा कि ये चार शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय सम्प्रदायों में प्रचलित थे और पाणिनि ने उन सम्प्रदायों के मतों को लेने के समय उन सब पारिभाषिक शब्दों को भी ले लिया है। भाष्य (२।१।५७) से भी यही बात ध्वनित होती है।

इस प्रसङ्ग में एक बात अवधानयोग्य है। हम देखते हैं कि व्याकरण शास्त्र में जितने सांप्रदायिक मत हैं, वे किसी न किसी स्थल में पाणिनीय शास्त्र में चरितार्थ होते हैं; पाणिनि का अपना नियम ही अपने शास्त्र में सर्वत्र चरितार्थ होता है, ऐसी बात नहीं है। यदि पाणिनि का ग्रन्थ सम्पूर्ण नवीन रूप से विरचित होता, तो उनके ग्रन्थ में जितने शब्दार्थ-प्रयोगसङ्कीर्णात्मक स्थल हैं, वे कदापि न होते। सूत्र-शब्दार्थज्ञान में जहाँ जहाँ सन्देह होता है, उन स्थलों को यदि पाणिनि कुछ विशद रूप से लिखते, तो कुछ भी सन्देह नहीं होता, जैसा कि कातन्त्रादि नवीन व्याकरणों में देखा जाता है। पर पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के सूत्रों को (जिनमें वैसा शब्द-प्रयोग था, पर स्वशास्त्र में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथोपयुक्त सङ्केत रहने के कारण संशयोत्पत्ति नहीं होती थी) अविकल रूप से अनेक स्थलों में ले लिया है; इस दृष्टि से ही एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग तथा अनेक विशिष्ट शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग उपपन्न होते हैं।

दशम कौशल—पद्यगन्धि सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

संस्कृत साहित्य में अनेक शास्त्रों के मूल ग्रन्थ पद्यबद्ध दिखाई पड़ते हैं, तथा प्राचीनतम गद्यग्रन्थों के बहुत अंश पद्यबद्ध हैं। व्याकरण शास्त्र में भी यही बात चरितार्थ होती है। पाणिनि-प्राचीन ऋक्प्रातिशाख्य पद्यबद्ध है, तथा अन्य प्रातिशाख्यों में भी पद्यबद्ध अंश मिलते हैं। आचार्य भागुरि का व्याकरण (जो प्राक्पाणिनीय है) पद्यबद्ध है—ऐसा अनुमान होता है। जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में 'इति भागुरिस्मृतेः' कहकर कुछ पद्यबद्ध वचनों का उल्लेख किया है (जो व्याकरणविषयक हैं) जिससे पूर्वोक्त अनुमान होता है। (अर्वाक्पाणिनीय व्याकरणों में भी श्लोकबद्ध सूत्रों की कमी नहीं है, और प्रयोगरत्नमाला व्याकरण तो श्लोक में रचित ही है)। पद्य में रचित होने के कारण अवश्य ही कुछ शब्द गौरवग्रस्त होते हैं[1]। पक्षान्तर में सूत्र रचना की यह विशिष्टता है कि उसमें शब्दबाहुल्य नहीं होता, सुतरां यदि कोई सूत्र पद्यगन्धि (पद्य की तरह श्रूयमाण) हो तो मानना पड़ेगा कि वह प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से अविकल रूप में ले लिया गया है। यह अनुमान उन स्थलों पर और बलिष्ठ हो जाता है, जहाँ पद्यगन्धि सूत्रों में कुछ रचना-दोष दृष्ट होते हैं; नव-निर्मित सूत्रों में इस प्रकार के दोषों का होना सम्भव नहीं है। कभी-कभी कुछ सूत्र अनजाने में भी श्लोक की तरह हो जाते हैं, पर ऐसे स्थल नगण्य हैं।

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं; यथा—पाणिनि का सूत्र है 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' (३।२।२५); यह एक छन्द है, जिसका नाम 'वैतालीय' है। शायद यह सूत्र किसी श्लोकबद्ध व्याकरण से अविकल रूप से ले लिया गया हो। पर यदि यह तर्क किया जाए कि यह सूत्र ही है, और सहसा यह श्लोक रूप में ही बन गया है; तो एक अन्य उदाहरण दिया जा रहा है, जो मूलतः श्लोकबद्ध ही था, (और इसीलिये उसमें कुछ दोष भी था), और पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण उसको ले लिया है।

१—काशिका का श्लोकबद्ध वचन है—द्वित्वे विद्याद् वर्णनिर्देशमात्रम्। इस पर हरदत्त कहते हैं—वर्णमात्रनिर्देश इति विवक्षितम्। वृत्तभङ्गभयात्तु अस्थाने मात्रशब्दः प्रयुक्तः (पदमञ्जरी ७।१।१८)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि के दो सूत्र हैं—'दिवो द्यावा, दिवसश्च पृथिव्याम्' (६।३।२९-३०) जो संहिता पाठ में एक वैदिक छन्द (त्रिष्टुप्) बनता है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि ६।३।३० सूत्रीय 'दिवस' शब्द का अन्तिम अवर्ण निरर्थक है (अकारोच्चारणं सकारस्य विकाराभावप्रतिपत्त्यर्थम्—काशिका) और लाघव के लिये पाणिनि को 'दिवस्' कहना चाहिए था, पर पाणिनि ने वैसा नहीं किया। अवर्णघटित पाठ करने से एक छन्द बनता है, और ऐसा कहना निष्प्रयोजन भी है. पुनः जब पाणिनि उस शब्द-योजना को मानते हैं, तब हमको अनुमान करना पड़ता है कि उपर्युक्त वचन किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण में था, और पाणिनि ने अविकल रूप से उस वचन को अपने ग्रन्थ में ले लिया है।

यदि सूक्ष्म विचार किया जाए तो पहला उदाहरण (हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ) भी प्राक्पाणिनीय व्याकरण से अनुकृत ही सिद्ध होता है। अनेक सूत्रों में (यथा ३।२।१३ आदि) उपपद के बाद धातु का उल्लेख मिलता है, पर इस सूत्र में धातु के बाद उपपद है और इसीलिये यह सूत्र छन्दोमय बन गया है। प्रयोग में चूँकि उपपद के बाद धातु आता है, अतः सूत्र में भी वैसी ही पदस्थापनरीति होनी चाहिए, और अष्टाध्यायी में यह रीति है भी, पर यदि कोई सूत्र श्लोकबद्ध हो, तो सर्वत्र एक प्रकार की ही पद-स्थापन-प्रणाली नहीं अपनाई जा सकती।

इस विषय का अन्य उदाहरण भी है। पाणिनि का सूत्र है—'पक्षिमत्स्य-मृगान् हन्ति. परिपन्थं च तिष्ठति' (४।४।३५–३६)। ये दो सूत्र अनुष्टुप् छन्द का पूर्ण अर्धांश है, और सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो यह प्रमाणित होगा कि यह अंश वस्तुतः अनुष्टुप् छन्द में ही बुद्धिपूर्वक लिखा गया था, स्वतः छन्दोरूप नहीं बन गया है। इसका कारण यह है कि 'परिपन्थं च तिष्ठति' (४।४।३६) सूत्र में 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय है, अतः 'तिष्ठति च' ऐसा प्रयोग करना ही युक्ततर होगा। कोई कारण नहीं है कि किसी सूत्रग्रन्थ में इस प्रकार पदों का निरर्थक व्यत्यास किया जाए, जिससे विवक्षित अर्थ का बोध दुर्घट हो जाए। हम यह भी देखते हैं कि 'च' को 'तिष्ठति' के बाद पढ़ने से छन्दः-पतन होता है, और 'तिष्ठति' से पहले पढ़ने से छन्द की रक्षा होती है, (यद्यपि उससे क्रमभङ्ग दोष होता है) अतः यह मानना होगा कि छन्द मिलाने के लिये ही 'च' को अपने न्याय्य स्थान से हटाकर रखा गया है। चूँकि ऐसा करना सूत्रशैली के विरुद्ध है, और पाणिनि स्वतः ऐसा नहीं कर सकते (क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे कोई लाभ नहीं है) अतः मानना होगा कि यह किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण का वचन है, जिसको पाणिनि ने अविकलरूप से अपने शास्त्र में ले लिया है।

जो सूत्र स्वतः पद्यगन्धि हो गया है, वह इस नियम का अपवाद हो सकता है। पर जो बुद्धिपूर्वक श्लोक में ही रचित है, वह श्लोकबद्ध प्राक्पाणिनीय व्याकरण का ही वचन है—ऐसा मानने से ही पूर्वोक्त दोष (अर्थात् पदों की भिन्न-क्रमता) का उद्धार हो सकता है।

धातुपाठ में भी पद्यगन्धि स्थल हैं। धातु और उसके अर्थनिर्देशपरक सूत्रों में छन्दोमय स्थल स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक देखा जाता है कि छन्द के अनुरोध से 'च' अव्यय का प्रयोग भिन्नक्रम हो गया है। यह भिन्नक्रमता यही सिद्ध करती है कि ऐसे वचन किसी प्राचीन पद्यमय धातुग्रन्थ के अविकल अनुकरणभूत हैं (द्र० अस्मदीय क्षीरतरङ्गिणी की भूमिका पृ० २०-२१)।

प्राक्पाणिनीय सामग्री के अनुसन्धान सम्बन्धी यह विचार अभी प्राथमिक अवस्था में है। प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के मिलने पर यह विचार दृढतर होगा, यह निश्चित है।

—०—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ परिच्छेद

क्या पाणिनीय व्याकरण 'अष्टधा व्याकरण' में अन्यतम है ?

'अष्टधा व्याकरण' में पाणिनीय व्याकरण अन्यतम है, ऐसी प्रसिद्धि है। आधुनिक विद्वान् 'अष्टधा' का अर्थ आठ व्याकरण (= आठ व्याकरण-ग्रन्थ, आठ व्याकरण-सम्प्रदाय, आठ व्याकरण-प्रवक्ता) करते हैं। यह अर्थ कहाँ तक युक्ति-युक्त है तथा 'अष्टधा व्याकरण' का प्रकृत तात्पर्य क्या है, यह इस परिच्छेद में विवृत होगा।

अष्टधा व्याकरण का उल्लेख दुर्गकृत निरुक्त टीका में (आनन्दाश्रम-संस्क० १।२० ख०) मिलता है[1]। इससे प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख अभी तक नहीं मिला है। यदि इसका अर्थ आठ व्याकरण-ग्रन्थ लिया जाए, तो प्रश्न होगा कि ये व्याकरण कौन-कौन हैं। दुर्ग ने जिस रूप से अष्टधा व्याकरण का उल्लेख बार-बार किया है (व्याकरणम् अष्टप्रभेदकम् १।१३ ख०; व्याकरणेऽपि अष्टधा भिन्ने, १।१४ ख०) इससे इस प्रसिद्धि की सार्वत्रिकता अनुमित होती है। दुर्गकाल में यदि कोई निश्चित आठ व्याकरण प्रसिद्ध होते, तो अन्यत्र भी इन आठों के नामों का अनुस्मरण होता। पर, दुर्ग के बाद के व्याकरण-ग्रन्थों में आठ व्याकरणों की कोई निश्चित परम्परा प्ररूढ नहीं मिलती।

अष्टधा व्याकरण का पूर्वोक्त प्रचलित अर्थ लेने पर दुर्ग से प्राचीन शब्द-विद्या के ग्रन्थों में भी कहीं आठ शब्दविदों की कोई परम्परा मिलनी चाहिए, पर निरुक्त-सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों में तथा प्रातिशाख्यादि में कहीं भी इस परम्परा का अणुमात्र उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत (शान्तिपर्व २०।१८), रामायण (किष्किन्धा ३।२९, उत्तर ३६।४४), गोपथब्राह्मण (१।१।१४), मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) आदि में व्याकरण-शास्त्र बहुधा उल्लिखित है, पर व्याकरण-सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण सूचना का संकेत कहीं भी नहीं मिलता है।

१—वेदं तावदेकं सन्तं···व्यासेन समाम्नातवन्तः। तद् यथा एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्···वेदाङ्गान्यपि। तद् यथा व्याकरणमष्टधा निरुक्तं चतुर्दशधेत्येव-मादि (दुर्गटीका १। २० ख०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन कर आठ व्याकरण या शाब्दिकों की किसी एक निश्चित सूची की कल्पना करना भी संभव नहीं हो पाता [१]। पाणिनि के द्वारा दस आचार्य विभिन्न सूत्रों में स्मृत हुए हैं (आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालब, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन; इनके अतिरिक्त 'एकेषाम्' आदि पद से भी अन्य शब्दविदों की सत्ता का ज्ञान होता है); अतः पाणिनि के आधार पर पाणिनिप्राचीन निश्चित आठ व्याकरणों की सत्ता (जिसकी सार्वत्रिक प्रसिद्धि को लक्ष्यकर अष्टधा व्याकरण कहा जा सकता है) तर्क से उपपन्न नहीं होती। प्रातिशाख्यादि में पचास से अधिक शब्दविदों के के नाम हैं, अतः इस शास्त्र से भी अष्ट शाब्दिकों की किसी गणना की कल्पना नहीं की जा सकती है।

प्राचीन ग्रन्थों में अष्ट व्याकरण की कोई सूची न रहने पर भी अपेक्षाकृत नवीन ग्रन्थों में अष्ट व्याकरण या अष्ट वैयाकरण का उल्लेख और गणना मिलती है (अष्टधा और अष्ट का अभिप्राय समान नहीं है, यह बाद में प्रमाणित किया जाएगा)। सरस्वतीकण्ठाभरण (संवत् १०७५—१११०) की किसी टीका में 'पाणिन्याद्यष्टव्याकरणोदित' वाक्य है। इसी प्रकार, भास्कराचार्य-कृत लीलावती के किसी हस्तलेख में 'अष्टौ व्याकरणानि' वाक्य मिलता है' (संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृ० ६४ प्रथम भाग)। उसी प्रकार, वोपदेव (संवत् १३००—१३४०) कृत कविकल्पद्रुम के आरम्भ में आठ आदि शाब्दिकों के नाम गिनाए गए हैं।

किन्तु, विचार करने पर इस गणना से अष्टधा व्याकरण का कुछ भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। यदि अष्टधा व्याकरण का अर्थ आठ व्याकरण माना जाए, तो दुर्गदृष्ट[२] आठ व्याकरणों में जैनेन्द्र आदि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, यह

१—स्वकल्पना से व्याकरणों की किसी-न-किसी प्रकार की गणना की जा सकती है। श्रीतत्त्वनिधि नामक एक आधुनिक ग्रन्थ में ऐन्द्रादि नौ व्याकरणों के नाम हैं। इनमें सारस्वत की भी गणना है। सारस्वत वस्तुतः एक पूर्ण व्याकरण-शास्त्र भी नहीं है। अर्वाचीन भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व अ० १) में आठ व्याकरण सम्प्रदाय उल्लिखित हुए हैं—प्रथमं प्रोच्यते ब्राह्मं द्वितीयमैन्द्रमेव च। याम्यं प्रोक्तं ततो रौद्रं वायव्यं वारुणं तथा। सावित्रं च तथा प्रोक्तमष्टमं वैष्णवं तथा।

२—दुर्गाचार्य के काल के विषय में डा० लक्ष्मणस्वरूप का यह वाक्य ज्ञातव्य है—Durga can thus be approximately assigned to the first century A. D. (स्कन्दटीकायुत निरुक्त की भूमिका पृ० १०१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है। क्या चन्द्र, अमर प्रभृति आदि-शाब्दिकों में गिने जा सकते हैं? यदि आदि का अर्थ मुख्य माना जाए, तो भी यह सदोष है; क्योंकि वोपदेव ने शर्ववर्मसदृश शाब्दिक की गणना नहीं की है। यदि काशकृत्स्न-आपिशलि की गणना हो सकती है, तो काश्यप, चाक्रवर्मण आदि वैयाकरणों की गणना क्यों नहीं हो सकती? यदि चन्द्र की गणना की जा सकती है, तो भोजदेव की गणना क्यों नहीं की गई है? यह स्पष्ट है कि भास्करादि के समय से आठ व्याकरण की प्रसिद्धि[1] प्रचलित हो जाने के कारण वोपदेव ने स्वकल्पना के आधार पर यथेच्छ आठ शाब्दिकों के नाम गिना दिए हैं[2]।

फिर भी, यह सोचना चाहिए कि 'अष्टौ' या 'अष्ट' का जो अर्थ है, 'अष्टधा' का वह अर्थ नहीं है। कहीं से भी परस्पर सम्यक्पृथक् आठ व्याकरणों को मिलाकर 'अष्ट व्याकरणानि' कहा जा सकता है। हम कहीं से छह दर्शनग्रन्थों को मिलाकर 'षड् दर्शनानि' कह सकते हैं (हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन की गणना प्रचलित गणना से पृथक है, द्र० षड्दर्शनसमुच्चयग्रन्थ)। पर, 'दर्शन छह प्रकार के हैं', कहने पर उसका छह प्रकार निश्चित होने चाहिएँ। 'अष्टधा ब्राह्मणम्' आदि में किसी एक दृष्टि के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ-प्रकार की गणना निश्चित रूप से की जाती है, यह ज्ञातव्य है (तै० आ० ८।२ का सायण भाष्य)।

'धा' प्रत्यय पर विचार करने से यह दृष्टि स्पष्ट होगी। पाणिनि के 'संख्याया विधार्थे धा' (५।३।४२) सूत्र से धा प्रत्यय विहित होता है। नागेश ने कहा है—विधाशब्दस्य अर्थश्च सामान्यस्य भेदकविशेषरूपः प्रकारः (शब्देन्दुशेखर); बृहत्शब्देन्दु में भी 'सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः' माना गया है (पृ० १४९३)। प्रदीप-उद्द्योत टीका में उदाहरण देकर समझाया गया है कि 'पञ्चधा श्लोकः' का अर्थ होगा कि 'पञ्चप्रकारः श्लोकः' और छन्द आदि भेदों के अनुसार 'प्रकारों' की कल्पना की जाएगी। उसी प्रकार, 'व्याकरणमष्टधा' कहने पर व्याकरण-रूप एक सामान्य पदार्थ के आठ विशेष समझे जाएँगे। इन विशेषों

१—'अष्टव्याकरण' की प्रसिद्धि होने के कारण दिग्गज वैयाकरणों के लिये 'अष्टव्याकरणज्ञाता' रूप विशेषण देने की परिपाटी चल पड़ी थी। भट्टोजि के गुरु शेषकृष्ण के लिये 'अष्टव्याकरणीनिबन्धचतुर' विशेषण जाता था, ऐसी प्रसिद्धि है।

२—भास्कर-दृष्ट आठ व्याकरण आपिशलि-काशकृत्स्न-इन्द्र के नहीं हो सकते। इनके ग्रन्थ भास्कर से बहुत पहले ही नष्ट हो चुके हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को मिलाने से वस्तु पूर्ण हो जाएगी, और ये विशेष या भेद परस्पर पृथक् होते हुए भी एकजाति-समन्वित ही रहेंगे।

यदि हम अष्टधा का 'आठ' अर्थ कर विभिन्न आठ व्याकरणों को लें, तो क्या उन आठों को किसी व्याकरण-सामान्य के आठ विशेष मान सकते हैं? सभी व्याकरणों के अनेक विषय परस्पर-समान हैं, अतः प्रत्येक व्याकरण को व्याकरण-सामान्य का विशेष नहीं कहा जा सकता है; फिर इन आठ व्याकरणों को मिलाने से व्याकरण-सामान्य पूर्ण भी नहीं हो जाता है। वस्तुतः, व्याकरण-रूप एक सामान्य के आठ विशेषों को लक्ष्यकर 'अष्टधा व्याकरण' कहा गया है। प्रश्न होगा, यह व्याकरण-सामान्य क्या है। व्याकरण विद्याविशेष का नाम है। मुण्डक १।१।४-५ में अपरा विद्या की गणना में व्याकरण का नाम आया है। चतुर्दश या अष्टादश विद्या-गणना के अन्तर्गत व्याकरण भी है। वस्तुतः, व्याकरण आदि शब्दों का मौलिक अर्थ विद्याविशेष ही है। पतञ्जलि के व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या (महाभाष्य १।२।३२) वाक्य भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

शब्दशास्त्र के अनुसार अष्टधा व्याकरण का अर्थ होगा—'व्याकरण-विद्या' के आठ प्रकार। विद्या किसी विषय से ही संबद्ध होगी, अतः 'शब्द-विद्या के आठ विचार्य प्रमेय', यह अष्टधा व्याकरण का अर्थ निर्गलित होगा। हम समझते हैं कि अर्वाचीन काल में यह अर्थ अप्रसिद्ध हो गया था और इसीलिये भ्रम से 'आठ व्याकरण' या 'आठ शाब्दिकों की सूची' कल्पित की गई थी।

अष्टधा व्याकरण का यह अर्थ कल्पित नहीं है। यदि हम 'अष्टधा आयुर्वेद' से इस वाक्य की तुलना करें तो इसकी सत्यता ज्ञात होगी। 'अष्टधा' का यह अर्थ नहीं है कि आयुर्वेद ग्रन्थ या आयुर्वेद के आठ सम्प्रदाय या आठ आयुर्वेद के आचार्य। इसका अर्थ है—आयुर्वेद के अन्तर्गत आठ विषय, जिनको अङ्ग भी कहा जाता है। विष्णुपुराण ४।८।४ में 'अष्टधा आयुर्वेदं करिष्यसि' वाक्य है, जिसका अर्थ है—अष्टप्रकारम् (टीका)। टीकाकार श्रीधर ने यहाँ इन आठ अङ्गों की गणना भी दी है। सुश्रुत, सूत्रस्थान, १।३; हरिवंश पुराण १।२९।२७; काश्यप संहिता, विमानस्थान, पृष्ठ ४२; चरक, सूत्रस्थान ३०।२८ आदि में अष्टधा आयुर्वेद का निर्देश है। किसी विषय के अवान्तर भेद, अङ्गी के अङ्ग या किसी जाति के अन्तर्गत श्रेणी इत्यादि प्रकारों के प्रदर्शनार्थ विधाशब्द या धा प्रत्यय प्रयुक्त होता है। 'अष्टविध ब्राह्मण' का अर्थ है—(वैदिक) ब्राह्मण-वाक्य के विषयानुसार आठ विभाग; त्रिविध मन्त्र का अर्थ है—रचना-दृष्टि से मन्त्र की पृथक् तीन शैलियाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि। धा या विध के स्थान पर अङ्ग शब्द का भी प्रयोग होता है—'अष्टाङ्ग आयुर्वेद' प्रयोग इस विषय में प्रसिद्ध है। अष्टाङ्ग अर्घ्य का अर्थ है—अर्घ्य-रूप अवयवी के आठ अवयव। अष्टाङ्ग प्रणाम आदि भी इस विषय में उदाहार्य हैं। चतुर्विध प्रजा कहने पर जन्म प्रकार की दृष्टि से प्राणियों के चार प्रकार का विभाग ज्ञात होता है (चरक, शारीरस्थान ३।२३)। इसी दृष्टि से व्याकरण (=शब्दान्वाख्यानविद्या) के आठ अवान्तर विषयों को लक्ष्यकर 'अष्टधा व्याकरण' कहा गया है।

अब प्रश्न होगा कि व्याकरण-विद्या के आठ अङ्ग कौन-कौन हैं? प्रचलित व्याकरण-ग्रन्थों में इस विषय में कुछ चर्चा नहीं मिलती है। वाक्यपदीय में 'अपोद्धारपदार्था ··· ये साध्वसाधुषु' पर्यन्त दो कारिकाएँ मिलती हैं (१।२४-२५)। इसके अनुसार अर्थ-शब्द-सम्बन्ध-प्रयोजन ये चार द्विविध होकर अष्टविध हो जाते हैं, और इस प्रकार 'अष्टपदार्थी' रूप 'व्याकरण-शरीर' निष्पन्न होता है। वृषभदेव इन श्लोकों की टीका में कहते हैं—तदेवं शब्दार्थसम्बन्धफलानां प्रत्येकं द्वैविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति, एतच्च शास्त्रशरीरम् (लवपुर-संस्करण, पृ० ३६)।

हमारी दृष्टि में अष्टधा व्याकरण का यह तात्पर्य हो सकता है। इस अष्टधा विभाजन में प्रत्येक विभाग परस्पर असंकीर्ण होता है और इन आठों विभागों से व्याकरण पूर्ण हो जाता है।

अन्य दृष्टि से भी व्याकरण के आठ अङ्ग कल्पित किए जा सकते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात—इन चारों को नित्य और कार्य-भेद से द्विविध मानकर आठ प्रकार के 'पद' माने जा सकते हैं। पर व्याकृति-दृष्टि से इस विभाग की उपादेयता कुछ प्रतीत नहीं होती। 'चत्वारि शृङ्गाः' मन्त्र की वैयाकरणपक्षीय व्याख्या के अनुसार ऐसी कल्पना की जा सकती है। यहाँ चार प्रकार के पद (शृङ्ग) तथा उनके भेद (शीर्ष) माने गए हैं[1] और इस प्रकार आठ प्रकार के पद माने जा सकते हैं। पर, इस विभाग की कोई भी व्यावहारिक उपयोगिता प्रतीत नहीं होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी व्याकरण के आठ विभाग हो सकते हैं। व्याकरण का सम्बन्ध मुख्यतः पद से है, वर्ण या वाक्य से नहीं; और इसीलिए व्याकरण को 'पदशास्त्र' कहा जाता है। 'पदवाक्यप्रमाण' में पद का अर्थ व्याकरण है। हम

१—पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने चत्वारि शृङ्गाः (ऋग्० ४।५८।३) मन्त्र की ऐसी व्याख्या की है—चत्वारि शृङ्गेति चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ....द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते हैं कि पद के आठ विभाग प्राचीनकाल में माने जाते थे। भरतनाट्यशास्त्र (१५।४) में अष्टविध पदों की गणना की गई है (नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि, विभक्ति)। यह विभाग भी व्याकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से सर्वथा संगत नहीं है; सन्धि-विभक्ति वस्तुतः पद नहीं है पर व्याकरण की सभी प्रक्रियाएँ इन आठ भाग में समाप्त हो जाती हैं, यह स्पष्ट है।

पदार्थ की प्रकृति के अनुसार उसके भेदों (प्रकार) का निर्णय अनेक प्रकार से किया जा सकता है। अतः जिस तत्त्व के अनुसार शब्दविद्या का अष्टधा भेद किया गया है, उसका अनुसन्धान होना चाहिए। दुर्गाचार्य ने जब 'अष्टधा व्याकरणम्' का उल्लेख किया था तब उनको शब्दविद्या के आठ भागों का निश्चित ज्ञान था, ऐसा भी हम नहीं कह सकते हैं; हो सकता है कि पूर्वप्रसिद्धि का यथावत् निर्देश दुर्ग ने कर दिया। शब्द-सम्बन्धी प्रमेय को आठ भाग में बांटने की प्रवृत्ति अन्यत्र भी दृष्ट होती है। शब्द-श्लेष को आठ भागों में बांटा गया है, यह इस विषय का एक उदाहरण है।

प्रश्न हो सकता है कि दुर्ग के 'व्याकरणमष्टधा' वाक्य का अर्थ यदि इस दृष्टि से किया जाए, तो यहीं जो 'निरुक्तं चतुर्दशधा' (१।२० ख०) कहा गया है, उसकी उपपत्ति क्या होगी ? हमारा कहना है कि निरुक्त-विद्या के भी १४ अङ्ग थे, सम्प्रदाय का नाश होने के कारण जिनके विषय में आज हम कुछ नहीं कह सकते हैं। आज भी 'वर्णागमो............तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्' (६।३।१०९ काशिका में उद्धृत) कारिका मिलती है, जहां निरुक्त के पाँच विचार्य अङ्गों (वर्णागम, वर्ण-विपर्यय आदि) के लिये 'पञ्चविध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हो सकता है कि इस प्रकार १४ भागों में विभक्त करने की भी कोई परिपाटी थी (अङ्ग या अवान्तर विषय का विभाग विभिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है और दृष्टिभेद के अनुसार संख्या में भी भेद होना अनिवार्य है; वेद का त्रयी-विभाग और चतुष्टयी विभाग इसके उदाहरण हैं), जिसके कारण 'निरुक्तं चतुर्दशधा' कहा गया है।

अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि वस्तुतः निर्वचन की पद्धति कभी १४ प्रकार में बाँटी गई थी और उस प्राचीनकाल में ही 'निरुक्तं चतुर्दशधा' की प्रसिद्धि उत्पन्न हुई थी। यास्ककृत निरुक्त में आज भी वे १४ विभाग अविकल रूप से विद्यमान हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम् (दुर्गटीका १।१३ ख०) या निरुक्तं चतुर्दशधा (दुर्गटीका १।२० ख०) वाक्य का 'चौदह निरुक्त' रूप अर्थ करने वालों को यह स्थल ध्यान से विचार करना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीयाध्याय के आरम्भ में ही 'अथ निर्वचनम्' कहकर यास्क ने निर्वचन के आधारभूत नियम कहे हैं। ये नियम संख्या में १४ हैं, यथा—

(१) प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते, (२) अथाप्यस्तेः .... आदिलोपो (३) अथाप्यन्तलोपो ...., (४) अथाप्युपधालोपः, (५) अथाप्युधाविकारो.........., (६) अथापि वर्णलोपो ...., (७) अथापि द्विवर्णलोपः.........., (८) अथाप्यादिविपर्ययो.........., (९) अथाप्याद्यन्त-विपर्ययो...., (१०) अथाप्यन्तव्यापत्तिः.........., (११) अथापि वर्णोपजनः, (१२) अथापि भाषिकेभ्यो ...., (१३) अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः, (१४) अथापि प्रकृतयः .... ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इसके बाद ही यास्क 'एवमेकपदानि निब्रूयात्' कहकर प्रकरण की समाप्ति करते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि प्रत्येक नियम के आगे 'अथापि' कहा गया है, जो पृथक्-पृथक् रीति के आरम्भ करने का ज्ञापक शब्द है। हम समझते हैं कि ये ही १४ प्रकार के निरुक्त (निर्वचन रीति) हैं।

शास्त्र के विषय में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत मिलती हैं। 'त्रिधा ज्योतिषम्' 'कल्पः त्रिधा' आदि वाक्य इस प्रसंग में उदाहार्य हैं। यहाँ जिस प्रकार ज्योतिष और कल्प के तीन भाग विवक्षित हैं, उसी प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में भी समझना चाहिए। मूल में विद्या के एतादृश भेद होने के कारण बाद में प्रत्येक भेद को लेकर पृथक् संप्रदाय प्रवर्तित हुए हों तथा पृथक् प्रस्थान (ग्रन्थ) निश्चित हुए हों तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अन्त में हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि अष्टधा और चतुर्दशधा सम्बन्धी यह विचार अभी भी परीक्षणीय है। प्राचीनतर सामग्री के मिलने से यह विचार और अधिक प्रतिष्ठित होगा।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चम परिच्छेद

'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य

वैयाकरण सम्प्रदाय में 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' (सूत्रीय शब्द का रूप वैदिक शब्दवत् होता है) नामक एक वाक्य सुप्रसिद्ध है। वृद्धिरादैच् (१।१।१) सूत्रभाष्य के आरम्भ में पतञ्जलि ने कहा है—'छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः, छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति'। वृद्धिरादैच् सूत्र में ऐच् पद में 'चोः कुः' (८।२।३०) सूत्र द्वारा कुत्व होना चाहिए था, पर 'अयस्मयादीनि छन्दसि' वाक्य से 'भ' सञ्ज्ञा मानकर कुत्व का निषेध किया गया है। जब प्रश्न हुआ कि पाणिनि का सूत्र छन्दः (वेद) नहीं है, तब उत्तर दिया गया कि सूत्र 'छन्दोवत्' होते हैं, अतः वैदिक प्रयोगों में जो कार्य (अर्थात् व्याकरणीय विधि का व्यत्यय) होते हैं, वे व्याकरण के सूत्रों पर भी लागू होंगे[१]।

हमारी दृष्टि में भाष्यकार का यह समाधान संशयास्पद है, और 'छन्दवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रयोग यहाँ अस्थान में किया गया है। इस विषय में निम्नोक्त विचार द्रष्टव्य है—

उपर्युक्त भाष्यवाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' का लक्ष्य व्याकरणसूत्र है, क्योंकि व्याकरण वेदाङ्ग है; वैशेषिक आदि सूत्रों पर यह नियम लागू नहीं होता।

विचारने पर कैयट का यह कथन असङ्गत जान पड़ता है, क्योंकि वैशेषिक-सूत्र में भी छन्दोवत् प्रयोग मिलता है, यथा—

"इषावयुगपत् संयोगविशेषाः" (वैशेषिक सूत्र ५।१।१६) की व्याख्या में शङ्करमिश्र लिखते हैं—इषाविति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। यहाँ विभक्तिव्यत्यय है, जो

१—अन्यथाविभक्तित्व या विभक्तिशून्यता आदि की सङ्गति भी 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' मानकर किया जाता है (द्र० प्रक्रियासर्वस्व संज्ञाखण्ड पृ० १२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छान्दस प्रयोगवत् है [१]।

किञ्च, व्याकरण जिस प्रकार वेद का अङ्ग है, वैशेषिक उसी प्रकार एक उपाङ्ग है (षट् दर्शन उपाङ्ग कहलाते हैं)[२]। अङ्ग होने के कारण व्याकरण में 'छन्दोवत्' न्याय प्रवृत्त होगा और उपाङ्ग होने के कारण वैशेषिक में वह न्याय प्रवृत्त नहीं होगा, इसका कोई विनिगमक नहीं मिलता। विशेषकर जब वैशेषिकसूत्र में व्यत्ययग्रस्त प्रयोग मिलते हैं और उन प्रयोगों की साधुता के लिये 'छन्दोवत् सूत्राणि' न्याय को लगाना पड़ता है। यदि अन्य किसी न्याय से वैशेषिकगत वेदवत्प्रयोगों (अर्थात् विभक्ति-कारक-तिङ्-सुप् आदि का व्यत्यय) की उपपत्ति की जा सके, तो उस न्याय से ही व्याकरणसूत्रगत वेदवत्प्रयोगों की भी उपपत्ति की जा सकेगी। 'छन्दोवत्सूत्राणि' न्याय को व्याकरण सूत्र के लिये प्रयुक्त करना अनावश्यक ही है।

इसके साथ यह भी विचार्य है कि पाणिनि के कुछ सूत्रों में उनके ही सूत्रों के अनुसार कार्यों का व्यत्यय देखा जाता है। ऐसे स्थलों में व्याख्याकार 'छन्दोवत्सूत्राणि' न्याय का प्रयोग एकान्ततः नहीं करते। ऐसे स्थलों पर इस न्याय का प्रयोग करना सरल होता, तथा लाघव भी होता, पर ऐसे व्यत्ययग्रस्त शब्दों को निपातन सिद्ध (पाणिनिव्यवहारसिद्ध) कहकर व्याख्याकार उनकी साधुता स्वीकार करते हैं। यथा—

१—अन्यान्य दर्शनसूत्रों में तथा शिक्षादि अङ्गों में व्यत्ययग्रस्त प्रयोग हैं या नहीं, यह एक अनुसन्धेय विषय है। 'अन्यतमस्मिन्' प्रयोग आपिशलिशिक्षा (८।१) में है—अन्यतमस्मिन् स्थाने विधार्यते। पाणिनि के अनुसार अन्यतम सर्वनाम नहीं है, अतः इस शिक्षासूत्रवचन की साधुता के लिये भी 'छन्दोवत्—' न्याय मानना होगा। निरुक्त में 'धामानि त्रयाणि भवन्ति' वाक्य है (९।२८ ख०)। त्रयाणि पद अपाणिनीय है, अतः इसकी सिद्धि भी इस न्याय से करनी होगी (यद्यपि यह कोई 'सूत्र' नहीं है)। दर्शनसूत्रीय प्रयोग की साधुता पर भी क्वचित् संशय दृष्ट होता है। योगसूत्र (४।५) में उक्त 'अनेकेषाम्' पद की सर्वनामता एवं बहुवचनयुक्तता पर संशय का अवकाश है (द्र० माधवीय-धातुवृत्ति इण् गतौ धातु; मेधातिथिभाष्य ५।१५९)।

२—प्रतिपदमनुपदं छन्दोभाषा धर्मो मीमांसा न्यायतर्का इत्युपाङ्गानि (चरणव्यूह, कण्डिका २)। प्रस्थानभेद में दर्शनों का उपाङ्गत्व स्वीकृत हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिशायन (५।३।५५) शब्द पाणिनिलक्षणहीन है, अतः 'निपातन' मानकर उसको साधु माना गया है। शोभाशब्द पाणिनि सूत्र से साक्षात् रूप से सिद्ध नहीं होता, पर धातुपाठगत वचनविशेष (६।३४) के आधार पर इस शब्द को सिद्ध माना जाता है। उसी प्रकार 'सर्वनाम' शब्द में णत्व का न होना भी आचार्यव्यवहार सिद्ध होने के कारण उपपन्न माना जाता है (भाष्य १।१।२७)। पाणिनिव्यवहारसिद्ध होने के कारण ही 'पतित' शब्द साधु माना जाता है, अन्यथा यहां इट्प्रतिषेध प्राप्त होता है (द्र० काशिका ७।२।१५)। इस प्रकार के व्यत्ययग्रस्त अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिये पूर्वाचार्यों ने 'सौत्रोऽयं निर्देशः', 'आचार्यप्रयोगात्सिद्धम्' 'निपातनात् सिद्धम्' इत्यादि वाक्यो का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ है—शब्दवित् प्रमाणभूत आचार्य द्वारा उक्त होने के कारण वे शब्द साधु हैं, यद्यपि साधुत्व-निष्पादकप्रक्रिया आचार्यकृत प्रचलित ग्रन्थों में दृष्ट नहीं होती।

अब प्रश्न उठता है कि तब 'वृद्धिरादैच्' में कुत्वाभाव के लिये भी तो यह उत्तर दिया जा सकता था कि पाणिनिव्यवहार के कारण ही ऐच् शब्द साधु है, सूत्र को छन्दोवत् मानकर प्रयोग की साधुता दिखाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के प्रयोगों को पाणिनि ही कर सकते हैं, हम लोग नहीं कर सकते क्योंकि शोभादि प्रयोग तो सर्वत्र प्रयोक्तव्य हैं; पाणिनिपरम्परा में भी एतादृश प्रयोग साधु ही हैं। कुछ प्रयोगों के विषय यद्यपि कहा जाता है कि उनका प्रयोग केवल विशिष्ट आचार्य ही कर सकते हैं, सब लोग नहीं कर सकते, पर प्रकृत प्रयोग पर ऐसा कोई नियमन नहीं है।

वस्तुतः पाणिनिकृत लक्षणहीन प्रयोगों की साधुता के लिये छान्दसत्व युक्ति निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' वाक्य का व्याकरणसूत्र के अर्थ में सङ्कोच करना समीचीन ज्ञात नहीं होता। सूत्र शब्द व्याकरण सूत्र के लिये ही प्रयुक्त होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

पतञ्जलि ने जिस रूप से 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' कहा है उससे यह भी ज्ञात होता है कि यह एक पूर्वप्रचलित न्याय है, और उद्धरण के रूप में पतञ्जलि ने इस वाक्य को कहा है। मूलतः यह वाक्य जिस शास्त्र से सम्बन्ध रखता है उसके अनुसार ही इसका अर्थ जानना चाहिए।

अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' का प्रकृत तात्पर्य है—'कल्पसूत्र छन्दोवत् है' और भाष्यकार ने पूर्वपक्षी के मुख को बन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिये एक आपातरमणीय समाधान दे दिया है। यह भी हो सकता है कि पतञ्जलि को छन्दोवत् वचन का परम्परागत अर्थ ज्ञात न हो और अस्थान में इस वचन का प्रयोग उन्होंने कर दिया हो (यद्यपि अभी ऐसा कहना समीचीन नहीं है)।

उपर्युक्त प्रकृत अर्थ कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट से ज्ञात होता है। प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट का सूत्र है—तानस्वराणि छन्दोवत् सूत्राणि (१।९)। अनन्तदेव भाष्य में इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'सूत्राणि कल्पाख्यानि छन्दोवत् छन्दसा तुल्यानि स्वरसंस्कारनियमेनेति शेषः। छन्दसि नियमस्तथा सूत्रेष्वपि तन्नियमो भवति वेदाङ्गत्वात्। सूत्रोपादानात् शृङ्गग्राहिकन्यायेन इतरेषु वेदाङ्गेषु छन्दादिषु स्वरसंस्कारो नियमेन भवतीति गम्यते। छन्दोवत् इत्यत्र तेन तुल्यमिति भवति नोदात्तादीमप्याक्षेपो भविष्यतीत्युक्तं तानस्वराणीति'। इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्र में वेदवत् स्वर और संस्कार दृष्ट होते हैं। भेद यह है कि जहाँ वेद में उदात्तादि स्वर प्रयुक्त होते हैं वहाँ कल्पसूत्र में केवल तानस्वर है (तानस्वर = एकश्रुति = एकस्वर्य)। तानस्वर के विषय में वैदिक स्वरमीमांसा ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है [1]।

इस प्रकार 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि वेदसदृश शब्दसंस्कार[2] कल्पसूत्र में है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणसूत्रगत व्यत्ययग्रस्त प्रयोगों के लिये 'निपातनात् सिद्धम्' (या 'आचार्यव्यवहारात् सिद्धम्') कहना ही संगत है, 'छन्दोवत्—' कहने का कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः इन दोनों वचनों के विषय पृथक् ही हैं।

छन्दोवत् नियम के यथावत् ज्ञान न रहने के कारण अस्थान में भी इसका प्रयोग व्याख्याकारों ने किया है। आगमशास्त्रीय मृगेन्द्रवृत्ति की दीपिका टीका में

१—तान और संस्कार के विषय में अन्यत्र व्याख्यान द्रष्टव्य है—'तानस्वराणीति तान एकश्रुतिः स्वरो येषां तानि तानस्वराणि। तथा च संस्काराः अनुस्वारस्य गुम् इत्यादिरूपाः छन्दसि यथा तथाऽत्रापि भवन्ति परन्तु उदात्तादित्रैस्वर्यं न भवति किन्तु एकस्वर्यम्। किन्तत् तानस्वर्यं यथा चाहुराचार्यपादाः तानो वा नित्यत्वात्'।

२—स्वर और संस्कार के स्पष्ट ज्ञान के लिये 'स्वरसंस्कारयोः छन्दसि नियमः' (वाज० प्राति० १।१) का उवटभाष्य द्रष्टव्य है—स्वर उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितलक्षणः। संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक सूत्र के अनुचित स्थल में पाठ' रूप दोष के समाधान के लिये भी इस नियम को लगाया गया है,[1] जो टीकाकार की शोचनीय अज्ञता का ज्ञापक है। जहां भी सूत्र में कोई विलक्षणता दृष्ट होती है, वहीं छन्दोवत् न्याय का आश्रय लेकर उसका समाधान करने की मनोवृत्ति (उस विलक्षणता का अन्य गूढ कारण हो सकता है या नहीं, इस पर ध्यान न देकर)[2] की असमीचीनता इस न्याय के प्रकृत अर्थ ज्ञात होने पर विज्ञात होती है।

१—ननु एतत् सूत्रमत्रासंबद्धम्। अतएव अनन्तश्चिकल इत्यादिना पूर्वोक्तेन एकवाक्यतया व्याख्येयम्। कथं पुनस्तत्रैव न पठ्यते छन्दोवत् सूत्राणि इति न्यायात् (अव्ययप्रकरण १७९ श्लोक)।

२—पाणिनि का सूत्र है—चितः (६।१।१६३)। यह एक प्राक्पाणिनीय सूत्र है, अतः इसकी रचनारीति में कुछ विलक्षणता है। इस विलक्षणता के प्रकृत कारण का अन्वेषण न कर छन्दोवत् न्याय से इसका समाधान कर देना (द्र० न्यास) कोई उचित कार्य नहीं है। पाणिनि सूत्र में ऐसा शायद ही कोई स्थल हो जहां छन्दोवत् न्याय की आवश्यकता होती है; निपातन आदि सामान्य नियम मानकर ही विलक्षण स्थलों की संगत उपपत्ति की जा सकती है। नागेश कहते हैं—तथा च भाष्यकारीयातिदेशात् सूत्रेषु छन्दःकार्य-प्रवृत्तिरिति भावः। हमारी दृष्टि में इस प्रकार का कोई अतिदेश न पतञ्जलि कर सकते हैं और न करने की कोई आवश्यकता ही है। लक्षणहीन प्रयोगों की उपपत्ति करना (छन्दोवत् न्याय के बल पर) अन्य संप्रदायों में भी दृष्ट होता है, जैसा कि सुपद्मव्याकरण की मकरन्द टीका में कहा गया है—मुनीनां वचने यद् यद् दृश्यते पदमन्यथा। तत्सर्वं वैदिकं ज्ञेयं तत्र वक्तुं क ईश्वरः (३।४ पाद टीका पृ० १३९) पर यह इस वचन की भ्रान्त व्याख्या के आधार पर ही है, ऐसा जानना चाहिए।

—०—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ परिच्छेद

अष्टाध्यायी के निपातन-सूत्र

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जो 'निपातन-सूत्र' कहलाते हैं। इन निपातन-सूत्रों के विषय में यह शंका होती है कि कुछ सूत्रों में प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश के स्थान पर सिद्ध शब्दों का 'निपातन' क्यों किया गया है? सभी सूत्रों में निपातन-पद्धति का स्वरूप क्यों समान नहीं है? निपातन-प्रणालो में कौन-सी सरलता है? अर्थ-निर्णय-क्षेत्र में निपातन की सहायता से कौन-सा वैशिष्ट्य दिखाया गया है? इस निबन्ध में इन प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दिया जा रहा है।

निपातन-शैली पर शंका—निपातन-रीति की असार्थकता के विषय विषय में आइ० एस० पवते महोदय ने कहा है—"८।३।९० सूत्र से शुरू कर ८।३।९५ सूत्र पर्यन्त जितने सूत्र हैं वे निपातन-सूत्र कहलाते हैं। इन स्थलों में निपातनरीति से सूत्र-रचना की कौन-सी आवश्यकता थी? 'निष्णात' शब्द को बनाने के लिये पाणिनि ने 'नि-नदीभ्यां स्नातेः कौशले' (८।३।८९) कहा है (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक कहा है) पर वे ही 'प्रतिष्णात' शब्द को बनाने के समय प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश न कर 'सूत्रं प्रतिष्णातम्' (८।३।९०) ऐसा कहकर 'प्रतिष्णात' शब्द को निपातित करते हैं। किञ्च निपातन-सूत्रों में एकरूपता भी नहीं है। ८।३।९० सूत्र में 'प्रतिष्णात' शब्द-वाच्य सूत्र-शब्द प्रथमा-विभक्ति से लक्षित है, पर ८।३।९३ सूत्र में (जो एक निपातन-सूत्र है) 'विष्टर' के वाच्य 'वृक्ष' और 'आसन' सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार के विभिन्न व्यवहारों की संगति क्या है?" (दि स्ट्रक्चर आँफ़ दि अष्टाध्यायी, पृ० ६३)[१] इस लेख में इस आक्षेप के उत्तर के लिये हम यत्न करेंगे।

१—Sutras 90 to 95 (both inclusive) are निपातन s. Why are these Sutras put in the form of निपातनs ? Could Panini not have written :—प्रतेः स्नातस्य सूत्रे, कपेः स्थलस्य गोत्रे, प्रात् स्थोऽग्रगामिनि, वेः स्तरस्य वृक्षासनयोः। on the analogy of निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ? Why should निपातनs intervene between rules expressed in the regular analytic form ? And even

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निपातन का तात्पर्य—'पाणिनीय सम्प्रदाय में 'निपातन' शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं। यह शब्द सूत्र को लक्ष्य करता है, जैसा कि कहा गया है–"किं निपातनम् ? द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याण्यन्यतरस्याम्" (भाष्य ६।४।२)। पाणिनि का २।२।३ सूत्र ही यहाँ का निपातन है। सूत्रस्थ शब्द के वाचक के रूप में निपातन का प्रयोग पतञ्जलि को मान्य है, यथा—"तद् वै अनेकेन निपातनेन व्यवच्छिन्नं न शक्यमनुवर्त्तयितुम्" (३।३।८३)। यहाँ नागेश ने निपातन शब्द का अर्थ दिखाया है–"घनान्तर्घनप्रघणप्रघाणोद्घनापघनरूपेणेत्यर्थः" (उद्द्योत)। इससे सूत्र का निपातन-पदवाच्य होना सिद्ध होता है। कभी-कभी यह शब्द वार्त्तिक को लक्ष्य करता है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"निपातनादेतत् सिद्धम्, किं निपातनम् ? क्त्वायां वा प्रतिषेधः" (६।४।१४०)। यहां "क्त्वायां वा प्रतिषेधः' शब्द वार्त्तिक है (६।२।२ भाष्य देखिए)। केवल 'सौत्र' शब्द ही निपातन का वाच्य नहीं है, बल्कि गणपाठीय शब्द भी निपातन है, जैसा कि पतञ्जलि ने 'गविष्ठिर' शब्द के आधार पर कहा है—"निपातनात् सिद्धम्, किं निपातनम् ? गविष्ठिरशब्दो विदादिषु पठ्यते" (६।३।९)। इस प्रकार धात्वर्थ-निर्देशक शब्द भी निपातन-पद-वाच्य होता है, जैसा कि 'काशिका में कहा गया है—"कथमुद्यमोपरमौ ? अड उद्यमे, यम उपरम इति निपातनादनुगन्तव्यौ" (७।३।३४)।

इससे सामान्य रूप से यह सिद्ध होता है कि आचार्यों के विशिष्ट शब्द-प्रयोग निपातन-पद-वाच्य हैं, जैसा कि नागेश ने कहा है,—"एवं च निपातनात् इत्यस्य सौत्रत्वादित्यर्थ इति भावः" (उद्द्योत ६।३।३४)। पाणिनि-सूत्रों में जिन पदों का व्यवहार किया गया है, वे यदि पाणिनि-लक्षण से सिद्ध न हों तो उनको 'निपातनसिद्ध' कहा जाता है। यथा ५।३।५५ सूत्र में पाणिनि ने 'अतिशायन' पद का व्यवहार किया है, पर पाणिनि के ही लक्षण से इसकी सिद्धि न होने के कारण पतञ्जलि ने कहा है—"देश्याः सूत्र-निबन्धाः क्रियन्ते।" इसकी व्याख्या में

---

among the निपातन Sutras there is no uniformity. In Sutra 90, the word सूत्र which is the वाच्य of the word प्रतिस्नात is put in the nominative case. But in Sutra 95, the words वृक्ष and आसन, which are the वाच्य of the word विष्टर are put in the locative case. How to account for all this irregularity ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है—"निपातनाद् दीर्घत्वम्" (प्रदीप)। तथैव ३।२।११५ सूत्र गत परोक्षशब्द को निपातित मानकर साधु माना गया है।

चूँकि आचार्य-व्यवहार-सिद्ध होने से किसी शब्द को 'निपातनसिद्ध' कहा जाता हैं, अतः ईदृश-सिद्ध शब्द के विषय में 'इदं निपात्यते' 'अहं निपातयामि' (३।१।१२३ श्लोक वा०) इत्यादि प्रयोग भाष्यादि में मिलते हैं।

निपातन का स्वरूप—काशिका (३।१।१२३) में निपातन का स्वरूप स्पष्ट दिखाया गया है यथा—"यदिह लक्षणेन अनुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्"[1]—अर्थात् सूत्रों के कार्य मे जो सिद्ध नहीं होता, वह यदि आचार्य के व्यवहार से सिद्ध होता है, तो वह निपातन-पद-वाच्य है। कहा भी गया है—'अन्यथा प्राप्तस्यान्यथोच्चारणं निपातनम्'। अतएव निपातनरीति प्रक्रिया के अनुसार दो प्रकार की है—अप्राप्तिप्रापण तथा प्राप्तिवारण। कभी-कभी निपातन से विशिष्ट अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। इसलिये तीन प्रकार के निपातन-कार्य होते हैं। कहा भी गया है—

अप्राप्तेः प्रापणं चाऽपि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात्॥

कभी-कभी विकल्पार्थ में भी निपातन दृष्ट होता है, जैसा कि काशिका में कहा गया है—"विकल्पार्थं निपातनम्" (७।२।२७)।

निपातन-लक्षण की व्याख्या—पहले ही जानना चाहिए कि निपातित शब्द न प्रकृति है और न प्रत्यय, जैसा कि कैयट ने कहा है—"अथ प्रकृतित्वमेषां कस्मांन्न विज्ञायते? पञ्चम्याः प्रत्ययस्य चानुपादानात्, अनिष्पन्नस्य च प्रकृतित्वाभावात्। प्रत्ययत्वं तर्हि कस्मादेषां न भवति? लोके केवलानां प्रयोगदर्शनात्" (प्रदीप ५।१।५९)। इससे स्पष्ट होता है कि निपातित शब्द प्रकृतिप्रत्ययात्मक अवश्यमेव हैं। इस प्रकार के शब्दों में प्रकृति का अंश कितना है, या प्रत्यय का अंश कितना है इसमें संदेह उपस्थित हो सकता है। अतएव निपातित 'विंशति' आदि शब्दों को लेकर भाष्यकार ने कहा है—"इमे विंशत्यादयः सप्रकृतिकाः सप्रत्ययकाश्च निपात्यन्ते, तत्र न ज्ञायते का प्रकृतिः,

---

१—आप्टे के संस्कृतांग्लकोश में इस वाक्य को भाष्यवचन कहा गया है; यह अनवेक्षण दोष है। मुग्धबोध व्याकरण की रामतर्कवागीश टीका में भी इसे भाष्यवचन माना गया है (द्र० मनीषा:, सूत्र ३४)। वस्तुतः भाष्य में यह वचन नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कः प्रत्ययः, कः प्रत्ययार्थ इति" (५।१।५९)।[1]

यह कहा जाता है कि विधि-सूत्र के साथ निपातन-सूत्रों का भेद यह है कि विधि-सूत्र में प्रकृत्यादि का पृथक् उल्लेख रहता है पर निपातन-सूत्रों में समुदाय का उच्चारण किया जाता है, इसलिये कैयट ने स्पष्ट ही कहा है—"विधि-निपातनयोश्चायं भेदः यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधिः, यत्र तु समुदायः श्रूयतेऽवयवाश्चानुमीयन्ते तन्निपातनम् (प्रदीप ५।१।५९)।

निपातन-सूत्रों के भेद—निपातन-सूत्र अनेक प्रकार के होते हैं, यथा—

किसी-किसी-सूत्र में निपातित शब्दों के साथ उनके अर्थ भी कहे जाते हैं। जैसे 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्त' इत्यादि (७।२।१८) सूत्र में। जिस प्रकार कुछ सूत्रों में अर्थ न कहकर भी निपातन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं किया गया, इस प्रश्न के उत्तर में कैयट ने कहा है—"यदि धात्वर्थोपाधित्वेन मन्थादय आश्रीयेरन्—मन्थादि साधने-धात्वर्थे क्षुब्धादयो निपात्यन्त इति तदा क्षुभितं मन्थेनेत्यत्रापि भावे क्तस्येट् प्रतिषेधः स्यादिति समुदायानाम् अभिधेय-भावेन मन्थादय इहोपात्ता इति प्रदर्श्यते" (प्रदीप ७।२।१९)। अर्थनिर्देश निपातनविषय-प्रदर्शन के लिये है, यह काशिकाकार को भी अनुमत है—पाकग्रहणं निपातन-विषय-प्रदर्शनार्थम् (६।१।२७)।

कभी सूत्रों में केवल पदों का ही निपातन किया गया है; यथा—'दाधर्ति-दर्धर्ति' इत्यादि (७।४।६५) सूत्र में। चूंकि यहाँ विषय-प्रदर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है, अतः पदमात्र ही निपातित किया गया है।

कदाचित् सानुबन्ध निपातन भी किया गया है। 'ऐकागारिकट् चौरे' (५।१।११३) इसका एक उदाहरण है। यहाँ टकार-अनुबन्ध स-प्रयोजन है। ५।१।११४ सूत्र भी इसका अन्य उदाहरण है।

१—प्रकृत्यादि विभाजन की दृष्टि से निपातित शब्द 'निरूढ' (जिनके प्रकृत्यादि अवयव और उनके अर्थ पृथक् पृथक् रूप से ज्ञातव्य नहीं हैं) कहलाते हैं। इस शब्द का बहुशः प्रयोग दशपादी उणादिवृत्ति में है—निपात्यन्ते निरूढलोपागमवर्णविकाराः (१।२२)। इस विषय में निम्नोक्त स्थल भी द्रष्टव्य हैं—३।४३, २।३, २।११, २।२० आदि। कहीं कहीं निरूढ के स्थान पर 'निरूढ' पाठ भी मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी सूत्रस्थ एक ही निपातित पद भिन्न स्वर से पठित होता है। इसका एक उदाहरण 'दाण्डिनायन' इत्यादि (६।४।१७४) सूत्र के 'ऐक्ष्वाक' पद में देखा जाता है। यहां यद्यपि एक 'ऐक्ष्वाक' पद है, परन्तु स्वरभेद से इसे दो पद स्वीकार किया जाता है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातनं पृथक्त्वेन।' कैयट ने इसकी व्याख्या की है—'तत्र भिन्नस्वरयोरेकस्मिन् निपात्यमानेऽपरस्यासंग्रहादुभयमपि निपात्यम्' (प्रदीप)। अतएव स्वरभेद के आधार पर दो उदाहरण भाष्यकार ने दिए हैं। किन्तु किस लिये सूत्र में एक ही बार इस पद का पाठ किया गया है, कैयट ने इसका उत्तर दिया है—'स्वरभेदप्रत्यस्तमयेन निपातनं सर्वस्वरलौकिकप्रयोगसंग्रहार्थमित्यर्थः' (प्रदीप)।

इस नियम का दूसरा उदाहरण 'अपस्पृधेथाम्' इत्यादि (६।१।३६) सूत्र में देखा जाता है। यहाँ 'अस्पृधेथाम्' इस एक पद का पाठ भिन्न स्वर से होता है। यह निपातन की शक्ति से होता है, ऐसा व्याख्याकारों ने कहा है।

कितने ही ऐसे निपातित शब्द हैं जो केवल वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। "बहुप्रजाश्छन्दसि" (५।४।१२३) इसका एक उदाहरण है। निपातनसिद्ध पद लौकिक या वैदिक हैं, इसमें कभी-कभी सन्देह भी होता है। जैसे—'सनिससनिवांसम्' पद लौकिक या वैदिक है, इस संशय के उत्तर में काशिकाकार कहते हैं—"छन्दसि निपातनं विज्ञायते" (७।२।६९)। ध्यान देना चाहिए कि इस निर्देश में पाणिनि मौन हैं।[1]

'कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) सूत्र में भी अन्य प्रकार का निपातन देखा जाता है। साधारण दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि "कपिष्ठल इति गोत्रे निपात्यते"—यही इसका अर्थ है। परन्तु यह ठीक नहीं है। भाष्य में कहा गया है—"गोत्रे यः कपिष्ठलशब्दः तस्य षत्वं निपात्यते, यत्र वा तत्र वेति।" अतएव यहाँ षत्व के विषय के रूप में गोत्र निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु दर्शन के विषय में अर्थात् गोत्र में जो 'कपिष्ठल' शब्द देखा जाता है वह साधु है।[2]

१—यह शब्द छान्दस ही हो सकता है, अतः सूत्रकार ने 'छन्दसि' नहीं कहा, ऐसा न्यासकार ने दिखाया है—यत्रैषा आनुपूर्वी नियता तत्रैव यथा स्यात्। इयं चानुपूर्वी छन्दस्येव नियतेति तद्विषयमेवैतन् निपातनं विज्ञायते। अतएव वृत्तिकृता छान्दसप्रयोगो दर्शितः।

२—प्रदीप में यह भाव दिखाया गया है—न गोत्रं षत्वस्य विषयत्वेन निर्दिष्टं, किं तर्हि दर्शनस्य—गोत्र यो दृष्टः कपिष्ठलशब्दः स साधुर्भवति। तेन कपिस्थानवाचिनः षत्वं न भवतीत्युक्तं भवति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी निपातन सामान्यापेक्ष भी होता है, न कि विभक्त्यादि-विशेषापेक्ष, अतएव निपातन-बाधित पद भी प्रयुक्त होता है। "क्त्वायां वा प्रतिषेधः" की भाष्यव्याख्या में कैयट ने कहा है—"सामान्यापेक्षं च निपातनं, न सप्तम्यपेक्षमिति कृत्वा कृत्वाया इत्यपि भवति" (प्रदीप ६।४।१४०)।

हमने पहले ही कहा है कि निपातन आचार्य-व्यवहार को कहते हैं। व्याख्या से जाना जाता है कि कभी-कभी निपातन 'तन्त्र' होता है और कभी-कभी अतन्त्र होता है। यह ६।४।२४ सूत्रभाष्य-सन्दर्भ में स्पष्ट है। जो पद निपातन-सिद्ध होता है, उसके वचन आदि कभी-कभी 'तन्त्र' (विवक्षितार्थक) और कभी-कभी 'अतन्त्र' होते हैं। अतएव "षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते" (५।१।९०) सूत्रव्याख्या में कैयट ने कहा है—"बहुवचनम् अतन्त्रम्, एकवचनान्तस्यापि षष्टिकशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्" (प्रदीप)।[1] 'उद्द्योत' में नागेश ने कहा है कि सब आचार्य इसमें सहमत नहीं हैं। उसी प्रकार ६।१।१२ सूत्र में दाश्वान् इत्यादि एकवचनान्त निपातित हैं। परन्तु यहाँ एकवचन अविवक्षित है, यह ज्ञानेन्द्र ने कहा है (तत्त्वबोधिनी)।

निपातित शब्द—अब विचार्य यह है कि जहाँ निपातन होता है, वहाँ कौन निपातित होता है। इस विचार से निपातन बल-रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। यह ज्ञातव्य है कि वहीं निपातन होता है जहाँ आगमादिकार्य सूत्र में साक्षात् रूप से निर्दिष्ट नहीं होते। कहीं कहीं 'विशेषाधिकार' से सूत्रानुक्त कार्य निपातनबल से होता है, जैसा कि कहा गया है—"प्रकृतकार्यात् कार्यान्तरसिद्ध्यर्थं हि निपातनम्" (प्रदीप ७।२।२०)।

प्रायः निम्नोक्त विषयों का निपातन प्रसिद्ध है—

प्रत्यय-निपातन—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४) सूत्र प्रत्ययनिपातन का उदाहरण है। यहाँ 'मस्करिन्' शब्द के विषय में कैयट ने कहा है—"माङ्पूर्वात् करोतेर्णिनिरिति।" यहाँ निपातनबल से ताच्छील्यार्थ में 'णिनि' प्रत्यय के स्थान पर 'इनि' होता है, यह कैयट का तात्पर्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कहाँ प्रत्यय का निपातन होता है और कहाँ आदेश का निपातन होता है—इसमें कभी कभी संशय उपस्थित होता है। इसके निर्णय के विषय में तत्त्वबोधिनी ६।३।६९ द्रष्टव्य है।

१—६।१।१४३ सूत्र में बहुवचनान्त 'कुस्तुम्बुरूणि' शब्द निपातित किया गया है। न्यासकार कहते हैं—बहुवचनमपि अतन्त्रतमत्र सूत्रे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश-निपातन—यह 'पाय्यसांनाय्य' इत्यादि (३।१।१२९) सूत्र के उदाहरण में देखा जाता है। यहाँ निपातनबल से ही आयादेश हुआ है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

आगम-निपातन—'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।२।२६) सूत्र इसका उदाहरण है। यहाँ जो मुमागम है, वह निपातबल से ही है।

द्विर्वचन-निपातन—'ऋत्विग् दधृक्' इत्यादि (३।२।५९) सूत्र में 'दधृक्' शब्द इसका उदाहरण है। निपातन न होने से यहाँ द्विर्वचन नहीं होता।

प्रकृतिविपरिणाम-निपातन—'अपचितश्च' (७।२।३०) सूत्र इसका उदाहरण है। भाष्य में कहा गया है—"किं निपात्यते ? चायेश्चिभावश्च"।

इस प्रकार कहीं ह्रस्व-दीर्घ में और कहीं किसी के लोप में निपातन होता है। कभी-कभी प्रसक्तकार्याभावरूप कार्य भी निपातन से होता है, यथा ३।२।५९ सूत्र में जो 'क्रुञ्चाम्' पद है, उसके विषय में नागेश ने कहा है—"क्रुञ्चामिति निपातनान्नलोपाभावः" (उद्द्योत)। भाष्य में भी इनके अनुरूप बातें हैं, यथा 'इच्छा' (३।३।१०१) इस सूत्र-भाष्य में कहा गया है—"किं निपात्यते ? इषेः शे यगभावः।" इस प्रकार प्रतिषेध अर्थ में भी निपातन व्यवहृत होता है। 'णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) सूत्र के वार्त्तिक में कहा गया है—"निपातनं णिलोपेड्गुणप्रतिषेधार्थम्।"

निपातन के कार्य—पहले कहे गए उदाहरणों से यह प्रमाणित हो गया है कि निपातन से विभिन्न कार्य होते हैं। यह नहीं है कि एक ही कार्य के लिये निपातन-रीति का आश्रय किया जाता है, या एक ही कार्य निपातन से सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है—"अनेकप्रयोजनसम्पत्तिः निपातनाद् भवति" (प्रदीप ६।२।२)। यहाँ 'स्नात्वा-कालक' उदाहरण देकर भाष्यकार ने ठीक ही कहा है—"अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थं च निपातनं कर्त्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति।" यहाँ तीन कार्य एक ही निपातन से दिखाए गए हैं।

कहीं-कहीं एक ही निपातन से शब्द-नियमन के साथ अर्थ-नियमन भी होता है। ३।१।१०१ सूत्र का 'अवद्य' पद इसका प्रसिद्ध उदाहरण है, जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने कहा है—"वदेर्नञ्युपपदे वदः सुपीति यत्क्यपोः प्राप्तयोर्यदेव, सोऽपि गर्ह्यायामेवेत्युभयार्थं निपातनम्" (सि० कौ०)। कहीं-कहीं निपातित शब्द के एकाधिक निर्वचन होते हैं जो ३।१।११४ सूत्र-निपातित 'राजसूय' शब्द में दिखाई पड़ते हैं। इस शब्द के निपातित होने के कारण अर्थ में संशय नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यहाँ कहा है—"निपातनं च रूढ्यर्थमिति। तेनाद्यपक्षेऽश्वमेधादौ, द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमादौ च नातिप्रसङ्गः" (तत्त्वबोधिनी)।

निपातन और रूढि (निपातित शब्द का रूढार्थक होना) पर पूर्वाचार्यों का स्पष्ट कथन बहुत्र मिलता है। द्विदण्ड आदि निपातित शब्दों के अर्थ पर सायण कहते हैं—'समुदायनिपातनस्य रूढ्यर्थत्वात् द्विदण्डा इत्यत्र (इच्) न भवति (माधवीयधातुवृत्ति दिवादि दमुधातु)। न्यास में 'प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे' (७।३।६८) की व्याख्या में कहा गया है—'निपातनं रूढ्यर्थम्। अगुणभूता यत्र शक्यार्थता तत्र यथा स्यात् प्रयोज्यो भृत्यो नियोज्यो दास इति। स्वामिनि प्रयोज्यो नियोज्यो न भवति। नहि तत्र प्रयोज्यनियोज्यशब्दौ रूढौ, किं तर्हि ? गुणभूतावेव।' इस रूढार्थ के लिये भी 'प्रयुजनियुजोः शक्यार्थे' ऐसा सूत्र न रचकर (विधि सूत्र न रचकर) निपातन रीति का आश्रय लिया गया। इसी प्रकार 'भोज्यं भक्ष्ये' (७।३।६९) सूत्र भी विधिसूत्र की तरह (भुजो भक्ष्ये) न रचकर निपातनसूत्र के रूप में प्रणीत हुआ है जिससे कि भोज्य शब्द के रूढार्थ का ज्ञान हो। 'रूढि' पक्ष में भी कई बातें देखनी पड़ती हैं। रूढि नियत-विषय होती है (न्यास ३।१।१२७) इसलिये प्रसिद्धि के अनुसार ही निपातित शब्द के प्रयोग होंगे। ३।१।१२९ सूत्र में निपातित 'धाय्या' शब्द सामिधेना मन्त्रों का वाचक है। पर कुछ ही सामिधेनी ऋक् धाय्या शब्द से ग्राह्य होते हैं तथा असामधेनी मन्त्र भी यथाविधि धाय्यापदवाच्य होते हैं। जैसा कि काशिका में स्पष्टतया कहा गया है। इसी दृष्टि से ही न्यासकार ने 'रूढिविशेष' शब्द का प्रयोग यहाँ किया है।

निपातनजनित लाघव—निपातन-रीति स्वीकार करने से शब्द-निष्पत्ति में किस प्रकार लाघव होता है, अब हम उसे दिखाएँगे। जहाँ निपातन से शब्द को सिद्ध किया गया है वहाँ यदि प्रकृति-प्रत्ययादि निर्देशक विधि सूत्र होता तो सूत्रीय शब्द में गौरवाधिक्य होता, यह मान कर पाणिनि ने बहुत्र निपातनसूत्र बनाया है। वस्तुतः निपातनस्थल में प्रकृत्यादि नहीं रहते, ऐसी बात नहीं। अतएव निपातनस्थल में प्रायः "किं निपात्यते" ऐसा भाष्यकार ने पूछा है (५।२।७३)। अन्यत्र कहा गया है—"का प्रकृतिः कः प्रत्ययः कः प्रत्ययार्थः" (५।१।५९)। प्रत्ययानुसार निपातित शब्द का अर्थ यदि नहीं घटता तो निपातनबल से उस अर्थ का अभ्युपगम किया जाता है, जैसा कि (निपातित 'अधिक' पद को लेकर कैयट ने कहा है—"लौकिके प्रयोगेऽधिकशब्देन विषयभेदेन कर्तृकर्मणोरनभिधानदर्शनादनङ्गीकृतसाधनभेदमध्यारूढस्येदं निपातनम्, स चोभयार्थ इति न कश्चिद् दोषावसरः" (प्रदीप ५।२।७३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि निपातन न कर प्रकृत्यादि के उल्लेख से शब्द की निष्पत्ति होती, तो 'सद्यः परुत्परार्यादि' (५।३।२२) शब्दों की सिद्धि के लिये सूत्र-प्रणयन में कितना अधिक गौरव होता, यह तो स्पष्ट ही है। इन स्थलों में केवल निपातन-रीति से सूत्रीय शब्दव्यवहार में लाघव होता है, न कि अर्थवैशिष्ट्यज्ञापन में। किसी-किसी निपातनसूत्र से यह प्रतीत होता है कि निपातन न करने पर भी वह शब्द सिद्ध होता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर देखा जाता है कि यहाँ निपातन-रीति से ही अधिक लाभ होता है, जैसा कि काशिका में कहा गया है—"किमर्थं तर्हि निपातनम्, यावता पूर्वेणैव स सिद्धः, सम्बुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते" (८।२।६७)। शब्दनिष्पत्तिलाघव विषय में ८।२।१२ सूत्र की काशिका भी द्रष्टव्य है।

किसी-किसी निपातन-सूत्र में कोई पद उपलक्षण के रूप में रहता है, यह व्याख्याकार मानते हैं। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (७।३।६२) सूत्र की व्याख्या में काशिका में कहा गया है—"प्रयाजानुयाजग्रहणं प्रदर्शनार्थम्—अन्यत्राप्येवं-प्रकारे कुत्वं न भवति।"

निपातन-सामर्थ्य—निपातन से शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया में ही लाघव नहीं होता, बल्कि शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति भी निपातन-सामर्थ्य से व्यवस्थित होती है। यदि ऐसे स्थलों में निपातन न किया जाए, तो शास्त्रीय कार्य-प्रवृत्ति में भी वचनान्तर की आवश्यकता होगी, जिससे निरर्थक गौरव-दोष होगा। इस दृष्टि से निपातन का सार्थक्य सिद्ध होता है। 'स्नात्वाकालक' उदाहरण का आश्रय लेकर कैयट ने जो कहा है उसे उद्धृत किया जा रहा है—"येषु चात्र स्नात्वा-कालकादिषूत्तरपदानुपात्तक्रियापेक्षः क्त्वाप्रत्ययः तेषां सापेक्षत्वेऽपि निपातनात् समासः" (प्रदीप ७।१।३७) नागेश ने स्पष्ट कहा है—'समुदायनिपातनसामर्थ्या-दप्राकरणिकमपि किञ्चिन्निपातनान्निषिध्यते" (उद्द्योत ७।१।३७)। उसी प्रकार काशिकाकार ने भी "समुदायनिपातनाच्चार्थविशेषेऽवरुध्यन्ते" (५।४।१२८) कहा है।

वाक्यार्थ में भी निपातन देखा जाता है, यथा—"छन्दोऽधीते" इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रीय' शब्द का निपातन किया गया है (भाष्य ५।२।८४)। यहाँ वाक्यार्थ में किसलिये पद-रचना की गई है, कैयट ने उसका स्पष्ट वर्णन किया है।

निपातन सूत्र में अर्थनिर्देश कभी प्रथमान्त शब्द में और कभी सप्तम्यन्त शब्द में किया गया है, यथा—'भोज्यं भक्ष्ये' और 'भित्तं शकलम्'। विभक्ति के भेद होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अर्थ में क्या भेद होता है, यह गवेषणीय है। इसी प्रकार निपातन द्वारा जब रूढार्थ (=प्रसिद्धि के अनुसार प्रयोग) की प्रतीति होती है, तब अर्थों का निर्देश भी सूत्र में क्यों किया गया है, यह भी प्रष्टव्य हो सकता है। संभवतः स्पष्टार्थ के लिये अर्थ का निर्देश किया गया है, यद्यपि जो अर्थ सूत्र में दिया हुआ रहता है, उसका एक निश्चित क्षेत्र ही निपातित शब्द द्वारा भाषित होता है, यह अनुगवमायामे (५।४।८३), प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे (७।३।६८) आदि अर्थनिर्देशयुक्त सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है। अर्थ-निर्देशहीन निपातन सूत्रों में वस्तुतः अर्थ नियमन पर कुछ विशेष वक्तव्य नहीं रहता, पर अनिष्ट रूप की संभावना की निवृत्ति के लिये मुख्यतया निपातन-रीति का आश्रय लिया जाता है, जैसा कि 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीब ....' (८।२।५५) आदि अर्थनिर्देशहीन सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है। अलाक्षणिक कार्यप्राप्ति भी एक निपातन-हेतु हो सकता है (न्यास ४।१।३२)।

निपातन-हेतुक अर्थवैशिष्ट्य—यद्यपि निपातन-स्थल में प्रायेण विधि-सूत्र से शब्द-निष्पत्ति सिद्ध हो सकती है, तथापि अर्थादेश में लाघवार्थ निपातन-रीति का अवलंबन पाणिनि ने किया है। एक उदाहरण लीजिए—'आकालिकडाद्यन्तवचने' (५।१।११४) सूत्र निपातन का उदाहरण है। यहाँ शब्द-निष्पत्तिकार्य विधि-सूत्र से करने में भी दोष नहीं है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'आकालान्निपातनानर्थक्यम् ठञ्प्रकरणात्'। तथापि विधि-सूत्र करने पर अर्थ-वैशिष्ट्यज्ञापित नहीं होगा, इसे कैयट ने स्पष्ट रूप से दिखाया है—'जन्म-विनाशयोश्चाव्यवहितकालत्वादेककालत्वम्। विधौ त्वयमर्थः क्लेशेन प्रतीयत इति निपातनाश्रयणम्' (प्रदीप ५।१।११४)।

निपातन-बल से निपातित-शब्द के अर्थ के विषय में किस प्रकार का नियमन होता है, 'श्रृतं पाके' (६।१।२७) सूत्र में इसका प्रकृष्ट उदाहरण विद्यमान है। पाक वाच्य होने पर 'श्रृत' निपातित होता है, यह इस सूत्र का अर्थ है। परन्तु चूंकि श्रृत शब्द निपातित हुआ है, अतः विक्लृत्तिलक्षण 'पाक' में ही 'श्रृत' शब्द का तात्पर्य है—इस प्रकार समझना चाहिए—'द्विविधो हि पाकः—विक्लित्तिलक्षणः, विक्लेदनालक्षणश्च। पाचयितृव्यापारे तु णिचि कृते पाचनालक्षणोऽर्थः प्राधान्येनाभिधीयते, न तु पाकलक्षण इति निपातनाभावः' (प्रदीप)।

कभी-कभी अर्थ-सामान्य में अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति निपातन से होती है, इस नियम के अनेक उदाहरण हैं। एक उदाहरण लीजिए—'आश्चर्यमनित्ये'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६ । १ । १४६) सूत्र में 'आश्चर्य' पद निपातित है। क्या यहाँ 'अनित्य' कहने से घटादि में भी आश्चर्य शब्द का प्रयोग होगा ? व्याख्याकार ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं—'निपातनाच्चानित्यविशेषो विस्मयहेतुर्गृह्यते' (प्रदीप)। अतएव अनित्य सामान्य में इसका प्रयोग युक्त नहीं है। दूसरा उदाहरण—'निपातनसामर्थ्याद् विशिष्टे दाशते संघे वर्त्तमाना भाववचना भवन्ति' (प्रद.प ५ । १ । ५५)। तथैव ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'यद्यपि पणितव्यशब्दोऽर्थद्वयसाधारणस्तथापि निपातनस्येह रूढ्यर्थत्वाद् व्यवहर्तव्य एवायं निपात्यते' (तत्त्वबोधिनी ३ । १ । १०१)। इन उदाहरणों से निपातन-महिमा स्पष्ट समझी जा सकती है।

निपातन हेतुक विशिष्टार्थज्ञापनविषय में अन्य उदाहरण 'चरणे ब्रह्मचारिणी' (६ । ३ । ८६) सूत्र भी है। यहाँ कैयट ने कहा है—'अवयवनिपातनद्वारेण विशिष्टेऽर्थे समुदायस्यैव साधुत्वमन्वाख्येयमिति मत्वा समुदायमेव निपात्यत्वेनोपन्यस्यति'। यह मत नागेश ने भी स्वीकार किया है; वे कहते हैं—'चरणे समानत्वेन गम्य इत्यर्थ इति भावः। अयमेव चार्थो निपातनोक्तिद्वारा भगवतोक्त इति।' (उद्द्योत)। उग्रंपश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च (३ । २ । ३७) सूत्र में भी निपातनजनित विशिष्टार्थकता का उदाहरण मिलता है। नारायणभट्ट कृत प्रक्रियासर्वस्व में निम्नोक्त श्लोक इस विषय में हैं—

> उग्रंपश्यः क्रूरदृष्टिरुग्रं पापं विदन्नपि।
> इरया वारिणा माद्यन् वैद्युताग्निरिरम्मदः॥
> सर्पास्पृश्यादिरोधार्थं ध्मायन्ते यत्र पाणयः।
> सोध्वा पाणिन्धमोऽत्राधिकरणार्थो निपातनात्॥

'भित्त शकलम्' (८ । २ । ५९) सूत्र भी इस प्रसंग में आलोचनीय है। यहां निपातन-बल से 'यह रूढ़ि शब्द है'—यह पाणिनि सूचित करते हैं। वासुदेव दीक्षित ने कहा है—'शकलत्वजातिविशिष्टेऽवयवार्थमनपेक्ष्य रूढोऽयम्, ततश्च भित्तशकलयोः पर्यायत्वान्न सह प्रयोगः' (बालमनोरमा)। निपातन रीति के न ग्रहण करने पर क्या यह अर्थ सरलतया ज्ञापित हो सकता है ?

जैसे निपातनसिद्ध शब्द रूढ़ हैं, उसी प्रकार संज्ञावाची भी[1]। कैयट ने कहा

१—निपातित शब्द संज्ञावाची भी होते हैं—ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् (५ । २ । ७१) सूत्र इसका उदाहरण है। संज्ञा = संज्ञा के विषय में। यह संज्ञा किस प्रकार की है, यह व्याख्यान ग्रन्थों में स्पष्ट है—यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति तत्र ब्राह्मणक इति संज्ञा (अल्पान्ना यवागूरुष्णिकेत्युच्यते (काशिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—'निपातनादेव संज्ञालाभात्' (प्रदीप ८।२।१२) विधि-सूत्र से संज्ञार्थ प्रकटित नहीं होता, अतः निपातन-सूत्र की रचना सार्थक है। यह मत भर्तृहरि ने भी ग्रहण किया है, यथा— धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च। अनुबन्ध-विकाराणां रूढ्यर्थे च निपातनम्' (बहुत्र उद्धृत)। अतएव 'निपातनाद् रूढिराश्रीयते' (प्रदीप ३।१।१२७), यह कैयट ने कहा है।

निपातन-बल से ज्ञापित नियम—इस विषय में कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२) सूत्र प्रसिद्ध उदाहरण हैं। यहाँ महाभाष्यकार ने निपातन (आचार्य प्रयुक्त शब्द द्वारा ज्ञाप्यमान अर्थ को व्यक्त किया है, यथा—'एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्तीति' (६।४।१७२)।

पहले कहा गया था कि निपातन से शब्द-निष्पत्ति विषय में लाघव होता है एवं विशिष्टार्थ-ज्ञापन सरल होता है। यह भी जानना चाहिए कि कभी-कभी अनिष्ट-रूप-निवृत्ति के लिये भी निपातन किया जाता है। 'अनुपसर्गात्फुल्ल' इत्यादि सूत्र ८।२।५५) पर कैयट ने कहा है—"यद्यपि फुल्लादयः पचाद्यचीगुपधलक्षणे के च सिद्ध्यन्ति तथापि 'निष्ठा च द्व्यजनात्' (६।४।५२) इत्यादि कार्यसिद्ध्ये क्षीबिताद्यनिष्टरूपनिवृत्तये च निपातनम्" (प्रदीप)। इस नियम का दूसरा उदाहरण भी है। पाणिनि द्वारा ६।१।१२ सूत्र में 'साह्वान्' पद निपातित हुआ है। परन्तु यहां णिच् पक्ष में वृद्धि असिद्ध होने के कारण दीर्घत्व-निपातन व्यर्थ हैं, ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिए। कारण यहाँ निपातित 'साह्वान' पद 'सह्वान' के असाधुत्व का ज्ञापक है, ऐसा व्याख्याकार कहते हैं। निपातन-सूत्रों में शब्द-गौरव से भी कहीं-कहीं सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन किया गया है। हम 'प्रतिष्कशश्च कशेः' (६।१।११२) सूत्र को इसके उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। यदि यहाँ 'प्रतिष्कशः' ऐसा सूत्र होता तो शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया में कोई भी दोष नहीं होता। इस पर सायण ने कहा है—"प्रतिष्कशः इत्येतावत्येव सूत्रयितव्ये कशेरिति वचनं प्रतेः कशिसम्बन्धित्वे निपातनम् यथा स्यादिति तेन कशां प्रति गतः प्रतिकशोऽश्व इत्यत्र न भवति" (माधवीय धातुवृत्ति, पृ० २३४)।

निपातन-सम्बन्धी परिभाषा—निपातन के विषय में एक परिभाषा है—"अबाधकान्यपि निपातनानि" (सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति ७९)। यद्यपि पाणिनि द्वारा ४।३।१०५ सूत्र में 'पुराण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, तथापि इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निपातन के अबाधक होने के कारण 'सायं चिरम्' इत्यादि (४।३।२३) सूत्र से सिद्ध 'पुरातन' शब्द भी साधु माना जाता है। दूसरे लोग इस वचन को परिभाषा के रूप में नहीं मानते। भाष्यकार ने कहीं भी ईदृश वचन का पाठ नहीं किया है। वे १।१।२७ सूत्र-भाष्य में "बाधकान्येव निपातनानि" का प्रतिपादन करते हैं। यह मत भागवृत्ति में भी है (सीरदेव कृत 'परिभाषावृत्ति' पृ० १३६)। निपातित शब्द से जिस शब्द का बाध प्राप्त होता है यदि वह शब्द दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है तो उसको 'पृषोदरादि' सूत्र से सिद्ध मानना चाहिए—ऐसा अन्य मत वाले कहते हैं (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा ११९ द्रष्टव्य)।

कभी-कभी निपातन-बल से किसी-किसी परिभाषा की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति का निर्णय भी होता है, जैसा कि तत्त्वबोधिनी में कहा गया है—"निपातन-सामर्थ्याल्लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयत इत्याहुः" (६।१२७)। कभी-कभी व्याख्याकार निपातन-बल को सामान्य रूप से मानते हैं, जैसा कि कहा गया है—"केचित् सामान्येन निपातनमिच्छन्ति, तेन खप्रत्ययाभावेऽपि प्रयोग उपपन्नो भवति पारोवर्यविदिति" (प्रदीप ५।२।१०)।

निपातन और स्वर—निपातन और स्वर का सम्बन्ध भी विचारणीय है। जिस प्रकार निपातन से अन्यान्य शास्त्रीय कार्य बाधित होते हैं उसी प्रकार निपातन-स्वर अन्यान्य स्वरों का बाधक होता है—यह सभी व्याख्याकारों का मत है। इस विषय में भाष्यकार का मत पहले जानना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—"यथैव निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधक एवं समासस्वरस्यापि" (६।१।१२३)। सभी व्याख्याकारों ने "निपातनस्य सर्वापवादत्वम्" पुनः पुनः कहा है। वस्तुतः सभी निपातन-स्थलों में निपातन-बल से स्वर-व्यवस्था होती है, अर्थात् निपातन से स्वर-निर्देश भी सरल एवं सुदृढ़ होता है। अतएव 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) में वार्तिककार का जो आक्षेप है (द्योत्य इति चेत् स्वर-समासानुपपत्तिः) उसके समाधान के लिये भाष्यकार ने कहा है—"नैष दोषः मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, विस्पष्टादिवत् स्वरश्च।" इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है "—एवमवश्यलाव्यमित्यादावपि मयूरव्यंसकादिषु निपातनादुत्तरपदप्रकृतिस्वरो भविष्यतीत्यर्थः'। इसकी व्याख्या में नागेश ने निपातन का सर्वाधिक बल दिखाया है—"एवं च मयूरव्यंसकादिषु निपातनादेव सिद्धे विस्पष्टादीनीति सूत्रमपि न कार्यमिति भावः" (उद्द्योत)। सभी व्याख्याकारों का मत है कि निपातित शब्द की इष्ट स्वरसिद्धि निपातन-बल से होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार—उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ निपातन किया गया है, वहाँ कुछ न कुछ हेतु अवश्य है। कहीं प्रक्रिया-लाघव के लिये, कहीं अर्थ-वैशिष्ट्य दिखाने के लिये, कहीं अनुक्तार्थज्ञापन के लिये, कहीं स्वरादि-सिद्धि के लिये पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश-परित्याग पूर्वक निपातन-सूत्रों की रचना की है। यद्यपि हम अभी प्रत्येक निपातन-सूत्र में निपातन का सार्थक्य दिखाने में असमर्थ हैं, तथापि इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि किसी इष्टार्थ सिद्धि के लिये पाणिनि ने निपातन-सूत्रों की रचना की है, इन सूत्रों में किसी प्रकार की अनर्थकता नहीं है।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम परिच्छेद

'संज्ञायाम्'-पद-घटित सूत्रों का तात्पर्य

पाणिनि ने कुछ सूत्रों में 'संज्ञायाम्' (=संज्ञा यदि हो तो) पद का प्रयोग किया है। उनका अभिप्राय यह है कि तत्तत्सूत्रीय कार्य तभी होगा, यदि वह शब्द 'संज्ञा' में होता हो। सूत्रकार के इस निर्देश के कारण 'संज्ञा' का महत्त्व बढ़ जाता है, अतः यहाँ 'संज्ञा' के स्वरूप पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

सूत्रगत संज्ञाशब्द—सम्पूर्वक ज्ञाधातु से अङ् प्रत्यय कर संज्ञा शब्द सिद्ध होता है, यह टीकाकारों ने कहा है। टीकाकारों ने यह भी दिखाया है कि यह अङ् प्रत्यय कहीं भाव में, कहीं कर्म में और कहीं करण में होता है[1]। इन तीन अर्थों में संज्ञा शब्द की प्रवृत्ति के कारण संज्ञा के तीन तात्पर्य भी होते हैं, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा[2]।

जिस प्रकार कुछ सूत्रों में पाणिनि ने 'संज्ञायाम्' कहा है, उसी प्रकार कुछ सूत्रों में उन्होंने 'असंज्ञायाम्' भी कहा है, जैसे 'भृञोऽसंज्ञायाम्' (३।१।११२)

१—निरुक्त में भी यह दृष्टि है। 'संज्ञाकरणम्' पद की व्याख्या में स्कन्द कहते हैं—करणसाधनः संज्ञाशब्दः, संक्षेपेण ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा, अथवा कर्म-साधनः संक्षिप्तो ज्ञायत इति वाक्यार्थ एव संज्ञाशब्देन उच्यते (पृ० १७)। यह दो मत अष्टाध्यायी में भी लक्षित होते हैं।

२—संज्ञा के तात्पर्य के विषय में व्याख्याकारों में भी कहीं कहीं मतभेद लक्षित होता है, अतः वैयाकरणों को चाहिए कि संज्ञा का स्वरूप निश्चित कर प्रत्येक सूत्र के उदाहरण में संज्ञात्व का समन्वय करने की चेष्टा करें। दीक्षित कहते हैं—यत्तु मुष स्तेये···संज्ञायाश्चाजातित्वादित्याहुः तच्चिन्त्यं व्याघ्री-त्यादिवत् संज्ञात्वेऽपि जातित्वानपायात्। हरिदीक्षित इस पर लिखते हैं—क्वुनादिविधौ संज्ञात्वेन रूढिरेव गृह्यते न तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तरूपं संज्ञात्वं गृह्यते। अतएव घ्रः संज्ञायामित्यादिना व्याघ्रादिसिद्धिरिति दिक् (प्रौढमनो० स्त्रीप्रत्यय० पृ० ३९७)। संज्ञा के स्वरूप का निर्धारण कभी कभी विवादास्पद हो सकता है, यह स्थल इसका उदाहरण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र में (३।२।१८०, ४।३।१४९ सूत्र भी द्रष्टव्य हैं)। पाणिनि के ईदृश व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि 'संज्ञा' और 'असंज्ञा' रूप दो प्रकार का वर्गीकरण शास्त्र-संगत है। संज्ञा और असंज्ञा का जो भेदक तत्त्व है, वह यथास्थान विवृत होगा।

यहां यह भी जानना चाहिए कि कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जिनकी प्रवृत्ति संज्ञा और असंज्ञा में समानरूप से होती हैं। सूत्र है—"प्रनिरन्तः ·········· असंज्ञायामपि" (८।४।५)। व्याख्याकार कहते हैं कि 'अपि' शब्द के बल से इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा और असंज्ञा दोनों में होगी (संज्ञायाम् असंज्ञायाम् अपि–काशिका)। यदि इस सूत्र में 'असंज्ञायामपि' यह नहीं कहा जाता, तो ८।४।३ सूत्रगत 'संज्ञा' शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में होती और इससे अनिष्ट ही होता, इसलिये सूत्रकार ने 'असंज्ञायाम्' कहा है।

यह एक सामान्य नियम है कि जिन सूत्रों में 'संज्ञायाम्-असंज्ञायाम्' रूप निर्देश नहीं है, वे सूत्र दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होते हैं, जैसे—'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्र दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्त्तित होता है।

यदि उपर्युक्त निर्णय सत्य माना जाए तो 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) सूत्र में असंगति-सी प्रतीत होती है। सूत्र में जो 'च' है, उसके बल पर यह सूत्र असंज्ञा में भी होगा (यद्यपि सूत्रकार ने 'संज्ञायाम्' कहा है)—ऐसा काशिकाकार आदि सभी आचार्य मानते हैं। यदि बात ऐसी ही हो, तो 'अकर्त्तरि च कारके' रूप सूत्र ही बनाना चाहिए था जिससे सूत्र में लाघव होता, यत्नान्तर के विना भी असंज्ञा में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होती। यदि 'च'कार से असंज्ञा का समुच्चय किया जाए, तो 'संज्ञायाम्' कहना व्यर्थ है। 'संज्ञायाम्' न कहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा-असंज्ञा दोनों में होती ही है। इस प्रश्न का समाधान जिनेन्द्रबुद्धि इस प्रकार देते हैं—"संज्ञायां चेति चार्थं द्योतयन्नसौ संज्ञाव्यभिचाराय भवति, तेनासंज्ञायामपि भवति। यद्येवं संज्ञाग्रहणमकृत्वा सामान्येनैव प्रत्ययो विधेयः। तत्रायमप्यर्थः :—संज्ञाव्यभिचारार्थश्चकारो न कर्तव्यो भवति। सत्यमेतत्। तथापि बाहुल्येन संज्ञायां भवति, असंज्ञायां तु क्वचिदेवेत्यमुमर्थं सूचयितुं संज्ञाग्रहणं कृतम् (न्यास ३।३।१९)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब कर्तृकारक से भिन्न दूसरे कारकों में 'घञ्' प्रत्यय होता है, तब बाहुल्येन वह संज्ञा में ही होता है,' अतः यह समाधान समीचीन है। बहुल-प्रवृत्तिनिदर्शन-सापेक्ष अनेक सूत्र पाणिनि ने बनाए हैं (यथा ६।३।१२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि), अतः पाणिनि ने 'संज्ञा में बाहुल्येन घञ्प्रवृत्ति' के प्रदर्शन के लिये 'बहुल' न कहकर संज्ञाग्रहण किया है–यह कथन असंगत नहीं है।[1]

यह ज्ञातव्य है कि संज्ञा-पद-घटित सूत्रों की प्रवृत्ति असंज्ञा में नहीं होती है। यथा 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (२।१।५०) सूत्र की प्रवृत्ति असंज्ञा में नहीं होती। अतः "संज्ञायामिति किम् ? उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः" आदि प्रत्युदाहरण प्राचीन आचार्यों ने दिए हैं (काशिका)। प्रत्युदाहरणभूत शब्द संज्ञा नहीं हैं, यह स्पष्ट है।

संज्ञायाम् शब्दगत सप्तमी विभक्ति का रहस्य :—जिन सूत्रों में 'संज्ञायाम्' (संज्ञा में) कहा गया है, उनमें सप्तमी विभक्ति का तात्पर्य आलोचनीय है। भाष्यकार ने इस विषय को स्पष्ट किया है कि संज्ञा गम्यमान होने पर ही सूत्रीय कार्य होगा, न कि संज्ञा बनाने की इच्छा से सूत्रीय कार्य करना चाहिए, यथा—य एते संज्ञायां विधीयन्ते, तेषु नैवं विज्ञायते संज्ञायामभिधेयायामिति। किं तर्हि ? प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यते इति (३।१।११२)।[2]

---

१. पाणिनि के प्रत्येक संज्ञापदघटित सूत्र से निष्पन्न शब्द में संज्ञात्व क्या है, यह एक अवश्य लक्षणीय विषय है। प्राचीन व्याख्याकार इस विचार में असाधारण सहायक हैं। कहीं कहीं टीकाकारों ने भी संशय व्यक्त किया है, यथा—६।३।१२५ सूत्र सिद्ध 'अष्टापद' रूप संज्ञा शब्द पर वासुदेव कहते हैं—संज्ञात्वमन्वेषणीयम् (बालमनोरमा)। अष्टापद स्वर्णवाची है (अमर० २।९।९५)। क्षीरस्वामी कहते हैं—अष्टसु लोहेषु पदं प्रतिष्ठाऽस्य अष्टापदम् अष्टनः संज्ञायां चेति दीर्घः।

२. इसकी व्याख्या में कैयट ने कहा है—"संज्ञायामिति संज्ञाशब्दः कर्मसाधनो न गृह्यते, किन्तु भावसाधनः तेन प्रत्ययान्तेन यदि रूढिर्गम्यते ततः प्रत्ययः" (प्रदीप ३।१।११८)। इसकी व्याख्या में नागेश ने कहते हैं—"भावसाधनेन धातूनामनेकार्थत्वाद् रूढिरुच्यते। ....तद्विषयोऽर्थः। तेन रूढ्यर्थो गम्यते इत्यर्थः। नामधेयवाची संज्ञाशब्दस्तु करणव्युत्पन्न इति बोध्यम्" (उद्द्योत)। इस प्रसंग में यह भी विचार किया जा सकता है कि यहाँ "धातूनामनेकार्थत्वात" कथन की आवश्यकता नहीं है। रूढ़ि = प्रसिद्धि है; प्रसिद्धिः = प्रकृष्ट सिद्धिः। सिद्धि का अर्थ ज्ञान है। अतएव ज्ञानार्थक ज्ञा धातु से भाव में अञ् प्रत्यय होकर रूढ़िवाचक 'संज्ञा' शब्द की सिद्धि हो जाती है, धातुओं का अनेकार्थत्व-ग्रहण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यकार के इस सिद्धान्त को 'रघुनाथ' शब्द का उदाहरण (रघुनाथ नाम है, अतः संज्ञा में होने वाला णत्व की प्राप्ति है) देकर वासुदेव ने स्पष्ट किया है, यथा—"न च रघुनाथ इत्यादौ संज्ञायां णत्वं शङ्क्यम् णत्वेन चेत्संज्ञा गम्यते इत्यर्थात्। इह तु कृते णत्वे संज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न णत्वम्। भृञोऽसंज्ञायामिति सूत्रभाष्ये य एते संज्ञायामिति विधीयन्ते, तेषु नैवं विज्ञायते संज्ञायामभिधेयायामिति। किं तर्हि प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यते इत्युक्तम्" (बालमनोरमा ८।४।३)। इस पूरे विचार का तात्पर्य यह है कि सूत्रविहित कार्य को कर देने से ही कोई शब्द संज्ञावाची नहीं होता, प्रत्युत सूत्रोक्त कार्य के करने पर यदि लोक में संज्ञा का बोध होता है, तभी सूत्रविहित कार्य करना चाहिए, न चेत् नहीं।

संज्ञा का तात्पर्य—रूढि, योगरूढि, निश्चितगणना, नाम, लौकिक व्यवहार आदि को प्रकटित करने के लिये 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने किया है जैसा कि अत्रत्य उदाहरणों से स्पष्ट होगा। संज्ञा को रूढ्यर्थपरक मानने वाली कुछ व्याख्याओं का उपन्यास पहले किया जा रहा है। वासुदेव दीक्षित ने 'धेनुष्या' शब्द की व्याख्या में "संज्ञा रूढ़ि ही है" ऐसा कहा है (बालमनोरमा ४।४।८९)। कैयट ने भी 'भार्या' (भार्या नाम क्षत्रियाः—भाष्य ३।१।११८) रूप संज्ञा शब्द को "संज्ञायते इति संज्ञा" इस प्रकार कर्मसाधन संज्ञाशब्द मानकर संज्ञा को 'रूढ़ि' कहा है। नागेश ने भी 'चञ्चा' की व्याख्या के अवसर में 'चञ्चासदृशे व्यक्तिविशेषे रूढेः संज्ञात्वम्' (उद्द्योत ६।१।२०४) यह स्वीकार किया है।

"शमिधातोः संज्ञायाम्" (३।२।१४) में संज्ञा = नाम है। इस नामधेयपरक व्याख्या का उदाहरणभूत 'शङ्करा' शब्द किसी परिव्राजिका का नाम है (शङ्करा नामक परिव्राजिका), यह भाष्य में कहा गया है; तथैव ८।२।११ सूत्र से सिद्ध 'अहीवती' संज्ञाशब्द किसी नदी का नाम है। दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) सूत्रनिष्पन्न 'सप्तर्षि' वसिष्ठादि सात ऋषियों का सामूहिक नाम है।

संज्ञा शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है, जो—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" (१।२।५३) सूत्र में देखा जाता है। इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने "संज्ञानं

करना अप्रयोजनीय है। नागेश ने जो 'रूढ़ि' शब्द कहा है, उसका अर्थ है—'प्रसिद्धि'। यहाँ भाष्य में जो "संज्ञायामभिधेयायाम्" कहा गया है, उसका तात्पर्य है—"प्रत्ययस्याभिधेयः संज्ञा भवति।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञा" कहा है। 'संज्ञान' के अर्थ के विषय में कैयट ने कहा है—"अवगमः, सम्प्रत्ययः"। कैयट ने युक्ति भी दी है—"तत्र यथा आपो दाराः सिकता वर्षा इत्युक्ते लिङ्गसंख्याविशेषावगतिरुत्पद्यमाना प्रमाणमेवं पञ्चाला वरणा इत्यादावपि। न च पञ्चालादयो यौगिकाः, अपि तु जनपदादीनां संज्ञास्ततो योगानवगमात् तद्धितो नोत्पद्यत इनि लुबपि न वक्तव्यः" (प्रदीप १।२।५३)। इस सूत्र में जो 'संज्ञा' शब्द है, उसमें भाव में अङ् प्रत्यय हुआ है जैसा कि नागेश ने कहा है—भावे अङन्तो यौगिकः संज्ञाशब्द इत्यर्थः (उद्द्योत—१।२।५३)।[1]

संज्ञाशब्द का द्वैविध्य—अर्थ की दृष्टि से संज्ञाशब्द दो प्रकार के हैं। कुछ संज्ञाशब्द अवयवानुसारी हैं, और कुछ अवयवार्थानुसारी नहीं हैं। जिनेन्द्र ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है—संज्ञाशब्दा हि द्विविधा भवन्ति। केचिदवयवार्थानुगताः यथा 'सप्तपर्ण' इति, केचित्तु विपरीता यथा 'तैल-पायिकेति। तदिह यत्रावयवार्थानुगमोऽस्ति 'विश्वम्भरः शत्रुन्तपः' इत्यादिषु तत्र कर्मणीति सम्बध्यते विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरः यत्र त्ववयवार्थानुगमो नास्ति यथा रथन्तरं सामेति, तत्र व्युत्पत्त्यर्थं सुपीति सम्बध्यते; रथेन तरतीति वा" (न्यास ३।२।४६)। संज्ञा शब्दों को रूढ़िशब्द मानकर पारस्करादि संज्ञाशब्दों के विषय में न्यासकार ने कहा है—"पारस्करप्रभृतयो रूढ़िशब्दा यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः। नात्रावयवार्थं प्रत्यभिनिवेष्टव्यम्" (६।१।१५७)। अतएव संज्ञा (नाम) में जिस शब्द की व्युत्पत्ति होती है यदि वह यौगि-कार्थानुसार ही प्रयुक्त होता है तो संज्ञाविधिसिद्ध णत्वादि कार्य नहीं होते। "नखमुखात्संज्ञायाम्" (४।१।५८) से निष्पन्न 'शूर्पणखा' शब्द राक्षसीविशेष की संज्ञा (नाम) है। यदि पुनः 'शूर्पमिव नखो यस्याः' इस अर्थ को लेकर 'शूर्पाकारनखयोगवती काचित् स्त्री' यह अर्थ किया जाए तो णत्व नहीं होगा (तत्त्वबो० ४।१।५८)। यौगिकार्थव्यपदेश में संज्ञासूत्रीय कार्य नहीं होता है, यह न्याय है। यौगिकार्थ रहने पर भी यौगिकार्थ व्यपदेश जब नहीं होता है, तब ही संज्ञाकार्य होता है।

१—शब्दों के संज्ञारूपत्व के विषय में कहीं कहीं व्याख्याकारों में मत-विरोध है, जैसा कि ४।३।२७ सूत्र काशिका में कहा गया है—"संज्ञाधिकारं केचित् 'कृतलब्धक्रीतकुशलाः' (४।३।३८) इति यावदनुवर्तयन्ति।" यदि लौकिक प्रयोग से संज्ञार्थ-सिद्धि हो सकती है, तो विवादास्पद सूत्रों का निर्णय भी सम्भव हो सकेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संज्ञा' शब्द की व्युत्पत्ति—यह दिखाया गया है कि 'संज्ञा' शब्द की व्युत्पत्ति कर्म, करण एवं भाव में क्यों की जाती है। 'संज्ञा' का तात्पर्य एकाधिक है, अतः ऐसी भेदपूर्वक व्युत्पत्ति की जाती है। इन भेदों पर कैयट का वचन द्रष्टव्य है—"संज्ञायत इति संज्ञेत्यर्थः। एवं व्यपदिश्यमानोऽभिधीयते। अथवा संज्ञायते अनयेति संज्ञा। तदा शब्द एव संज्ञाशब्देन उच्यते। संज्ञायां विषये कार्यं भवतीत्यर्थः" (प्रदीप, ५।२।९१)। नागेश कहते हैं—संज्ञायां विषये = एवं व्यवह्रियमाण इत्यर्थः (उद्योत ५।२।९१)। भावार्थक संज्ञाशब्द के विषय में (१।२।५३ सूत्र की व्याख्या में) पहले कहा गया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि संज्ञा शब्द के तीन अर्थ हैं। जब करण[1] में अङ् होता है ('संज्ञायते अनेन' ऐसा जब माना जाता है) तब 'संज्ञा' पद से शब्द (नामविशेष) का ग्रहण होता है। जब कर्म[2] में अङ् प्रत्यय होता है (यः संज्ञायते स) तब संज्ञा शब्द से 'अर्थ' का ग्रहण होता है। जब भाव[3] में

१—करणसाधन संज्ञा शब्द—"संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा। ततः शब्द एव संज्ञाशब्देनोच्यते। संज्ञायां विषये कार्यं भवतीत्यर्थः' (प्रदीप ५।२।९१)। संज्ञा शब्दस्तु करणव्युत्पन्न इति बोध्यम्' (उद्योत ३।१।११२)।

२—कर्मसाधन संज्ञाशब्द—'भार्या नाम क्षत्रियाः'—यह भार्या शब्द इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ सम् + ज्ञा धातु में कर्म में अङ् प्रत्यय हुआ है। यह संज्ञा क्यों है इस विषय पर जिनेन्द्र का मत है—"संज्ञाशब्दश्च भार्याशब्दः। तथा ह्यबिभ्रत्यपि देवदत्ते तस्य पत्नी भार्या इत्युच्यते" (न्यास ३।१।११)। कैयट के अनुसार यहाँ संज्ञा = रूढ़ि है (३।१।५१८)—"संज्ञाशब्देन कर्मसाधनेन संज्ञायमानमभिधीयते" (उद्योत ३।१।११८) इस वाक्य से कर्मवाचक संज्ञा-शब्द का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। कर्मवाच्य में 'संज्ञायते यः' यह अर्थ होगा, अतः संज्ञाबोध्य-अर्थ-परक होगा, यह निश्चित है—स्वं रूपं शब्दसंज्ञेति भाष्येऽपि संज्ञाशब्दः संज्ञायते य इति व्युत्पत्त्या बोध्यार्थपर इति न दोषः (बृहत् शब्देन्दु पृ० ८८)।

३—भावसाधन संज्ञाशब्द—सम्यक् ज्ञान ही संज्ञा है—"संज्ञानां लोक-व्यवहाराणाम् (१।२।५३ बालमनोरमा)। इससे संज्ञा का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। ४।४।४६ व्याख्या में भी 'संज्ञानं संज्ञा प्रतिपत्तिः प्रसिद्धिरिति यावत्' कहा गया है (बृहत्शब्देन्दु पृ० ९८४)। संज्ञा का अर्थ प्रसिद्धि होता है। भाष्यगत 'संज्ञाभूतानि' की व्याख्या में 'प्रसिद्धानि' पद का प्रयोग नागेश ने किया है (उद्योत ३।१।२६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अङ् प्रत्यय होता है, तब संज्ञापद से सम्प्रत्यय या व्यवहार या प्रसिद्धि का ग्रहण किया जाता है। इसीलिये संज्ञा की व्याख्या में सभी व्याख्याकार प्रयोग को देखकर 'सम्यग् ज्ञानं संज्ञा', 'सम्यग् ज्ञायते संज्ञा, 'संज्ञानां व्यवहाराणां' 'संज्ञाभूतो भावः'—ऐसा कहते हैं। इन अर्थों के विषय में पूर्वाचार्यों के वचन पहले प्रस्तुत किए गए हैं।

संज्ञा के लक्षण :—अब संज्ञा-लक्षण के विषय में प्राचीन आचार्यों के मतों पर विचार किया जा रहा है :—

(क) "समुदायोपाधिः संज्ञा"—यह लक्षण प्रसिद्ध है। चूँकि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय से ही संज्ञा का बोध होता है, उसके समार्थक अन्य शब्दों या विग्रह आदि से नहीं, अतः ऐसा कहा गया है। अतएव 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) सूत्र के उदाहरण भूत 'अरण्येतिलकाः' पद की व्याख्या में विट्ठल ने कहा है—"संज्ञा समुदायोपाधिस्तेन नित्यसमासोऽयम् नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते" (प्रसाद टीका)। न्यासकार ने यहाँ कहा है—'यत्र खलु समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते इत्युच्यते तत्र संज्ञायामिति नेदं पूर्वपदस्योत्तरपदस्य वा विशेषणम्, किन्तर्हि समुदायस्येति विज्ञेयम्" (२।१।४४)। इस सिद्धान्त का अन्य एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। पाणिनि ने 'उपसर्गे च संज्ञायाम् (३।२।९९) सूत्र से संज्ञा में 'प्रजा' शब्द का निष्पादन किया है। यहाँ संज्ञा को समुदायोपाधि कहा जाता है। यह समुदायोपाधि क्या है, इस विषय में जिनेन्द्र ने कहा है—धातूपसर्गप्रत्ययसमुदायेन यदि संज्ञा गम्यते। एवं प्रत्ययार्थो भवति, नान्यथेति दर्शयति प्रजेति। प्राणिसमुदायस्यैषा संज्ञा (न्यास ३।२।९९)। एक दूसरे सूत्र पर भी जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं—प्रकृति-प्रत्ययसमुदायेन यदि संज्ञा गम्यते, एवं प्रत्ययो भवति नान्यथा (न्यास ३।३।११८)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उपाधि अवाच्य होकर व्यावर्त्तक होता है, पर विशेषण वाच्य होकर व्यावर्त्तक होता है। 'प्र+जन्+ड' समुदाय से यद्यपि प्राणि-समुदाय-रूप अर्थ अवाच्य होता है, तथापि उस अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिये संज्ञा को समुदायोपाधि कहा गया है। 'प्र+जन्+ड' समुदाय का वाच्यार्थ है—'प्रकृष्टजनिकर्तृत्व')।

संज्ञाशब्द में 'समुदायेनैव संज्ञा गम्यते' ऐसा कहा जाता है, अतः अज्ञों के लिये पूर्वोत्तर-पदविभाग-प्रदर्शनार्थं पद-विभाग किया जाता है जैसा कि न्यास-कार ने कहा है—"पूर्वेषुकामशमीत्यादिर्ग्रामाणां संज्ञा। पूर्वा चासाविषु-कामशमी चेति पूर्वेषुकामशमी। मन्दधियां पूर्वोत्तरपदविभागमात्रप्रदर्शनार्थं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यं कृतम्। नह्यत्र वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते (न्यास २।१।५०)।

(ख) यावद्द्रव्यभाविनी संज्ञा—विट्ठल ने 'भुवः संज्ञान्तरयोः (३।२।१७९) सूत्र में इस मत का वर्णन किया है। उन्होंने अन्तर शब्द के उदाहरण-भूत 'प्रतिभू' शब्द की व्याख्या कर कहा है—'ननु संज्ञायामित्येव वक्तव्यम्, किमन्तरग्रहणेन ? न यावद्द्रव्यभाविनी संज्ञा। प्रतिभूशब्दः पुरुषे कादाचित्कः' (प्रसादटीका)। पुरुष में यह शब्द कादाचित्क क्यों है, इस पर वासुदेव ने कहा है कि इसकी निवृत्ति हो जाती है—'प्रतिभूशब्दस्तु सत्येव पुरुषे कदाचिन्न भवति, ऋणे प्रतिदत्ते सति प्रातिभाव्यस्य निवृत्तेः' (बालमनोरमा ३।२।१७९)। इस मत को न्यासकार ने स्पष्ट किया है—'ननु प्रतिभूरिति संज्ञेयम् तत् किमन्तरग्रहणेन। संज्ञायामित्येव वक्तव्यम्। नैतदस्ति। द्रव्यताविघाता हि संज्ञाशब्दा भवन्ति। न चैवं प्रतिभूशब्दः। तथापि सत्यपि देवदत्ते कदाचिदसौ न प्रवर्तत एव' (न्यास ३।२।१७९) [1]

(ग) एकद्रव्यनिवेशी संज्ञाशब्द—जब कोई शब्द किसी का नाम होता है, तब वह 'संज्ञा' कहलाता है। देवदत्त-यज्ञदत्तादि संज्ञा शब्द एकद्रव्यनिवेशी हैं; किसी एक पिण्ड में पिता आदि के द्वारा ये शब्द संकेतित होकर उस अर्थ के वाचक होते हैं। घट, पट वृक्ष आदि शब्द जाति-रूप अर्थ में प्रवृत्त होते हैं। पर ये संज्ञाशब्द किसी के नाम को कहते हैं—यह स्पष्टतः जानना चाहिए।

इस नियम को लेकर विट्ठल ने एक महत्त्वपूर्ण विचार किया है। पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है। 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) के उदाहरणान्तर्गत 'दत्ताभार्य' पद की व्याख्या कर विट्ठल ने कहा है—'ननु च संज्ञाशब्दस्यैकद्रव्य-विनिवेशितत्वादुक्तपुंस्कत्वाभावात् कथं पुंवत्त्वप्राप्तिः। नैतत्—नह्ययं नियमो-ऽस्त्येकद्रव्यविनिवेशिनः संज्ञाशब्दा इति। तथा हि—देवदत्तादिशब्दः संज्ञाभूतः (संज्ञात्वं प्राप्त इत्यर्थः) अनेकत्र प्रयुज्यमानो लोके दृश्यते, शास्त्रे च ह्रस्वादि-शब्दाः। ये त्वेकद्रव्यविनिवेशिनस्तान्प्रति नैष निषेधः। नन्वेकार्थवृत्तित्वेऽपि

१—यहां का 'द्रव्यताविघाता' पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। द्रव्यसत्ताऽविघातम् (द्रव्यसत्ता+आविघातम्) पाठ ठीक जँचता है। आविघातम् = विघातपर्यन्तम्। जबतक द्रव्यसत्ता विद्यमान रहती है, तब तक संज्ञाशब्द की प्रवृत्ति रहती है। न्यासकार ने जो 'संज्ञाशब्दा भवन्ति' कहा है वहां 'भवन्ति' का अर्थ 'प्रवर्तन्ते' है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञाशब्दानां कथमुक्तपुंस्कत्वमेकत्र प्रवृत्तिनिमित्ते ? नहि तेषां किञ्चित्प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति यदृच्छाशब्दत्वात्। एषोऽप्यदोषः। यतस्तेषामपि किञ्चिन्निमित्तमस्त्येव सप्तपर्णादिवत्। यत्राप्यन्यन्निमित्तं नास्ति, तत्रापि स्वरूपमेव निमित्तमादाय वाच्ये प्रवर्तन्ते (प्रसादटीका ६।३।३८)। संज्ञा (नाम) शब्द में प्रायः शब्द ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है (क्वचित् धर्मविशेष को लक्ष्यकर संज्ञा की जाती है) ऐसा माना जाता है (द्र० ५।१।११९ सूत्रीय शब्देन्दु एवं भैरवीटीका)। यद्यपि कोई कोई स्पष्टतया मानते है कि संज्ञा शब्द का कोई प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

विट्ठल और भैरवमिश्र की युक्ति से यह सिद्ध होता है कि संज्ञाशब्दों का भी कोई निमित्त है, जैसे—संज्ञाभूत 'दत्ता' शब्द में दानक्रियाकृति रूप निमित्त है। कभी-कभी शब्द का स्वरूप ही उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है। जैसा कि वहीं विट्ठल ने कहा है—'यत्र याऽसौ दानक्रियाकृतिस्तस्या दत्तशब्दो भाषितपुंस्कः, अथवा स्वरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते।' यहाँ जो 'स्वरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते' कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी शब्दका अपना स्वरूप ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है, अर्थात् शब्दगम्य अर्थ की अपेक्षा न कर भी कोई नाम रख दिया जाता है। अर्थपक्ष में वासुदेव दीक्षित कहते हैं—'दत्तशब्दोऽयं डित्थादिशब्दवन्न, किन्तु दानक्रियां पुरस्कृत्यैव स्त्रियां पुंसि च संज्ञाभूतः प्रवृत्तः। अतस्तस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्वे प्राप्ते निषेधोऽयम्' (बालमनोरमा ६।३।३८)। 'दत्त' शब्द के नाम होने पर भी दान क्रिया के साथ उसका संबंध माना जाता है। वह डित्थादि की तरह अर्थहीन नहीं है।

(घ) अक्तपरिमाण संज्ञा—इसे कैयट ने स्पष्टतः ही कहा है (१।२।१ प्रदीप)। जिसका शब्दपरिमाण नियत है एवं किसी प्रकारका शास्त्रान्तरविहित कार्य जिसमें नहीं होता, है, वह 'अक्तपरिमाण' है। नामधेय शब्दों में यह दृष्टि पूर्णतः घटती है।

अन्यान्य आचार्यों ने इस लक्षणको इस प्रकार कहा है—'नियतानुपूर्वीका संज्ञा[1]।' इसका अर्थ यह है कि जिस शब्द की आनुपूर्वी नियत है वह संज्ञा है। पूर्वोक्त लक्षणवाक्य का यह फलितार्थ कथन है। अतएव ३।३।९९ सूत्रसिद्ध

१—एतन्मूलकमेव पठ्यतेऽभियुक्तैः—संज्ञाशब्दा अनादिप्रयुक्ताः नियतानुपूर्वीका एव सिद्धाः तत्रेदानीं कस्तद् विपरीतं प्रयोक्तुमर्हति इति (शब्देन्दु० बहुव्रीहि प्रकरण पृ० ११५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'समज्या' रूप संज्ञाशब्द के विषय में जिनेन्द्र कहते हैं—'समज्येति। अजेर्व्यघञ-पोरिति वीभावो न भवति। संज्ञायामिति वचनात्। नहि वीभावे कृते संज्ञा गम्यते। नियतवर्णानुपूर्वीका हि संज्ञा भवति' (न्यास ३। ३। ९९)। संज्ञा के ये सब लक्षण यथायथरूप से त्रिविध संज्ञाशब्दों में प्रवर्तित होते हैं।

संज्ञासंबंधी प्रकीर्ण विचार—संज्ञाबल से उपाधि का परिग्रह भी होता है। इस 'उपाधि' शब्द से अर्थविशेष लक्षित होता है।[1] अतएव यह मत समीचीन है कि जहाँ संज्ञा का ग्रहण किया जाता है वहाँ अर्थनिर्देश करना व्यर्थ है, जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—संज्ञाग्रहणादुपाधिपरिग्रहे सिद्धे गणे चोरदेवताग्रहणं प्रपञ्चार्थम्' (६।१।१५७)। यह वाक्य गणसूत्र-विषयक है। वह गणसूत्र है—"तद्-बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च" (६।१।१५७)।

संज्ञाशब्द में नियत पदार्थों का ही ग्रहण होता है। यथा—२।१।५० सूत्रसिद्ध 'सप्तर्षि' रूप संज्ञा शब्द में वसिष्ठादि सात ऋषियों का ग्रहण होता है, न कि मन्वादि किसी भी अभिलषित सात व्यक्तियों का ग्रहण इस शब्द में किया जाता है; तथैव 'षड्दर्शनी' इस संज्ञाशब्द में न्यायादि छह नियतदर्शनों का ही ग्रहण होता है, न कि किन्हीं कल्पित छह दर्शनों का।

संज्ञानिष्पादक सूत्रों में अभिधेय-नियम व्यापक रूप से प्रवृत्त होता है। अभिधेय-नियम रूढ़िमात्र नहीं है। अतएव काशिका (४।४।४६) में कहा गया है—"अभिधेय-नियमार्थम्, न तु रूढ्यर्थम्।" अभिधेय-नियम का स्वरूप निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट विज्ञात होगा :—

'संज्ञायां ललाटकुक्कुटचौ पश्यति (४।४।४६) सूत्र से 'लालाटिक' और 'कौक्कुटिक' शब्दद्वय संज्ञा में सिद्ध होते हैं। यहाँ व्याख्याकारों के अनुसार संज्ञाग्रहण 'अभिधेय-नियमार्थ' है। 'लालाटिक' के विषय में यह जानना चाहिए कि यद्यपि ललाट का दर्शन किसी के द्वारा भी किया जा सकता है, तथापि सब ललाटदर्शक 'लालाटिक' नहीं कहलाते हैं; जो सेवक दूर में स्थित होकर प्रभु के ललाट को देखता है, न कि कार्य में प्रवृत्त होता है, उस धूर्त को लालाटिक कहा जाता है। यहाँ ज्ञानेन्द्र ने कहा है—सम्यग् ज्ञानं संज्ञा प्रसिद्धिः तस्याम् प्रसिद्धिविषयभूतेऽर्थं इत्यर्थः" (तत्त्व०)। लालाटिक शब्द का यौगिक

१— अर्थविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्यः समानशब्दो यः।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्याच् छलाघादिविशेषणं यद्वत्॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्ति से जो अर्थ होता है; उसको एकदेशमात्र का ही ग्रहण संज्ञाबल से किया जाता है। यही 'अभिधेय-नियम' शब्द का तात्पर्य है। इस प्रकार रूढ़ि से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। 'साक्षी' शब्द 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१) सूत्र से संज्ञा में निष्पन्न होता है। यहाँ काशिकाकार ने कहा है—"संज्ञाग्रहणमभिधेयनियमार्थम्। संज्ञाग्रहणादुपद्रष्टैवोच्यते। न दाता ग्रहीता वा। यद्यपि यहाँ दातृ-ग्रहीतृ-दर्शकों का दर्शनकर्तृत्व है, तथापि साक्षिपद से उपद्रष्टा ही गृहीत होता है। भाष्यकार ने कहा है—'संज्ञाग्रहणसामर्थ्याद् धनिकान्तेवासिनोर्न भवतीति।"

एक अन्य उदाहरण लें—"संज्ञायां धेनुष्या" (४।४।८९) सूत्र से 'धेनुष्या' शब्द संज्ञा में निपातित होता है। यहां अभिधेयनियम स्पष्ट है, अर्थात् जो धेनु दोहन के लिये अधमर्ण के द्वारा उत्तमर्ण को दिया गया है, उसकी यह संज्ञा है। इसी दृष्टि से हम 'वयस्य' शब्द पर भी विचार कर सकते हैं। ४।४।९१ सूत्र से संज्ञा में वयस्य शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भी संज्ञा होने के कारण ही इस शब्द का अर्थ मित्र होता है, न कि शत्रु, यद्यपि 'वयसा तुल्य इति वयस्यः' इस व्युत्पत्ति से शत्रु भी वयस्य पदवाच्य हो सकता है। संज्ञा के कारण ही वयस्य से कभी शत्रु का ग्रहण नहीं होता, ऐसा टीकाकारों का मत है। इस प्रकार ४।४।९१ सूत्र से संज्ञा में 'तुल्य' शब्द निष्पादित होता है। ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'संज्ञात्वादेव तुल्यमिति सदृशमात्रे प्रयुज्यते न तु तुलायामाग्रहः क्रियते' (तत्त्व०)। इस प्रकार 'उरस्य' और 'औरस' शब्द ४।४।९४ सूत्र से संज्ञा में निष्पन्न होते हैं। संज्ञाधिकार से इन दोनों का अर्थ पुत्र ही होगा, यह टीकाकारों का मत है। ४।४।९२ सूत्र से 'पथ्य' शब्द संज्ञा में निष्पन्न होता है। यहाँ संज्ञाधिकार से अभिधेय नियम होता है। अतः ज्ञानेन्द्र कहते हैं कि शास्त्रीय पथ से च्युत न होने वाला ही 'पथ्य' है न कि रास्ते (मार्ग) से च्युत न होने वाला कोई चोर पथ्य कहलाता है—'शास्त्रीयात् पथोऽनपेतमिति पथ्यम्, न तु मार्गादनपेतश्चौरोऽपीति' (तत्त्व०)। इस प्रकार ४।४।९३ सूत्र से संज्ञा में 'छन्दस्य' शब्द सिद्ध होता है। यहाँ ज्ञानेन्द्र ने संज्ञा बल को दिखलाया है—'यद्यपि वेदे त्रिष्टुबादिषु च सान्तच्छन्दःशब्दोऽस्ति, तथापीह न गृह्यते संज्ञाधिकारात्, किन्तु इच्छापर्याय एव स गृह्यते' (तत्त्व०)। ४।४।९५ सूत्र से संज्ञा में 'हृद्य' शब्द निष्पन्न होता है। यह 'वशीकरण मन्त्र' है, जिससे दूसरों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हृदय को वशीभूत किया जाता है। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि संज्ञाधिकार के कारण ही वसिष्ठादि ऋषि में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

पाणिनि ने अनेक सूत्रों में संज्ञा का प्रयोग अभिधेय नियम के लिये किया है; यह रूढ़ि नहीं हैं। इस भेद के विषय में पहले सामान्य-निर्देश किया गया है। इस भेद को 'संज्ञायां ललाटकुक्कुटचौ पश्यति' (४।४।४६) सूत्र में जिनेन्द्र ने स्पष्टतया दिखाया है। उन्होंने कहा है कि संज्ञापद अभिधेय नियमार्थ है, न कि रूढ्यर्थ। रूढ्यर्थ होने पर 'लालाटिक' और 'कौक्कुटिक' में अर्थभेद की सम्भावना नहीं रहती। दोनों अर्थों में 'अनुपश्लेष' समान है अतः रूढ्यर्थता भी समान हैं। यतः एक ही अर्थ में दोनों का प्रयोग हो सकता है, अतः इस सूत्र में संज्ञापद अभिधेयनियमार्थ है, रूढ्यर्थ नहीं, (न्यास ४।४।४३)।

यह ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं अभिधेयनियम में (जहाँ एकाधिक अभिधेयों की सम्भावना है) विवक्षित अभिधेय का कथन आवश्यक हो जाता है, अन्यथा अविवक्षित अभिधेय में भी सूत्र की प्रवृत्ति हो सकती है, यह आचार्यों का मत है। इस तथ्य को 'संज्ञायां शरदो वुञ्' (४।३।२७) सूत्र की व्याख्या में जिनेन्द्र ने स्पष्टतः प्रतिपादित किया है (संज्ञा का समुदायोपाधित्व स्वीकारपूर्वक)—'यद्येवं शारदका दर्भा इति दर्भविशेषस्य प्रयोगो न प्राप्नोति, प्रत्ययान्तेनाभिहितत्वात्। नैष दोषः। यथैव शारदकशब्दो दर्भविशेषस्य नामधेयं तथा मुद्गविशेषस्यापि। तत्रासति दर्भशब्दप्रयोगेऽनेकार्थसाधारणत्वात् कस्य नामधेयमिति सन्देहः स्यात्, कोऽर्थः शारदकशब्देन विवक्षित इति। तस्मादसन्देहार्थो दर्भशब्द उपादीयते' (न्यास ४।३।२७)। शारदक (संज्ञावाची) शब्द से दर्भ और मुद्ग दोनों लिए जाते हैं, अतः जब जिसकी विवक्षा हो तब शारदक के बाद उसका उल्लेख करना न्याय्य ही है। पर चूंकि शारदक शब्द संज्ञा है, इसलिये शरत्कालभव सर्वविध द्रव्यों में शारदक शब्द प्रयुक्त नहीं होगा, यह निश्चित है।

व्याकरण की प्रक्रिया एवं संज्ञाशब्द—अब व्याकरण-प्रक्रिया के साथ संज्ञाशब्दों का सम्बन्ध विचारित हो रहा है। यदि समासाधिकार में संज्ञाविधायक सूत्र है, तो संज्ञा में विकल्प रूप से समास नहीं होता है अर्थात् विग्रह नहीं किया जाता है; वहाँ नित्य समास ही होता है, चाहे समासनित्यता का स्पष्ट उल्लेख सूत्र में हो या नहो। अतएव 'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्' (२।१।२१) सूत्रस्थ संज्ञापद की व्याख्या कर काशिकाकार ने कहा है—'विभाषाधिकारेऽपि नित्यसमास एवायम्, नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते।' यह नियम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संज्ञायाम्' (२ । १ । ४४) सूत्र में भी लागू होता है । यथा—'संज्ञा समुदायोपाधिः । तेन नित्यसमास एवायम् । न हि वाक्येन संज्ञा गम्यते' (काशिका २ । १ । ४४) ।

सूत्रविहित आदेश संज्ञा में प्रवर्तित नहीं होता, (लक्ष्य की प्रकृति के अनुसार) यह व्याख्याकारों का मत है । यथा—'संज्ञायां समज ··' (३।३।९९) सूत्रनिष्पन्न 'समज्या' शब्द के विषय में जिनेन्द्र ने कहा है—'संज्ञायामिति वचनाद् अजेर्वीभावो न भवति, नियतानुपूर्वीकत्वात् संज्ञायाः (न्यास ३।३।९९) । यहाँ आदेश के न होने के विषय में युक्ति भी दी गई है । संज्ञाशब्द का नियतानुपूर्वीकत्व वैयाकरणसम्मत है—यद्यपि अनिदंप्रथमासु संज्ञासु नियतैवानुपूर्वी ·· (शब्दकौ० ४ । १ । २९) ।

संज्ञा के कारण ही यथायथरूपेण पूर्वसूत्रानुवृत्त कार्य होते हैं चाहे किसी कार्य के विषय में शास्त्रकार का प्रत्यक्ष वचन हो या न हो । इसे उदाहरणों के साथ न्यासकार ने दिखाया है—"समजन्ति तस्यां समज्या, निषीदन्ति तस्यां निषद्या विदन्त्यनया विद्येत्येवमादीनां कारके करणादिके करणादसाधुत्वमिति न । कथं पुनर्भावेऽकर्त्तरि च कारके सर्वस्मिन्ननुवर्त्तमाने क्वचिद् भावः क्यबन्तस्याभिधेयतामुपयाति, क्वचिदकर्तृका रकमेवेत्येष नियमो लभ्यते ? संज्ञावशात् । यत्रोपपद्यमानेन प्रत्ययेन संज्ञा गम्यते तत्र भाव एवाभिधेयत्वं प्रतिपद्यते इतरदुदास्ते । यत्र त्वकर्त्तरि कारके प्रत्ययेनोपपन्नेन संज्ञा गम्यते तदभिधेयतामुपयाति भावस्त्वौदासीन्यमवलम्बते (न्यास ३।३।९९) ।

संज्ञा (नाम) होने के कारण वैदिक शब्दों का भी भाषा में प्रयोग होता है; सायण ने इसे दिखाया है । यथा—"गिरिशः, गिरौ डश्छन्दसि' इति डे टिलोपः संज्ञावशाद् भाषायामप्ययं प्रयुज्यते, तुराषाडिति चेत्यात्रेयः" (धातुवृत्ति, पृ० ३४०) ।

अनेक सूत्रों में प्रक्रियाविशद्यार्थ भी 'संज्ञायाम्' पद रखा गया है । संज्ञाबल से आचार्य जिस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहते हैं, व्याख्याकारों के अनुसार वह दूसरे उपाय से भी सिद्ध हो सकता है । निम्नोक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

५।२।९१ सूत्र से संज्ञा में 'साक्षिन्' शब्द निष्पन्न होता है । परन्तु २।३।३९ सूत्र से वह निपातनसिद्ध मान लिया जा सकता है । इस पद के लौकिक होने के कारण अभिधेय–नियम का कार्य भी स्वतः हो जाएगा, अतः 'संज्ञायाम्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहना निरर्थक हो जाता है। जिनेन्द्र ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—"नैतदस्ति, न हि तस्मिन्निपातने साक्षिशब्दस्य नकारान्तता शक्यते व्यवसातुम्, प्रमाणाभावात्। लोकेन स्वाभिधेये प्रतीयमाने प्रतिपत्तिगौरवं स्यात्। तस्माद् नकारान्ततापतिपत्तिगौरवपरिहारार्थं चेदमुच्यते" (न्यास ५।२।९१)।

उसी प्रकार ३।३।९९ सूत्र में 'संज्ञायाम्' कहने की कोई आवश्यकता नहीं है (३।३।१९ सूत्र से संज्ञानुवृत्ति के कारण), ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाव में भी संज्ञा में ही प्रत्यय हो जाए इसलिये संज्ञाग्रहण किया गया है, ऐसा जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं (न्यास ३।३।१९)।

इसी प्रकार 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' (५।१।३) में प्रकारान्तर से इष्टसिद्धि कर 'संज्ञायाम्' का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। इस विषय में न्यासकार ने विस्तृत रूप से विचार किया है (५।१।३) जो वहीं द्रष्टव्य है।

संज्ञाशब्दों का यह भी वैशिष्ट्य है कि उससे शास्त्रान्तरविहित प्रत्ययों का भी बोध होता है। "गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्" (५।२।११०) सूत्र से गाण्डीव शब्द में मत्वर्थ में वप्रत्यय संज्ञा में होता है। संज्ञा होने के कारण ही गाण्डीव और अजगव शब्द में मतुप् प्रत्यय का समुच्चय नहीं होता है, ऐसा टीकाकारों का मत है।

कभी कभी संज्ञाबल से विषयनियमन होता है। "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" (५।२।३४) से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। काशिका में कहा गया है—"संज्ञाधिकाराच्चानियतविषयमासन्नारूढमुच्यते पर्वतस्यासन्नमुपत्यका"। संज्ञा में व्युत्पादित होने के कारण सूत्रनिष्पन्न शब्दों से पर्वतासन्नता समझी जाती है। अतएव सूत्र में उस शब्द का उल्लेख कंठतः सूत्रकार ने नहीं किया है। (यहां 'उपत्यका—अधित्यका' शब्द उदाहरण हैं)।

कदाचित् 'संज्ञायाम्' पद प्रपञ्चार्थ या स्पष्टार्थ भी माना गया है। जैसे "गाण्डयजगात्संज्ञायाम्" (५।२।११०) में संज्ञाबल से जो अर्थ ज्ञापित होता है, वह ५।२।९४ सूत्रस्थ 'इति' शब्द से भी ज्ञापित हो जा सकता है। जिनेन्द्र ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि पाणिनि ने विशेष आवश्यकता के विना ही 'संज्ञायाम्' कहा है (न्यास ५।२।११०); यह मत विट्ठल ने स्वीकार किया है—"सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञाशब्दस्य च तुल्यमेव फलं भवति तथापि किमर्थं पाणिनिनात्र द्वे पदे एकस्मिन्नेव सूत्रे गृहीते ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है—"तत्र द्वयोरिह ग्रहणं संज्ञाशब्देनेति शब्दस्य तुल्यतां ज्ञापयितुम्" (प्रसाद टीका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।२।२१) वस्तुतः यहाँ 'संज्ञायाम्' प्रक्षिप्त है। वृत्तिकार ने 'संज्ञायाम्' पद को सूत्र में प्रक्षिप्त किया है—यह तत्त्वबोधिनीकार आदि ने कहा है। भट्टोजि कहते हैं—"इति शब्दाल्लौकिकीं विवक्षामनुसारयति। तेन संज्ञायामेवायं प्रत्ययः। सूत्रें संज्ञायामि' ति वृत्तिकृता प्रक्षिप्तम्। तंतु भाष्यादिविरोधाद् इतिशब्देन गतार्थत्वाच्च उपेक्ष्यम्" (शब्दकौ०)। और यदि प्रक्षिप्त न हो तो इस 'संज्ञा' पद की सार्थकता पर विचार करना अपेक्षित है, जिससे संज्ञा का गूढ़ तात्पर्य ज्ञात हो जाए।

कभी कभी किसी हेतु के आश्रय से भी 'संज्ञा' पद प्रयुक्त होता है। यथा—'वंशक', 'वेणुक' इत्यादि पद "संज्ञायां कन्" (५।३।८७) सूत्र विहित कन् प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं। टीकाकारों के अनुसार ये दो वेणुजातिविशेष के नाम हैं, जो ह्रस्वत्व-हेतुक हैं। इस प्रकार अनुकम्पा में भी संज्ञा-शब्द प्रयुक्त होते हैं। "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" (३।४।१७४) सूत्र से आशीर्वाद में 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय से संज्ञा का बोध होता है। यथा—'देवदत्त' संज्ञाशब्द 'देवा एनं देयासुः' का बोध कराता है। इस सूत्र से 'तन्ति', 'साति', 'भूति' आदि शब्द संज्ञा में सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सादृश्य में भी संज्ञाशब्द प्रयुक्त होता है। सूत्र है—"संज्ञायां च" (५।३।९७); इससे सादृश्य होनेपर कन् प्रत्यय होता है, समुदाय से यदि संज्ञा का बोध होता हो, यथा—'अश्वक' शब्द; यह अश्वसदृश की संज्ञा है।

नामधेयवाची संज्ञा का वाङ्मय द्वारा समर्थन—यह कहा गया है कि कुछ संज्ञाएँ पदार्थों के नाम होती हैं। वाङ्मय में इस तथ्य का समर्थन मिलता है, यथा—

(१) "नरे संज्ञायाम्" (६।३।११९) सूत्र का उदाहरणभूत विश्वानर-पद अग्निविशेष का नाम है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण १४।८।१०।१ में कहा गया है। (२) "अष्टनः संज्ञायाम्" (६।३।१२५) सूत्र का उदाहरण 'अष्टावक्र' पद मनुष्य-नाम है। अष्टावक्रनाम वनपर्व में मिलता है। (३) वन गिर्यो...... कोटरकिंशुलुकादीनाम्" (६।३।११७) सूत्र का उदाहरणस्वरूप शब्द वन और गिरि के नाम हैं। यहाँ संज्ञा-विषय के लिये ८।४।४—५ सूत्र भी द्रष्टव्य हैं। इन सूत्रों के उदाहरण पुराणों में भी देखे जाते हैं, यथा—'आम्रवणम्' (वायुपुराण ३८।१९), 'किंशुकवणम्' (वायु पु० ३८।२८), 'शरवणम्' (वामन पु० ५७।१५), 'मिश्रकवणम्' (वामन पु० ३६।५४) इत्यादि। (४) ६।३।११७ सूत्रसिद्ध रामगिरिशब्द पर्वतविशेष का नाम है,—रामगिर्याश्रमम् (गरुड०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।८१।८)। (५) ६।२।९४ सूत्रसिद्ध 'अञ्जनागिरि' संज्ञापद भी पुराण में मिलता है। (६) "मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम्" (६।१।२१९) सूत्रसिद्ध पुष्करावती आदि पद भी पुराणों में मिलते हैं।

बन्धनविशेष का नाम भी संज्ञा है (३।४।४२)। तथैव क्रीड़ाविशेष का नाम भी (३।३।१०९)। उद्दालकपुष्पभञ्जिका आदि नाम वाङ्मय से समर्थित होते हैं।

संज्ञा और निपातित शब्द—शंका होती है कि क्या निपातन के बल से संज्ञाकार्य नहीं हो सकता है? व्याख्याकारों ने इस प्रश्न पर जो कुछ कहा है उसे दिखाया जा रहा है—

"हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्" (५।२।२३) सूत्रस्थ हैयङ्गवीन शब्द संज्ञा में निपातित होता है। यहाँ 'संज्ञायाम्' क्यों कहा गया है, इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है—"संज्ञायामिति किमर्थम्? ह्योगोदोहस्य विकार उदश्वित् अत्र मा भूत्"। भाष्यकार के कहने का तात्पर्य है कि यदि यहाँ संज्ञापद न दिया जाए तो उदश्वित् (तक्र) का भी ग्रहण हो सकता है, अतएव उसके निवारण के लिये संज्ञा का ग्रहण करना आवश्यक है।

इस प्रकार 'संज्ञायां जन्याः' (४।४।८२) सूत्र से संज्ञा में 'जन्या' पद निपातित किया गया है। यहाँ निपातनबल से भी संज्ञार्थ का ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि कैयट ने कहा है—निपातनादेव संज्ञा लाभात् (प्रदीप ८।२।११-१२), परन्तु निपातन में प्रतिपत्ति गौरव होता है, अतः पृथक् रूप से 'संज्ञायाम्' कहा गया है (द्रष्टव्य न्यास)।

कभी कभी पाणिनि ने स्वरसिद्धि के लिये भी निपातन न कहकर प्रकृतिप्रत्ययनिर्देश के साथ 'संज्ञायाम्' कहा है। "नौवयोधर्म........." (४।४।९१) सूत्र में जिनेन्द्र ने कहा है—"स्वरार्थं तु प्रत्ययविधानम्, यतो नाव (६।१।२१३) इत्याद्युदात्तं यथा स्यात्। नहि निपातने सति आद्युदात्तत्वं तुल्यशब्दस्य शक्यते विज्ञातुमिति (न्यास ४।४।९१)। यहाँ तुल्य शब्द को निपातित न कर उसका प्रकृति प्रत्यय निर्देश करने का कारण स्पष्टतः समझाया गया है।

उपसंहार में यह निवेदनीय है कि संज्ञासूत्रविषयक यह विचार प्राथमिक है, अतएव इसमें भ्रम भी हो सकता है। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस विषय का विशदीकरण करें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम परिच्छेद

कारक-विमर्श

संस्कृत-व्याकरण के महत्त्वपूर्ण विषयों में कारक-तत्त्व अन्यतम है। कारक केवल भाषा का ही विषय नहीं है, बल्कि इसकी उपपत्ति दार्शनिक दृष्टि से भी की जा सकती है। इस निबन्ध में हम कारक का स्वरूप, उसके भेद इत्यादि विषयों पर मुख्यतः पाणिनीय सामग्री के आधार पर संक्षेप में कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं।[1]

कारक का अर्थ—पतञ्जलि ने 'करोतीति कारकम्' (भाष्य १।४।२३) कहकर इसके स्वरूप का प्राथमिक निर्देश किया है। पर, 'जो करता है वह कारक है' ऐसा कहने पर उसका विशद ज्ञान नहीं होता; उसका लक्षण, उदाहरण और उपपत्ति भी आवश्यक है। यहाँ हम विभिन्न व्याकरण-प्रवक्ताओं के कारक-विचार का आश्रय कर इसका स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं।

पहले ही यह जानना चाहिए कि पाणिनि ने कारक का कोई लक्षण नहीं किया, केवल १।४।२३ सूत्र में शब्दतः निर्देश किया है। चूँकि, 'कारक' यह संज्ञा कोई अर्थहीन शब्दमात्र नहीं है, बल्कि 'अन्वर्थ संज्ञा' या 'महती संज्ञा' है (अन्वर्थ=अर्थानुसारी नाम), अतः उसका कोई विशिष्ट अर्थ होना चाहिए। भाष्यकार ने इस अर्थ को इस प्रकार दिखाया है—'कारक इति महती संज्ञा क्रियते, संज्ञा च नाम यतो न लघीयः तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत करोतीति कारकमिति' (१।४।२३)। 'करोति' को विशद कर उन्होंने यह भी कहा है—'साधकं निर्वर्त्तकं कारकसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्' (तत्रैव)=जो साधन करनेवाला या निर्वर्त्तन करनेवाला है, वह कारक है।

१—यह निबन्ध कारकसंबन्धी पाणिनीय दृष्टि का एक सरल-संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है, जिसका उद्देश्य है—हिन्दी व्याकरण के लेखक संस्कृत व्याकरण के कारक तत्त्व से परिचित हो जाएँ। निबन्ध में यत्र तत्र अपाणिनीय व्याकरणों के सारगर्भ सरल वचन भी उद्धृत किए गए हैं। व्याकरण-शास्त्र की जटिल शास्त्रीय प्रक्रिया का प्रसंग यहाँ नहीं किया गया है, यह ज्ञातव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ जो 'करोति' ('कृ' धातु) कहा गया है, उसका तात्पर्य क्रिया के विचार में दिखाया जाएगा। हिन्दी में जिसे 'करना' कहा जाता है, उतना ही 'करोति' का अर्थ नहीं है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। चूँकि, कारक का अर्थ व्याख्यागम्य है और उस पर मतभेद हो सकते हैं, अतएव पाणिनि ने उसका लक्षण नहीं किया—पाणिनि ने पदार्थ के लक्षणादिविचारों से प्रायेण अपने को मुक्त रखा है—यह ज्ञातव्य है।

भाष्यकार ने 'कारक' के अर्थ में सामान्यरूप से जो कहा है, अन्यान्य आचार्यों ने उसको अधिक विशद किया है। भोज ने कहा है—'क्रियानिमित्तं कारकम्' (सरस्वतीकण्ठाभरण १।१।३२)[1]। यह मत आचार्य गोपीनाथ को भी मान्य है (द्र० कातन्त्र-परिशिष्ट के कारक-प्रकरण का आरम्भ)। क्रियानिमित्त को हेमचन्द्र ने क्रियाहेतु कहा है (हैमशब्दानुशासन २।२।१)। यहां जिसे क्रिया का निमित्त या हेतु कहा गया है, वह प्रधान भी हो सकता है, जैसा कि कलाप-व्याकरण की पञ्जी में कहा गया है—'यत् क्रियानिमित्तमात्रं प्रधानम् अप्रधानं वा तत् कारकम्' (कारक २२१ वृत्ति)।

यह 'निमित्त' किस प्रकार का है, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यह निमित्त निष्पत्ति से सम्बन्धित है, अर्थात् क्रिया का निष्पत्तिकारक कारक है, जैसा कि गोयीचन्द्र ने कहा है—'क्रियानिष्पत्तिकारकं कर्त्रादिकारकसंज्ञं भवति' (संक्षिप्तसारटीका)। नागेश ने मंजूषा में यही कहा है—'क्रिया-निष्पादकत्वं कारकत्वम्'। ध्यान से विचार करने पर पता चलता है कि कारक से क्रियासम्बन्ध का वैशिष्ट्य विज्ञात होता है, जैसा कि जीवगोस्वामी ने स्पष्टतः कहा है—'क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्' (हरिनामामृत-व्याकरण ४।१०)। वात्स्यायन का विचार इस विषय में अधिक स्पष्ट है, यथा—'एवं च सति न

१—कारक के अधिकारसूत्र में पाणिनि ने केवल 'कारके' (१।४।२३) ही कहा है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—'यावद् ब्रूयात् क्रियायामिति तावत् कारक इति'। इसकी व्याख्या में कैयट कहते हैं—'विषयत्वेन चायमधिकारः, क्रियायां विषये यद् ध्रुवमित्यादि वस्तु सम्पद्यते' (प्रदीप)। कारक शब्द से 'क्रियासिद्धि' अर्थ कैसे लिया जाता है, इस पर कैयट की व्याख्या द्रष्टव्य है, यथा—'करोतीति कारकमिति। साध्यत्वेन क्रियैव शब्दात् प्रतीयते इति क्रियाया निर्वर्त्तकस्य कारकसंज्ञाऽपादानसंज्ञा च प्रवर्त्तते' (प्रदीप १।४।२३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रव्यमात्रं कारकं, न क्रियामात्रम्, किं तर्हि क्रियासाधनम्, क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्। यत् क्रियासाधनं स्वतन्त्रं स कर्त्ता, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतमं कर्म, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। एवं साधकतमादिष्वपि (न्यायभाष्य २।१।१६)।

क्रिया का स्वरूप—कारक के लक्षण में क्रिया का सार्वत्रिक उल्लेख हुआ है, अतएव क्रिया का स्वरूप वैयाकरणों के अनुसार क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक होता है। विभिन्न शाब्दिक आचार्यों ने इस विषय में जो कहा है, उसका संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

क्रिया को धातु का अर्थ माना जाता है—'धात्वर्थः क्रिया'। पर तत्त्वतः क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, और क्रियावान् पदार्थों के विभिन्न परिणामों का ही ज्ञान होता है, यह लोकसिद्ध है। दुर्गाचार्य ने कहा है—अमूर्त्ता हि क्रिया निरुपाख्या' (निरुक्तटीका १।१)। शङ्का हो सकती है कि क्रिया जब अमूर्त्त ही है, तब उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है ? दुर्ग का उत्तर है—'सा हि कारकैरभिव्यज्यमाना कारकशरीरे वसन्ती शक्यते निर्देष्टुम्' (तत्रैव), अर्थात् कारकों से क्रिया की अभिव्यक्ति होती है, और कारकों को देखकर ही क्रिया का निर्देश किया जाता है।

धातु के अर्थ को जब क्रिया कहा जाता है, तब वह क्रिया केवल स्पन्दनात्मिका नहीं होती, बल्कि अस्पन्दनात्मिका भी होती है। गोयीचन्द्रने कहा है—'धात्वर्थो द्विविधो भवति, कोऽपि परिस्पन्दनसाध्यो यथा गमनादिः। कोऽपि अपरिस्पदनसाध्यो यथा अवस्थानादिः (संक्षिप्तसार, कारकप्रकरण-टीका, १)। क्रिया केवल चलन-मात्र नहीं है, बल्कि सत्ता भी क्रिया है, यह वैयाकरणों ने माना है। श्री जीव ने कहा है—'क्रिया सत्त्वादिलक्षणो धात्वर्थः' (हरिनामामृत)।

क्रिया का अर्थ जब 'भाव' कहा जाता हैं (क्रियाभावो धातुः—कातन्त्र ३।१।२) तब उसका अर्थ क्या होता है, इस विषय में क्षीरस्वामी का मत द्रष्टव्य है, यथा—'अपरिस्पन्दमानसाधनसाध्यो भावः, सपरिस्पन्दमानसाधनसाध्या क्रिया (क्षीरतरङ्गिणी, पृ० ७)। यदि क्रिया और भाव में भेद भी मान लिया जाए, तो वे दो ही धातु के अर्थ माने जाएँगे (क्रियावचनो धातुः, भाववचनो धातुः—महाभाष्य १।३।१)। कोई कोई क्रिया और भाव को अदूरपर्याय के रूप में मानते हैं (क्षीरतरङ्गिणी, वहीं)।

क्रिया के विषय में सारवान् विचार भगवान् यास्क ने किया है। क्रिया = भाव है; क्योंकि 'भाववचनो धातुः' कहा जाता है। इस भाव के स्वरूप और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके भेद के विषय में यास्क का विवरण इस प्रकार है—'भाववचनम् आख्यातम्', अर्थात् आख्यात (धातु) का अर्थ भाव है। इसके बाद उन्होंने कहा है—'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्' (निरुक्त १।१)। यह भाव छह प्रकार का होता है, यह वार्ष्यायणि कहते हैं—'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति' (निरुक्त १।२)। इससे यह ज्ञात होता है कि क्रिया क छह भेद होते हैं—जन्मात्मक, सत्तात्मक, विपरिणामात्मक, वर्द्धनात्मक, अपक्षयात्मक तथा नाशात्मक[1]। कोई भी क्रिया इन छहों में से किसी-न-किसी को अवश्य ही कहेगा। जो इन छह प्रकार की क्रियाओं में किसी भी प्रकार की क्रिया की निष्पत्ति का सहायक होगा, वह कारक है।

क्रिया के विषय में वैयाकरण सम्प्रदाय में कुछ विशेष वक्तव्य है। कारक-तत्त्व से उसका कुछ सम्बन्ध है, इसलिये यहां आवश्यक विवरण दिया जा रहा है। भर्तृहरि ने कहा है—'यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते, आश्रित-क्रमरूपत्वात् सा क्रियेति प्रतीयते' (वाक्यप० ३।८।१); इससे दो बातें जानी जाती हैं—(१) क्रिया साध्य रूप वाली है तथा (२) उसके अवान्तर क्रम होते हैं, जैसे एक पाक-क्रिया में लकड़ी जलाना, चूल्हे पर रखना इत्यादि कई अवान्तर क्रियाएँ हैं। क्रिया के अन्तर्गत इन अवान्तर क्रियाओं को 'व्यापार' भी कहा जाता है। इस कारिका की हेलाराजीय टीका में दो बातें कही गई हैं—'अखिलकारकव्यापाराभिधायी धातुः' और 'क्रियावचनो धातुरिति पूर्वाचार्य-लक्षणे...।' इन दोनों बातों को मिलाने से यही अर्थ निर्गलित होता है कि प्रत्येक कारक जो कुछ करता है, उसकी पूर्णता होने पर क्रियासिद्धि होती है।

१—आचार्य ने इन छह भेदों के जो लक्षण-उदाहरण दिए हैं, वे यहाँ दिखाए जा रहे हैं। यथा—'जायते इति पूर्वभावस्य आदिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्द्धत इति स्वाङ्गाभ्यु . सांयोगिकानां वार्थानाम्, वर्द्धते विजयेनेति वा वर्द्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीति अपरभावस्य आदिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति' (निरुक्त १।२)। इसका निर्गलितार्थ यह है कि जन्म = सभी भावविकारों से पहले जो होता है; अस्तित्व = जात सत्त्व का अवधारण; वृद्धि = संबद्ध या आगन्तुक पदार्थों के योग से अभ्युच्चय; अपक्षय = वृद्धि का विपरीत भाव; नाश = कारण में लीन होना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अवान्तर व्यापार क्रिया कहलाता है। इस क्रिया के साथ कुछ-न-कुछ फल अवश्य होता है और इन क्रियाफलों की पूर्णता में पूर्ण क्रिया-निष्पत्ति मानी जाती है। यही कारण है कि पतञ्जलि ने कारकों के प्रवृत्ति-विशेष को क्रिया कहा है ('कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया') और यह बात हेलाराज को भी मान्य है—फलजननेनैव साधारणात्मिका क्रिया प्रवृत्तिविशेषः' (टीका ३।८।१)। क्रिया में अवान्तर क्रम रहता है और सिद्ध हो जाने पर क्रम की निवृत्ति मानी जाती है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'कार्यकारणभावेन ध्वनतीत्याश्रितक्रमः, ध्वनिः क्रमनिवृत्तौ तु ध्वनिरित्येव कथ्यते' (३।८।२)। अन्यत्र भी क्रिया के इस रूप को हेलाराज ने इस प्रकार समझाया है—'शब्देन साध्यतयाऽभिधीयमानः समाश्रितक्रमः पौर्वापर्यवान् अर्थः क्रिया' (टीका ३।८।३)। यहाँ टीकाकार ने स्पष्टतः कहा है कि क्रिया-समुदाय से ही पूर्ण फल मिलता है, अवयव-क्रिया से नहीं, जैसे—पाक के अन्तर्गत किसी एक क्रिया से पाक-क्रिया का पूर्ण फल नहीं मिलता, बल्कि सभी अवान्तर व्यापार हो जाने पर ही फल (=क्रियासिद्धि) मिलता है। यद्यपि क्रिया में अवान्तर क्रम है, तथापि बुद्धि से एकत्वबोध उत्पन्न होता है और हम बहुव्यापारविशिष्ट क्रिया को 'एक क्रिया' कहते है (जैसे एक पद में अनेक वर्णों के रहने पर भी एकत्वबुद्धि होती है)। जिस रूप से अलात-चक्र में एकत्वबोध होता है, उसी रूप से क्रिया में भी एकत्वबोध होता हैं (टीका ३।८।७-८)।

क्रिया का यह अवान्तर क्रम आपेक्षिक है, अर्थात् क्रिया के जितने अंश को लक्ष्य कर हम 'एक अवयवक्रिया' कहते हैं, उसमें भी अवयव की कल्पना की जा सकती है। यहाँ तक कि एक क्षण में जो व्यापार होता है, उसमें भी क्रम है और इसीलिये उसको क्रिया कहा जाता है (टीका ३।८।१३)। टीकाकार ने यह भी कहा है कि क्रिया से जब फल उत्पन्न होता है, तभी उसको क्रिया कहा जाता है और उस क्रिया की सिद्धि के लिये जो अन्य अवान्तर क्रियाएँ होती हैं, वे व्यापार कहलाती हैं (फलप्रत्यययोग्यो वा भागः क्रिया, तदर्थास्त्वन्ये व्यापाराः; टीका ३।८।१३)।

क्रिया, व्यापार तथा फल का और भी विशदीकरण आवश्यक है, पर उससे निबन्ध का कलेवर बहुत बढ़ जाएगा, अतः इन विषयों को हम यहीं छोड़ रहे हैं।

कारक-भेद—यद्यपि क्रियानिष्पादक ही कारक है, तथापि उसके कुछ अवान्तर भेद होते हैं। क्रिया की निष्पत्ति के लिये कारकों को कुछ-न-कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'व्यापार' करना पड़ता है और इन व्यापारों के प्रकृतिभेद के अनुसार कारक के कई अवान्तर भेद हो जाते हैं। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के जो मत हैं, उनका संकलन किया जा रहा है—

वस्तुतः सभी कारक किसी-न-किसी प्रकार से कर्त्ता ही हैं; क्योंकि अपने व्यापार में सभी कुछ न कुछ स्वतन्त्र हैं और स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व का मौलिक वैशिष्ट्य है) यही कारण है कि कारकों का परस्पर विनिमय होता है), पर व्यापार-भेद की अपेक्षा से करण, अधिकरण आदि भेद हो जाते हैं। इस विषय में वाक्य-पदीय में एक कारिका है —'व्यापारमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके, व्यापार-भेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः'। (साधन० १८) भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है कि कारकशक्ति (जब 'शक्तिः कारकम्' कहा जाता है) एक ही है; पर निमित्त-भेद से एक ही कर्तृत्व छह प्रकार के हो जाते हैं—'निमित्तभेदादेकैव भिन्न-शक्तिः प्रतीयते, षोडा कर्तृत्वमेवाहुः तत् प्रवृत्तेर्निबन्धनम्' (वाक्यपदीय साधन० ३७)। इसकी व्याख्या में हेलाराज ने स्पष्टतर रूप से कहा है—'कर्तृत्वमेव अवान्तरव्यापारविवक्षया करणादिव्यपदेशरूपतां भजते'। इससे सिद्ध है कि सभी कारक किसी-न-किसी प्रकार से कर्त्ता ही हैं।

भर्तृहरि ने एक दूसरी दृष्टि से भी इसपर विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कारक-शक्ति द्रव्याकारादिभेद से वस्तुतः अपरिमित है। तत्त्वतः वे भेद छह भागों में विभक्त हो सकते हैं—'द्रव्याकारादिभेदेन ताश्चापरिमिता इव, दृश्यन्ते तत्समासात्तु षट्शक्तिर्नातिवर्त्तते' (वाक्यप० साधन० ३६)।

ऊपर कहा गया है कि व्यापार-भेद से कारक में अवान्तर भेद होते हैं। वह व्यापार-भेद किस प्रकार का है, इसके उत्तर में नागेश ने मञ्जूषा में इस प्रकार कहा है—

'कर्त्तुः कारकान्तरप्रवर्त्तनं व्यापारः, क्रियाफलेनोद्देश्यत्वरूपव्यापारश्च कर्मणः, करणस्य क्रियाजनकाव्यवहितव्यापारः, प्रेरणानुमत्यादिव्यापारः सम्प्रदानस्य, अवधिभावोपगमव्यापारोऽपादानस्य, कर्तृकर्मन्यवहितक्रियाधारण-व्यापारोऽधिकरणस्य' (कारक-प्रकरण)। इन व्यापारों का स्वरूप प्रत्येक कारक के विचार में स्पष्ट होगा।

अन्यत्र भी छहों कारकों के व्यापारों को पृथक्-पृथक् दिखाया गया है। यथा—'यत्र हि अन्येषां साधनानां व्यापारो न भवति स कर्त्ता। निर्वृत्ति-विकार-प्राप्तिभिः यस्य संस्कार आहितः स कर्त्तुः क्रियया ईप्सितः कर्म। हेतुता-मनुभवन् कारकान्तरव्यापारैः अव्यवहितं व्यापारं यस्य तत् करणम्। प्रेरणा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुमननानिराकरणव्यापारकर्मणा संबध्यमानं सम्प्रदानम् । अपायमवधिभावो-पगमेन साधयत् अपादानम् । कर्तृकर्मव्यवहितक्रियाधारः अधिकरणम्' ।[१]

अवान्तर व्यापार-भेद से एक ही कर्तृत्व-शक्ति करण, अपादान अधिकरण आदि में विभक्त हो जाती है, यह मत नैयायिकों को भी मान्य है। एक ही पाक-क्रिया में कभी देवदत्त कर्त्ता माना जाता है और कभी तण्डुल कर्त्ता माना जाता है। इसका कारण अवान्तर व्यापार-भेद ही है, यह महानैयायिक वाचस्पतिमिश्र ने कहा है। पाठकों के बोधार्थ हम यहाँ उनके पूरे वाक्य को उद्धृत कर रहे हैं— यस्य हि व्यापारं प्राधान्येन धातुः आख्यातप्रत्ययो वा अभिधत्ते स स्वतन्त्रः कर्त्ता। तथाहि—विक्लिन्दतीत्यत्र तण्डुलादयः कर्त्तारः पचतीत्यत्र देवदत्तादयः। तत् कस्य हेतोः ? एकत्र तण्डुलादेः व्यापार उपात्तः अपरत्र देवदत्तादेः प्राधान्येन च अशेषकारकनिर्वर्त्यत्वं प्रधानक्रियाया इति। अवान्तरे व्यापारभेदेऽपि प्रधानक्रियो-द्देशेन समस्तकारकप्रवृत्तेः' न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ३१)।

कारकों का यह अन्योन्य-परिवर्त्तन एक आवश्यक ज्ञातव्य विषय है। हम प्रत्येक कारक की व्याख्या में इस पर सोदाहरण विचार करेंगे, अतः यहाँ विचार करने का आवश्यकता नहीं है।

कारक की विवक्षाधीनता—जिन व्यापारभेदों से कारक के भेद हो जाते हैं, वे भेद विवक्षाधीन हैं, तात्त्विक नहीं हैं, अर्थात् जिसके व्यापार की जैसी विवक्षा की जाती है, वह तदनुरूप कारक माना जाता है, इसलिये व्याकरण-सम्प्रदाय में 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' यह न्याय प्रचलित है। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि जब जिसके व्यापार की विवक्षा सर्वथा स्वतन्त्र रूप से की जाएगी, तब वह 'कर्त्ता' कारक होगा; वस्तुस्थिति के अनुसार वह कर्म, करण या अधिकरण हो सकता है। इसी दृष्टि से हम तत्त्वतः 'स्थाल्यां पचति', (स्थाली में पाक करता है) कहकर स्थाली के अधिकरण-रूप को दिखाते हैं, पर पाक-क्रिया को स्थाली के साथ जोड़कर 'स्थाली पचति' भी कह सकते हैं। इस

---

१ वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में कारकों के लक्षणों का उल्लेख किया है। यथा—'तथा च कारकशब्दाः निमित्तवशात् समावेशेन वर्त्तन्त इति। वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ वृक्षः स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता। वृक्षं पश्यतीति दर्शनेन आप्तुमिष्यमाणत्वात् कर्म। वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। वृक्षाय उदकमासिञ्चतीति आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैति इति सम्प्रदानम्। वृक्षात् पर्णं पततीति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम्। वृक्षे वयांसि सन्तीति आधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम्' (भाष्य २।१।१६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार, 'अग्निना पचति' के स्थान पर 'अग्निः पचति' कह सकते हैं। तथैव, अन्यान्य कारकों में भी परिवर्त्तन किया जा सकता है—'शृङ्गात् शरो जायते', शृङ्ग से शर उत्पन्न होता है या 'शृङ्गं शरो जायते', शृङ्ग शर होता है।

जब करण आदि की कर्त्ता के रूप में विवक्षा होती है, तब उनकी व्याख्या किस रूप से की जाती है, इसका विशद उदाहरण आचार्य पतञ्जलि की व्याख्या में मिलता है। उन्होंने दिखाया है कि जब अधिकरण को कर्त्ता की तरह माना जाता है, तब किस रूप से विवक्षा होती है। उसी प्रकार करण के कर्तृत्व की उपपत्ति भी दिखाई गई है।[1]

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जब विवक्षा-भेद से अपादान-अधिकरण-कर्तृ-करण आदि के विभिन्न प्रयोग होते हैं, तब वाक्य की व्याख्या भी भिन्न होती है, यह नहीं कि अपादानकारक के रहने से वाक्य की जो व्याख्या होगी वही व्याख्या अपादान के स्थान पर अधिकरण-कारक के रहने से भी होगी। इस तत्त्व को उदाहरण के साथ आचार्य कैयट ने जैसा समझाया है, वह यहां विवृत हो रहा है।

भाष्यकार का वाक्य है—'तयोः स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोः पर्यायेण वचनं भविष्यति। तद्यथा—'बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्, बलाहके विद्योतते, बलाहको विद्योतते' (भाष्य १।४।२३)। यहाँ एक ही अर्थ के लिये अपादान, अधिकरण और कर्त्ता का प्रयोग किया गया है, पर कारक-भेद होने के कारण क्रिया की व्याख्या में भेद होगा। अपादान-पक्ष में अर्थ होगा—'निःसरणाङ्गे विद्योतने द्युतिर्वर्त्तते पृथग्भावश्च विवक्षित इत्यपादानत्वम्।' अधिकरण-पक्ष में अर्थ होगा—स्थित्यङ्गे द्योतनेऽत्र द्युतिर्वर्त्तते। बलाहके स्थित्वा ज्योतीरूपा विद्युद् विद्योतते इत्यर्थः।' कर्तृ पक्ष में अर्थ होगा—'विद्युतो बलाहकस्य च अभेदविवक्षायामयं प्रयोगः, (प्रदीप १।४।२३)। ये भेद विवक्षानुसारी हैं, यद्यपि वस्तु-स्थिति समान है; इस तथ्य के कैयट ने स्पष्ट कहा है—'वस्तुत एक एव अर्थात्मा' (प्रदीप १।४।२३)।

१—भाष्य का वचन इस प्रकार है:–'द्रोणं पचति आढकं पचतीति सम्भवनक्रियां धारणक्रियां च कुर्वती स्थाली पचतीत्युच्यते। तत्र तदा पचिर्वर्त्तते। एषोऽधिकरणस्य पाकः। एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम्। एधाः पक्षन्त्या विक्लित्तेर्ज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रियां कुर्वन्ति काष्ठानि पचन्तीत्युच्यन्ते। तत्र तदा पचिर्वर्त्तते। एष करणस्य पाकः। एतत् करणस्य कर्तृत्वम्' (१।४।२३)। इस भाष्य का स्पष्टीकरण प्रदीप-टीका में द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवक्षा-भेद से अन्यान्य कारकों में जो भेद हो जाते हैं, उनके उदाहरण यथा-स्थान दिए गए हैं।

अब हम यथाक्रम कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण, इन छह कारकों पर पृथक्-पृथक् विचार करना चाहते हैं। चूंकि, पूर्वविचार से कारक-स्वरूप बहुत स्पष्ट हो गया है, अतएव यहाँ मतों का उल्लेख ही किया जाएगा, शङ्कासमाधानयुक्त विशदीकरण की आवश्यकता नहीं है। जहाँ विशेष बात होगी वहाँ व्याख्या भी की जाएगी।

कर्त्ता—पाणिनि ने 'स्वतंत्रः कर्त्ता' (१।४।५४) कहा है। कारक के अधिकार में पठित होने के कारण इसका अर्थ होगा—क्रियासिद्धि में जो स्वतन्त्र है, वह कर्त्ता है (क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता)। भाष्यकार ने स्वतन्त्रता का अर्थ प्राधान्य कहा है।[1] प्राधान्य का अर्थ भी स्पष्टतः जानना चाहिए। इसका अर्थ व्याख्याकार 'धात्वर्थव्यापाराश्रय' कहते हैं, अर्थात् धातुवाच्य जो व्यापार, उसका आश्रय 'कर्त्ता' है, जैसे 'देवदत्तः गच्छति', देवदत्त जाता है, में गमन-व्यापार का आश्रय देवदत्त है। धातु से मुख्यतः जिस कारक की क्रिया उक्त होती है, वह कर्त्ता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है—'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्त्तृतेष्यते, व्यापारे च प्रधानत्वात् स्वतन्त्र इति चोच्यते'।

अन्यान्य वैयाकरणों का भी यही मत है। सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१।३२) तथा हैमव्याकरण (२।२।२) में पाणिनि के लक्षण को ही कहा गया है। कातन्त्र में 'यः करोति सः कर्त्ता' (२।४।१४) कहकर सामान्य रूप से कर्त्ता को लक्षित किया गया है। कर्त्ता को सुपद्म में 'स्वतन्त्रताप्रयोजक' (२।१।१) कहा

१—'अयं तन्त्रशब्दः अस्त्येव वितान वर्त्तते। तद्यथा—आस्तीर्णं तन्त्रम्। प्रोतं तन्त्रमिति। विताननमिति गम्यते। अस्ति प्राधान्ये वर्तते। तद्यथा—स्वतन्त्रोऽसौ ब्राह्मण इत्युच्यते। स्वप्रधान इति गम्यते। तद् यः प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्दः तस्येदं ग्रहणम्' (भाष्य, १।४।५४)। क्रिया यद्यपि अनेक कारणों से ही साध्य होती है, तथापि किसी एक की ही स्वतन्त्रता होती है, यह भाष्यकार ने १।४।२३ सूत्र में स्पष्ट दिखाया है, अर्थात् सकल कारक के प्रवर्त्तक होने के कारण ही कर्त्ता स्वतन्त्र है—'कथं पुनर्ज्ञायते कर्त्ता प्रधानमिति ? यत् सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्त्तयिता भवति'। सूत्रकार का स्वतन्त्र शब्द ही स्वतः स्वातन्त्र्य का ज्ञापक है, ऐसा कैयट ने कहा है—'स्वतन्त्रः कर्त्तेत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुनः स्वतन्त्रश्रुतिः नियमार्था तेन स्वतः स्वातन्त्र्यमेव यस्य कर्त्तृसंज्ञा तस्य न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य' (प्रदीप १।४।२३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है तथा संक्षिप्तसार में 'क्रियामुख्यप्रयोजक' (५।१) माना गया है, जो सर्वथा पाणिनि-मत का अनुसारी है। प्रयोगरत्नमाला में और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—'क्रियासिद्धौ यः स्वतन्त्रः स कर्त्ता' (१।६३२)। कातन्त्र-व्याख्या में धातुवाच्य व्यापार का साक्षात् निर्देश कर 'प्राधान्येन धातुवाच्यव्यापारवत्त्वं कर्तृत्वम्' (सुषेणमत) कहा गया है। धातुवाच्य न कहकर 'प्रधान्येन धातूपात्त-व्यापाराश्रयः कर्त्ता' लक्षण का गूढ़ तात्पर्य है; क्योंकि यदि ऐसा न कहा जाए, तो क्रिया के साथ काल का अविनाभावी सम्बन्ध होने के कारण 'घटो भवति' इस प्रयोग में काल का भी कर्तृत्व आ जाएगा, ऐसा नागेश ने कहा है (शब्देन्दुशेखर)।

यह स्वतन्त्रता कैसी है, इस पर कुछ विचार अपेक्षित है। भर्तृहरि ने इस विषय पर बहुत मार्मिक विचार किया है, यथा—

'प्रागन्यतः शक्तिलाभात् न्यग्भावापादनादपि।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात्॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेके च दर्शनात्।
आरादप्युपकारित्वे स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते॥'[1] (वाक्यपदीय साधन० १०१-१०२)

यहाँ अन्य कारकों की अपेक्षा कर्त्ता की प्रधानता के लिये जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनका सार यह है कि चूँकि कर्त्ता अन्य कारकों को अपने अधीन रखता है, अन्य कारकों की प्रवृत्ति कर्ता के अनुसार ही होती है, प्रवृत्त कारकों को वह निवृत्त कर सकता है, अन्य कारक के न रहने पर भी उसकी स्थिति बनी रहती है, अतः कर्ता 'स्वतन्त्र' है। स्वव्यापार में स्वतन्त्र होने पर भी करण आदि क्यों कर्ता नहीं हो जाते, इसका उत्तर भी इन्हीं कारिकाओं में दिया गया है, जैसा कि हेलाराज ने कहा है—'एतेन हेतुकलापेन

१—वैयाकरणभूषणसार की प्रभा टीका (पृ० १९४) में इन श्लोकों का सरल अर्थ दिया गया है। अध्येता के सुखबोध के लिये उसको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'करणादिकारकात् प्रागेव अन्यतः अर्थित्वादेरेव निमित्तात् शक्तिलाभात् कर्तृत्वशक्तिलाभात् कर्त्ता प्रवर्तते। करणादि तु तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकम्। तदाह न्यग्भावापादनादिति—अन्येषां कारकाणां स्वाधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वापादनात् इत्यर्थः। किञ्च करणादेरभावे प्रतिनिधिः दृश्यते व्रीह्यभावे यववत् कर्तुरभावे प्रतिनिधिर्न दृश्यते। कर्तृभेदे क्रियान्तरत्वमेव। प्रविवेके च कारकान्तराणामभावे च कर्तुर्दर्शनात्। आरादप्युपकारित्वात् आराद् दूरत उपकारित्वात् कारकान्तरव्यापारे परम्परया उपकारित्वात्। कर्तुः स्वातन्त्र्यमुच्यते वृद्धैः'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्त्तुः करणापेक्षया क्रियासिद्धौ विप्रकृष्टापकारकत्वेऽपि स्वातन्त्र्यं प्राधान्यनिबन्धन मुच्यते, इति तस्यैव कर्तृसंज्ञा न तु करणादेः स्वव्यापारे स्वतन्त्रस्यापि' (अत्रैव)। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि क्रियासिद्धिजनित फल में यद्यपि करणकारक की अपेक्षा कर्त्ता में अधिक व्यवधान रहता है, तथापि वह स्वतन्त्र ही माना जाएगा। वस्तुतः अन्य कारकों का नियमन कर्त्ता ही करता है, और यही उसकी स्वतन्त्रता है।

हमने पहले कारक को विवक्षाधीन कहा है। इसका अर्थ यह है कि 'जब जिसके व्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी,(तत्त्वतः नहीं) तब वह कर्त्ता माना जाएगा'। एक उदाहरण से इसे समझाया जा रहा है। वाक्य है—'देवदत्तः पचति'। अब इस पाक-क्रिया में स्थाली चाहिए (अधिकरण रूप में), अग्नि भी चाहिए, एधः (काष्ठ) भी चाहिए, तण्डुल भी चाहिए (कर्म रूप में)। इन अधिकरण, कर्म, करण आदि का भी हम कर्ता के रूप में प्रयोग कर सकते हैं, जैसे 'स्थाली पचति' (अधिकरण का कर्तृरूप), 'अग्निः पचति' (करण का कर्तृरूप), एधांसि पचन्ति (करण का कर्तृरूप), तण्डुलः पच्यते स्वयमेव' (कर्म का कर्तृरूप)।

इस कर्त्ता के तीन अवान्तर भेद माने गए हैं—शुद्ध, प्रयोजक हेतु और कर्मकर्त्ता। इन तीनों के उदाहरण कौण्डभट्ट ने इस प्रकार दिए हैं—'मया हरिः सेव्यते', 'कार्यते हरिणा' और 'गमयति कृष्णं गोकुलम्'।

कर्ता के भेदोपभेद के विषय में व्याकरणदर्शनेरइहास-ग्रन्थ (पृ० २६५-२६७) में जो कहा गया है, उसका सार यहां दिया जा रहा है—

"कोई कोई कर्त्ता की त्रिविधता मानते हैं, वे कहते हैं—'कर्त्ता च त्रिविधो ज्ञेयः कारकाणां प्रवर्तकः, केवलो हेतुकर्त्ता च कर्मकर्त्ता तथापरः'। यहाँ केवल कर्त्ता, हेतुकर्त्ता और कर्मकर्त्ता, ये तीन भेद माने गए हैं। पर कर्त्ता मूलतः दो प्रकार के हैं। एक स्वतन्त्र कर्त्ता जो पाणिनि के 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (१।४।५४) सूत्र में उक्त है और दूसरा हेतुकर्ता, जो 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१।४।५५) सूत्र में उक्त है। हेतुकर्ता=स्वतन्त्रकर्ता का प्रयोजक, जैसा कि जीवगोस्वामी ने कहा है—'यस्यैव व्यापारतया क्रिया विवक्ष्यते तत् स्वतन्त्रम्, यच्च तस्यापि प्रेरकतया तत् प्रयोजकम्। तच्च कारकं कर्तृसंज्ञं स्यात्' (हरिनामामृतवृत्ति)। संक्षिप्तसारव्याकरण में भी यह द्वैविध्य स्वीकृत है—'क्रियामुख्यप्रयोजकौ कर्ता'। हेतुकर्ता के विषय में भर्तृहरि ने कहा है—प्रेषणाध्येषणे कुर्वन् तत् समर्थानि वाचरन्, कर्तैव विहितां शास्त्रे हेतुसंज्ञां प्रपद्यते, (वाक्यपदीय, साधन १२५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र कर्ता के भी तीन भेद होते हैं—अभिहित, अनभिहित तथा कर्म-कर्ता। पहले का उदाहरण है—'देवदत्तः पचति'। दूसरे का है—'देवदत्तेन पच्यते'। कर्मकर्ता का अर्थ है 'वह कर्म जो कर्ता की तरह माना जाता है। इसके लक्षण में कहा गया है—'क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिद्धयति, सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति तद्विदुः, (दुर्गसिंहवृत्ति आ० ७५ में उद्धृत) अर्थात् कर्ता जिस कर्म को करता है, वह यदि अपनी महिमा से स्वयं निष्पन्न हो जाए, तो वह कर्मकर्ता कहलाता है। उदाहरण—'पच्यते भक्तः स्वयमेव,' अन्न स्वयं पकता है। हेतुकर्ता के भी दो विभाग होते हैं—चेतनविषयक तथा अचेतनविषय। पहले का उदाहरण है—'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' देवदत्त से ओदन पकवा रहा है और अचेतनविषयक उदाहरण है—भिक्षा वासयति"।

कर्म—कर्ता के लक्षण के अनुसार (यः करोति स कर्त्ता) यदि इसका लक्षण किया जाए, तो 'यत् क्रियते तत् कर्म' ऐसा कहना होगा (कातन्त्र २।४।१३)। पर, यह अतिस्थूल लक्षण है, इसलिये पाणिनि ने कहा है—'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।४।४९); इसका अर्थ है—कर्त्ता की क्रिया का जो ईप्सिततम है, वह कर्म है। इस अर्थ में दो बातें ज्ञातव्य हैं। प्रथम—सूत्र में यद्यपि 'क्रिया' शब्द नहीं है, यथापि कारक का अधिकार होने के कारण 'क्रिया' स्वतः लभ्य हो जाती है। द्वितीय—ईप्सित का अर्थ इष्ट नहीं है, क्योंकि यह 'यौगिकशब्द' है (अर्थात् व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लिया जाएगा), अतः ईप्सिततम का अर्थ होगा 'क्रिया से निकटतम रूप से सम्बद्ध' (आप्तुम् इष्यमाणतमम्)। इसका तात्पर्य यथास्थान विवृत होगा।

चन्द्र ने ईप्सिततम' का अर्थ 'क्रियाप्य' (२।१।४३) कहकर स्पष्ट किया है, अर्थात् क्रिया का आप्य = प्रापणीय कर्म है। जैनेन्द्र संप्रदाय में भी यही स्वीकृत हुआ है—'कर्त्रा यद् आप्यं तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति' (जै० वृत्ति १।२।४५)। हेमचन्द्र ने 'कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म' कहा है। (२।१।३)। सुपद्म में भी यही बात कही गई है—'क्रियाव्याप्यं कर्म' (२।१।३)। ध्यान देना चाहिए कि यहा स्पष्टतः कर्तृव्याप्य न कहकर 'क्रियाव्याप्य' कहा गया है; क्योंकि वस्तुतः क्रिया से ही कर्म व्याप्य होता है। 'कर्त्तव्याप्य' कहने का तात्पर्य यही है कि कर्ता में क्रिया आश्रित रूप से रहती है, अतः कर्तृव्याप्य कहने पर भी तात्पर्य क्रियाव्याप्य में ही होता है। प्रयोगरत्नमाला में इस तत्त्व को स्पष्टतः कहा गया है—'यत् कर्त्तुः क्रियया व्याप्यं तत् कर्म परिकीर्त्तितम्' (१।६२०)। हरिनामामृत 'क्रियाकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्साधिका तत् कर्म' (४। १७) यहकर क्रिया-कर्मगत साध्य-साधनभाव को और भी स्पष्ट किया है।

यह जो 'क्रियते इति कर्म' (यक्षवर्मवृत्ति, १।३।१०५) कहा गया है, इसमें 'क्रियते' ('कृ' धातु) का अर्थ केवल 'करना' नहीं है। यहाँ 'कृ' धातु का तात्पर्य वस्तुतः 'क्रियासामान्य' में है। कहा भी गया है—'कृभ्वस्ययः क्रियासामान्यवचनाः' (कृ, भू, अस् धातु का अर्थ क्रियासामान्य है)। किसी भी प्रकार की क्रिया का जो प्रापणीयतम होता है, वह कर्म है।

पहले कहा गया था कि क्रिया का आधार कर्त्ता है, और यहाँ क्रिया का निकटतम सम्बन्ध कर्म से दिखाया जा रहा है। शङ्का हो सकती है कि क्रिया से कर्त्ता और कर्म का जो सम्बन्ध है, क्या वह एक ही प्रकार का है ? यदि एक ही प्रकार का है, तो दोनों में भेद क्यों किया जाता है ? उत्तर में वक्तव्य है कि क्रिया वस्तुतः कर्त्ता में ही रहती है, और क्रियाजन्य जो 'फल' है, उसका आधार कर्म होता है। क्रिया के दो भाग हैं—व्यापार और फल। व्यापार कर्त्ता में रहता है और फल कर्म में, जैसे 'ग्रामं गच्छति' वाक्य में गमन-रूप व्यापार तो कर्त्ता करता है, पर गमनजनित जो देशसंयोग-रूप फल है, उसका सम्बन्ध ग्राम से ही है, इसलिये ग्राम' कर्म होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण की वृत्ति में यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई है, यथा—'तेन कर्त्रा सम्यक् क्रियाभागितया गतादौ तत्फलभागितया च उद्दिष्टं कर्मसंज्ञं भवति' (५।२)।

यह भी ज्ञातव्य है कि व्यापार का फल अवश्यमेव होता है (निष्फल व्यापार होता ही नहीं), इसलिये सब धातु मूलतः सकर्मक होते हैं, तत्त्वतः कोई भी धातु अकर्मक होती ही नहीं। जब फल कर्त्ता से पृथक् रूप से विद्यमान नहीं रहता, तब उस धातु को अकर्मक कहा जाता है, पर वहाँ भी फल की सत्ता है। अंगरेजी-व्याकरण में जो 'Transitive-Intransitive रूप धातु-विभाग है, वह हमारी दृष्टि में अवैज्ञानिक है।

इस कर्म के कुछ भेद होते हैं। वाक्यपदीय (साधन० ४५–४६) में इस सम्बन्ध में जो कहा गया है (वैयाकरणभूषणसार में इसकी व्याख्या द्रष्टव्य है) उसे यहाँ दिखाया जा रहा है—

'निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्॥
औदासीन्येन यत् प्राप्तं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद् यच्चाप्यन्यपूर्वकम्॥'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्, ईप्सिततम कर्म तीन प्रकार का है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। अन्य प्रकार के चार कर्म हैं—उदासीन कर्म, अनीप्सित कर्म, संज्ञान्तर से अनाख्यात तथा अन्यपूर्वक कर्म। इस प्रकार कर्म सात प्रकार का होता है।

भर्तृहरि ने इन कर्मों के लक्षण भी दिए हैं, यथा—

'यदसज् जायते सद् वा जन्मना यत् प्रकाशते।
तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च कर्म द्वेधा व्यवस्थितम्॥
प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत्।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्॥
क्रियागतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते।
दर्शनादनुमानाद् वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते॥'[1]

(साधन० ४९-५१)

इन कारिकाओं का संक्षिप्त अर्थ यह है कि जब असद् या सद् वस्तु जन्म लेता है या प्रकाशित होती है, तब उसको निर्वर्त्य कर्म कहा जाता है, जैसे 'घटं करोति' (घट को बनाता है) में घट पहले नहीं रहता (=असत्), पर कुम्भकारादि व्यापार से उसकी उत्पत्ति होती है। यहां यह भी माना जा सकता है कि घट मिट्टी में अव्यक्त रूप से था (सांख्यदृष्टि), और कारक-व्यापार से उसका आविर्भाव होता है। दोनों पक्षोंमें घट जन्म लेकर प्रकाशित होने से पहले व्यक्त रूप में (=घट-रूप में) नहीं था और घट को प्रयत्न से बनाया जाता है, अतः यह 'निर्वर्त्य कर्म' कहलाता है।

विकार्य कर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम—प्रकृति के उच्छेद (कारण-नाश) से, जैसे 'काष्ठं भस्म करोति' (काष्ठ को भस्म बनाता है) वाक्य में काष्ठ-नाश के बाद ही भस्म की उत्पत्ति होती है। द्वितीय—जब कारण से कार्य में गुणान्तर की उत्पत्ति की विवक्षा होती है, जैसे 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' (सोना को कुण्डल में परिणत करता है) में सुवर्ण के अवयव-संस्थान से कुण्डल का अवयव-संस्थान विलक्षण होता है। इन दोनों प्रकार के विकार्य कर्मों में भेदक तत्त्व यह है कि पहले में जो विकार होता है, वह उच्छेद-रूप है, और दूसरे में जो विकार होता है, वह आकारपरिवर्त्तन-रूप है।

प्राप्य कर्म उसे कहा जाता है, जिस कर्म में क्रियाकृत विशेषों की सिद्धि (ज्ञान) नहीं होती (प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से) और क्रियासंबन्धमात्र लक्षित होता है।

१—यह ध्यान देने का विषय है कि इन श्लोकों में वैशेषिक सांख्य आदि की दृष्टियां प्रतिबिम्बित हुई हैं (द्र० हेलाराज-व्याख्या)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका सरलार्थ उदाहरण के साथ इस प्रकार जानना चाहिए—'जिसमें प्रत्यक्ष और अनुमान से क्रियाकृत विशेष नहीं दिखाई पड़ता, वह प्राप्य कर्म है, जैसे 'आदित्यं पश्यति' (सूर्य को देखता है) वाक्य में आदित्य (कर्म) में दर्शन-क्रिया से कोई विशेष (विकार, अवस्थान्तर आदि) उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि पूर्वोक्त निर्वर्त्य-विकार्य कर्मों में देखा जाता है। शंका हो सकती है कि 'आदित्य चक्षु का विषय है'—इस प्रकार का विषयता-रूप क्रियाकृत विशेष तो अवश्य ही होता है, अन्यथा आदित्य कर्म कैसे होगा ? उत्तर यह है कि ज्ञाता से पृथक् अन्य पुरुष की अपेक्षा से कोई विशेष नहीं होता, अतः क्रियाकृत विशेष नहीं है, यह मानना चाहिए। सार बात यह है कि निर्वर्त्य या विकार्य में 'कुछ उत्पन्न होता है' या 'कुछ प्रयत्न से निर्मित होता है', पर प्राप्य कर्म न स्वयं बनता है, और न बनाया जाता है, इसलिये इसकी पृथक् गणना की गई है।

अनीप्सित कर्म के चार प्रकार हैं। (क) पहला प्रकार है—'उदासीन कर्म', जैसे 'तृणं स्पृशति' (ग्राम को जाता हुआ तृण छू रहा है)। यहाँ 'तृण' रूप कर्म की उदासीनता दिखाने के लिये 'ग्राम को जाता हुआ' कहा गया है, अर्थात् ईप्सित कर्म ग्राम ही है।

ख) अनीप्सित(=अनुद्दिष्ट) कर्म का उदाहरण है–'विषं भुङ्क्ते' (विष खाता है)। विकट परिस्थिति में विष-भक्षण भी ईप्सित होता है, पर यहाँ सामान्य रूप से उदाहरण दिया गया है।

(ग) संज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म वह है, जो 'अकथितं च' (१।४।५१) सूत्र-लक्षित द्विकर्मक धातुओं का अप्रधान कर्म है. जैसे—'गां दोग्धि पयः' वाक्य में 'गो' दोहन-क्रिया का अप्रधान कर्म है।

(घ) अन्यपूर्वक कर्म वह है, जो 'दिवः कर्म च' (१।४।४३) आदि सूत्रों से विहित होता है, जैसे 'क्रूरम् अभिक्रुध्यति' में 'क्रूर' शब्द की कर्मसंज्ञा।

उदासीन, द्वेष्य और अनीप्सित कर्म के विषय में आकर-ग्रन्थों में अनेक मतान्तर मिलते हैं, विस्तार-भय से यहाँ उनका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

करण—पाणिनि ने इसका लक्षण किया है—साधकतमं करणम् (१।४।४२)। पाणिनि का यह लक्षण शब्दशः अन्य आचार्यों ने भी लिया है (सरस्वती० १।१।५५; सुपद्म० २।१।९; हैम० २।२।२४; जैनेन्द्र० १।२।१०८)। साधकतम का साधारण अर्थ कातन्त्र में मिलता है—'येन क्रियते तत् करणम्' (२।४।२२)। हरिनामामृत में करण का एक मुख्य रूप दिखाया गया है—कर्त्तुरधीनं प्रकृष्ट सहायं करणम् (४।९९)। 'प्रकृष्ट सहाय' को ही सारस्वत-व्याकरण ने 'क्रिया-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिसाधन' कहा है (५।१६)। बोपदेव ने साधन के इस स्वरूप को और भी विशद कर शास्त्रीय रीति से 'साधन-हेतु-विशेषण-भेदक' कहा है (मुग्धबोध २८८)।

पाणिनीय सम्प्रदाय में साधकतम का जो तात्त्विक स्वरूप दिखाया गया है, वह इस प्रकार है—करण का संबन्ध क्रियासिद्धि में है। क्रियासिद्धि में कर्त्ता का जो 'अतिशयसाधक' है, वह करण है। अतिशयसाधकत्व का अर्थ है—जिसके व्यापार के बाद क्रिया की सिद्धि तत्क्षणात् हो जाती है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्' ॥ (वाक्यपदीय साधन, ९०)। उदाहरण के लिये, हम 'रामः परशुना वृक्षं छिनत्ति' वाक्य को ले सकते हैं; यहाँ राम कर्त्ता है, परशु (कुठार) करण है और वृक्ष कर्म है। परशु करण इसलिये है कि परशु के व्यापार से तत्काल वृक्षच्छेदन-रूप क्रियाफल की निष्पत्ति होती है।

करण के साथ व्यापार का नित्यसंबन्ध है, अर्थात् व्यापारयुक्त होना ही करण का करणत्व है, अन्यथा वह करण न होकर 'हेतु' हो जाएगा। करण को समझने के लिये हेतु से उसका भेद भी ज्ञातव्य है, ऐसा समझ कर यहाँ इसका विशेष विवरण दिया जा रहा है।

जिस क्रिया की निष्पत्ति के लिये करण-व्यापार की आवश्यकता होती है, वह दो प्रकार की हो सकती है, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'सिध्यतः साध्नुवतः वा क्रियात्मनः अर्थस्य' (पदमञ्जरी २।४।४२; मुद्रित पाठ 'साध्यवतः' है, जो अशुद्ध है)। क्रिया यदि श्रूयमाण न भी हो, तो भी करण की सत्ता मानी जाती है, जैसे—'अलं श्रमेण' वाक्य में क्रिया श्रूयमाण नहीं है, पर श्रम को करण माना गया है।

करण को जब क्रियानिष्पत्तिकारक कहा जाता है, तब उसका तात्पर्य 'फल-साधन-योग्यता' में समझना चाहिए, और इसीलिये 'क्रियायाः फलनिष्पत्तिः ...' कारिका (व्याख्या ग्रंथों में उद्धृत) में 'फल' शब्द का प्रयोग भर्तृहरि ने किया है। यह फलजनक व्यापार अव्यवधान से होना चाहिये। अव्यवधान यदि न कहा जाए, तो दोष होगा (द्र० वैयाकरणभूषणसार की प्रभा-टीका, पृ० १९८; साधन० ९०)।

करण सदैव कर्त्ता का अधीन ही होगा। यह कर्तृकारक की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। कहा गया है—करणं खलु सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचरः'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं-कहीं साक्षात् रूप से करण नहीं होने पर भी भावनाविशेष से करणत्व का आरोप किया जाता है, जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—'अग्निष्टोमः फलभावनायां करणम्'। इसका विशेष विचार मीमांसा-दर्शनीय 'द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः' अधिकरण (२।२।१७-२०) की अध्वरमीमांसा-कुतूहलवृत्ति में द्रष्टव्य है।

व्यापारवान् फलनिष्पादक पदार्थमात्र करण हो सकता है, करण के लिये सर्वदा द्रव्यरूप में होना अपेक्षित नहीं है। पाणिनि के 'करणे च स्तोक.........' (२।३।३३) सूत्र में अद्रव्यवाची शब्दों का करणत्व स्पष्ट है। प्रकृत करण के लिये तीन बातें चाहिये—(१) वह क्रिया का ही जनक होगा, (२) वह व्यापारवान् होगा, (३) वह विवक्षाधीन होगा, अर्थात् जो करण है, उसे कर्त्ता मानकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

करण के विषय में यह निश्चित है कि जिसके व्यापार की अतिशय-विवक्षा होगी, वह करण अवश्य होगा, चाहे वह तत्त्वतः अधिकरण ही क्यों न हो। इस मत के अनुसार 'स्थाल्यां पचति' के स्थान पर 'स्थाल्या पचति' प्रयोग उपपन्न होता है। विवक्षा ही इसका नियामक है; वस्तुस्थिति इस विवक्षा की नियामिका नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने उचित ही कहा है—'वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम्। स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः' (वाक्यपदीय, साधन० ९१)।

पर, इसमें यह संशय होता है कि यह अतिशय-विवक्षा अन्य कारक की तुलना में है या अपनी ही कक्षा में, अर्थात् जब एक क्रिया-सिद्धि में एकाधिक कारकों के व्यापार की अतिशय-विवक्षा होगी, तब वे सभी करण ही माने जाएँगे, या उनमें भी कुछ भेद किया जाएगा? आचार्य कैयट ने इसके उत्तर में कहा है कि अन्य कारकों की अपेक्षा में ही करण का अतिशय माना जाता है, और इसीलिये एक क्रिया-सिद्धि में अनेक कारकों का व्यापारातिशय मानकर एकाधिक करण-कारक माने जा सकते हैं। उनका वाक्य इस प्रकार है—'कारकान्तरापेक्षश्च करणस्यातिशयो न तु स्वकक्षायामिति अश्वेन दीपिकया पथा व्रजतीति सर्वेषां क्रियानिष्पत्तौ संनिपत्य उपकारकत्वात् करणत्वं सिद्धम्' (प्रदीप १।४।४२)।

सम्प्रदान—पाणिनि ने 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।४।३२) कहा है, जिसका साधारण अर्थ है—जिसको लक्ष्यकर कोई दान किया जाता है वह सम्प्रदान होता है। 'उद्देश्य' लक्ष्य और 'दान' शब्द पर विशेष विचार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे किया जाएगा। पाणिनि ने यद्यपि केवल 'जिसके लिये कर्म किया जाए', इतना ही कहा है, पर तत्त्वतः 'क्रिया भी जिसके लिये की जाए', वह भी सम्प्रदान होता है, ऐसा भाष्यवार्त्तिकादि में कहा गया है। वस्तुतः सूत्रकार ने क्रिया और कर्म दोनों के लिये कर्म शब्द का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट है।

पाणिनि-लक्षण को शाकटायन ने और भी स्पष्ट किया है, यथा—'कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्' (१।२।१२६); भाष्यवार्त्तिक-मत को भोज ने अपने एक सूत्र में समेटा है, जो 'कर्मणा क्रियया वा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।१।५६) रूप उनके सूत्र से स्पष्ट है। हेमचन्द्र ने शाकटायन-मत को ही स्पष्टतः दिखाया है; उनका सूत्र है—'कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम्' (२।२।२५)।

सम्प्रदान में 'दान' का बहुत बड़ा महत्त्व है। ध्यान देना चाहिए कि कारकों में कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण, ये चार 'कृ' धातु से बनते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान, ये दो कारक 'दा' धातु से बनाए गए हैं। इससे ज्ञापित होता है कि यहाँ 'दा' धातु का सार्थक्य है, और यही कारण है कि कोई-कोई आचार्य दान-क्रिया के उद्देश्य को ही सम्प्रदान कहते हैं। कातन्त्र-सूत्र में कहा गया है—'यस्मै दित्सा (दित्सा = देने की इच्छा) रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम्' (२।४।१०)। दान का यह वैशिष्ट्य संक्षिप्तसार-व्याकरण की वृत्ति में और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है, यथा—'प्रदानमात्यन्तिकं दानं कर्त्रा क्रियमाणं यो लभते स सम्प्रदानसंज्ञो भवति' (१५।१७)। उसी प्रकार, सुपद्म व्याकरण में भी कहा गया है—'प्रदानाभिसम्बध्यमानं सम्प्रदानम्' (२।१।१२)।

यहाँ जो लक्षण कहे गए हैं, पाणिनीय सम्प्रदाय के आचार्यों की व्याख्या का अवलम्बन कर उनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

'सम्प्रदान' एक महासंज्ञा है, सुतरां वह अन्वर्थ भी है, जिसके कारण 'सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत् सम्प्रदानम्' यह कहना पड़ता है, अर्थात् दान-क्रिया रूप कर्म को कर्त्ता जिसके लिये करता है, वह सम्प्रदान है। दान = अपना स्वत्व छोड़कर दूसरे के स्वामित्व का स्वीकार'; इसलिये 'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गो का दान करता है) वाक्य में गो का स्वामी विप्र हो जाता है। रजक (= धोबी) को जब वस्त्र प्रक्षालनार्थ दिया जाता है, तब 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन' नहीं होता, इसलिये वैसे स्थल पर रजक सम्प्रदान नहीं होता, यह काशिकाकारादि का मत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर, पतञ्जलि का मत ऐसा नहीं है—यह कोई कोई कहते है; क्योंकि जहाँ स्वस्वत्वनिवृत्ति आदि नहीं हैं, वहाँ भी उन्होंने सम्प्रदान मानकर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है, जैसे 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति', (भाष्य १।१।१) में देखा जाता है। प्राचीन प्रयोगों में जहाँ पूर्वोक्त दान नहीं है, वहाँ भी सम्प्रदान दिखाई पड़ता है, जैसे—'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत्' (मार्क० ८५।७६) वाक्य में दान नहीं है, पर सम्प्रदान मानकर 'असुरेन्द्र' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। इसी दृष्टि से कोई-कोई यह भी कहता है कि 'रजकाय वस्त्रं ददाति' यह प्रयोग भी सम्प्रदान मानकर होगा, क्योंकि सम्प्रदान-स्थल में स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक दान की विवक्षा होना आवश्यक नहीं है।

संप्रदानसंबन्धो यह मत भर्तृहरि को मान्य नहीं है। उन्होंने कहा है—'अनिराकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्। प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते सम्प्रदानताम्' ॥ (वाक्यप० साधन, १२९); इसकी व्याख्या में हेलाराज ने सम्प्रदान को अन्वर्थ मानकर प्रकृत दान-स्थल में ही सम्प्रदान माना है।[1]

सम्प्रदान के इस स्वरूप को लक्ष्य कर कुछ कारिकाएँ विभिन्न व्याकरण-सम्प्रदायों में रची गई हैं। मुग्धबोध-टीका में कहा गया है—'पूजानुग्रहकाम्याभिः स्वद्रव्यस्य परार्पणम्, दानं तस्यार्पणस्थानं सम्प्रदानं प्रकीर्तितम्' (२९४ सूत्र ; रामतर्कवागीश टीका)। पूजा, अनुग्रह आदि से जब दान किया जाता है, तब सम्प्रदान होता है, यह यहाँ कहा गया है। चाङ्गुदास ने भी इस मत का अनुसरण किया है, यथा—'सम्प्रदानं तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया, दीयमानेन संत्यागात् स्वामित्वं लभते यदि'। दान के स्वरूप के विषय में विभिन्न टीकाकारों ने प्रचुर विचार किया है, जिसका विवरण विस्तार-भय

१—हेलाराज का वाक्य यहाँ यथावत् उद्धृत किया जा रहा है—'अन्वर्थत्वात् सम्प्रदानस्य त्यागाङ्गमिति लक्षणलाभः। त्यागो दीयमानस्य स्वत्वनिवृत्त्या परस्वत्वोत्पादनम्। × × × कन्यां ददातीति जन्यजनकभावाव्यावृत्तावपि स्वस्वामिसम्बन्धस्य निवृत्तेः मुख्य एव ददात्यर्थः। खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददातीत्यादौ वस्तुतः असत्यपि चपेटादिस्वाम्ये तदुपकारितया दातुः स्वामित्वाभिसन्धिः अस्त्येव। यद्यपि प्रतिकूलरूपत्वात् चपेटायाः तदानीमुपयोगो नास्ति तथापि फलद्वारेण अस्त्येव परोपयोगित्वम्। चपेटासहत्वे शास्त्राभ्यासयोगत्वात् फलाव्याप्तेः'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से छोड़ दिया गया है।[1]

सम्प्रदान के कुछ भेदों का उल्लेख भी मिलता है। लौकिक सम्प्रदान तथा शास्त्रीय सम्प्रदान-रूप दो भेदों का उल्लेख कलाप-सम्प्रदाय में है। जब कर्मादि-कारकों की प्राप्ति होने पर सम्प्रदान का विधान किया जाता है, तब वह शास्त्रीय सम्प्रदान होता है और जब 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्', इस पाणिनि-सूत्र से सम्प्रदान होता है, तब वह लौकिक सम्प्रदान होता है, यह कालापों का मत है (द्र० वाररुचसंग्रह-टीका)।

पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणभूषणग्रन्थ (पृ०११२) में इस विषय में भर्तृहरिकारिका का उद्धरण देकर विचार किया गया है। यथा—'अनिराकरणात् कर्त्तुः त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्, प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते संप्रदानताम्' (अत्र उद्धृत)। इस कारिका में तीन प्रकार के संप्रदान कहे गये हैं—अनिराकर्त्तृ, प्रेरयितृ और अनुमन्तृ। अनिराकर्ता का उदाहरण है—'सूर्याय अर्घ्यं ददाति' (सूर्य को अर्घ्य देता है); क्योंकि यहाँ सूर्य न प्रार्थना करता है, न अनुमोदन करता है और न निराकरण ही करता है। 'प्रेरयिता' का उदाहरण है—'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गो देता है); यहां विप्र दान के लिये दाता को प्रेरणा करता है। 'अनुमन्ता' का उदाहरण है—'उपाध्यायाय गां ददाति' (उपाध्याय को गो देता है)। यहाँ उपाध्याय का अनुमोदन स्पष्ट ही है।

हमने पहले कहा है कि संप्रदान पद 'दा' धातु से बना है; इससे इसके कारकत्व में संशय होता है। यह संशय तब और दृढ़ होता है, जब हम देखते हैं कि अन्य कारक के साथ इसका विनिमय नहीं होता, अर्थात् 'असिना छिनत्ति' (असि से काटता है) प्रयोग में असि करण है, पर कर्त्ता के रूप में भी उसका प्रयोग हो सकता है, 'असिः छिनत्ति' (असि काटता है); यह बात संप्रदान-स्थल में हम नहीं देख पाते, अर्थात् 'विप्राय ददाति' वाक्य में जो संप्रदान (विप्र) है, वह कभी भी कर्त्ता-कर्म आदि में परिवर्त्तित नहीं हो जाता।

१—सम्प्रदान के विषय में मुग्धबोध की दुर्गादास टीका एवं प्रसाद-टीका में यह कारिका उद्धृत है, यथा—

'सम्प्रदानं तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया।
दीयमानेन संयोगात् स्वामित्वं लभते यदि॥' (प्रसाद १।४।३२)

इससे भी सम्प्रदान का सम्बन्ध दान से ही है, यह सूचित होता है ('ददाति कर्मणेव यमभिप्रैतीति'—प्रसाद-टीका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः प्रत्येक कारक किसी-न-किसी रूप से कर्त्ता (स्वव्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होने पर), अवश्य होता है, पर सम्प्रदान की स्वतन्त्रता-विवक्षा लोक में नहीं होती ('रामाय ददाति' वाक्य कभी भी 'रामो ददाति', नहीं बनता)।

संप्रदान की इस विचित्रता के कारण कोई वादी इसको यथार्थ कारक नहीं मानते थे; यह बात १।४।२२ सूत्र-भाष्य से अनुमित होता है। वार्त्तिक है—'अपादानादीनां त्वप्रसिद्धिः' और नागेश ने 'आदि' पद से संम्प्रदान का ही ग्रहण किया है। शब्द-स्वभाव से भी जाना जाता है कि वाक्यस्थ धातु संप्रदान और अपादान के व्यापार में प्रवर्त्तित नहीं होता ('शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चापादानसंप्रदानव्यापारे धातुर्न प्रवर्त्तते'—प्रदीप १।४।३२)। यह बात वाक्यपदीयटीकाकार हेलाराज को भी मान्य है। उन्होंने कहा है कि संप्रदान और अपादान के स्वव्यापार में स्वतंत्रता की विवक्षा नहीं होती ('संप्रदानापादानयोः स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यविवक्षा नास्ति द्वितीयस्यादातुः अपगन्तुश्चापेक्षणात्', साधन० १८ की टीका)।

इतना होने पर भी जो संप्रदान को कारक मानते हैं, उनका कहना है कि यद्यपि स्वव्यापार में संप्रदान की स्वातन्त्र्य-विवक्षा नहीं है, तथापि वह स्वव्यापार से क्रिया-सिद्धि में सहायक तो होता ही है, अतएव वह कारक है। वह व्यापार क्या है, यह पहले कहा गया है।

अपादान—सम्प्रदान की तरह यह भी 'दा' धातु से बना है और इसका तात्पर्य भी सम्प्रदान की तरह ही है, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा।

पाणिनि ने अपादान का लक्षण 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'(१।४।२४) कहकर किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१।६५) और जैनेन्द्र-व्याकरण (१।२।१२४) में भी यही कहा गया है। अपाय = विश्लेष = विभाग है। विभाग-क्रिया में जो ध्रुव (= अवधि = जहां से विभाग-क्रिया होती है) है, वह अपादान है, यह इस सूत्र का सामान्य लक्षण है। चन्द्र ने अपादान को 'अवधि' ही कहा है (२।१।८१); हेमचन्द्र भी यही कहते हैं ('अपायेऽवधिरपादानम्'—२।२।२९)। केवल 'अपाय' का ही नहीं, अन्यान्य प्रकार की क्रिया की अवधि भी अपादान है, जैसा कि सुपद्म में कहा गया है—'अवधिरपायादिष्वपादानम्' (२।१।२०) और जीवगोस्वामी ने भी इस मत को माना है—'अपायादिष्ववधिरपादानम्' (हरिनामामृत ४।७४)। वस्तुतः गमनशील द्रव्य का पहला सम्बन्ध-स्थान (जहाँ से वह चलता है) ही अपादान है, जैसा कि संक्षिप्तसार में कहा गया है—'चलत्प्राग्भूरपादानम्' (५।२६)—'चलतः प्राक् सम्बन्धिस्थानम्' (वृत्ति)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन मतों का विशदीकरण पाणिनीय मत का आश्रयण कर किया जा रहा है। १।४।२४ सूत्र में जो अपाय शब्द है, उसका अर्थ विश्लेष = वियोग है। ध्रुव = अवधि है। संयुक्त दोनों वस्तुओं से जब एक का चलन होता है, तब वह अपाय कहलाता है, और जहां से अपाय होता है, वह अवधि = ध्रुव कहलाता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रकृत धात्वर्थरूपी क्रिया का आश्रय ध्रुव नहीं होता, पर चलनजन्य विभाग का आश्रय ध्रुव होता है। जैसे 'ग्रामात् आयाति' वाक्य में आगमन-क्रिया का आश्रय कोई व्यक्ति है, पर आगमनजन्य विश्लेष का सम्बन्ध ग्राम से ही है, इसलिये ग्राम अपादान है।

यह यहाँ ज्ञातव्य है कि जो अवधिभूत ध्रुव है, वह निष्क्रिय भी हो सकता है, सक्रिय भी। निष्क्रिय का उदाहरण पहले दिया गया है। सक्रिय ध्रुव का उदाहरण 'धावतः अश्वात् पतति' (धावनकारी अश्व से गिरता है) वाक्य है। यहां धावन-क्रियाविशिष्ट अश्व का प्रकृत धातुवाच्य क्रिया (= पतन) के प्रति अवधित्व है।

अपादान की इस निष्क्रिय और सक्रिय अवस्था के विषय में भर्तृहरि ने सुन्दर विचार किया है, यथा—

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते॥
पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते॥[1]
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्॥'
(साधन० १४१)

अर्थात्, अपाय (= विश्लेष) में जो उदासीन है, वह (चाहे चल हो या अचल) ध्रुव कहलाता है। अतदावेश के कारण वह अपादान है। अतदावेश का तात्पर्य है—क्रिया का आश्रय न होना, जैसे 'वृक्षात् पर्णं पतति' में पतन-क्रिया का आश्रय पर्ण होता है, वृक्ष नहीं, और इसीलिये वृक्ष अपादान है। जब कोई पदार्थ अश्व से गिरता है, तब अश्व अपादान होता है, और अश्व जब कुड्य से गिरता है, तब कुड्य अपादान होता है। जब मेष एक दूसरे से टक्कर खाकर अलग हो जाते हैं, तो वहाँ भी एक मेष की अपेक्षा से दूसरा ध्रुव होता है।

१—ये दो श्लोक मुद्रित वाक्यपदीय में दृष्ट नहीं हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपाय और ध्रुव के विषय में और भी कुछ बातें ज्ञातव्य हैं। पहली बात यह है कि किसी भी गति में जब अवधि का उल्लेख रहेगा, तभी वहाँ 'अपाय' माना जाएगा, अन्यथा नहीं—'सति ह्यवधौ गतिरपायो भवति, नान्यथा गति-विशेषत्वादपायस्य' (प्रदीप १।४।२३)। जैसे, पर्ण की पतन-क्रिया में वृक्ष की अवधि-रूपसे जब विवक्षा होगी, तभी वृक्ष अपादान होगा और 'वृक्षात् पर्णं पतति' ऐसा वाक्य बनेगा, अन्यथा जब अवधि की विवक्षा नहीं होगी, तब 'वृक्षस्य पर्णं पतति' यही कहा जाएगा। इस वाक्य में वृक्ष को अवधि रूप से नहीं माना गया, बल्कि पर्ण से उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। यह विषय इस कारिका में स्पष्ट उल्लिखित हुआ है—'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति गम्यते, वृक्षस्य पर्णं पततीत्येव भाष्ये निदर्शितम्' ॥ (साधन० १४३)।

अवधि होने से ही 'अपाय' होगा, और केवल विश्लेष- क्रिया कहने मात्र से ही अपाय नहीं होगा—यह मत सभी सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित है। अपाय के साथ यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से ध्रुव (या अवधि) का होना आवश्यक है, तथापि ध्रुव पदार्थ का स्पष्ट उल्लेख अपादान कारक के लिये होना चाहिए। यही कारण है कि पाणिनि ने १।४।२४ सूत्र में ध्रुव और अपाय इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अन्यान्य आचार्यों के वचन भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं, यथा—'अपायेऽवधौ' (अभिनवशाकटायन १।३।१५६)। एक आश्रय से पृथक् या विभाग होना अपाय है। अर्थात्, सम्बन्धविगम = अपाय है। इस विषय में दुर्गसिंह की विशद व्याख्या इस प्रकार है—'यतश्च संयोगो निवर्त्तते। सोऽयम् एकस्य संयोगिनः संयोगान्तराद् व्यपगमोऽपायः। तथाहि प्रथमं चलति द्रव्यं तदनन्तरमितरश्चापायः सोऽयं भवति विभागः' (कातन्त्र-टीका)।

यह अपादान जिस प्रकार वास्तव होता है, उसी प्रकार बौद्ध (= बुद्धिकृत, काल्पनिक) भी होता है। भाष्यकार ने इस विषय को अच्छी तरह से समझाया है। जैसे 'वृक्षात् पर्णं पतति' में वृक्ष का वास्तव अपादानत्व है, उसी प्रकार 'अधर्माद् विरमति' (अधर्म से हटता है) वाक्य में 'अधर्म' विराम-क्रिया के प्रति ध्रुव होने के कारण अपादान है। पर, यह अपादान वास्तव नहीं है, बौद्ध है; यहां भी एक प्रकार का मानस 'अपाय' है। बात यह है कि जो प्रेक्षापूर्वकारी व्यक्ति है, वह समझता है कि अधर्म से कष्ट होता है, अतः वह अधर्म से निवृत्त होता है; यहाँ भी उस व्यक्ति का बुद्धिकृत (मानसिक) विश्लेष है, अतएव यह भी अपादान ही हुआ। भाष्यकार ने कई उदाहरणों से इसे समझाया है। यथा—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इह तावत् 'अधर्माद् जुगुप्सते', 'अधर्माद् बीभत्सते' इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति। स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्त्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्। इह धर्माद् विरमति, धर्माद् निवर्त्तत इति धर्मात् प्रमाद्यति धर्मात् मुह्यतीति। य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति नेदं किञ्चिद् धर्मो नाम नैनं करिष्यामीति स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्त्तते, तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्" (भाष्य १।४।२४)।

पाणिनि के अपादान-प्रकरण के सभी सूत्र इस प्रकार बौद्ध अपाय माने जाकर भाष्यकार के द्वारा प्रत्याख्यात हुए हैं। भाष्यकार का यह दृष्टिकोण अन्यान्य व्याकरण-संप्रदायों को भी मान्य है। कलाप-टीकाकार कहता है—'न हि कायप्राप्तौ एवापायः, किन्तर्हि चित्तप्राप्तौ अपि'। कातन्त्र की कविराज-पञ्जी-टीका में भाष्यकारीय मत को हू-ब-हू माना गया है (चतुष्टय २१४ सूत्र)।

बौद्ध अपादान का यह विचार और भी विस्तृत क्षेत्र में प्रवर्त्तित किया गया है। कर्म और अधिकरण के स्थान पर कहीं-कहीं पञ्चमी विभक्ति का विधान किया गया है (भाष्य २।३।२८)। भाष्यकार ने इसका भी, बौद्ध अपाय मानकर, प्रत्याख्यान किया है। जैसे, 'आसनात् प्रेक्षते' (आसन में बैठकर देखता है) या 'प्रासादात् प्रेक्षते' वाक्य के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि यहाँ भी बौद्ध अपाय है। उनका वाक्य इस प्रकार है—'इह तावत् प्रासादात् प्रेक्षते, शयनात् प्रेक्षते इत्यपक्रामति तत् तस्माद् दर्शनात्। यद्यपक्रामति किं न अत्यन्ताय अपक्रामति? सन्ततत्वात्। अथवा अन्यान्यप्रादुर्भावात्। अन्या च अन्या च प्रादुर्भवति' (भाष्य २।३।२८)। बात यह है कि प्रेक्षण-क्रिया में भी दर्शन-क्रिया एक स्थान से अन्य स्थान में जाती है। सुतरां यहाँ भी अपाय है और अपाय की अवधि मानकर प्रासाद और शयन का अपादानत्व सिद्ध होता है।

बौद्ध अपाय के विषय में आकर-ग्रंथों में बहुत पुष्कल विचार है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

अपादान के दो प्रकार (सक्रिय-निष्क्रिय भेद से) पहले कहे गए हैं। कारकोल्लास में भी सोदाहरण यह मत मिलता है ('अपादानमिदं द्वैधमचलं चलमित्यपि, पर्वताद् अवतीर्णोऽसौ धावतोऽश्वात् पपात सः—७६ श्लोक)। अन्य दृष्टि में इसके तीन भेद होते हैं—निर्दिष्टविषय, उपात्तविषय तथा अपेक्षितक्रिय; जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—

'निर्दिष्टविषयं किञ्चित् उपात्तविषयं तथा।
अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते॥' (साधन॰ १३६)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोण्डभट्ट ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है[1]—निर्दिष्टविषय 'अपादान' = यत्र साक्षाद् धातुना गतिः निर्दिश्यते (=जहाँ धातु के साक्षात् रूप से गति का निर्देश किया जाता है)। जैसे, 'अश्वात् पतति'। यहाँ गति = विभागजनक क्रिया है। उपात्तविषय अपादान = यत्र धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह (=धातु से धात्वन्तर अर्थगर्भित विषय है जिसका)। जैसे—'बलाहकाद् विद्योतते'। यहाँ निःसरणाङ्ग-भूत विद्योतन द्युत् धातु का अर्थ है। यहाँ समभिव्याहृत धातु में गतिरूप विषय लक्षित हुआ है।[2] अपेक्षितक्रिय अपादान = 'अपेक्षिता क्रिया यत्र' (=धातु का उल्लेख नहीं रहने पर भी जहाँ आकांक्षिता क्रिया विभक्ति की प्रयोजिका होती है), जैसे—'कुतो भवान्' (आप कहाँ से) के उत्तर में 'पाटलिपुत्रात्' (पाटलिपत्र से) वाक्य में देखा जाता है। यहाँ दोनों स्थलों में आगमन-क्रिया का अध्याहार कर अपादान माना जाता है।

सम्प्रदान के कारकत्व के विषय में पहले जैसा संशय किया गया था, अपादान के कारकत्व में भी वैसा ही संशय किया जा सकता है। चूँकि, प्रकृत धातूपात्त क्रिया का सम्बन्ध अवधि से नहीं होता और अवधिजन्य विभाग से ही अवधि का सम्बन्ध रहता है, अतः क्रिया से अवधि का कोई सम्बन्ध नहीं है; वस्तुतः क्रिया-सिद्धि में अपादान का कोई भी उपयोग प्रतीत नहीं होता, इसलिये अपादान को कारक क्यों माना जाए, ऐसा प्रश्न हो सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अपादान में पञ्चमी-विभक्ति के विधानार्थ अपादान को कारक माना गया है; यह विभक्ति-विधान तो 'क्रियाजन्य अपाय की जो अवधि है, उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है', ऐसा अनुशासन कर भी किया जा सकता है; अतः अपादान को कारक मानने की कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्राचीन आचार्य इसके उत्तर में कहते थे कि 'अवधि-रूपमें अवस्थान' ही

१—इन तीनों भेदों की स्पष्टतर व्याख्या दण्डनाथ ने की है, यथा—'यत्र धातुना अपायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तत् निर्दिष्टविषयम्, यथा पर्वतादवरोहति। यत्र तु धातुर्धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा कुसूलात् पचतीति। अत्र आदानाङ्गे पाके पचिर्वर्त्तते। यत्र क्रियावाचि पदं न श्रूयते केवलं क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः (सरस्वतीकण्ठाभरण-वृत्ति १।१।६५)।

२—इसका स्पष्ट अर्थ यह है—बलाहकात् निःसृत्य ज्योतिर्विद्योतते। बलाहकाद्वा विद्योतमानं निःसरतीत्यर्थः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपादान का व्यापार है, और इसीलिये वह कारक है'।[1]

अधिकरण—सभी प्रसिद्ध आचार्यों ने इसका लक्षण 'आधारोऽधिकरणम्' कहकर ही किया है (अष्टा० १।४।३४; जैनेन्द्र० १।२।१४०; सुपद्म० २।१।२१; प्रयोगरत्नमाला १।६।१६; चन्द्र० २।१।८८)। कातन्त्र में भी 'य आधारस्तदधिकरणम्' (२।४।११) कहा गया है।

इस आधार का आधेय कौन है, यह विशेष रूप से विचार्य है। मुग्धबोध में 'कालभावाधार' कहा गया है (३१० सू०), अर्थात् काल और क्रिया का आधार अधिकरण है। यहां वस्तुतः क्रिया ही मुख्य है और काल गौण है; क्योंकि अधिकरण का प्रयोग मुख्यतः क्रियाधार में ही होता है। यह क्रिया किसकी है, इसके विषय में हेमचन्द्र का सूत्र है—कर्त्तृकर्मान्तरितक्रियाधारोऽधिकरणम्', (२।२।३०) अर्थात् कर्त्ता से व्यवहित क्रिया या कर्म से व्यवहित क्रिया का आधार अधिकरण है। चूंकि, सामान्य क्रिया का 'आधार' अधिकरण नहीं है, बल्कि कर्त्तृकर्मान्तरित क्रिया का आधार 'अधिकरण' है, अतएव कहीं-कहीं कर्त्तृकर्माधार को भी अधिकरण कहा गया है, जैसा कि हरिनामामृत में कहा गया है—'कर्त्तृकर्माधारोऽधिकरणम्' (४।६।८)।

अब पाणिनीय सम्प्रदाय में इसका जो विचार है, उसे दिखाया जा रहा है। भर्त्तृहरि ने कहा है—'कर्त्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्, उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्' (साधन० १४८)। अधिकरण कर्त्ता या कर्म की क्रिया का धारण करता है और यह धारण करना क्रिया-सिद्धि में सहायक होता है, इसलिये यह कारक है। (आधार शब्द का अर्थ व्यापार का आधार है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा)। इस कारिका का आश्रयण कर नागेशभट्ट ने कहा है—'कर्त्तृकर्मद्वारकफलव्यापाराधारत्वमधिकरणत्वम्' (मञ्जूषा)। यह मत कलाप-सम्प्रदाय में भी मान्य है—'क्रियाधारभूतकर्त्तृकर्मद्वाराधारत्वमधिकरणत्वम्' (सुषेण का मत)।

१—यह उत्तर अत्यन्त सामान्य जान पड़ता है, पर ध्यान देने से इसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट होती है। किसी भी द्रव्य के पतन में उसकी अवधि की प्रकृति भी कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होती है। सचल द्रव्य से पतन-क्रिया, अचल द्रव्य से पतन-क्रिया, इत्यादि क्रियाओं में पतन-क्रिया में पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य उत्पन्न होते हैं, जिनका विवरण आधुनिक वैज्ञानिक ग्रंथों में द्रष्टव्य है। अतएव पतन-क्रिया के वैशिष्ट्य के प्रति अवधि की कारणता अनस्वीकार्य है, और इसीलिये अवधिभूत अर्थ को अपादान-कारक कहना उचित ही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकरण के इस लक्षण को एक उदाहरण से समझाया जा रहा है। एक वाक्य लीजिये—'रामः स्थाल्याम् अन्नं पचति' (राम स्थाली में खाना पकाता है)। यहां पाक-क्रिया का आधार राम ही है और उस क्रिया का फल (= विक्लित्ति) अन्न में रहता है, सुतरां व्यापार और फल का आधार स्थाली नहीं हो सकती। पर पाक-क्रिया की सिद्धि के लिये स्थाली अपरिहार्य है और स्थाली में ही पाक होता है, अतएव स्थाली असाक्षात् रूप से पाक-क्रिया का धारण करती है, और इसीलिये वह अधिकरण-कारक है। पर, ऐसा भी उदाहरण है,. जहाँ अधिकरण का साक्षात् क्रियाधारत्व भी देखा जाता है, जैसे 'गले बद्ध्वा गौः नीयते' (गले में बाँधकर गाय लाई जाती है) वाक्य में नयन-क्रिया में गले का साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान है। इसके दो समाधान हो सकते हैं। प्रथम—'अवयवेऽपि अवयवी विद्यते इति यन्मतं तन्मते गलेऽपि बन्धनक्रियाधारो गौः विद्यत इति न दोषः'। अन्य समाधान इस प्रकार है—'यदेव क्रियाधार-भूतत्वेन विवक्ष्यते तदेवाधिकरणम्। परम्परया क्रियाधारत्वमधिकरणत्वमिति यदुक्तं पञ्जिकायां तदुपलक्षणं वेदितव्यम्। तेन कर्त्तृकर्मान्यतरद्वारा साक्षाद्वा क्रियाधारत्वमधिकरणत्वम्' (ये दो मत सुषेण विद्याभूषण ने कहे हैं)। पाणिनीय सम्प्रदाय को इसमें आपत्ति नहीं है।

अधिकरण और क्रिया के संबन्ध में पाणिनीय संप्रदाय में दो मत मिलते हैं। कैयटादि प्राचीनों का मत यह है कि अधिकरण-कारक का परंपरा-संबन्ध से साक्षात् क्रिया में अन्वय होता है। नवीन आचार्यों का मत है कि कर्त्ता और कर्म के साथ ही अधिकरण का साक्षात् अन्वय होता है और उसके द्वारा क्रिया में अन्वय होता है। इन दोनों मतभेदों से फलभेद होता है, जिसका विचार वैयाकरणभूषणसार की प्रभा-टीका (पृ० २०३) में द्रष्टव्य है। अधिकरण के कई अवान्तर भेद माने गए हैं। हम यथाक्रमउनका उल्लेख कर रहे हैं। पतञ्जलि ने तीन प्रकार के अधिकरण माने हैं: अधिकरणं नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकम्, औपश्लेषिकं, वैषयिकमिति' (भाष्य ६।१।७७)। किसी के मतानुसार एक सामीपिक अधिकरण भी है, जैसे 'नद्याम् आस्ते' (नदी में रहता है) वाक्य में नदी = नदी का समीप स्थान है। औपश्लेषिक = एकदेश-संबन्ध से रहना, जैसे 'कटे आस्ते' का अर्थ है, कट के एक स्थान में स्थित। यह कर्त्तृद्वारा क्रियाधार का उदाहरण है। कर्मद्वारा क्रियाधार का उदाहरण है—'स्थाल्यां पचति' (स्थाली में पाक करता है) वैषयिक अधिकरणका उदाहरण है, 'मोक्षे इच्छा अस्ति'(मोक्षविषयक इच्छा है)। अभिव्यापक का उदाहरण है, 'तिलेषु तैलम्' (तिल के सर्वावयव में तैल है)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विट्ठल ने इन चार प्रकार के अधिकरणों की सुन्दर व्याख्या की है, यथा— 'आधाराधेययोः अन्यत्र सिद्धयोः प्रादेशः संबन्ध उपश्लेषः,तत्र भवः औपश्लेषिकः। सामीप्यं सान्निध्यम् तत्र भवः सामीपिकः। विषयस्त्वनन्यत्र भावः। तत्र भावोऽप्युपचारेण विषयः। अपृथग्देशयोराधाराधेययोर्यः सकलावयवसंबन्धस्तत्र भवो व्याप्तः' (प्रसाद २।२।३६, पृ० ४५५)।

विट्ठल वैषयिक अधिकरण के उदाहरण (तर्के कुशलः) पर यह शङ्का उठाते हैं कि 'अस्ति' क्रिया आश्रयभूत कौशल के साथ तर्क का न संयोग-संबन्ध है और न समवाय-संबन्ध ही, अतः तर्क कैसे कौशल का आधार हो सकता है? उत्तर में उन्होंने कहा है कि चूंकि, यहाँ कौशल की स्थिति तर्काधीन है, अतः कौशल के प्रति तर्क का आधारत्व सिद्ध ही है। यहाँ हम उनके उत्तर को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—'यतो यदधीना यस्य स्थितिः स विनापि संयोगसमवायाभ्यां तस्याश्रयो भवति, यथा पुरुषस्य राजा। अत्र यद्यपि राजा पुरुषस्य संयोग-समवायौ न, तथापि तदायत्तस्थितित्वाद् राजाश्रयः पुरुष इत्युच्यते लोके। तथात्रापि कौशलस्य तर्काधीनस्थितित्वाद् युक्तं तर्कस्य कौशलं प्रति आधाराधेयभावः। गुरौ वसतीत्याद्यपि विषयस्योदाहरणं ज्ञेयम्' (प्रसाद-टीका, पृ० ४५६)।

हमने पहले सामीपिक अधिकरण का उल्लेख किया है (नद्याम् आस्ते—उदाहरण में)। पर, यह वस्तुतः औपश्लेषिक अधिकरण में ही आ जाता है, अतएव इसकी पृथक् गणना क्यों की गई है, ऐसी शङ्का हो सकती है। इसका एक संगत उत्तर रामतर्कवागीश ने दिया है—'सामीपिकस्य औपश्लेपिकत्वेनैव सिद्धे पृथगुपादानं लक्षणया ज्ञेयपदार्थस्यापि आधारत्वज्ञापनार्थम्। तेन 'अंगुल्यग्रे करिशतम्' इत्यत्र अंगुल्यग्रनिर्दिष्टस्यापि आधारत्वमिति' (प्रमोदजननी टीका)। कोई-कोई इन चार आधारों के अतिरिक्त एक 'औपचारिक' आधार भी मानते हैं। उपचार = अविद्यमान का आरोप। 'उपचारे भवम् औपचारिकम्'। उदाहरण—'करशाखाशिखरे करेणुशतम् आस्ते'। कोई-कोई 'नैमित्तिक' अधिकरण भी मानते हैं। नैमित्तिक = निमित्तं हेतुः, तत्र भवं नैमित्तिकम्, यथा 'युद्धे सन्नह्यते धीरः' (युद्ध के निमित्त धीर सन्नद्ध होता है)। इन छहों अधिकरणों के उदाहरणों को प्रदर्शित करने वाली एक कारिका का उल्लेख श्रीगुरुपदजी ने किया है—

'कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्।
युद्धे सन्नह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणां शतम्' ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारकों का बलाबल—पूर्वाचार्यों ने इन कारकों के बलाबल पर भी विचार किया है। इस विषय में प्रसिद्ध कारिका यह है—

'अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्।
कर्त्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्त्तते॥'

अर्थात्, अपादान-सम्प्रदान-करण-अधिकरण-कर्म-कर्त्ता—इन कारकों में पर-पर पूर्व-पूर्व से बलवान् है। यह नियम कारिकाकार का कल्पित नहीं है, बल्कि पाणिनि ने कारकों का विवरण जिस क्रम से दिया है, उस क्रम से ही यह नियम सिद्ध होता है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय, चतुर्थ पाद में कारक-प्रकरण है। वहाँ कारकों का क्रम भी पूर्वोक्त क्रम के अनुसार ही है। पाणिनि का नियम है 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२), अतः पूर्व-पूर्व कारक से पर-पर कारक बलवान् है, यह पाणिनिसिद्ध नियम ही है।

कारकों के बलाबल का सोदाहरण विवेचन कैयट ने किया है। यथा—'कारकसञ्ज्ञा तु वस्तुस्थित्या विद्यमानमुद्भूतत्वेन अविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीनां विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते। यत्र च शक्तीनां निमित्त-निमित्तिभावेन युगपद् विवक्षा तत्र संज्ञानां विप्रतिषेध उच्यते, यथा धनुषा विध्यतीति विनापायविवक्षया धनुषः साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे परत्वात् करणसंज्ञा। असिः छिनत्तीति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् परत्वात् कर्त्तृसंज्ञा। तदा तु तैक्ष्ण्यादीनां करणत्वम्। तैक्ष्ण्यादीनां तु कर्त्तृत्वविवक्षायामात्मनः करणत्वम्। तैक्ष्ण्यमेव हि विवक्षावशाद् द्वेधाऽवतिष्ठते कर्त्तृत्वेन करणत्वेन च। वस्तुस्थित्या तु एक एव अर्थात्मेति कर्त्तृत्वं करणत्वस्य बाधकमुच्यते' (प्रदीप १।४।२३)। इस वाक्य में यह स्पष्ट किया गया है कि क्यों कर्त्ता को करण या करण को कर्त्ता माना जा सकता है। अर्थ स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या अनावश्यक है।

अन्य कारक की सत्ता—छहों कारकों की सिद्धि के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अन्य कारक नहीं हो सकता, या क्या इनमें से किसी कारक को कारक-सूची से हटाया नहीं जा सकता? हम देखते हैं कि हिन्दी में सम्बन्ध और सम्बोधन को भी कारक माना जाता है, तथा कुछ प्राचीन भाषाओं में अपादान आदि कारकों को नहीं माना गया है, इत्यादि। उत्तर में वक्तव्य है कि पूर्वाचार्यों ने भी इस तथ्य को लक्ष्य किया था और उन्होंने विचार कर यह दिखाया है कि क्यों सम्बोधन और सम्बन्ध कारक नहीं हो सकते। संक्षेप में उनका विचार इस प्रकार है:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाब्दिकों ने सम्बन्ध को कारक नहीं माना; क्योंकि क्रिया के साथ उसका कोई भी अन्वय प्रतीत नहीं होता ('सम्बन्धस्य कारकत्वं नास्ति क्रियायोगाभावादिति शब्दिकाः'—भवानन्दकृत कारकचक्र पृ० ४–५)। वैयाकरणों ने स्पष्ट ही 'क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थः कारकं तच्च षड्विधम्, कर्तृ-कर्मादिभेदेन शेषः सम्बन्ध इष्यते' कहकर सम्बन्ध को कारक से विजातीय ही माना है। पाणिनि ने भी कारक-विवरण में 'सम्बन्ध' का उल्लेख नहीं किया, इससे पाणिनि भी सम्बन्ध को कारक नहीं मानते थे, यह सिद्ध होता है।

इस विषय में अधिक विचार करने पर यह प्रश्न उठता है कि सम्प्रदान और और अपादान यदि कारक हो सकते हैं, तो सम्बन्ध कारक क्यों नहीं? यह भी सत्य है कि कहीं-कहीं सम्बन्ध का भी क्रियानिमित्तत्व लोक में दृष्ट होता ही है। इस प्रश्न का उत्तर जगदीश तर्कालंकार ने दिया है, यथ—'षष्ठ्यर्थस्तु सम्बन्धो न धात्वर्थे प्रकारीभूय भासते तण्डुलस्य पचतीत्याद्यप्रयोगात्, अतः सम्बन्धो न कारकम्' (शब्दशक्तिप्रकाशिका ६७ श्लो०)। वस्तुतः, कर्तृ कर्म आदि रूप में ही यदि क्रिया के साथ योग हो, तब वह कारक होगा, अन्यथा नहीं–यह भर्तृहरि ने समझाया है, यथा—

'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतयां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ॥'[1] (वाक्यपदीय,साधन १५६)।

इसकी व्याख्या में हेलाराज ने जो कहा है, उससे सम्बन्ध का कारकत्व खण्डित हो जाता है, पर उससे सम्प्रदान-अपादान का कारकत्व भी सन्दिग्ध हो जाता है। सम्बन्ध के कारकत्व-निरास के लिये नागेशभट्ट की युक्ति द्रष्टव्य है, यथा—'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति इत्यादौ ब्राह्मणस्य न कारकत्वं पुत्रेण अन्यथासिद्ध्या तत्त्वाभावात्। अतएव एषां क्रियायामेवान्वयः ××× सर्वेषां च कारकाणां स्व-स्वावान्तरक्रियाद्वारा प्रधानक्रिया-निष्पादकत्वं बोध्यम्। असन्निहितसम्प्रदानस्यापि दात्तृबुद्धिस्थत्वावश्यकत्वेन स्वज्ञानपूर्वकालत्वेनैव जनकत्वम्' (लघुशब्देन्दु० १।४।२३.)।

सारांश यह कि सम्बन्ध अवश्य ही क्रियाकारकपूर्वक है, पर वह कारक नहीं है। 'कारक' से कर्म, करण आदि छहों का ही ग्रहण शास्त्रकार को इष्ट

१—इस कारिका की व्याख्या में विट्ठल ने कहा है,—'तत्र श्रुतायां क्रियायां माषाणाम् अश्नीयादित्यादि, अश्रुतायां तु राज्ञ पुरुष इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं; अतः चूँकि कारक शब्द पारिभाषिक है, इसलिये 'सम्बन्ध कारक क्यों नहीं हैं', यह प्रश्न उठता ही नहीं। सम्बन्ध अन्यथासिद्ध होता है, यह नागेशीय युक्ति संगत ही है, और यदि कहीं यह युक्ति भी व्यभिचरित हो जाए, तो भी 'सम्बन्ध' कारक नहीं होगा; क्योंकि कारक एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ कर्तृ-कर्मादि छह ही हैं।

सम्बोधन को भी कारक नहीं माना गया है। इसका अर्थ है—'अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्'। इस लक्षण को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

'सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियायां विनियुज्यते'॥ (साधन० १६३)।

इससे सूचित होता है कि संबोधन-पद से जिसको बुलाया जाता है (अभिमुखीकरण), उसका योग क्रिया में होता है, पर संबोधन का नहीं होता। 'हे राजन् सार्वभौमो भव' कहने से अस्तित्व-क्रिया से सार्वभौम का योग होता है, पर 'राजन्' (संबोधन) का योग क्रिया के साथ नहीं होता। वाक्य से जिस क्रिया का बोध मुख्यतः होता है, उस से सम्बोधन का योग नहीं होता ('सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगमः'—वाक्यपदीय साधन० १६४)। संस्कृत-वैयाकरणों ने सम्बोधन को क्रिया में विशेषण माना है और विशेषण हो जाने से क्रिया-सिद्धि में उसका योग नहीं रहता, व्यधिकरण रूप से क्रिया का विशेषण बनता है। भर्तृहरि ने निम्नोक्त कारिका में यह बात कही है—

'संबोधनपदं यच्च तत् क्रियायां विशेषणम्।
व्रजानिदे वदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति'॥ (वाक्यपदीय २।५)।

इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। एक वाक्य लीजिए—'हे देवदत्त, त्वं अहम् व्रजानि' (हे देवदत्त, मैं जाऊँ)। यहाँ गमन-क्रिया के साथ देवदत्त का सामानाधिकरण्य (एकत्रावस्थान) नहीं है, और वैयधिकरण्य-रूप से ही देवदत्त 'व्रजानि' क्रिया का विशेषण है। इसलिये, 'देवदत्त व्रजानि' का अर्थ होगा—देवदत्तामन्त्रणविशेषिता व्रजनक्रिया'। इससे सिद्ध होता है कि संबोधन-पद यद्यपि प्रकृतिगत विशेष्य है, पर क्रिया के साथ उसका संबन्ध विशेषण-रूप से ही होता है। क्रिया के प्रति विशेषण होने के कारण ही हम संबोधन को कारक नहीं मानते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निश्चित है कि कारकों की संख्या को घटाया भी नहीं जा सकता। हमने प्रत्येक कारक की व्याख्या में उसके क्रियान्वयित्व को स्पष्ट दिखाया है। यतः उनमें कारक का लक्षण चरितार्थ होता है, अतः कारक-सूची से किसी कारक को हटाना अन्याय्य होगा।

निबन्ध में मुख्य-मुख्य बातों का ही संग्रह किया गया है। कातन्त्र आदि अपाणिनीय संप्रदायों के विचारों के संकलन के लिये हम श्रद्धेय गुरुपद हालदार एवं क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी के प्रति कृतज्ञ हैं; जिन अन्यान्य आधुनिक ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उनके प्रति भी हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के प्रशंसा-पूजादिपरक सूत्र

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनका सम्बन्ध प्रशंसा तथा पूजा से है। किसी के प्रति श्रद्धा, प्रशंसा तथा निन्दा का भाव व्यक्त करना मानव का सहज स्वभाव है, अतएव उसकी भाषा में भी ऐसे बहुत से शब्द या वाक्य होते हैं, जिनकी ध्वनि इन भावों से अनुविद्ध रहती है। प्रशंसा (तथा निन्दा) कभी-कभी शब्द का वाच्य होती है, कभी द्योत्य और कभी अन्य कुछ। शब्दों के द्वारा प्रशंसा कितने रूपों से प्रकटित हो सकती है, यह अष्टाध्यायी के सूत्रों से ज्ञात होता है। हम इस निबन्ध में प्रशंसा-पूजापरक सूत्रों पर संक्षेप से आलोचना करना चाहते हैं।

व्याकरणीय प्रक्रिया में प्रशंसा का स्वरूप—पाणिनि का सूत्र है—प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६), जिसका अर्थ है—'प्रशंसा के अर्थ में जो प्रतिपादिक विद्यमान है, उससे स्वार्थ में रूपप् प्रत्यय होता है'। इस प्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट जानना चाहिए, अन्यथा यह शङ्का होती है कि 'वृषलरूप' और 'चोररूप' (=प्रशस्त वृषल,प्रशस्त चोर) शब्द प्रशंसा में कैसे निष्पन्न होते हैं, क्योंकि चोर या वृषल की प्रशंसा नहीं हो सकती। इस शंका के समाधान में पतञ्जलि ने कहा है कि 'प्रशंसा' 'प्रकृति के अर्थ की विस्पष्टता' है, अर्थात् अपने व्यापार में जब किसी की पटुता का प्रकर्ष होता है (चाहे वह व्यापार निन्द्य या अभिनन्दनीय हो), तब वह ५।३।६६ सूत्र-दर्शित प्रशंसा है, जिसके ज्ञापन के लिये रूपप्-प्रत्यय किया जाता है। पतञ्जलि ने इस सूत्र का उदाहरण देकर समझाया है कि जो सामान्यतः चोरी करता है, वह चोर है, पर उस चोर की प्रशंसा (५।३।६६ सूत्र में दर्शित) तब होगी जब वह आँखों के अञ्जन की भी चोरी कर सके (चोर-रूपोऽयम्, अप्ययम् अक्ष्णोरञ्जनं हरेत्)।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र में दर्शित प्रशंसा किसी विशिष्ट व्यक्ति के व्यापार की पटुता है, और प्रकारान्तर से इस प्रशंसार्थक शब्द का प्रयोग निन्दा में भी किया जा सकता है, यदि उस प्रकार की विवक्षा की जाए। प्रश्न हो सकता है कि प्रशंसार्थक शब्द का प्रयोग निन्दा में कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि यह 'विवक्षा की महिमा' से ही संभव होता है। आचार्य कैयट ने कहा है कि जो प्रशंसावाची शब्द हैं, उनका निन्दावचनत्व भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखा जाता है, जैसे जब किसी पुरुष को 'राक्षस' कहा जाता है, तब यदि पुरुषातिशय की विवक्षा हो तो प्रशंसा होगी और निघृणत्व की विवक्षा हो तो निन्दा होगी।[1]

पूर्वोक्त विचार का सार नागेश ने इस प्रकार दिखाया है–'एवं च प्रकृत्यर्थता-वच्छेदकस्य तत्सहचरितगुणानां वा पूर्णत्वमेव प्रशंसा, तस्य परिपूर्णत्वेन क्वचिद् निन्दाप्रतीतस्तु, प्रकरणादिवशाद् गम्येति न दोषः' (उद्द्योत ५।३।६६), अर्थात् प्रकृति' (जिसके बाद प्रत्यय होता है) का जो मौलिक धर्म है या उसके सहचरित जो गुण हैं, उनकी 'पूर्णता' (चाहे वह निन्दनीय हो या पूजनीय) विवक्षित हो तो वह प्रशंसा है; गुण या धर्म के पूर्णतास्थल में यदि निन्दा की प्रतीति होती हो तो वह प्रकरण आदि पृथक् प्रमाणों से ही जानी जाती है; वह शब्द से कथित नहीं होती। वस्तुतः इस सूत्र में प्रशंसा का तात्पर्य 'प्रकृत्यर्थ की पूर्णता' ही है, 'स्तुति' नहीं है। हम आगे उन सूत्रों का भी उल्लेख करेंगे, जहाँ स्तुति के अर्थ में प्रशंसा का प्रयोग किया गया है।

प्रशंसा और पूजा का स्वरूप—पूर्वाचार्यों ने अष्टाध्यायीगत प्रशंसा और पूजा शब्द के अर्थ पर यद्यपि विशेष विचार नहीं किया है, तथापि उनकी वचोभंगी से इन दोनों का स्वरूप जाना जा सकता है। पाणिनि का सूत्र है—'अर्हः प्रशंसायाम्' (३।२।१३३)। काशिका में प्रशंसा = स्तुति कही गई है और स्तुति को ही अन्यान्य व्याख्याकार पूजा कहते हैं, जैसा कि इस सूत्र के 'अर्हन्' उदाहरण की व्याख्या में वासुदेव ने कहा है--'पूजां प्राप्तुं योग्यः'। 'अर्हन्' (भवान् विद्याम् अर्हन्) पद में प्रशंसा का भाव कैसे आता है, इस विषय में वासुदेव ने युक्ति दी है—'प्रशस्तस्यैव पूजायोग्यत्वात् प्रशंसा गम्यते' (बालमनोरमा), अर्थात् जो (क्रिया, व्यक्ति, द्रव्य) प्रशस्त होता है, वही पूजा-योग्य होता है और इसीलिये तत्संबंधी पद से प्रशंसा का भाव द्योतित होता है। इससे पूजा और प्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यदि हम प्रशंसा = क्रिया में पटुता का उत्कर्ष और पूजा = योग्यतोत्कर्ष के कारण सम्मान—ऐसा अर्थ करें तो यह संगत होगा, पर यह अर्थभेद व्याकरण में सर्वत्र घटता है या नहीं, यह लक्षणीय है।

१—सत्येव पाटवादेर्वैस्पष्ट्ये प्रशंसासद्भावाद् विवक्षावशाच्च येषामेव प्रशंसा-वाचित्वं तेषामेव निन्दावचनत्वं दृश्यते, यथा 'राक्षसः' इति पुरुषातिशय प्रति-पादने प्रशंसा गम्यते निघृणत्वप्रतिपादने तु निन्दा (प्रदीप ५।३।६६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा के स्वरूप-ज्ञान के लिये 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' (५।२।१२०) सूत्र द्रष्टव्य है (प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाद् रूपशब्दात् मत्वर्थे यत्)। इससे 'रूप्य' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—प्रशस्तरूप-संपन्न। जब प्रशंसा का भाव नहीं रहता, तब 'रूपवान्' पद बनता है। अब यदि रूप्य और रूपवान् का अर्थभेद प्रयोगादि से निश्चित किया जा सके तो यह भी निश्चित होगा कि गुण के किस परिमाण को लक्ष्य कर उसे 'प्रशंसाविशिष्ट गुण' कहा जाता है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ रूप से प्रशंसाविशिष्ट रूप लिया गया है, पर जिसे हम 'रूपवान्' कहते हैं, वह भी केवल 'रूपयुक्त' नहीं होता, प्रत्युत व्यवहार में प्रशंसा विशिष्ट रूपवान् ही होता है। अतः रूप्य और रूपवान् के अर्थों में क्या भेद है, यह चिन्तनीय है।

प्रशंसा के विषय में यह शंका भी होती है कि पाणिनि ने अतिशय के अर्थ में 'तमप्' प्रत्यय का विधान किया है—'अतिशयेन तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) और प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६) सूत्रीय प्रशंसा का अर्थ भी विस्पष्टता (=प्रकर्षातिशय) है, अतः क्या इन दोनों सूत्रों में द्विरुक्तिदोष नहीं है? उत्तर नकारात्मक होगा क्योंकि तमप् प्रत्यय जिस अतिशायन के अर्थ में होता है, वह समान प्रतियोगी की अपेक्षा से होता है, (अर्थात् सुन्दरतम का जो सौन्दर्यातिशय है, वह किसी की अपेक्षा से है) और जो ५।३।६६ सूत्रीय अतिशय है, वह निरपेक्ष है (अर्थात् जो चोर चोररूप है, वह किसी की अपेक्षा से नहीं है, तुलना की कोई विवक्षा वहाँ नहीं है, प्रत्युत स्वयं उसमें उत्कर्ष का आधान है)—यह इन दोनों अतिशयों में भेद है। इस व्याख्या से 'सापेक्ष अतिशय' और 'निरपेक्ष अतिशय'—रूप दो विभाग सिद्ध होते हैं। X

प्रयोगगम्य प्रशंसा :—यतः प्रशंसा आदि मनोभाव सर्वत्र शब्द से ध्वनित नहीं होते और ये कभी कभी प्रकरण-गम्य या अन्य प्रमाण से विज्ञेय होते हैं, अतः कहीं-कहीं पाणिनीय सूत्रों में 'प्रशंसायाम्' ऐसा शब्दतः नहीं कहा गया, यद्यपि सूत्रनिष्पन्न शब्द का अर्थ प्रयोगों में प्रशंसाविशिष्ट ही होता है। पाणिनि का 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) सूत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। सूत्रकार ने कण्ठतः इतना ही कहा है—'तद् अस्य अस्ति' या 'तद् अस्मिन् अस्ति' इन दोनों अर्थों में मतुप् प्रत्यय होगा। पर केवल विद्यमानता में ही मतुप् प्रत्यय नहीं होता, बल्कि विद्यमानता के साथ संख्या-बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, नित्यसंबंध, अतिशय आदि भाव अनुस्यूत रहने पर ही मतुप्प्रत्यय होता है; जैसे यवमान् का अर्थ यह नहीं कि 'जिसके पास एक यव है' वरन् बहुत यवों का स्वामी 'यवमान्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहलाता है। यतः ये प्रशंसा आदि अनुस्यूत भाव सर्वथा लौकिकविवक्षाधीन हैं, अतः पाणिनि ने ५।४।९४ सूत्र में प्रशंसा, निन्दा आदि शब्द नहीं पढ़े. पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये अर्थ पाणिनिसंमत नहीं हैं तथा अपाणिनीय हैं। अर्थ-निर्देश में पाणिनि प्रायः मौन ही रहते हैं, अतः उनकी अनुक्ति मात्र से[1] शब्दार्थ-संबंधी कोई भी निर्णय सहसा नहीं करना चाहिए।

आरोपित प्रशंसा :—प्रशंसा का भाव किस रूप से पदों में अनुस्यूत रहता है, इसका सुन्दर उदाहरण 'राजा च प्रशंसायाम्' (६।२।६३) सूत्र में दर्शनीय है। इस सूत्र से 'राजनापित' शब्द बनता है (कर्मधारय या षष्ठीतत्पुरुष समास में)। हम यह जानते हैं कि ये दो समास उत्तर-पदार्थ-प्रधान होते हैं, अतः इस प्रयोग में 'नापित' की प्रधानता होगी और इस परिस्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि 'राजनापित' में प्रशंसा की संभावना किस रूप से हो सकती है? काशिका में इसका उत्तर दिया गया है, यथा—कर्मधारये राजगुणाध्यारोपेण उत्तरपदार्थस्य प्रशंसा, षष्ठीसमासे च राजयोग्यतया तस्य' अर्थात् कर्मधारय समास में राजा के गुण का नापित पर आरोप किया जाता है, इसलिये नापित की प्रशंसा होती है और षष्ठीसमास में नापित की राजयोग्यता दिखाई जाती है, इसलिये प्रशंसा होती है। राजयोग्य='अपने कर्म में प्रवीण होने के कारण वह राजा के क्षौरादि के लिये उपयुक्त होता है'। इस प्रकार एक नापित का संबंध राजा के साथ जोड़ दिया जाता है, अतः इससे प्रशंसा का भाव द्योतित होता है। इस व्याख्या से यह पता चलता है कि किस रूप से कोई प्रशंसाहीन पदार्थ प्रशंसायुक्त हो सकता है। काशिका के अनुसार यह दो प्रकार से हो सकता है—आरोप द्वारा तथा योग्यता द्वारा।

१—अर्थ-संबंधी निर्णय व्याकरण का मुख्य विषय नहीं है और न इस विषय में पाणिनि का कोई दृढ़ आग्रह ही है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा था—'तस्मादुपस्थितेऽप्यर्थे कस्यचित् प्रतिबध्यते, शब्दस्य शक्तिर्नत्वेषा शास्त्रेऽन्वाख्यायते विधिः' (वाक्यप० उपग्रह समुद्देश, कारिका १७)। व्याकरणीय अर्थनिर्देश किस पद्धति से किया जाता है, इसका संक्षिप्त विचार कुमारिल ने भी किया है (तन्त्रवार्त्तिक १।३।१०)। इस पद्धति को न जानकर अपनी कल्पना के अनुसार शास्त्रीय अर्थ-निर्देशों पर विचार कर जो कुछ निर्णय आधुनिक गवेषक विद्वान् करते हैं, वे प्रायेण भ्रमपूर्ण होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा-शब्दों के प्रकारः—प्रशंसा-वाचक शब्दों के कई प्रकार हैं। यहाँ संक्षेप से उन प्रकारों का उल्लेख (तथा पाणिनीय सूत्रों से उनका प्रतिपादन) किया जा रहा है।

मूलतः प्रशंसागर्भक शब्द चार प्रकार के होते हैं—(क) रूढ़ि शब्द, जैसे, प्रकाण्ड आदि; (ख) यौगिक शब्द, जैसे, प्रशस्त, रमणीय आदि; (ग) विशेषवचन, जैसे शुचि, मृदु आदि; (घ) गौणी वृत्ति से प्रशंसागमक, जैसे 'सिंहो माणवकः' आदि स्थलों में सिंह आदि। रूढ़ि शब्द का उदाहरण 'प्रशंसावचनैश्च' (२।१।६६) सूत्र में है। इस सूत्र में जो 'प्रशंसावचन' शब्द है, उसका अर्थ है—'रूढ़ि से प्रशंसावाचक'। इसके उदाहरण में टीकाकार मतल्लिका, मचर्चिका, प्रकाण्ड आदि ऐसे शब्दों का ही ग्रहण करते हैं जो रूढ़ि से प्रशंसा के वाचक हैं। यौगिक शब्दों (जैसे प्रशस्त आदि) से प्रशंसा का द्योतन होना प्रसिद्ध ही है। शुचि-मृदु सदृश शब्द प्रशंसापरक हैं, वे अभिधेय के किसी निश्चित गुण की प्रशंसा करते हैं। जैसे 'मृदु' का सम्बन्ध 'स्पर्श' से है; अर्थात् ये शब्द प्रशंसा-सामान्य न कहकर प्रशंसकीय किसी विशिष्टता का उल्लेख करते हैं। 'सिंहो माणवकः' में सिंह शब्द से माणवक का शौर्य लक्षित होता है। यह मुख्यतः तुलनामूलक प्रशंसा है। पाणिनि ने भी 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) कहा है, (जिससे 'पुरुषव्याघ्र' शब्द बनता है) जहां सादृश्य का उपपादक साधारण धर्म 'शौर्य' वक्ता के मनमें रहता है पर कंठतः भाषित नहीं होता।

प्रकरणगम्य प्रशंसाः—अष्टाध्यायी में कुछ इस प्रकार के सूत्र हैं, जिनसे निष्पन्न शब्द स्पष्टतः प्रशंसा नहीं प्रकट करते, पर उनसे प्रकरणादि के बलपर प्रशंसा का बोध हो जाता है। इस पद्धति के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:—पाणिनि का सूत्र है—'कृत्यैरधिकार्थवचने' (२।१।३२)। अधिकार्थवचन = स्तुति फलत या निन्दाफलक अर्थवाद-वचन। सूत्रार्थ यह है कि अधिकार्थवचन यदि गम्यमान हो तो कृत्यप्रत्ययान्त शब्दों के साथ समास होगा, जैसे—काकपेया (नदी), वातच्छेद्य (तृण)। इन उदाहरणों में दो बातें लक्षणीय हैं। प्रथम—स्तुति का भाव शब्द में विद्यमान नहीं है, तथा द्वितीय—जो शब्द एक दृष्टि से प्रशंसार्थक है, वह दूसरी दृष्टि से निन्दार्थक हैं, जैसा कि आचार्यों ने दिखाया है; काकपेया = 'काक द्वारा पान करने योग्य' इसमें शब्दतः कोई प्रशंसा नहीं है, पर इसका तात्पर्य है—'जल से भरी हुई' (नदी), अतः इससे स्तुति का बोध होता है। उसी प्रकार 'वातच्छेद्य' का अर्थ है 'वात से छेदन योग्य', पर इसका तात्पर्य है—तृण की अतिकोमलता, जिसके कारण वायु के आघात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वह छिन्न हो जाता है। यहाँ इससे स्पष्ट है कि प्रशंसा (=स्तुति) का बोध प्रकरण या विवक्षा से होता है, शब्दतः नहीं—ये दो उदाहरण यह भी प्रमाणित करते हैं कि प्रशंसा और निन्दा अन्योन्य-परिवर्तनीय भी हैं। जैसे स्तुति की दृष्टि से काक-पेया का तात्पर्य 'जल से परिपूर्णता' में है, पर पूर्ण होती हुई भी जल की धारा क्षीण है (तभी नदी काक द्वारा पान करने योग्य होती है)—यह अर्थ निन्दा की विवक्षा में होगा। उसी प्रकार वातच्छेद्य का तात्पर्य स्तुति की दृष्टि से 'कोमलता' है, पर निन्दा की दृष्टि से निर्बलता ही इस पद से लक्षित होगी (अर्थात् तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी कट जाता है)।

प्रशंसा और निन्दा का विवक्षाभेद-गम्यत्व—विवक्षा-भेद से एक ही शब्द प्रशंसा और निन्दा का द्योतक हो सकता है, इसका उदाहरण 'सुः पूजायाम्' (१।४।९४) सूत्र है। पूजा (=प्रशंसा) के अर्थ में 'सु' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है, जिससे 'सुसिक्त' (=सम्यक् सिक्त) शब्द बनता है। काशिकाकार ने कहा है—'धात्वर्थः अत्रस्तूयते' अर्थात् यहाँ की पूजा धात्वर्थ-सम्बन्धी है, जिससे सेचन-क्रिया की महनीयता प्रतिपादित होती है। पर यदि महनीयता के स्थान पर निन्दा विवक्षित हो, तो (जो सेचन किया गया, वह अच्छा तो है, पर उसका कोई फल नहीं हुआ—इस गूढ़ार्थ में) 'सु' की कर्मप्रचनीय संज्ञा नहीं होगी।

कुछ सूत्रों से यह भाव भी व्यक्त होता है कि जब कोई पदार्थ (क्रिया या द्रव्य) प्रशंसा का हेतु होता है, तब वह शब्द भी प्रशंसा का व्यञ्जक हो जाता है, जैसा कि 'उपात् प्रशंसायाम्' (७।१।६६) सूत्र से पता चलता है। इस सूत्र से 'उपलम्भ्य' शब्द बनता है जिसका योगलभ्य अर्थ है—'समीप में प्राप्य'। यद्यपि यहाँ धातु का अर्थ प्राप्ति ही है, तथापि इस शब्द से प्रशंसा गम्यमान होने के कारण पाणिनि ने 'प्रशंसायाम्' कहा है। इस शब्द में प्रशंसा का भाव कैसे अनुस्यूत रहता है, इस विषय में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने युक्ति दी है, यथा—"सा (प्रशंसा) चेह गम्यमानतया विशेषणम्। धात्वर्थस्तु प्राप्तिरेव तेन यस्य प्राप्तिः यस्माद्वा प्राप्तिः प्रशंसाहेतुर्भवति तदिहोदाहरणम्" (तत्त्वबोधिनी)। इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शब्द के यौगिक अर्थ के साथ प्रशंसा का भाव अनुस्यूत रहता है (सूत्रदर्शित अर्थ को जब विशेषण माना जाता है)।

सामाजिक दृष्टि और पूजा:—अष्टाध्यायी में ऐसे सूत्र भी हैं, जिनसे 'सामाजिक पूजा' का भाव ध्वनित होता है। एक सूत्र है—वृद्धस्य च पूजायाम् (काशिका ४।१।१६६; यह वाक्य काशिका में सूत्ररूप से पठित हुआ है, पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यान्य व्याख्याकार इसे वार्त्तिक समझते हैं)। सूत्र का अर्थ यह है कि पूजा यदि गम्यमान हो, तो गोत्र की युवसंज्ञा होती है। सूत्रीय पूजा का भाव क्या है, इसके उत्तर में वासुदेव ने कहा है—"युवसंज्ञकनामल्पवयस्कत्वेन, वृद्धाधीनत्वेन सुखितया च पूजा" (बालमनोरमा) अर्थात् युवसंज्ञक व्यक्ति अल्पवयस्क होता है, वह वृद्धों के अधीन रहता है (अतः कष्टभार से मुक्त रहता है) तथा सुखी होता है (संसार का दायित्व नहीं रहने के कारण), अतः उसके प्रति पूजा का भाव व्यक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यह पूजा स्तुति नहीं है, प्रत्युत प्रशंसा है।

पूजितमहिमाः—पूजित की महिमा अल्प नहीं है, पाणिनि का सूत्र है—'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (८।२।१००), अर्थात् अभिपूजितवाची शब्द में जो प्लुत है वह अनुदात्त हो जाता है। स्वरप्रकरण में पूजार्थ से सम्बन्धित कई सूत्र हैं, जहां पूजा रूप अर्थ में स्वर में विशिष्ट कार्य होते हैं। सूत्र है—'तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम्' (८।१।३९) अर्थात् 'तु' आदि से युक्त तिङन्त पद अनुदात्त नहीं होता। व्याख्याकार कहते हैं कि 'तु' आदि यहां पूजाविषयक हैं। इस सूत्र का उदाहरण है—माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्'; यहाँ पूजा का भाव कैसे आता है, इसके उत्तर में व्याख्याकार कहते हैं—माणवकस्तु भुङ्क्ते इति आश्चर्ये तु-शब्दः इति भोजनस्य पूजा गम्यते (सुबोधिनी)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ भोजन की पूजा विवक्षित हुई है, क्योंकि यह 'भोजन' आश्चर्यजनक है। इस उदाहरण से पूजा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि आश्चर्यभूत वस्तु के प्रति 'पूजा' होती है, पर यदि अनाश्चर्यभूत वस्तु को असूया के कारण 'आश्चर्यवत्' प्रतिपादित किया जाए, तो वहाँ पूजा नहीं होगी (अनाश्चर्यभूतमेव वस्तु, असूयया आश्चर्यवत् प्रतिपाद्यते न पूजा—सुबोधिनी (८।१।४१)। प्रसंगतः यह भी जानना चाहिए कि आश्चर्य का भाव जहाँ प्रकट रूप से विवक्षित होता है, वहाँ 'पूजा' होती है, पर यदि तत्त्व कथन हो तो 'पूजा' नहीं होगी (सुबोधिनी ८।१।३९)।

पूजा और पूजित से सम्बन्ध रखनेवाला पाणिनि का अन्य सूत्र है—'पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः' (८।१।६७), अर्थात् पूजनवाची काष्ठा आदि शब्दों के बाद पूजित वचन शब्द अनुदात्त होते हैं। यहां जिस काष्ठादिगण का उल्लेख है, उस गण में पठित काष्ठा, दारुण आदि सभी शब्दों के अर्थ के विषय में व्याख्याकार कहते हैं—'अद्भुतपर्यायाः काष्ठादयः पूजावचना भवन्ति' (उद्द्योत)। तात्पर्य यह है कि काष्ठादिगण में जो काष्ठा, दारुण आदि शब्द पठित हुए हैं, वे अद्भुतार्थक हैं, परन्तु समास होनेके कारण पूजार्थक हो जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूजा और पूज्यमान—पूजा के साथ पूज्यमान का अच्छेद्य सम्बन्ध है; पूज्यमान से सम्बन्धित पाणिनि का एक सूत्र भी है–'सन् महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' (२।१।६१)। [सूत्र का अर्थ यह है कि सत्, महत्, परम, उत्तम तथा उत्कृष्ट शब्दों का पूज्यमान समानाधिकरण शब्द के साथ समास होता है]। 'सद्वैद्य' शब्द इसका एक उदाहरण है। इस उदाहरण के विश्लेषण करने पर पूज्यमान का स्वरूप स्पष्ट होगा। पूज्यमान = जिसकी पूजा की जाती है। यहाँ वैद्य को 'सत्' कहा गया है। शास्त्र का सर्वांगीण ज्ञान होना यहाँ का सत्त्व है, जिसके कारण वैद्य की पूजा (= प्रशंसा) होती है। सत्त्व का लक्षण वैद्य में रहने के कारण वह पूज्यमान होता है और पूज्यमानता के बोध के लिये ही यह समास-सूत्र प्रवर्तित है। यदि यहाँ पूज्यमानत्व का बोध न हो, तो यह सूत्र प्रवर्तित नहीं होगा।

इस सूत्र में एक और बात लक्षणीय है। सत्, महत्, उत्कृष्ट आदि शब्द रहने पर भी यदि पूज्यमानत्व का बोध न हो तो समास नहीं होगा, जिससे यह सूचित होता है कि समास के बलपर यहाँ पूज्यमानत्व का बोध होता है। मान लीजिए कि हम उत्कृष्ट (उत्+कृष+क्त) का अर्थ उद्धृत लेते हैं; अब इस अर्थ में (अर्थात् पंक से उद्धृत) पूज्यमान का बोध नहीं होता (उत्कृष्टो गौः—इस विग्रह वाक्य में), इसलिये 'उत्कृष्टवैद्य' की तरह यहाँ समास नहीं होगा।

पूर्वोक्त सूत्र में पूज्यमान के साथ सत् आदि का समास कहा गया है। इस स्थल में अन्य शब्दों के साथ भी पूज्यमान का समास 'वृन्दारक-नागकुञ्जरैः पूज्यमानम्' (२।१।६२) सूत्र में अनुशिष्ट हुआ है। सूत्रार्थ यह है—समानाधिकरण वृन्दारक (देवतावाची), नाग और कुञ्जर (दोनों गजवाची हैं) के साथ पूज्यमान का समास होता है, जैसे 'गोवृन्दारक'। संस्कृत भाषा का साधारण नियम यह है कि समास में विशेषणवाची शब्द प्रायः पहले ही प्रयुक्त होता है, पर इस सूत्रमें विशेष्य शब्द का ही पूर्वस्थापन विहित हुआ है। 'गोवृन्दारक' में पूज्यमानता क्या है, इसके उत्तर में टीकाकार कहता है–-'अत्र गोर्वृन्दारकादि तुल्यत्वात् श्रेष्ठत्वं गम्यते इति पूज्यमानता' (बालमनोरमा)।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र से एक विलक्षणता यह कि इस सूत्र में उपमान-उपमेय-की स्पष्ट प्रतीति रहती है। पूर्व सूत्र में हम 'सन्+वैद्यः इस अर्थ में 'सद्वैद्य' समास बनाते हैं, (किसी के साथ वैद्य को उत्कृष्टता की तुलना का प्रसंग नहीं है), पर इस सूत्र से जो गोनाग और गोकुञ्जर शब्द बनते हैं, उनका विग्रह 'गौः नाग इव', 'गौः कुञ्जर इव' ऐसा उपमान-उपमेय भाव प्रदर्शक ही होता है। टीकाकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि इस तुल्यता के कारण ही पूज्यमानता होती है, जिसको मानकर समास होता है। इन दोनों उदाहरणों से दो प्रकार की पूज्यमानता सिद्ध होती है—प्रथम 'स्वतः' तथा द्वितीय 'किसी की तुलना में'।

प्रमाणभूत आचार्यों की पूजा :—पूजाभाव के ज्ञापन के लिये आचार्य पाणिनि की एक शैली है—'आचार्यनामोल्लेख'। कुछ सूत्रों में पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के नाम लिए हैं, जैसे–'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' (१।२।२५) आदि। पाणिनि के मत में शब्दप्रयोग आचार्याधीन या आचार्य द्वारा नियमित नहीं है, अतः शब्द-निर्देश में आचार्य का नाम क्यों लिया गया—ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसके उत्तर में पतञ्जलि ने कहा है—'काश्यपग्रहणं पूजार्थम्, वेत्येव वर्तते' अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्रयोग की वैकल्पिकता के लिये आचार्य का नाम लिया गया है, क्योंकि 'वा' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से चली आ रही है, बल्कि 'पूजा' के लिये है। यहाँ पूजा = 'आचार्य के प्रामाण्य का स्वीकार' है जैसा कि कैयट ने कहा है—'शास्त्रस्य पूजा पारम्पर्यप्रतिपादनेन अनादित्वात् प्रामाण्यप्रतिपादनात्'–(प्रदीप, तत्रैव)। सूत्रों में आचार्य का नाम 'पूजा के लिये' है, इसका चरम तात्पर्य यही है कि जिस आचार्य ने जिस शब्द का स्मरण किया है, उस शब्द के प्रसंग में यदि उस आचार्य का नाम लिया जाए तो 'पूजा' होती है, जैसा कि पहले ही पूजा = 'प्रामाण्य प्रतिपादन' कहा गया है। स्वयं कैयट ने भी अन्यत्र स्पष्ट रूप से यह कहा है—"विकल्प-प्रतिपादनाय वा-ग्रहणे एव कर्तव्ये पूजार्थम् आचार्या उपादीयन्ते। सा चैवं पूजा भवति–यदि येनाचार्येण यः शब्दः स्मृतः स तेनैव स्मर्तृत्वेन उपदिश्यते। एवं हि तस्य स्मर्तृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुतिः कृता भवति × ×" (प्रदीप ७।२।६३)। स्तुति या पूजा का यह स्वरूप महनीय है और आज भी हम इस पद्धति का सफल प्रयोग कर सकते हैं। इस विलक्षण पूजा का विशेष प्रतिपादन अन्यत्र द्रष्टव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत भाषा के शब्द प्रयोगों पर पूजा या प्रशंसाजनित मनोभाव का प्रर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण शब्दप्रयोगों में अनेक विलक्षणताएँ आ गई हैं। पूजा या प्रशंसा के बोध की उत्पत्ति कितने कारणों से होती है, यह भी उपर्युक्त विचार से स्पष्ट होता है।

—: ❀ :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के क्षेप--कुत्सादिपरक सूत्र

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनसे निष्पन्न शब्दों का तात्पर्य कुत्सा, क्षेप (=निन्दा), असूया, कपटता आदि में होता है। इस निबन्ध में उन सूत्रों तथा सूत्रों से निष्पन्न शब्दों पर विचार किया जा रहा है।

प्रवृत्तिनिमित्त–अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा :—कुत्सा के विषय में व्याकरण शास्त्र में दो प्रकार का दृष्टिकोण है। प्रथम—प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा और द्वितीय—अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा। 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) सूत्र में प्रथम दृष्टिकोण और 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र में द्वितोय दृष्टिकोण की सत्ता उपलब्ध होती है। इन दोनों सूत्रों की व्याख्या में कुत्सार्थक शब्दों पर व्याख्याकारों ने विचार किया है। प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है—'वह विशेषण जिसका आश्रय कर घटादिशब्द अपने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं'। यह प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यतः चार प्रकार का होता है—जाति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया। इन चारों में कुत्सितत्व (=अप्रकर्ष) होने से ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति-निमित्त पर पतञ्जलि ने कहा है—'यस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने तद्गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्' (भाष्य ५।३।४७)। जहाँ प्रवृत्तनिमित्त की कुत्सा नहीं होती, वहाँ यह सूत्र नहीं लगता, जैसा कि पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है कि व्याकरण का विद्वान् यदि शरीर से कृश हो जाए, तो वह उसकी कुत्सा नहीं है, अतः वैयाकरण की शारीरिक कृशता उसके वैयाकरणत्व के अप्रकर्ष का साधक नहीं है। यही कारण है कि कृशता अर्थ में ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती (न च कार्श्यस्य भावाद् द्रव्ये वैयाकरणशब्दः)। भाष्यगत द्रव्य = विशेष्य; गुण = विशेषण।

अप्रवृत्ति निमित्तकुत्सा के विषय में आचार्य कैयट का विचार इस प्रकार है—'यत्र तु प्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सा न सम्भवति—अश्वको देवदत्तकः सकः—इत्यादि तत्र सहचरितगुणक्रियाश्रयेण प्रत्ययो भवत्येव (प्रदीप ५।३।४७)। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तिनिमित्त की कुत्सा संभव नहीं है; उदाहरणार्थ जाति में कुत्सा संभव नहीं, जैसे घटत्व जाति कुत्सित नहीं हो सकती, पर धावनकारी अश्व यदि द्रुत न दौड़ सके तो वह अश्व कुत्सित कहलाएगा; इस स्थल में पदार्थ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी गुण और क्रिया के अपकर्ष को लक्ष्यकर 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र से कन् प्रत्यय हो सकता है। अश्व को जब हम कुत्सित कहते हैं (अश्वक प्रयोग में) तब वहां अश्वत्व जाति कुत्सित नहीं होती, प्रत्युत अश्वधावन का अपाटव विवक्षित होता है, जो अश्वसहचरित किसी धर्म के आश्रय से भाषित होता है—येन धर्मेण कुत्स्यते वस्तु तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिनः प्रातिपदिकात् स्वार्थे प्रत्ययः स्यात् (बालमनोरमा)। कैयट भी कहते हैं—येन धर्मेण कुत्सादयस्तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिनः स्वार्थे प्रत्ययविधानमित्यर्थः (प्रदीप ५।३।७४)। पर ५।३।४७ सूत्रीय उदाहरण में जब 'वैयाकरण-पाश' रूप कुत्सार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब व्याकरण-ज्ञान का (जिसके हेतु कोई व्यक्ति वैयाकरण कहलाता है) अप्रकर्ष ही विवक्षित होता है, वैयाकरण की दुःशीलतादि-गुण नहीं, क्योंकि दुःशीलता वैयाकरण का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, व्याकरण का परिज्ञान या अध्ययन ही प्रवृत्तिनिमित्त है।

इन दोनों उदाहरणों से प्रवृत्तिनिमित्त और अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा का भेद स्पष्ट हो जाता है; यथा, जिसके रहने का कारण कोई पदार्थ किसी शब्द का वाच्य होता है, यदि उस तत्त्व में अप्रकर्ष हो तो प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा होगी; यदि वाच्य पदार्थ के सहचरित किसी गुण का अप्रकर्ष विवक्षित हो तो अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा होगी। यहाँ का 'प्रवृत्तिनिमित्त' शब्द महत्त्वपूर्ण है।[1]

'कुत्सितक' शब्द का अर्थ—जब यह निश्चित हो गया कि कुत्सार्थक प्रत्यय मुख्य (प्रवृत्तिनिमित्तक) तथा गौण (अप्रवृत्तिनिमित्तक) रूप से द्विविध होता है, तब यह शंका उठती है कि संस्कृत में 'कुत्सितक' शब्द (यहाँ कुत्सा में क प्रत्यय हुआ है) कैसे बन सकता है ? किस नए अर्थ के द्योतन के लिये 'क' प्रत्यय किया गया है ? ५।३।७४ सूत्र की भाष्य-टीकाओं में इसपर जो विचार है, उसे संक्षेप में कहा जा रहा है। व्याख्याकारों ने 'कुत्सितक' शब्द के दो अर्थ माने हैं—(क) कुत्सितत्व की कुत्सा के लिये अर्थात् 'कुत्सितत्व यहाँ सम्यक् नहीं है,' इस अर्थ में कुत्सितक शब्द बनता है; (ख) कुत्सित शब्द में जिस कुत्सा का अभिधान

१—प्रवृत्तिनिमित्त = शक्यतावच्छेदक धर्म जो जाति-द्रव्य-गुण-क्रिया रूप चतुर्विध है। यथाक्रम इनके उदाहरण हैं—गौः, डित्थः, शुक्लः, चलः। प्रवृत्तिनिमित्त 'स्वार्थ' पद से भी अभिहित होता है। किसी किसी के अनुसार स्वार्थ पांच प्रकार का होता है, यथा—जाति (गो), गुण (शुक्ल), क्रिया (पाचक), सम्बन्ध (राजपुरुष) और स्वरूप (डित्थ); स्वरूप = पदस्वरूप और व्यक्तिस्वरूप।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है वह किसी विशेष धर्म की ओर लक्ष्य नहीं करता और कुत्सा के किसी विशेष धर्म को दिखाने के लिये 'क' प्रत्यय जोड़कर (कुत्सित+क) कुत्सितक शब्द बनाया जाता है (अनिर्धारितविशेषधर्मनिबन्धना कुत्सा कुत्सितशब्द-प्रवृत्तिनिमित्तम्,ब्रह्महत्यादि विशेषनिबंधना कुत्सा तु प्रत्यय-निबन्धनम्—प्रदीप)। पहले पक्षवाले युक्ति देते हैं कि जैसे प्रकृष्ट के प्रकर्ष में तम प्रत्यय होकर प्रकृष्टतम बनता है, वैसे ही कुत्सित को कुत्सितत्व की कुत्सा में भी 'क' प्रत्यय हो सकता है।

इन दोनों व्याख्याओं से 'कुत्सितक' शब्द के दो विरोधी अर्थ होते हैं। 'क' पक्ष के अनुसार इसका अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा असम्यक् है, अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है और 'ख' पक्ष में अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा किसी विशेष धर्म के कारण है।

कुत्सा के त्रिविध करण :—कुत्सन व्यापार के विषय में कैयट ने एक सारगर्भ विचार व्यक्त किया है, यथा—'कश्चित् स्वार्थकुत्सया कुत्स्यते, पटुकः, पण्डितक इति; कश्चिल्लिङ्गेन, यथा—प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कौरवकाः स्त्रियः इति; कदाचित् संख्यया, यथा इदम् एकमेव शतमिति' (प्रदीप ५।३।७४)। यहाँ कैयट ने तीन प्रकार से कुत्सित भाव के ज्ञात होने का उल्लेख किया है; (१) स्वार्थकुत्सा (२) लैंगिक कुत्सा और (३) संख्या-ज्ञाप्य कुत्सा का भेद ज्ञातव्य है—

स्वार्थ कुत्सा का उदाहरण 'पण्डितक' या 'पटुक' है। यह कुत्सा प्रवृत्तिनिमित्त के अपकर्षहेतुक है। पटुत्व होने से कोई भी पटु कहलाता है, पर पटुत्व में अपेक्षित उत्कर्ष यदि न हो, तो वह 'पटुक' कहलाएगा। प्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा के अन्य उदाहरण भी हैं। 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (२।१।५३) सूत्र के उदाहरण में जो 'वैयाकरणखसुचि' शब्द है, वहाँ शब्दप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा है, अर्थात्, व्याकरणज्ञान में कमी के कारण ऐसा कहा जाता है, पर शास्त्रज्ञान यदि ठीक हो तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, जैसे—'वैयाकरणो दुराचारः' इस प्रयोग में २।१।५३ सूत्र से समास नहीं होगा। पापाणके कुत्सिते (२।१।५४) सूत्र में इस नियम का दूसरा उदाहरण है।

लैंगिक कुत्सा के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत हुआ है, उससे पता चलता है कि यहाँ की कुत्सा पदार्थान्तर-सापेक्ष है। चूँकि गाण्डीवधन्वा अर्जुन के समक्ष कौरव लोग निर्वीर्य हो जाते हैं, अतः वे कुत्सित हैं, (अर्जुनसंनिधौ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किमेते पुमांस इति प्रतीयत इति भावः–उद्द्योत)। इसी भाव के द्योतन के लिये यहाँ 'कौरवक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

संख्याज्ञाप्य कुत्सा के उदाहरण की व्याख्या में स्वयं प्रदीपकार ने ही कहा है—'शतभरणे यद् दुःखं तद् एकस्य भरण इति शतत्वारोपेण कुत्सा'। अर्थ स्पष्ट है।

वाक्यगम्य कुत्सा—पाणिनि के सूत्रों से इस प्रकार के कुत्सार्थक शब्द भी सिद्ध होते हैं, जो स्वरूपतः किसी भी प्रकार से कुत्साभाव के व्यञ्जक नहीं होते पर किसी अन्य वाक्य (या प्रकरण) की सहायता से कुत्सा के व्यञ्जक होते हैं। यह तथ्य 'सोरवक्षेपणे (६।२।१९५) सूत्र से विज्ञात होता है। इस सूत्र से 'सुप्रत्यवस्थित' शब्द बनता है, जो स्वरूपतः किसी भी प्रकार से कुत्सा का वाचक नहीं है, पर किसी वाक्य से सम्बन्धित हो कर यह कुत्सा भाव अभिव्यक्त करता है (वाक्यार्थोऽत्र निन्दा, असूयया तथाऽभिधानात्)। व्याख्याकार कहते हैं कि इस शब्द का प्रयोग तब होता है, जब अनर्थ उपस्थित होने पर भी कोई व्यक्ति सुख में रहता है और उसके प्रति असूया उत्पन्न होती है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ सु का अर्थ पूजा ही है (सूरत्र पूजायामेव), परंतु प्रकरण या वाक्य से यह शब्द निन्दावाचक होता है।

स्वरूपतः कुत्सावाची न होकर भी कुत्सा का अभिधायक—पाणिनि ने उन कुत्साज्ञापक तत्त्वों का भी विवरण दिया है जो स्वरूपतः कुत्सापरक नहीं हैं, परन्तु जिनके बलपर अन्य कोई कुत्सित आचरण करता है और दुःशील व्यवहारकारी के कुत्सित होने से तद्व्यवहार्य पदार्थ भी कुत्सित माना जाता है, तत्त्वतः नहीं। पाणिनि का सूत्र है—'अवक्षेपणे कन् (५।३।९५); अवक्षेपण = निन्दा। इस सूत्र से 'व्याकरणक' शब्द बनता है, जिससे 'व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः' ऐसा वाक्य बनता है। 'व्याकरणक' शब्द में कन् प्रत्यय कुत्सा में हुआ है, पर व्याकरण वस्तुतः कुत्सित शास्त्र नहीं है। शंका होगी कि तब यहाँ कुत्सा में प्रत्यय कैसे उत्पन्न होता है? व्याख्याकार कहते हैं—'व्याकरणं हि न स्वतः कुत्सितं किन्तु अधीतं सन् अध्येतृकुत्साहेतुभूतं गर्वभावहत् अवक्षेपणम्' अर्थात् व्याकरण यद्यपि स्वतः कुत्सित नहीं है, परन्तु यदि उसके पाठ से वैयाकरण में गर्व उत्पन्न हो जाए तो, औपचारिक रूप से कुत्सा का हेतु होने के कारण व्याकरण भी कुत्सित कहलाता है।

शब्दतः उल्लिखित न होनेपर भी कोई शब्द अन्य रूप से कुत्सा का वाचक हो सकता है—इसका उदाहरण 'कर्मणीनि विक्रयः' (३।२।९३) आदि सूत्रों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है। इस सूत्र से 'सोमविक्रयी' शब्द बनता है जिसमें आपात दृष्टि से कुत्सा की गन्ध भी नहीं है क्योंकि तद्वाचक कोई शब्द नहीं है। परन्तु वार्तिककार ने 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' कहा है।[1] यह 'विक्रय' शब्द चूँकि शास्त्र-प्रतिषिद्ध है, अतः यह निन्द्य है। यदि कुत्सित का भाव न हो तो 'सोमविक्रय' शब्द होगा। यहाँ शब्द में कुत्साज्ञापक कोई तत्त्व न रहने पर भी कुत्साभाव व्यवहारगम्य है।

स्वतः और परतः कुत्सा—सापेक्ष कुत्सा के लिये अष्टाध्यायी-गत में 'अवक्षेपणे कन्' (५।३।९५) सूत्र द्रष्टव्य है। यहाँ भाष्यकार ने कुत्सा के कार्य कारण सम्बन्ध पर विचार किया है। उन्होंने अवक्षेपण को 'करण' और कुत्सित को 'कर्म' कहा है। उनके अनुसार इस सूत्र के उदाहरण 'व्याकरणक' शब्द का अर्थ यद्यपि 'कुत्सित व्याकरण' है, परन्तु व्याकरण तत्त्वतः कुत्सित नहीं होता; वस्तुतः व्याकरण पढ़कर यदि कोई गर्वित हो जाए, तो 'कुत्सा का हेतु होने से' अनिन्दित व्याकरण कुत्सित कहलाता है—व्याकरणं हि स्वतो न कुत्सितं किन्तु अधीतं सद् अध्येतृकुत्साहेतुभूतगर्वभावहद् अवक्षेपणं (बालमनोरमा)। कुत्सिते (५।३।७४) सूत्रानुसार जो कुत्सित कहलाता है वह स्वयं कुत्सित होता है,यह बोध होगा;अश्वकः कहने से अश्वधावन की अपूर्णता समझी जाएगी।

१—वार्तिककारोक्त यह कुत्सा-भाव पाणिनिसम्मत है, क्योंकि सोमविक्रयी आदि सूत्रसिद्ध शब्द कुत्सा के अर्थ में मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों में मिलते हैं। यहाँ स्पष्टरूप से यह जान लेना चाहिए कि जहाँ पाणिनि ने विशेषार्थ का उल्लेख नहीं किया और वार्तिककार तथा भाष्यकार ने किया है, वहाँ इतने मात्र से ही यह समझना कि वह अर्थ अर्वाक्-पाणिनीय काल में ही उद्भूत हुआ है, असंगत और पाणिनीय पद्धति के न जानने का फल है। व्याकरण में प्रायः अर्थ-निर्देश नहीं किए जाते या विशेषार्थ के स्थान में भी सामान्यार्थ का ही निर्देश किया जाता है। वस्तुतः अर्थचिन्ता पाणिनिव्याकरण का मुख्य विषय भी नहीं है; अर्थ निर्देश के विषय में व्याकरण की जो पद्धति है, उसपर स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जाएगा। इस नियम का एक उदाहरण 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (५।२।१२५) सूत्र भी है। इस सूत्र से निष्पन्न वाचाल शब्द कुत्सार्थक (निन्दितबहुभाषणकारी) है, ऐसा वार्तिककार ने कहा है, सूत्रकार यद्यपि कण्ठतः ऐसा कुछ नहीं कहते हैं। वार्तिकदर्शित अर्थ में सूत्रकार की सम्मति थी, यह जाना जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा ही एक विचार ८।१।८ सूत्रभाष्य में मिलता है, जहाँ असूया और कुत्सन का एकत्र पाठ है। यह शंका होती है कि ये दो शब्द जब समार्थक हैं तब इनका एकत्र पाठ क्यों किया गया? भाष्यकार ने असूया और कुत्सन का यह भेद दिखाया है कि यद्यपि असूया के विना कुत्सा नहीं होती, तथापि गुरु असूया के विना भी शिष्य की कुत्सा करते हैं, शिष्य के उपकार के लिये, और इसीलिये सूत्रकार ने दोनों का पृथक् निर्देश किया है। कैयट ने यहाँ एक प्राचीन कारिका भी समर्थन के लिये उद्धृत की है (विनाऽप्यसूयया कुत्सां ....) जिससे यह भेद स्पष्ट हो जाता है।

अमौलिक कुत्सा—कुछ ऐसे गर्हार्थक सूत्र हैं जिनसे निष्पन्न शब्द स्पष्टतः गर्हार्थक नहीं होते, पर किसी उपमान के आश्रय से उनसे कुत्सा का बोध होता है। चेलखेटकटुकाण्डं गर्हायाम् (६।२।१२६) सूत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इस सूत्र से पुत्रचेल, नगरखेट, दधिकटुक तथा प्रजाकाण्ड शब्द बनते हैं। 'पुत्रचेल' में गर्हा क्या है, इस विषय में व्याख्याकार कहते हैं—'चेलं वस्त्रं तद्वत् तुच्छम्'। यहाँ वस्त्र की तुच्छता का आरोप पुत्र पर किया गया है। उसी प्रकार नगरखेट में तृण की दुर्बलता का आरोप किया गया है (खेटमिति तृणनाम, तद्वद् दुर्बलम्)। कटु की स्वादहीनता का आरोप दधि में किया गया है और काण्ड की कष्टदायकता को प्रजा में आरोपित किया गया है (काण्डं शरः, स यथा पीडाकरः एवंभूतम्)। ये शब्द किसी के धर्म के आरोप के बल पर ही कुत्सा के वाचक होते हैं।

समास से कुत्सा का बोध :—पाणिनि के सूत्रों से यह भी पता चलता है कि कुत्सा कभी-कभी समास का नियमन करती है। जहाँ समास में क्षेपार्थ का सम्बन्ध होता है वहाँ व्याख्याकारगण कहते हैं कि क्षेपार्थक समास नित्य-समास होता है, क्योंकि वहाँ समास न कर विग्रहवाक्य के प्रयोग करने से कुत्सा का बोध नहीं होता। एक उदाहरण लीजिए। सूत्र है—'खट्वा क्षेपे' (२।१।२६) [=द्वितीयान्त खट्वा शब्द के साथ कृत्प्रत्ययान्त शब्द का समास होता है, निन्दा के अर्थ में] जिससे 'खट्वारूढ' शब्द बनता है, जिसका योगानुसारी अर्थ है—'खटिया में आरोहणकारी'। पर समास के कारण इसका तात्पर्य निन्दा में होता है[1], और निन्दा के अर्थ में सदैव समास ही होगा—'खट्वायां

१—'क्षेप इत्युच्यते। कः क्षेपो नाम? अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽरोढव्या, य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मो नातिव्रतवान्' (भाष्य २।१।२५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढः' ऐसा व्यस्त प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि विग्रह करने से निन्दा का बोध नहीं होता (नहि वाक्येन निन्दा गम्यते)। यह शब्द निषिद्धानुष्ठानकारी के अर्थ में इतना प्ररूढ है कि चाहे कोई खट्वारोहण करे या न करे, सभी निषिद्धाचरणकारी खट्वारूढ कहे जाते हैं। यहाँ कुत्सा के साथ समास का नित्य सम्बन्ध है।[1]

इस रीति का दूसरा उदाहरण 'पात्रेसमितादयश्च (२।१।४७) सूत्र है। सूत्र का तात्पर्य है कि कुत्सा के अर्थ में ही पात्रे-समित, गेहे-शूर, कूप-मण्डूक आदि शब्द समस्तपद के रूप में निष्पन्न होते हैं। इस सूत्र के द्विविध तात्पर्य हैं। प्रथम—कुत्सा भाव में ही दोनों शब्दों का समास होगा तथा द्वितीय—अन्य शब्दों के साथ पुनः इस शब्द का समास नहीं होगा। किस रीति से इस सूत्र से निष्पन्न पात्रेसमित आदि शब्द कुत्सा के द्योतक होते हैं, इसका स्पष्टीकरण व्याख्यानग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

स्तुति-निन्दार्थकशब्द-निष्पादकसूत्र:—इसके परिज्ञान के लिये 'कृत्यैरधि· कार्थवचने' (२।१।३२) सूत्र अवश्य दर्शनीय है। सूत्र का अर्थ है—अधिकार्थ-वचन (= स्तुतिनिन्दार्थक अर्थवाद) यदि हो तो तृतीयान्त कर्तृवाची या करण-वाची शब्दों के साथ कृत्यप्रत्ययान्त शब्दों का समास होता है, यथा—काकपेया (नदी) या वातच्छेद्य (तृण)। निन्दा की दृष्टि से काकपेया का अर्थ है—वह नदी जिसमें अत्यन्त अल्प जल है; वातच्छेद्य का अर्थ है कि तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी छिन्न हो जाता है।

यहाँ व्याख्याकारगण कहते हैं कि यदि इस प्रकार की निन्दा इन शब्दों से द्योतित न हो तो समास नहीं होगा; वे यह भी कहते हैं कि निन्दा के अर्थ में यह सूत्र कुछ अपूर्ण है, अर्थात् पाणिनि ने यद्यपि कृत्य-प्रत्ययान्त शब्द से ही समास होने के लिये कहा है, तथापि अन्य प्रकार के शब्दों से भी समास होगा, स्तुति-निन्दा के अर्थ में; अर्थात् जिस प्रकार 'काकपेया' पद होता है, उसी प्रकार 'काकपीता' भी होगा, जिसके लिये पाणिनि का सूत्र मौन है। शब्दप्रयोग के क्षेत्र में निन्दा और स्तुति का प्रभाव कितना अधिक है यह इससे सूचित होता है।

१—'खट्वारूढः' शब्द सदैव निन्दा में ही प्रयुक्त होगा और यदि 'खट्वा में आरोहण कारी' अर्थ विवक्षित हो तो 'खट्वायामारूढः' ऐसा समासहीन प्रयोग ही होगा, यह व्याख्याकारों का मत है। ऐसे शब्दों के अध्ययन से सामाजिक प्रथाओं का ज्ञान भी होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी स्पष्ट जानना चाहिए कि क्षेपार्थ में जहाँ समास होता है, वहाँ समास के बल पर ही क्षेप का बोध होता है और समास के स्थान पर व्यस्त प्रयोग करने पर क्षेप का बोध कदापि नहीं होगा। २।१।४१ सूत्र में क्षेपार्थ में 'तीर्थकाक' शब्द निष्पन्न होता है, पर यदि 'तीर्थे काकः' कहा जाए, तो आधार-आधेय सम्बन्ध ही प्रतीत होगा, निन्दा का बोध नहीं होगा (क्षेपः समासात् प्रतीयते—प्रदीप)।

विभक्ति की सत्ता से गम्यमान कुत्सा:—पहले यह दिखाया गया है कि कुत्सा यदि द्योतित हो तो वहाँ नित्य ही समास होगा। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं, जहाँ कुत्सा के लिये समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता। इस विषय में पाणिनि के दो सूत्र हैं—षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१) और पुत्रेऽन्यतरस्याम् (६।३।२२)। आक्रोश = निन्दा। इन दोनों सूत्रों में यह कहा गया है कि किसी कुल की निन्दा के लिये जब हम 'यह चौर का कुल है', ऐसा कहेंगे, तब 'चौरस्य कुलम्' यही प्रयोग होगा। 'चौरकुलम्' ऐसा नहीं होगा। उसी प्रकार किसी की निन्दा के लिये जब 'तुम तो दासी के पुत्र हो, ऐसा कहा जाएगा, तब 'दास्याः पुत्रः' (और विकल्प में दासीपुत्रः भी) प्रयोग होगा। निन्दा का प्रभाव शब्द-प्रयोग में कितना अधिक होता है, ये दो सूत्र इसके ज्ञापक हैं।

प्राणिस्वभावगत निन्दा :—कुत्सार्थक सूत्रों के विश्लेषण से कभी-कभी स्त्री और पुरुषों के स्वभाव का भी कुछ न कुछ ज्ञान हो जाता है—जिसका उदाहरण 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' (८।४।४८) सूत्र में देखा जा सकता है। यह सूत्र कहता है कि आक्रोश (निन्दा) यदि गम्यमान हो तो 'पुत्र+आदिनी' इस स्थल पर तकार का द्वित्व नहीं होता। पर यहां एक बात लक्षणीय है। वह है आदिनी शब्द की स्त्रीलिंगता। क्यों यहाँ एक स्त्रीलिङ्ग शब्द का ही उल्लेख किया गया, पुंलिंग का नहीं, इसके उत्तर में हरदत्त कहते हैं कि ऐसा आक्रोश स्त्री में ही संभव है। इसलिये पाणिनि ने स्त्रीलिङ्ग शब्द का ही प्रयोग किया है। माधव ने भी इस बात को माना है (धा० वृ०)। यदि यह बात सत्य हो तो व्याकरण के अन्यान्य सूत्रों से भी इस प्रकार की मनोवृत्तियों का पता लगाया जा सकता है।

निषेध और कुत्सा—कुत्सा सम्बन्धी मनोभाव का अन्य उदाहरण 'मन्य-कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' (२।३।१७) सूत्र से भी जाना जा सकता है। अनादर-प्रदर्शन के क्षेत्र में चतुर्थी विभक्ति के विधान के लिये यह सूत्र है। एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण लीजिए—'न त्वां श्वानं मन्ये' में (मैं तुमको कुत्ता भी नहीं मानता); व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसे स्थलों में यदि 'मैं तुमको कुत्ता मानता हूँ', कहा जाए तो यह वाक्य अनादर का प्रदर्शन यथोचित रूप से नहीं करेगा और इसीलिये इस निषेधमूलक वाक्य (नहीं मानता हूँ) का प्रयोग किया गया है।

इसी भाव के लिये वार्त्तिककार ने कहा है—'मन्यकर्मणि प्रकृत्य कुत्सितग्रहणम्' जिससे 'न त्वां तृणं मन्ये' ऐसे स्थलों पर (जहाँ वार्त्तिक-दर्शित मनोभाव विद्यमान नहीं है) चतुर्थी-विभक्ति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वा या तृण के साथ जब मनुष्य का साम्य दिखाया जाएगा, तब चतुर्थी नहीं होगी, क्योंकि कुत्सा का प्रतिपादन प्रकर्षपूर्वक होना चाहिए और इसीलिये प्रतिषेधयुक्त कुत्सा में ही चतुर्थीविभक्ति होती है।

शायद पाणिनि से प्राचीनकाल में तिरस्कार के प्रसंग में चतुर्थीविभक्ति के विधान में पाणिनि-दर्शित कुत्सा-बोध से भी अधिकतर कुत्सा-बोध में ही चतुर्थी होती थी। प्राक्पाणिनीय आचार्य आपिशलि इस विषय में कहते थे—मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु (द्र० प्रदीप टीका), जिसकी व्याख्या में नागेश ने कहा है—आपिशालिवाक्येन उपमानवाचकात् ततोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीत्युच्यते' (उद्द्योत)।

गर्हा और लकार—कुत्सार्थक सूत्रों से यह पता चलता है कि लकार (कालद्योतक लट्, लिट् आदि प्रत्यय) का नियमन भी कुत्साबोधक शब्दों से होता है। सूत्र है—गर्हायां लडपि-जात्वोः (३।३।१४२)। यहाँ गर्हा (= निन्दा) अर्थ में केवल लट् लकार का प्रयोग नियमित किया गया है, अर्थात् तीनों कालों में लट् होगा। इस प्रकार 'किंवृत्ते लिङ्लिटौ' (३।३।१४४) सूत्र भी गर्हा के अर्थ में लिङ् और लिट् का विधान करता है, जो अन्य लकारों का बाधक है।

कुत्सादि-ज्ञापक विशिष्ट शब्द—उपसंहार में हम शठता-धूर्ततादिवाचक कुछ शब्दों के पूर्वाचार्य-दर्शित अर्थ उद्धृत कर रहे हैं। मानवीय प्रवृत्ति की विचित्रता का ज्ञान भी इन उदाहरणों से हो जाता है।

पाणिनि के 'पात्रेसमितादि' गण (अष्टा० २।१।४७) के कुछ उदाहरणों में मानवीय धूर्तता, कपटता आदि के अच्छे प्रामाणिक निदर्शन मिलते हैं। इस गण के शब्द क्षेप (= निन्दा) के अर्थ में निपातित होते हैं। इस गण के अधिकांश शब्द किसी-न-किसी प्रकार की धूर्तता आदि का निर्देश अवश्य करते हैं, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों में स्पष्ट प्रतिभात होता है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्रेसमितः—अपचितक्षीरा धेनुर्या सा पात्रसंगतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सत्येवमुच्यते। तद्वदन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः स तदुपमानात् तथा वाच्यः (गणरत्नमहोदधि २।१०२), अर्थात् दुग्धहीन गौ जिस प्रकार दूध नहीं देती, उसी प्रकार जिस व्यक्ति में व्यापार का आडम्बर है, पर उससे कुछ फल नहीं निकलता, उस कपटव्यक्ति को 'पात्रेसमित' कहा जाता है। जिसमें दिखावा है, पर कोई कार्य करने की क्षमता नहीं है, वह इस शब्द से लक्षित होता है। इसकी दूसरी व्याख्या यह भी है कि जो व्यक्ति भोजन में भाग लेता है, पर काम से भागता है, वह 'पात्रेसमित' पदवाच्य होता है। कपट का भाव स्पष्ट है।

पात्रेबहुलः—इसका तात्पर्य भी पूर्व शब्द की तरह ही है। यहाँ बहुल का अर्थ है—'बाहुल्येन संघटनम्'। इसकी एक और भी व्याख्या है—'पात्र एव बहुलाः प्रचुराः नान्यत्र', अर्थात् पात्र (भोजन का उपलक्षण) में तो बहुसंख्या में बार-बार आते हैं, पर काम के समय बहाना बना कर भाग जाते हैं।

नगरकाकः—वर्धमान के अनुसार इसकी व्याख्या है—नगरे काक इव स्वार्थनिष्ठः परवञ्चनानिपुण उच्यते' (गणरत्न० २।१०४) अर्थात् काक की तरह जो व्यक्ति स्वार्थपरायण और प्रवंचना में पटु हो, वह नगरकाक कहलाता है। इसकी अन्य व्याख्या भी है, यथा—नगरकाको न क्वचित् तिष्ठति सर्वमेव नगरं परिभ्रमति; तद्वत् तत्र अन्यत्र वाऽनवस्थितः पुरुष उच्यते, अर्थात् नगरकाक जिस प्रकार कहीं एक स्थान पर एकलक्ष्य होकर बैठा नहीं रहता, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने किसी भी कार्य में दत्तचित्त न होकर विभिन्न स्वार्थों से परिचालित होकर सभी कार्यों के प्रति अवहेलना करता है, वह नगरकाक शब्दवाच्य होता है। यहां भी प्रवंचना का मनोभाव स्पष्ट है।

पिण्डीशूरः—पिण्ड्यां खादितव्ये वस्तुनि शूरः। कलहवर्धनादिकं कृत्वा खादितव्यं खादति, अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रमः (गणरत्न० २।१०२)—वह भोग की प्राप्ति के लिये कलह आदि करता है, पर न्यायसंगत कार्य करने के क्षेत्र में उसकी शक्ति नहीं रहती। धूर्तता स्पष्ट है।

गेहेक्ष्वेडीः—गेहे एव क्ष्वेडति विक्रमं प्रदर्शयति (गण० २।१०२)—घर में (या दुर्बल व्यक्ति के सामने) अपना विक्रम दिखाता है और जहाँ बल की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ भाग जाता है। धूर्तता स्पष्ट है।

गेहेविचितीः—गेहे स्थित्वा इदं-युक्तमिदमयुक्तमिति विचिनोति निरूपयति बुद्धिमत्तां प्रदर्शयति न सभामध्ये कार्ये वा (गणरत्न० २।१०५)—जहाँ बुद्धि या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारशक्ति को दिखाना चाहिए (सभा इत्यादि में) वहाँ तो भय से चुप रहता है, और जहाँ विचार अप्रयोजनीय है, वहाँ अपनी पण्डिताई दिखाता है।

गर्भतृप्तः—गर्भ एव तृप्तः स्वमात्राहृतेन आहारेण, ततो निःसृत्य न कदाचिद् उदरपूरं कृतवानिति गर्भेतृप्तो दरिद्रः (गणरत्न० २।१०३) अर्थात् जो स्वयं परिश्रम कर नहीं खाता और दूसरों के उपार्जन से अपना पेट भरने में ही रुचि रखता है, वह गर्भेतृप्त कहलाता है। धूर्तता स्पष्ट है।

आखनिकबकः—आखनिकः जलस्रोतः खातं तस्मिन् बक इव। तद्वदन्योऽपि य आत्मीये गृहे यत् किञ्चिदस्ति तद् भक्षयति नान्यत्र गच्छति स एवमुच्यते, (गण० २।१०२)—जो व्यक्ति घर के धन से ही अपना खर्च आदि चलाता रहता है, और अन्यत्र जाकर परिश्रम से कोई कार्य नहीं करना चाहता, वह आखनिकबक कहलाता है। असदाचरण का मनोभाव स्पष्ट है।

इस प्रकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण गण मयूरव्यंसकादि (अष्टा० २।१।७१) भी है। यद्यपि सूत्रकार ने यहाँ यह कण्ठतः नहीं कहा कि इस गण में निपातित शब्द निन्दा के अर्थ में व्यवहृत होते हैं, पर व्याख्याकारों ने कुछ शब्दों की जो व्याख्या की है, उसमें निन्दार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है। यहाँ कुछ उदाहरणों को लेकर इस दृष्टि का विशदीकरण किया जा रहा है :—

मयूरव्यंसकः—वर्धमान ने इसकी व्याख्या की है, यथा—विगता अंसा यस्य व्यंसकः, रमणीयाकारदेहनेपथ्योपेतत्वाद् मयूरवद् मयूरः पुमान्। स चासौ व्यंसकश्च बहुसाध्यव्यापारपुरुषकारविकलः कश्चिदेवं प्रतिक्षिप्यते (गणरत्न० २।११५) अर्थात् उस व्यक्ति को मयूरव्यंसक कहा जाता है, जिसमें प्रदर्शन का भाव (दिखावा) अधिक है, पर जो किसी कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता। 'बह्वारम्भे लघुक्रिया'रूप न्याय इन्हीं व्यक्तियों के कार्य को लक्ष्य कर कहा जाता है। इसकी अन्य व्याख्या भी है—व्यंसयति छलयति इति व्यंसकः। स चासौ स च यो लुब्धकानां मयूरो गृहीतशिक्षः अन्यान् मयूरान् छलयति वञ्चयति स विप्रलम्भक उच्यते (गणरत्न०)।

छात्रव्यंसकः—छात्रो हि यथा लब्धभिक्षामात्रवृत्तिकृतसन्तोषो निर्व्यापारतया कार्यतो व्यंसकः, तद्वदन्योऽप्येवमुच्यते। छात्ररूपेण वञ्चको वा लोकस्य (गणरत्न० २।११५) अर्थात् छात्र जिस प्रकार भिक्षामात्र से सन्तोष कर ही अपना जीवन-कार्य चलाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति धूर्तता से, कर्म आदि न कर, अपनी कार्यसिद्धि चाहता है, वह 'छात्रव्यंसक' कहलाता है। ध्यान देना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए कि यहाँ छात्र का जो आचरण संगत है, वह आचरण सांसारिक व्यक्ति के लिये असंगत दिखाया गया है। दूसरी व्याख्या में यह कहा गया है कि छात्र का वेष बनाकर जो दुनिया को ठगता है, वह भी छात्रव्यंसक कहलाता है। कपटता स्पष्ट है।

छत्रव्यंसकः—छत्रवद् व्यंसकः, छत्रं हि प्रसारितं सत् सुन्दराकारमाभाति, स्वयं तु स्थातुमशक्तम् अन्येन प्रयत्नवता धार्यते। एवमन्योऽपि यः सदा परावष्टम्भवलस्थितिः सुन्दराकारोऽपि स एवमुच्यते (गणरत्न० २।११५)। छत्र प्रसारित करने से सुन्दर लगता है, पर वह स्वयं अपने-आप को खड़ा नहीं रख सकता। उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को शक्तिमान्, प्रतिष्ठासम्पन्न आदि दिखाता है, पर जिसकी शक्ति और प्रतिष्ठा स्वोपार्जित नहीं होती, जो दूसरे के बल पर कूदता है, वह 'छत्रव्यंसक' कहलाता है। आज-कल के कितने ही 'नेता' ऐसे 'छत्रव्यंसक' हैं—यह कहने की आवश्यकता नहीं।

——

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादश परिच्छेद

पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र का स्वरूप

पाणिनि के पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४।३।११०) सूत्रस्थ भिक्षुसूत्र शब्द का तात्पर्य क्या है, यह यहाँ विचारित हो रहा है। यह सूत्र प्रोक्त प्रकरण में पठित है, अतः पाराशर्य-प्रोक्त कोई भिक्षुसूत्र था, यह ज्ञात होता है। पाराशर्य का परिचय तथा भिक्षुसूत्र ग्रन्थ का रचनाकाल—ये दो विषय भी यहाँ विचारित होंगे।

भिक्षुसूत्र का प्रचलित अर्थ—कतिपय पूर्वाचार्य एवं आधुनिक गवेषक यह कहते हैं कि प्रचलित वेदान्त सूत्र (=ब्रह्मसूत्र) और उनके प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास ही यथाक्रम भिक्षुसूत्र और पाराशर्य (पराशरापत्य) हैं।[1] ये बादरायण, व्यास और कृष्णद्वैपायन को एक ही व्यक्ति समझते हैं, जैसा कि पौराणिक प्रसिद्धि है। कुछ विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ भिक्षु पञ्चशिखकृत सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ-विशेष समझते हैं।[2]

प्रचलित अर्थ की असंगति—हमलोगों के अनुसार न वेदान्तसूत्र भिक्षुसूत्रपद वाच्य हो सकता है और न ही इस सूत्र में पाराशर्य व्यासकृत ग्रन्थविशेष लक्षित ही हुआ है। यह पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र भिक्षुचर्याविषयक ग्रन्थविशेष है जो कि कृष्णद्वैपायन व्यास से अत्यन्त प्राचीनकाल में रचित हुआ था। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियां द्रष्टव्य हैं—

१—भिक्षवः संन्यासिनः तदधिकारकं सूत्रं भिक्षुसूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम् (बालमनोरमा); चतुर्लक्षणीरूपं भिक्षुत्वसंपादकं सूत्रमित्यर्थः (बृहच् छब्देन्दु० पृ० १३६१); पाराशर्येण प्रोक्तं वेदान्तसूत्रम् अधीयानाः पाराशरिणः (प्रक्रियासर्वस्व); पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं चतुर्लक्षणीरूपमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः (शब्दकौस्तुभ); The Bhiksu Sutras of Parasarya (4. 3. 110) which probably denoted the earliest Vedanta treatises written in Sutra form (India as Known to Panini p. 391.)

२—कोई विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ वेदान्तविषयक सूत्र करते हैं; अन्य इसे सांख्यशास्त्र का प्राचीनसूत्र समझते हैं (सं० व्या० शा० इ०, भाग १, पृ० २५२; India as Known to Panini, p. 338).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) भिक्षुसूत्र शब्द की तरह अन्य अनेक सूत्रग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है, यथा हस्तिसूत्र, रथसूत्र, अश्वसूत्र (सभापर्व ५।१२१)। ५।१२२ में यन्त्रसूत्र का उल्लेख है जो धनुर्वेदपरक है। इन सूत्रों में हस्ति-अश्व-रथादि से सम्बन्धित में रोग-चर्या-निर्माण-वर्धन-पोषणादि कर्म विवृत हुए हैं, यह स्पष्ट है। इस प्रकार 'भिक्षुसूत्र'पद से 'भिक्षुसम्बन्धी आचरण परक ग्रन्थ' ही गृहीत होना चाहिए। श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र भी श्रौतादिकर्म-प्रतिपादक ही हैं, अतः भिक्षुसूत्र का अर्थ भिक्षुकर्मप्रतिपादक ही होगा।

(ख) कुछ विद्वान् कहते हैं कि भिक्षुत्वसंपादक सूत्र = भिक्षुसूत्र है जो वेदान्तसूत्र ही है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्या वेदान्तसूत्रों में भिक्षुत्वसपादन की चर्चा की गई है? यह तो मुख्यतः ब्रह्म विचार-परक सूत्रग्रन्थ है[1]; इसके तृतीय-चतुर्थाध्याय में क्वचित् भिक्षुचर्यापरक सूत्र उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने भिक्षुसूत्र कहकर इस ब्रह्मसूत्र का उद्धरण नहीं दिया है।

यदि वेदान्तसूत्र भिक्षुसूत्र-पदवाच्य होता तो प्रचलित ब्रह्मसूत्र और उसमें स्मृत अन्यान्य ब्रह्मसूत्रकार (काशकृत्स्न, औडुलोमि, जैमिनि आदि) नियमतः भिक्षु ही होते (भिक्षु द्वारा ही भिक्षुसूत्रों की रचना उपपन्न होती है), पर काशकृत्स्न आदि सूत्रकार भिक्षु थे—इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। भिक्षुसूत्र यदि वेदान्तसूत्र होता तो कर्मन्द भी वैदान्तिक आचार्य माने जाते, पर संप्रदायों में ऐसी प्रसिद्धि नहीं है।

(ग) यह सोचना चाहिए कि भिक्षु शब्द मूलतः आश्रमविशेष (चतुर्थाश्रम) का वाचक है (या उस आश्रम में स्थित व्यक्ति का वाचक है), अतः भिक्षुसूत्र में सामान्यतया आश्रमचर्चा और विशेषतया चतुर्थाश्रमसंबद्ध चर्चा होनी चाहिए। पर क्या वेदान्तसूत्र में ऐसी चर्चा है? भिक्षुसूत्र नाम से ही ज्ञात होता है कि इस सूत्र के आरम्भ में भिक्षु-विषय अधिकृत होगा; क्या ब्रह्मसूत्र के आरम्भ में भिक्षुविषय का अधिकार है?

यदि वस्तुतः प्रचलित ब्रह्मसूत्र भिक्षुसूत्र-पदवाच्य होता तो धर्मसूत्रों में जिस प्रकार भिक्षुसम्बद्ध वाक्य मिलते हैं, उसी प्रकार प्रचलित वेदान्तसूत्र में भी

१—वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते (शारीरक भाष्य १।१।२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य मिलते। धर्मसूत्रों में (एवं प्राचीन स्मृतियों में) भिक्षुपरक चर्चा कैसी है, इसके लिये यहाँ कुछ विशिष्ट वाक्य उदाहृत किए जा रहे हैं।[1]

(घ) कुछ लोग कहते हैं कि 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निष्पन्न होता है और प्रचलित ब्रह्मसूत्र चूँकि भिक्षु द्वारा अध्येतव्य है अतः वह भिक्षुसूत्र ही है। पर यह कहना असंगत है; यदि यह ब्रह्मसूत्र केवल भिक्षु द्वारा अध्येतव्य होता तो वाचस्पति आदि शास्त्रवित् गृहियों का वेदान्त-ग्रन्थ-प्रणयन असत् कर्म माना जाता। किंच गृहस्थ भी वेदान्ताध्ययन के अधिकारी हैं, यह योगियाज्ञवल्क्य में कहा गया है—स्वकर्मणामनुष्ठानात् सम्यगात्मनिदर्शनात्। वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि विमुच्यते (३।५७ अपरार्कटीकाधृत ११।४५ वचन; गृहस्थोऽपि हि मुच्यते-मुद्रित पाठ)।

यह भी सोचना चाहिए कि 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में 'भिक्षुसूत्र' शब्द व्याकरणानुसार निष्पन्न होता है या नहीं। ऐसे ग्रंथ हैं, जो केवल द्विज या ब्राह्मण द्वारा अध्येतव्य हैं, पर इस प्रकार के ग्रंथों के नाम कभी भी द्विजपद-घटित या ब्राह्मणपद-घटित नहीं देखे जाते, अतः 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निपन्न नहीं होता। 'भिक्षुओं द्वारा बाहुल्येन अध्येयव्य' यह अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्ययनविधि तो वस्तुतः ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बद्ध है, चतुर्थाश्रम में अध्ययनविधि सम्बन्धी एतादृग चर्चा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, अतः इस प्रकार का काल्पनिक तर्क अनर्थक है। कुछ कलाशास्त्र ऐसे हैं, जो स्त्रियों द्वारा ही अध्येतव्य हैं, पर इस कारण वे शास्त्र 'स्त्रीशास्त्र' पदवाच्य नहीं हो जाते, यह ज्ञातव्य है।

(ङ) पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र कदापि ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकता, इस विषय में पाणिनि-व्याकरण का 'तद्विषयता-नियम' सर्वबलिष्ठ प्रमाण है। यह नियम छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।३।१०५) सूत्र से सिद्ध है। यह तद्विषयता-नियम (अर्थात् प्रोक्तार्थक प्रत्यय के बाद अध्येतृ-वेदितृ- प्रत्यय अवश्य ही प्रयुक्त

१—अनिचयो भिक्षुः (गौ०ध०सू० ३।११); भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद् भवति भिक्षुकः (बौ०ध०सू० २।१०।१६); ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। भिक्षोश्चत्वारि रूपाणि पञ्चमो नोपपद्यते (दक्षस्मृति ७।३९); भिक्षाटनं जपो ध्यानं स्नानं शौचं सुरार्चनम्। कर्तव्यानि षडेतानि यतिना (मेधातिथि-वचन, यतिधर्मसंग्रह पृ० २७ में उद्धृत); कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् (शान्तिपर्व २४५।७; पद्मपु० ५।१५।३६३); वायु० ८।१८६-१८८ भी द्र०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा) जिस प्रकार संहिता-ब्राह्मणों में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार अंशतः कल्पसूत्र, भिक्षुसूत्र एवं नटसूत्र में भी प्रयुक्त होता है—ऐसा व्याख्याकारगण कहते हैं।[1]

यहाँ यह विचारना चाहिए कि क्या यह तद्विषयता का नियम पाराशर्य-प्रोक्त ब्रह्मसूत्र में लगता है? इस वेदान्तसूत्र के निर्देश में यह नियम कभी भी नहीं लगता, यह सत्य है। यदि पाराशर्य व्यासकृत ब्रह्मसूत्र में तद्विषयता का नियम प्रवर्तित होता तो व्यासकृत महाभारत (एवं पुराणादि) में भी यह नियम प्रवर्तित होता, पर ऐसा नहीं देखा जाता। अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम् (पुराणम्)—ऐसा प्रयोग होता है; यदि तद्विषयता का नियम लगता तो 'अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम्' ऐसा न होकर—'अग्निना प्रोक्तम् पुराणम् ये अधीयते ते' इस अर्थ में ही शब्द (आग्नेयाः) बनता (प्रोक्त प्रत्यय के बाद अध्येतृ-प्रत्यय जोड़ना आवश्यक हो जाता)। अतः यह मानना पड़ता है कि तद्विषयता नियम के अप्रवर्तन के कारण प्रचलित ब्रह्मसूत्र भिक्षुसूत्र पदवाच्य नहीं हो सकता। यदि अनतिप्राचीन किसी विद्वान् ने ब्रह्मसूत्र को भिक्षुसूत्र समझा है तो वह उनकी भूल ही है। हम यहाँ तक समझते हैं कि कृष्णद्वैपायन व्यासके काल में तद्विषयता का नियम प्रायेण लुप्त हो गया था।

भिक्षुसूत्र का संभाव्य अर्थ—पूर्वोक्त दोषों के कारण तथा अर्थ-सारल्य के कारण हम समझते हैं कि धर्मसूत्र की तरह भिक्षुचर्या-विषयक कोई भी सूत्रग्रंथ[2] भिक्षुसूत्र पदवाच्य हो सकता है। वैसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीनकाल में (वेदव्यास से भी अत्यन्त प्राचीनकाल में) देवल-हारीत पाराशर्य आदि अनेक

१—कथं पाराशरिणो भिक्षवः शैलालिनो नटाः, अत्रापि तद्विषयता चेत्यनुवर्तिष्यते (भाष्य ४।२।६६); तस्मात् प्रोक्तप्रकरणे अध्येतृवेदितृग्रहणं पाराशर्यशिलालिभ्यामित्यादौ अनुवर्त्यमिति भाष्यकारो मन्यते (प्रदीप)। सायण कहते हैं—पाराशर्यो गर्गादित्वादपत्ये यञ्। पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयानाः पाराशरिणो भिक्षवः, पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोरिति प्रोक्ते णिनौ तदन्तात् छन्दोब्राह्मणानि इत्यध्येतृवेदित्रोरणः प्रोक्ताल् लुगिति लुक्। सूत्रस्यापि छन्दस्त्वं तत्रेष्यते। णिनावल्लोपयलोपौ (धातुवृत्ति क्रयादि १६)।

२—सूत्र सदैव पाणिनिसूत्र की तरह अतिलघुकलेवर युक्त ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अर्थस्य सूचनात् सूत्रम् (अर्थशास्त्र-जयमङ्गला)। देवबोध सभापर्व टीका में सूत्र=संक्षिप्तोपदेश कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यों द्वारा प्रणीत हुआ था।[1] इन प्राचीनतर भिक्षुसूत्रों में पाराशर्यप्रोक्त भिक्षुसूत्र प्राचीनतम था, क्योंकि इसके नामकरण में तद्विषयता का नियम प्रवर्तित था। गौतमादि-प्रणीत धर्मसूत्रों में भिक्षुचर्याविषयक वचन (सूत्र) उपलब्ध होते हैं, अतः ऐसा अनुमान करना संगत ही होगा कि केवल भिक्षुचर्या को लेकर भी सूत्रग्रंथों की रचना की जा सकती है। पाणिनिस्मृत पाराशर्य और कर्मन्द नामक ऋषियोंने ऐसे दो सूत्रग्रन्थों का प्रवचन किया था (४।३।११०–१११) जिनमें अतिप्राचीनतानिबन्धन तद्विषयता का नियम लगता था।

पाराशर्य और भिक्षुसूत्र—पाराशर्यकृत कोई भिक्षुसूत्र था, यह प्रचलित सामग्री से भी अनुमित होता है। भिक्षुचर्या के प्रसंग में निबन्ध-ग्रंथों में पराशर के वचन उद्धृत हुए हैं।[2] 'पराशर' पाठ यदि भ्रष्ट न हो तो मानना होगा कि पराशरकृत वचनों के आधार पर किसी तद्वंशभव पाराशर्य ने भिक्षुसूत्र की रचना की थी; अथवा यह भी हो सकता है कि पाराशर्योक्त मतों को लेकर किसी पराशर ने कोई ग्रन्थ रचा था। चाहे जो भी हो, इन उद्धरणों से 'किसी पाराशर्य का भिक्षुसूत्र के साथ सम्बन्ध था' यह अनुमित होता है।

पाराशर्य का परिचय—यह पाराशर्य कृष्णद्वैपायन नहीं हो सकते, यह पहले कहा गया है। संस्कृत साहित्य में कई पाराशर्य स्मृत हुए हैं (पाराशर्य गोत्र-प्रत्ययान्त है)। लिङ्गपुराण के २४ वें अध्याय में शैवयोगियों की गणना में विभिन्न परिवर्तों में दो पृथक् पाराशर्य के नाम लिए गए हैं (१५, ११७ श्लोक द्र०)। वृद्ध पराशर का स्मरण बुद्धचरित काव्य में सांख्याचार्यों के प्रसङ्ग में मिलता (१२।६७) है। सांख्याचार्य पञ्चशिख पाराशर्य-सगोत्र थे (शान्तिपर्व ३२०।२४); यह पाराशर्य कृष्णद्वैपायन नहीं हो सकते, क्योंकि पञ्चशिख

१—स भिक्षुरनुरागाक्रोशप्रधानः कषायी मुण्डितः ⋯ ⋯ यतिधर्माः (कृत्य-कल्पतरु-मोक्षकाण्ड पृ० ५० में उद्धृत देवलवचन); भिक्षोर्ब्रह्मलयेच्छाप्राप्ति-वचनानन्तरं हारीतः⋯⋯ (पृ० ४२धृत हारीतवचन)। यतिधर्मसंग्रह में भिक्षुविषयक देवलादि के वचन उद्धृत हुए हैं (पृ० ७८,८५ आदि)।

२—"पराशरः—तत्र परमहंसा नाम एकदण्डधराः ⋯⋯ पश्यन्त इति" (यतिधर्मसंग्रह पृ० २७); पराशरः—ग्रामैकरात्रवासिनो नगरतीर्थावसथेषु पञ्चरात्रवासिनः ⋯⋯⋯चातुर्वर्ण्यं भैक्षं चरन्त आत्मत्वेनावतिष्ठते (तत्रैव पृ० ७७) बृहत्पराशरस्मृतिगत यतिधर्मपरक प्रकरण द्रष्टव्य है (१२।१४४)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिविद्वान् कपिल के प्रशिष्य हैं। एक पाराशर्य कौथुम सामशाखाकारों में अन्यतम है, यह वायुपुराण ६१।४९ में कहा गया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि 'पाराशर्य' कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, या जो पाराशर्यनामक है वही महाभारतकृद् द्वैपायन व्यास है।

हमारी दृष्टि में इसकी पूरी सम्भावना है कि सामशाखाकार पाराशर्य पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र का प्रवक्ता है; तद्विषयतानियम ही इस अनुमान में बलिष्ठ हेतु है, यद्यपि अभी यह अनुमान बहुत सुदृढ नहीं है। जिस समय तद्विषयतानियम प्रचलित था, उस काल का कोई पाराशर्य इसका प्रवक्ता है, इतना ही कहा जा सकता है।

तद्विषयता-नियम-काल में भिक्षुचर्या-सम्बन्धी ग्रन्थों का होना असम्भव नहीं है, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में भिक्षुचर्याविषयक वचन उपलब्ध होते हैं[1]। वैदिक वाङ्मय के साथ पराशर का नाम सुप्रसिद्ध है (पराशर और पाराशर्य कुलसम्बद्ध हैं)। अरुणपराशर ब्राह्मण प्रसिद्ध है (तन्त्रवार्त्तिक पृ० १६४ चौखम्बा०)। यह ब्राह्मण कल्परूप है। पाराशरकल्पिकशब्द महाभाष्य ४।२।६० में है, अतः पाराशर्यकृत ग्रन्थ में तद्विषयतानियम का प्रवर्तन होना सङ्गत ही है।

भिक्षुसूत्र का अर्थ सांख्यसूत्र नहीं है—पाराशर्य-सगोत्र पञ्चशिख का सूत्रग्रन्थ भिक्षुसूत्र है, यह मत युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता। पञ्चशिख के अनेक वचन व्यासभाष्य और अन्यान्य ग्रन्थों में उद्धृत हैं, पर उनमें एक भी वचन भिक्षुपरक नहीं है, यद्यपि पञ्चशिख के विवरण में उनको 'संन्यासी' रूप में कहा गया है—सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये............(शान्ति० २१८।७)। यह भी जानना चाहिए कि जिस प्रकार नटविशेष द्वारा रचित होने मात्र से कोई ग्रन्थ नटसूत्र-नामक नहीं हो जाता, इसी प्रकार भिक्षुविशेष द्वारा रचित होने के कारण किसी ग्रन्थ का भिक्षुसूत्र नाम नहीं पड़ जाता; अतः यही मानना सङ्गत है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में (जिस समय ब्राह्मण

१—मैत्रायणी श्रुतिः "त्रीन् वैणवान् दण्डान्···भैक्षमश्नीयात्" इति। काठकब्राह्मणम्—"चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यां चरेत्"। आरुणिश्रुतिः—"यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति"। मैत्रायणीश्रुतिः—"अथान्यः परिव्राड् भिक्षार्थी ग्रामं प्रविशेत्" (यतिधर्मसंग्रह पृ० ७६ में उद्धृत वचन)। चतुरो मासान् वार्षिकान् ग्रामे नगरे वापि वसेत् (पृ० ९४)। अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति (बृहदारण्यक ३।५।१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थादि का प्रवचन किया जा रहा था) पाराशर्य नामक किसी ऋषि ने (उनका व्यक्तिनाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है) भिक्षुचर्याविषयक जिस सूत्रमय ग्रन्थ का प्रवचन किया, वही पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक का भी यही मत है (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० २५२) । महामहोपाध्याय काणे भी भिक्षु सम्बन्धी सूत्र = भिक्षुसूत्र समझते हैं[1] ।

इस लेख में इस विषय पर कोई चर्चा नहीं की गई है कि पाराशर्य ब्रह्मसूत्र का कर्ता है या नहीं। पाराशर्य बादरायण को इस सूत्र का प्रणेता माना जाता है, यद्यपि आधुनिक विद्वानों ने इस पर संशय व्यक्त किया है। सामविधान ब्राह्मण में पाराशर्य और बादरायण को पृथक् व्यक्ति माना गया है (३ । ९ । ३)। भिक्षुसूत्र का तात्पर्य ही इस निबन्ध में विवेचित हुआ है।

१—Panini knew Bhiksusutras composed by पाराशर्य and कर्मन्द.........., & As sutra works about भिक्षु. were composed before Panini.... (H. Dh. S. Vol. II, p. 522).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वादश परिच्छेद

पाणिनि द्वारा स्मृत 'शिशुक्रन्दीय' ग्रन्थ का स्वरूप

शिशुक्रन्दशब्द का प्रचलित अर्थ—'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' (४।३।८८) इस पाणिनीयसूत्र से शिशुक्रन्द शब्द से 'छ' प्रत्यय करने पर 'शिशुक्रन्दीय' शब्द सिद्ध होता है। इस सूत्र में 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) सूत्र का अधिकार आता है, इसलिये व्याख्याकारों ने 'शिशुक्रन्दन का अधिकार कर लिखे ग्रन्थ' को 'शिशुक्रन्दीय' कहा है।

इस शिशुक्रन्द का अर्थ क्या है? शिशुक्रन्दीय ग्रन्थ कोई शास्त्रविशेष है या काव्यविशेष? कई आधुनिक गवेषकों का मत है कि शिशुक्रन्दीय ग्रन्थ काव्य-विशेष है[१]। क्रन्दन का स्पष्टीकरण करते हुए वे अनुमान करते हैं कि शिशु कृष्ण के जन्म समय के क्रन्दन को लेकर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था[२]।

प्रचलित अर्थ की असमीचीनता—हमारी दृष्टि में यह अर्थ पूर्णतः असमीचीन है, क्योंकि "व्याख्याताओं के मत से 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र के साथ दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य का ही कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। जिस किसी विषय को लेकर (अधिकृत्य) जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया जाता है (चाहे वह काव्यरूप हो या न हो) वही इस सूत्र में इष्ट है। इसीलिये 'ज्योतिः को लेकर लिखा गया ग्रन्थ'[३] इस अर्थ में वैयाकरण इसी सूत्र से

१—As to Kavyas Panini mentions शिशुक्रन्दीय as actual works (India as Known to Panini, p. 339). Hindu Civilization ग्रन्थ में राधाकुमुद मुखोपाध्याय भी यही मत व्यक्त करते हैं (पृ० १२२)।

२—"शिशुक्रन्द = बच्चों का रोना (संभवतः इसमें कृष्ण के जन्म-समय रोने और पहरेदारों के जागने का आख्यान हो" (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० २५७)। "The name शिशुक्रन्दीय suggests that the poem related to the birth of कृष्ण, literally a work dealt with the crying of child (India as Known to Panini p. 340).

३—ज्योतिष शब्द की साधुता के विषय में अन्यत्र विचार किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ज्योतिष' शब्द को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। ४।३।८७ सूत्र का सम्बन्ध आख्यान और आख्यायिका से भी है (द्र० भाष्य-प्रदीप-उद्द्योत)। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इस सूत्र द्वारा सिद्ध ग्रन्थ नियमानुसार काव्य-रूप ही हो [1]। यदि ४।३।८७ और ८८ इन दोनों सूत्रों का सम्बन्ध काव्य और नाटक से ही हो तो 'द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः' इस वार्त्तिक के उदाहरण में 'गौणमुख्य' (द्र० काशिका) पद देना निरर्थक होगा, क्योंकि किसी काव्य, नाटक, आख्यान या आख्यायिका का नाम गौणमुख्य नहीं हो सकता। ४।३।८७ सूत्र के उदाहरण में काशिका ने 'वाक्यपदीय' पद को ग्रहण किया है, और वाक्यपदीय नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादि के अन्तर्गत नहीं हो सकता। इसलिये समझना चाहिए कि जहाँ किसी निश्चित विषय को लेकर ग्रन्थ का प्रणयन किया जाता है वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'शिशुक्रन्दीय' नाम किसी काव्य या नाटक का ही हो सकता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शिशुक्रन्द का संभाव्य अर्थ—अब 'शिशुक्रन्दीय' के अर्थ पर विचार किया जा रहा है। काशिका आदि के व्याख्याकार 'बच्चों का रोना' यह अर्थ बताते हैं। नारायण बच्चों के रोने के विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ को 'शिशुक्रन्दीय' कहता है (प्रक्रियासर्वस्व)। पेरुसूरि भी यही कहते हैं—"शिशूनां क्रन्दने प्रोक्तः शिशुक्रन्दो घञा ततः। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे शिशुक्रन्द्रीय उच्यते॥" (औणादिक-पदार्णव १।१६९)। शिशवो बालास्तेषां क्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्द्रीयो बालपुस्तकः (गणरत्नमहोदधि ५।३५०)। सर्वत्र व्याख्याओं में बहुवचनान्त पद (शिशूनाम्) है। अर्वाचीन विद्वान् शिशुपद एकवचनान्त मानते हैं और शिशुपद से कृष्ण को समझते हैं—यह पहले हम कह चुके हैं। कृष्ण का जन्म-कालीन क्रन्दन कुछ इतना विस्मयकारक नहीं है कि उसको लेकर कोई ग्रन्थ लिखने लग जाए।

१—यह तथ्य आधुनिक विद्वानों को भी ज्ञात है। म० म० पाण्डुरंग वामन काणे महोदय कहते हैं कि अष्टा०४।३।८७ और इसके बाद के सूत्रों में ऐसे लौकिक ग्रन्थों के उल्लेख हैं, जो काव्य भी हो सकते हैं (न कि अवश्यमेव काव्य हैं)—The Sutra of Panini (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७) and the following Sutras indicate the existence of secular works before Panini's day which may have been poetic (History of Sanskrit Poetics, p. 320).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन से विदित होता है कि शिशुओं के रोदन को लेकर (अर्थात् बाल-रोग विषय पर) जो ग्रन्थ-विशेष लिखा जाता था वही 'शिशुक्रन्दीय' पद से अभिहित होता था। इसीलिये व्याख्याताओं का 'शिशूनाम्' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग सार्थक ही है। भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव स्पष्टरूप से कहते हैं—"शिशुक्रन्दरोगमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः"।

शिशुक्रन्दीय शास्त्र का परिचय—वस्तुतः आयुर्वेद में 'शिशुक्रन्दीय' की सत्ता प्रसिद्ध है। बच्चों का रोना रोग का एक मूलभूत विशिष्ट चिह्न है। बाल-रोगों की चर्चा कौमारभृत्य नामक अङ्ग में की गई है। भगवान् सुश्रुत कहते हैं—"कौमारभृत्यं नाम कुमाराणां धात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमार्थमिति" (सूत्रस्थान १।८)। दूषित दुग्धादि के पान से उत्पन्न रोग से पीड़ित शिशु बहुधा रोता-चिल्लाता रहता है। आयुर्वेद ग्रंथों में कौमारभृत्य के अन्तर्गत बालरोगों की चर्चा में 'क्रन्दन' शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है। कहीं रोदन शब्द भी है (सुश्रुत–उत्तर० २७।४)। अग्निपुराण के 'बालतन्त्र' विवरण में (२९९ अ०) शिशु और क्रन्दन शब्दों का बहुधा प्रयोग लक्षणीय है (२९९।६,११,१३,१७ आदि)। कौमारभृत्य के विचार में 'शिशु' शब्द का प्रयोगबाहुल्य देखा जाता है। इस विषय पर सुश्रुत का उत्तर तन्त्र देखना चाहिए (२७।७,२७।१२,२७।१५,२९।२,३१।२,३३।२,३६।२; इन स्थलों में 'शिशु' शब्द प्रयुक्त हुआ है)।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रगत शिशुक्रन्द शब्द से 'बच्चों का रोग-जनित रोना' ही इष्ट है। आयुर्वेद के विद्वानों ने इसी रोने के विषय पर जो ग्रन्थ लिखा, वही 'शिशुक्रन्दीय' कहलाता था। जिस प्रकार आजकल काश्यपसंहिता (कौमारभृत्य-सम्बद्ध) पायी जाती है, उसी प्रकार अन्य बाल-रोग-विषयक ग्रन्थ थे, जिनमें शिशुक्रन्दन के विषय पर विशेष विचार किया गया था, ऐसा समझना चाहिए। पाणिनि से पूर्व कौन-कौन 'शिशुक्रन्दीय' ग्रन्थ थे, इसकी खोज की जानी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रयोदश परिच्छेद

पाणिनीय 'यवनानी' शब्द के अर्थ के विषय में एक भ्रम

पाणिनि के 'इन्द्रवरुण............यवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' (अष्टाध्यायी ४।१।४९) सूत्र से ङीष् प्रत्यय (और आनुक् आगम) होकर स्त्रीलिंग में 'यवनानी' शब्द बनता है। इसमें कात्यायनकृत 'यवनाल्लिप्याम्' वार्त्तिक[1] की प्रवृत्ति है, जिससे यवनानी का अर्थ होता है—यवनों की लिपि (यवनानां लिपि:)।

इस 'यवनानी' शब्द पर आधुनिक ऐतिहासिक और भाषाविदों ने पर्याप्त विचार किया है। यवन शब्द से सूत्रकार का अभिप्राय क्या है—यह इस निबन्ध का विचार्य विषय नहीं है। यह जो कहा जाता है कि (यवनाल् लिप्याम् इस वार्तिक के विषय में) पाणिनि को 'लिपि' रूप अर्थ ज्ञात नहीं था और बाद में यवनानी शब्द का लिपि-विशेष रूप अर्थ हुआ है, पहले यवनानी का अर्थ 'यवन की स्त्री' था[2]—इस मत की असंगति यहाँ दिखाई जाएगी। इस वार्तिक का आश्रय कर कुछ विद्वान् पाणिनि-कात्यायन-काल के अन्तर की सीमा पर भी निर्णय करने की चेष्टा करते हैं—इस दृष्टि की अयुक्तता भी इस लेख के द्वारा सिद्ध होगी। निश्चित ही इन दोनों आचार्यों में कालकृत पौर्वापर्य है, जो सर्वथा स्वाभाविक है, पर इस तथ्य के निर्धारण में यह वार्त्तिक अप्रयोज्य है।

१—वार्त्तिक के स्वरूप-भेद आदि से संबन्धित एक महत्त्वपूर्ण रचना 'अभिनव भारती' शोध पत्रिका (३।१) में द्रष्टव्य है।

2—In this particular case Panini's reference must certainly belong to the earlier period compared with Katyayana's knowledge about the Yavana's that of Panini is very slight. Panini did not know that the Yavanas had a script of their own (comp. yavanal lipyam, Katyayana's Varttika 3 to IV. I. 49) or at least in his time there was no current Sanskrit word for that script. (Systems of Sanskrit Grammar p. 16).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा पक्ष यह है कि यवनानी का लिपि-विशेष रूप अर्थ पाणिनिसंमत (सुतरां पाणिनि ज्ञात) भी है, यह अर्थ परवर्ती काल की उपज नहीं है, और न ही यवन-स्त्री रूप अर्थ विकसित होकर यह नया अर्थ बना है। यवन-स्त्री के लिये 'यवनी' शब्द पृथक् है, जो सर्वथा पाणिनिसंमत है। चूंकि आधुनिक गवेषक शास्त्रीय दृष्टिकोण को छोड़कर शास्त्रीय शब्दार्थसंबन्ध को जानने की चेष्टा करते हैं, अतः उनमें इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं की उत्पत्ति होती है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थों के प्रणेताओं की दृष्टि से जिस प्रकार वैज्ञानिक मतों की समीक्षा करना भ्रमपूर्ण है, उसी प्रकार शब्दशास्त्रीय निश्चित दृष्टि को न जानकर व्याकरण-गत शब्दार्थस्वरूप को जानने में भ्रम होता है; इस भ्रम का दूरीकरण अवश्य कर्तव्य है।[1]

हम समझते हैं कि आधुनिक विद्वान् व्याकरण के स्त्रीलिङ्ग को लौकिक स्त्री समझकर ही पूर्वोक्त मत का प्रतिपादन करते हैं। व्याकरण के स्त्रीत्व से लौकिक स्त्रीत्व का सर्वथा ऐक्य नहीं है। पाणिनि जब यवन शब्द के स्त्रीलिङ्ग में 'यवनानी' कहते हैं; तब सहसा यह प्रतीत हो सकता है कि वे यवन के 'लौकिक स्त्री' रूप अर्थ को ही लक्ष्य कर रहे हैं, पर यह धारणा भ्रान्त है। व्याकरणशास्त्रीय दृष्टि से यह जानना चाहिए कि लिपि रूप उपाधि की विवक्षा ही यवन शब्द का पूर्वोक्त स्त्रीलिङ्ग रूप बनता है, अन्यथा यवन शब्द का स्त्रीत्व होगा ही नहीं। पूर्वाचार्यों ने स्पष्टतः ऐसा ही कहा है[2] और यह दृष्टि व्याकरण

१—व्याकरण का मुख्य विषय अर्थ-निर्देश नहीं है, यह महाभाष्य (२।१।१) से भी ज्ञात होता है। प्रत्येक शब्द अर्थवान् है, और कहीं-कहीं अनेकार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में ही शब्दशास्त्रीय विधि प्रवर्तित होती है, यद्यपि कण्ठतः उस अर्थ का उल्लेख व्याकरणकार नहीं करते (क्वचित् इस नियम का अपवाद भी है), जिससे व्याकरणशास्त्रोक्त शब्दों के अर्थ-निर्णय में सन्देह रहता है, जो व्याख्यान से निराकृत होता है। जहाँ व्याख्यान से निराकृत होने की संभावना नहीं है, वहाँ 'प्रयोग' देखकर ही अर्थनिर्णय करना होगा, क्योंकि व्याकरण वस्तुतः प्रयोगमूलक शास्त्र है (प्रदीप ८।१।८७)।

२—४।१।४९ सूत्र के प्रथम वार्त्तिक—'हिमारण्ययोर्महत्वे' की व्याख्या में कैयट कहते हैं—'महत्त्वयोगे हिमारण्ययोः स्त्रीत्वम्'; यह युक्ति 'यवाद् दोषे' और 'यवनाल् लिप्याम्' इन दो वार्त्तिको पर भी चरितार्थ होगी। इस स्थल की व्याख्या में काशिका के प्राचीनतम व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि कहते हैं—'महत्त्वेन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सर्वत्र मान्य है; यह नहीं कि पाणिनि यवनानी का अर्थ 'यवन-स्त्री' समझते हैं और कात्यायन 'यवनों की लिपि'। किस उपाधि में यहाँ स्त्रीत्व का अनुशासन पाणिनि कर रहे हैं, उसको दिखाने (अल्पबुद्धि शिष्यों के लिये) के लिये ही वार्त्तिककार ने 'यवनाल् लिप्याम्' ऐसा स्पष्टतः कह दिया है। यदि वार्त्तिककार ऐसा न कहते तो अल्पबुद्धि शिष्यों में यह भ्रम होता कि जिस प्रकार ४।१।४९ सूत्रगत इन्द्र, वरुण आदि शब्दों से उत्पन्न इन्द्राणी, वरुणानी आदि शब्द 'पुंयोग' के अर्थ में हो रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी पुंयोग में ही यवन से यवनानी शब्द होगा। ऐसा भ्रम न हो इसलिये जिस उपाधि में यवन शब्द का स्त्रीत्व होता है, उस लिपि रूप उपाधि को कह दिया गया है।

यह सोचना पूर्णतः भ्रान्त है कि पाणिनि के काल में यवनानी का अर्थ 'यवन-स्त्री' था। जहाँ भी यवनानी शब्द है वहाँ उसका अर्थ लिपिविशेष ही है (सब काल में)। यवनी शब्द पुंयोग में या जाति अर्थ में स्वतन्त्र रूप से बनता है, जिस प्रकार ब्राह्मण-जातीया स्त्री ब्राह्मणी, उसी प्रकार यवन-जातीया स्त्री यवनी। इस अर्थ में कालिदास का 'यवनीमुखपद्मानाम्'—प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार इस सूत्र से (और 'हिमारण्ययोर्महत्वे' इस वार्तिक के साथ) जो अरण्यानी शब्द बनता है, उसके विषय में भी यह सोचना पूर्णतः भ्रान्त है कि पाणिनि के समय अरण्यानी का अर्थ 'अरण्य की पत्नी' था और कात्यायन के समय 'महत् अरण्य' रूप नया अर्थ विकसित हुआ।[1] वस्तुतः महत्त्व उपाधि में ही अरण्य का स्त्रीत्व होता है, अन्यथा यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा ही नहीं। निरुक्तकार यास्क जब अरण्यानी का अर्थ 'अरण्यस्य पत्नी' कहते हैं (निरुक्त ९।३१), तब भी पाणिनि की दृष्टि बाधित नहीं होती, यह शास्त्रीय दृष्टि से पूर्वापर-सम्बन्ध को देखने से स्पष्ट होता है।

शब्दार्थ कदापि परिवर्तित नहीं होता, यह हम नहीं कह सकते; पर उपर्युक्त उदाहरणों में अर्थ में परिवर्तन हुआ है, ऐसा शास्त्रीय दृष्टि से कदापि नहीं कहा

युक्ता हिमादयः स्त्रीलिङ्गेन अभिसंबध्यन्ते यदा, तदा स्त्रीत्वविवक्षायाम् अनयोः प्रत्ययागमयोर्विधानमित्येतदनेन अन्वाख्यायते, न तु स्त्रीप्रत्ययस्यायमपवाद उच्यते। स्त्रीत्वे एव हि प्रत्ययो भवति।'

१—बड़े प्राकृत्तिक वन को पाणिनि ने अरण्य (४।१।४९) और कात्यायन ने अरण्यानी कहा है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २०९); यह विचार भी उपर्युक्त शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार सङ्गत नहीं जंचता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। अतएव अर्थ में परिवर्तन मानकर जो पूर्वोक्त ऐतिहासिक निर्णय किया गया है, वह बाधित हो गया है, यह ज्ञातव्य है।

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण में अर्थ-निर्देश किस दृष्टि से किया जाता है, इस पर अभी आधुनिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है। अष्टाध्यायी में शतशः ऐसे सूत्र हैं, जहाँ 'अमुक अर्थ में अमुक प्रत्यय या समास या निपातन हो'—ऐसा कहा गया है; पर वह अर्थ कैसा है, यह सूत्रकार ने सूत्रों में नहीं कहा, जो प्राचीन व्याख्यानों से जानना चाहिए। सूत्रदर्शित 'अर्थ' के विवरण में टीकाकारों ने कहीं वाच्य, कहीं गम्य, कहीं विशेषण, कहीं उपाधि, कहीं उपपद, कहीं गम्यमान, कहीं प्रत्ययार्थान्वयी आदि शब्दों के प्रयोग किए हैं, जिनके अनुसार सूत्रप्रक्रियानिष्पन्न शब्दों का अर्थ यथार्थतः जाना जाता है। उपाधि, विशेषण आदि शब्दों का अर्थ यदि न जाना जाए तो अर्थनिर्देशों को देखकर ऐतिहासिक निर्णय करना भ्रामक ही होगा। पाणिनि ने कहा है—'तनुत्व अर्थ में वत्स शब्द से ष्टरच् प्रत्यय होता है (५।३।९१), इससे 'वत्सतर' शब्द बनता है। जो यह नहीं जानता कि यहाँ तनुत्व प्रवृत्तिनिमित्त का है या शरीर का, वह लौकिक दृष्टि के अनुसार 'शरीर की कृशता' अर्थ में वत्सतर शब्द का प्रयोग करेगा और अपने को 'वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययनकारी' समझेगा; शास्त्रतः यहाँ प्रवृत्ति-निमित्त का तनुत्व है, कृशता से इसका सम्बन्ध नहीं है। इन सूक्ष्म भेदों को न जानने के कारण शब्दार्थसम्बन्ध पर आश्रित ऐतिहासिक विचार अनर्थकारी होता है, जैसा कि हम गोल्डस्टूकर आदि के ग्रन्थों में देखते हैं। लेखान्तर में इस विषय पर सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

—:o:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्दश परिच्छेद

पाणिनिसूत्र-ज्ञापित ऋग्वेदीय कठशाखा की सत्ता

अष्टाध्यायी की देवसुम्नयोर्यजुषि काठके (७।४।३८) सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने पदमञ्जरी में कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है (बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा[1])। यद्यपि सामान्यरूप से इस वाक्य में कोई असङ्गति प्रतीत नहीं होती, तथापि यह एक विचार्य विषय अवश्य ही है, क्योंकि वेदान्वेषक पं० भगवद्दत्तजी कहते हैं—'हमें इस बात की सत्यता में सन्देह है (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वि० सं०, भाग १, पृ० २८९)। इस निबन्ध में ऋग्वेदीय कठशाखा की सम्भावना पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

यजुः और काठक शब्दद्वय का अर्थ—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि के (७।४।३।८)। सूत्र में जो 'यजुषि काठके' पदद्वय हैं, उनके तात्पर्य में संशय हो सकता है। यजुः शब्द का मुख्य अर्थ एक मन्त्रविशेष है (ऋक्साम शब्द की तरह), यह पूर्वमीमांसा के मन्त्रलक्षणाधिकरण (२।१।३५-३७) से स्पष्टतः ज्ञात होता है। काठक शब्द का अर्थ 'कठानाम् आम्नायः' है;[2] ऐसी स्थिति में सूत्र का यही अर्थ होना उचित प्रतीत होता है कि 'काठक' (कठों के आम्नाय) में विद्यमान जो यजुर्मन्त्र, उसमें यदि देव-सुम्न शब्द हैं, तो उनमें ७।४।३८ सूत्रीय कार्य हो।' यजुर्मन्त्र गद्य (पादहीन) ही होता है,

---

१—विचार में सौविध्य के लिये इस सूत्र की सिद्धान्तकौमुदी का पाठ उदाहृत हो रहा है—इह यजुःशब्दो न मन्त्रमात्रपरः किन्तु वेदोपलक्षकः तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति, किंच ऋग्वेदेऽपि भवति। स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः। यजुषीति किम्—देवाञ् जिगाति सुम्नयुः। बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा ततो भवति प्रत्युदाहरणम् इति हरदत्तः। बृहत् शब्देन्दु० में इस स्थल की स्पष्ट व्याख्या है—ननु देवान् जिगातीति प्रत्युदाहरणमयुक्तम् यजुषि काठके इत्यंशद्वयस्यापि तत्राभावादत आह–बह्वृचानामपीति। तत्रेदं दृष्टमिति भावः। काठके इति किम्? यजुर्वेदेऽपि शाखान्तरे माभूत्–अत्र सुम्नयुरिदमस्ति।

२—कठ, कलाप आदि चरणवाचक शब्द हैं (काशिका ४।२।४६)। इस शब्द से गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) सूत्र द्वारा वुञ् प्रत्यय विहित होता है—धर्म और आम्नाय, इन दो अर्थों में (चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते)। वुञ्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः इस अर्थ में पादहीन यजुर्मन्त्र ही उदाहरण के रूप में उल्लिखित होना चाहिए, पर काशिकादि में जो उदाहरण दिए गए हैं, (देवायन्तो हवामहे; देवायन्तो यजमानाय शर्म; सुम्नायन्तो हवामहे), वे पादवद्ध ऋङ्मन्त्र हैं। सब आचार्यों का जहाँ ऐकमत्य हो, वहाँ प्रबल प्रमाणान्तर के विना किसी व्याख्या को सदोष कहना असमीचीन है।

अष्टाध्यायीस्थ ऋक्-यजुष-शब्दों का तात्पर्य पहले ज्ञातव्य है। 'यजुषि' की तरह 'ऋचि' पद अष्टाध्यायी ६।३।१३३ में है। नागेश ने यहाँ भी 'ऋग्वेदे इत्यर्थः' कहा है, जिसका तात्पर्य ऋग्वेदीय मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय है। काशिकाकार यहाँ 'ऋचि विषये' यह अर्थ करते हैं, जिससे केवल ऋङ्मन्त्र विवक्षित होता है। उसी प्रकार ६।१।११७ में भी 'यजुषि' पद है, जहाँ 'यजुषि विषये' अर्थ काशिका में किया गया है। ७।४।३८ में यजुष् के विषय में काशिकाकार ने कुछ भी नहीं कहा है, पर ऋङ्मन्त्र (पादवद्ध) का उदाहरण दिया है।

काशिका में प्रदत्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सूत्र में जो 'यजुष्' पद है, उसका अर्थ यजुर्मन्त्र न होकर 'यजुर्वेद' है। भट्टोजिदीक्षितने 'यजुर्वेदस्थ' यही अर्थ दिखाया है; यह अर्थ नागेशभट्ट, सुबोधिनीकार जयकृष्ण आदि को भी अनुमत है। नागेश इसका अर्थ–'यजुर्वेदीय कठशाखा' करते हैं (शब्देन्दु०)। यजुर्वेद का अर्थ है--'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद', केवल मन्त्र नहीं। इस विषय में 'इह यजुःशब्दस्य वेदोपलक्षणत्वे सति.....' यह चन्द्रकलाकार का वाक्य द्रष्टव्य है। अतः 'यजुषि काठके' का अर्थ होगा--यजुर्वेदीय कठशाखा में। चूँकि कठशाखा यजुर्वेद में ही है, इसलिये 'यजुर्वेदीय' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। इस दोष के दूरीकरण के लिये हरदत्त ने कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है, जिसकी व्यावृत्ति के लिये पाणिनि को यह विशेषण देना पड़ा है। ऋग्वेदीय कठशाखा न उपलब्ध है और न उसका संकेत ही वैदिक साहित्य में मिलता है, अतः हरदत्त की इस व्याख्या में संशय का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस संशय के समाधान के लिये निम्नोक्त तथ्य विचार्य है।

शाखानाम की विचित्रता—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि यह संशय नहीं किया जा सकता कि एक ही शाखा-नाम दो पृथक् वेदों में कैसे सम्भव हो

प्रत्यय से काठकम्, कालापकम् आदि शब्द सिद्ध होते हैं। आम्नाय=वेदाभ्यास (बालमनोरमा)। नागेश कहते हैं—आम्नायः सम्प्रदायः शास्त्रमित्यन्ये (शब्देन्दु, अत्रैव)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है। शाखाकार के नामानुसार शाखा-नाम होते हैं—यह सार्वत्रिक नियम है, अतः यदि एक नाम के एकाधिक शाखाकार ऋषि हुए हैं, तो समान नामवाली एकाधिक शाखाएं (एक या एकाधिक वेदों में) सर्वथा प्रणीत हो ही सकती हैं। हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि सुमन्तु नामक एकाधिक आचार्यों ने साम-अथर्व-शाखाओं का प्रवचन (पुराणोक्त शाखा-विवरण के अनुसार) किया है[1]। पराशर-शाखा ऋग्वेदीय भी है, शुक्लयजुर्वेदीय भी (वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २७७)। उसी प्रकार गौतम शाखा ऋग्वेद में भी है और सामवेद में भी (वही, पृ० २२९)। इस प्रकार के अन्यान्य उदाहरण भी मिलते हैं[2]। अतएव एकाधिक शाखा के समाननामत्व पर संशय नहीं किया जा सकता।

कठ और ऋग्वेद—'कठ' नाम ऋग्वेदीय शाखा-विशेष का है, यह हेमचन्द्रकृत कोश से भी ज्ञात होता है। यहाँ कहा गया है—'कठो मुनौ स्वरऋचां भेदे तत्पाठिवेदिनोः[3]।' इस श्लोकसे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि 'ऋचां भेदे' (ऋग्वेद का भेद, अर्थात् शाखा) भी कठ शब्द का अर्थ है। शाखा के लिये 'भेद' शब्दका प्रयोग उचित ही है; क्योंकि शाखा के प्रसंग में पुराणों में 'भिद्' धातु का प्रयोग बहुधा मिलता है—बिभेद प्रथमं पैल ऋग्वेदपादपम् (विष्णु०, ३।४।१६ तथा कूर्म० १।४९।५२)। यह भी कहा

१—विष्णुपु० ३।६।२ में सामशाखाकार के रूप में सुमन्तु का नाम है और ३।६।९ में अथर्व-शाखाकार के रूप में। वायु० ६०।२४-६१ तथा ब्रह्माण्ड० १।२४।२४-३५ में भी वेदशाखा-प्रकरण है, यह ज्ञातव्य है।

२—ताण्ड्यशाखा सामवेदीय है। पर यजुर्वेद में भी इस नाम की शाखा या कल्पसूत्र की सत्ता ज्ञात होती है। अनुशासन पर्व १६।७० की टीका में नीलकण्ठ कहते हैं—सूत्रकर्ता ताण्डिन इति यजुर्वेदे शाखाविशेषः, तत्र कल्पसूत्रकर्ता।

३—चौखम्बा-संस्करण, पृ० १०। मुद्रित पाठ है 'कटो मुनौ.........' पर यहाँ 'कठ' पाठ ही होगा। वस्तुतः, मुद्रणप्रमाद के कारण 'इति द्विस्वरटान्ताः' रूप पाठ इस वाक्य के बाद हो गया है, और इसका पाठ 'ज्ञातहर्षे प्रतिहते–' इस पूर्व श्लोक के बाद ही होना चाहिए था। प्रस्तुत 'कठो मुनौ.........' श्लोक 'द्विस्वरठान्त वर्ग' का सर्वादिम श्लोक होगा। मेदिनी कोशके ठ-द्विक वर्ग में 'कठो मुनौ.........' कहा गया है, पर वहाँ वेदका प्रसंग नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है कि इस शाखा के अध्येता और वेदिता [तु० अष्टाध्यायी, 'तदधीते तद् वेद' (४।२।५९); इस सूत्र का नेदिष्ट सम्बन्ध वैदिक साहित्य के साथ है, जो छन्दो-ब्राह्मणानि (४।२।६६, सूत्र से ज्ञात होता है] भी 'कठाः' कहे जाते हैं। यह बात सत्य है, जो पाणिनि के 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) सूत्र से भी ज्ञात होती है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की कोई कठशाखा थी। यह ज्ञातव्य है कि कोशस्थ 'ऋचां भेदे' का अर्थ 'ऋङ्मन्त्र का भेद' ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि रचनाशैली के अनुसार 'ऋक्' मन्त्र के किसी भेद-(प्रकार) का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसका अर्थ ऋग्वेद का शाखा-विशेष ही है।

एकाधिक कठों की सत्ता–प्रचलित कठोपनिषद् से अन्य भी कोई कठोपनिषद् थी,ऐसा ज्ञात होता है। शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् (६।३।२) की व्याख्या में 'इति हि काठके' कहकर 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः' और'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' वाक्य उद्धृत किए हैं। इनमें प्रथम वाक्य (सूर्यो यथा···) तो प्रचलित कठोपनिषद् (२।२।१२) में मिल जाता है, पर दूसरा वाक्य (आकाशवत्···) नहीं मिलता। यह दूसरा वाक्य[1] भी किसी कठोपनिषद् का होना चाहिए, और हम समझते हैं कि यह वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखान्तर्गत कठोपनिषद् का है, ऐसा सोचना असंगत नहीं है।[2]

कठ का परिचय—यह ऋग्वेदीय कठ ऋषि कौन हैं, इसका विशिष्ट परिचय नहीं मिलता। शान्तिपर्व (३३६।९) में जो 'आद्यः कठः' वाक्य है, यह सम्भवतः इस कठ को लक्ष्य करता हो, यद्यपि इसका गमक कुछ नही मिलता। यदि ऐसा न माना जाय, तो यह मानना होगा कि कृष्णयजुर्वेदीय

१—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।८।२२।४ की शंकरकृत विवरणटीका में यह वाक्य 'श्रुति' कहकर उद्धृत हुआ है।

२—समान नाम के एकाधिक उपनिषदों का अन्य उदाहरण भी मिलता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।१४ के शांकरभाष्य में 'परेषां पाठे' कहकर व्याख्येय मन्त्र का पाठान्तर दिया गया है। पर यह वस्तुतः पाठान्तर नहीं है, बल्कि अन्य-शाखीय श्वेताश्वतर-उपनिषद् का पाठ ही है, यह 'परेषां' पद से ध्वनित होता है; वैदिक संप्रदाय का व्यवहार ऐसा ही है। श्वेताश्वतर-शाखा की दो मन्त्रोप-निषद् की सत्ता प्रमाणान्तर में भी सिद्ध होती है। (वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृ० २९६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कठ' ही ऋग्वेदीय शाखा-विशेष का प्रवचनकारी है। यह असम्भव भी नहीं है; क्योंकि अथर्ववेदीय शौनक यदि बह्वृच (ऋक्शाखावित्) हो सकते हैं (जैसा कि पुराणों में माना गया है तथा परम्परा में भी स्वीकृत है) तो यजुर्वेदीय प्रवक्ता ऋषि द्वारा ऋक्शाखा का प्रवचन करना असंभव नहीं है।

यदि यजुर्वेदीय कठ को ही ऋग्वेदीय कठशाखा का प्रवक्ता माना जाय, तो इस विषय में एक अन्य तथ्य भी विचार्य है। शान्तिपर्वस्थ २४६ तम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय याजुष कठोपनिषद्-प्रतिपाद्यविषयवत् ही है। कई श्लोक (२, ३, ४) भी उभयत्र समान हैं। इस अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा गया है कि दशसहस्र ऋङ्मन्त्र को मथकर यह अद्भुत ज्ञान निकाला गया है। यहां यह प्रश्न उठता है कि इस श्लोक की यहाँ क्या आवश्यकता है? निश्चित ही इसका लक्ष्य ऋग्वेदीय किसी शाखा की ओर है और उस शाखा के उपनिषद् ग्रन्थ में जो ब्रह्मविद्या थी, उसका ही प्रतिपादन शान्तिपर्व के इस अध्याय में किया गया है। ऐसा मानने पर ही इस श्लोक को यहाँ कहने की कुछ संगति लग सकती है। चूँकि शान्ति० २४६।१३ में 'रहस्यं सर्ववेदानां' कहा गया है, अतः इस निर्देश का सम्बन्ध औपनिषद भाव से ही है, यह भी सुतरां सिद्ध होता है। ऋक्शाखा-विशेष का जो परिमाण[1] यहाँ दिखाया गया है, वह इस अनुल्लिखित शाखा (अर्थात्, ऋग्वेदीय कठशाखा) का है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि यह बहुत कुछ सन्दिग्ध है। क्या हम यहाँ यह कह सकते हैं कि इस ऋक्शाखा में भी याजुष कठोपनिषद्सदृश ज्ञान (तदनुरूप शब्द-व्यवहारपूर्वक) था, जिससे यह भी सिद्धप्राय ही होगा कि यजुर्वेदीय कठर्षि ही ऋग्वेदीय कठशाखा के प्रवर्तक हैं। शान्तिपर्व के इस अध्याय के शब्दों के साथ कठोपनिषद्-शब्द का साम्य और अध्यायान्त में ऋग्वेद का उल्लेख—ये दो अवश्यमेव कुछ न कुछ अन्तर्निहित तात्पर्य रखते हैं, जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

१—इस स्थल की टीका में नीलकण्ठ ने 'तदुक्तं शाकलके' कहकर 'ऋचां दश सहस्राणि ···चोच्यते' श्लोक को उद्धृत किया है। यह श्लोक शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी (४३) में मिलता है, जो शाकलशाखीय है। दोनों के पाठ में ईषत् भेद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चदश परिच्छेद

'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र एवं ज्योतिष शब्द

सूर्य-चन्द्रादि ग्रहविषयक शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' है अथवा 'ज्यौतिष' यह यहाँ विचारित हो रहा है। हमारे मत में शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' ही है न कि 'ज्यौतिष'। 'ज्यौतिष' शब्द (शास्त्रविशेष का नाम) आधुनिक विद्वानों द्वारा कल्पित है, जिसका आधार पाणिनीय सूत्र की भ्रान्त व्याख्या ही है। यह शब्द न तो शिष्टों के व्यवहार से सिद्ध होता है और न वैयाकरणसम्मत है। कुछ ही वर्षों से 'ज्यौतिष' लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। जिन विद्वानों ने 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७) सूत्रानुसार ज्यौतिष शब्द को सिद्ध करने के लिये चेष्टा की है, वे इस सूत्र का तात्पर्य नहीं समझते, यह भी यहाँ दिखाया जाएगा।

उपर्युक्त मत की उपपत्ति के लिये पांच युक्तियाँ हैं :—

(क) महाराष्ट्र, द्राविड़, वंग इत्यादि देशों में जो ग्रन्थ कुछ वर्षों पहले छापे गए थे, उनमें 'ज्योतिष' ऐसा ही पाठ है, 'ज्यौतिष' कहीं भी नहीं। काशी में भी प्राचीन मुद्रित ग्रन्थों में ऐसा ही पाठ देखा जाता है।

(ख) पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों में सर्वत्र 'ज्योतिष' यही रूप देखा जाता है। प्राचीनकोश-संवाद के साथ जिन ग्रन्थों का सम्पादन किया गया है, उनमें भी सर्वत्र 'ज्योतिष' पाठ ही छपा है। यह भी ज्ञातव्य है कि 'ज्यौतिष' ऐसा पाठान्तर भी इनमें कहीं नहीं मिलता।[1]

(ग) ज्योतिर्विद्याविषयक जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिन ग्रन्थों के नाम की स्मृति है, उनमें सर्वत्र 'ज्योतिष' शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इन ग्रन्थों की एक सूची

१—कौटिल्य-अर्थशास्त्र के मैसूर संस्करण में कहा है—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति षडङ्गानि' (१।२)। बर्लिन नगर से प्रकाशित चरणव्यूह में भी 'ज्योतिष' ऐसा ही पाठ मुद्रित है (पृ० ३६)। ऋक्प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृत्ति में (पृ० १३), निरुक्त की दुर्गकृत टीका में (पृ० २ आनन्दा०), मेधातिथि भाष्य में (४।१९), बृहत्संहिता में, ऋग्वेद-भाष्यभूमिका में 'ज्योतिष' ही पढ़ा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की है। धर्मशास्त्र में भी ज्योतिषार्णव ('शूलपाणिकृत दुर्गोत्सव ग्रन्थ में स्मृत), ज्योतिष रत्न (सिद्धेश्वर कृत संस्कारभास्कर में स्मृत), और अन्य कतिपय ऐसे ग्रन्थों का स्मरण किया गया है, जिनमें 'ज्योतिष' ऐसा ही पढ़ा है, कहीं भी 'ज्यौतिष' नहीं। यदि 'ज्यौतिष' यह शब्द शुद्ध होता तो कहीं भी ज्योतिष-ग्रन्थों में यह प्रयोग मिलता।

(घ) जिन ग्रन्थों में भ्रष्टपाठ की कल्पना नहीं की जा सकती, उन ग्रन्थों में भी 'ज्योतिष' ही पढ़ा गया है। जैसे मुण्डकोपनिषद् में—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्" (१।१।५)। यह निश्चित है कि वैदिक सम्प्रदाय में कहीं भी 'ज्यौतिष' प्रयुक्त नहीं हुआ है।[1]

यह भी नहीं माना जा सकता कि 'ज्योतिष' छान्दस प्रयोग है और लौकिक प्रयोग 'ज्यौतिष' ही होगा। भाष्यकारों ने कहीं भी इसकी छान्दसता को सिद्ध नहीं किया है। जहाँ छान्दस प्रयोग होता है वहाँ व्याख्याकार बहुधा प्रयोग के छान्दसत्व को कहते ही हैं, जैसे, तैत्तिरीयोपनिषद् गत 'शीक्षां व्याख्यास्यामः' वाक्य की व्याख्या के अवसर पर शङ्कर आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि यह प्रयोग छान्दस है। 'ज्योतिष' में शङ्कराचार्यादि भाष्यकारों का ऐसा कुछ भी वचन नहीं मिलता। आपस्तम्बधर्मसूत्र में वेदाङ्गों के नाम गिनाने के अवसर पर जहाँ 'शीक्षा' कहा गया, वहाँ हरदत्त कहते हैं,—'पृषोदरादित्वाद् दीर्घः'।

ज्यौतिष शब्द को ही साधु समझने वाले मानते हैं कि 'ज्योतिः को लेकर लिखा गया ग्रन्थ' इस अर्थ में 'अधिकृत्य' (४।३।८७) इस पाणिनीय सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होगा। इसके बाद 'णित्वाद् आदिवृद्धि' होकर 'ज्यौतिष' ऐसा औकारयुक्त पाठ ही सिद्ध होगा।

परन्तु यह मत ठीक नहीं जँचता। शास्त्रों के नाम रूढ़ भी होते हैं, और वे अध्येतृसम्प्रदाय में उसी रूपमें स्वीकृत होते हैं। इस तरह के सिद्ध शब्द व्याकरण के नियमों में नहीं बांधे जा सकते। इसलिये यहाँ 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से अण् प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि 'ज्योतिष' यह शास्त्र नाम पहले से ही सिद्ध है। इस मत को प्राचीन विद्वानों ने भी माना है। भानुजि दीक्षित ज्यौतिषिक

१—आपस्तम्बधर्म सूत्र में वेदाङ्गों के नाम कहे गए हैं—'कल्पो व्याकरणं ज्योतिषम् ·········' (२।८।११)। इसपर हरदत्त कहते हैं—सूर्यादीनि ज्योतीष्यधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं ज्योतिषम्। आदिवृद्ध्यभावे यत्नः कार्यः'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द की व्याख्या के अवसर पर कहते हैं—'ज्योतिर्नक्षत्राद्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यण्, संज्ञापूर्वकत्वान्न वृद्धिः, ज्योतिषमधीते वेद वा 'क्रतूक्थादि (४।२।६०) इति ठक्' (अमरकोश टीका २।८।१४)।

यहीं क्षीरस्वामी कहते हैं—"ज्योतींषि ग्रहादीनधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषः, ज्योतिषं वेद ज्यौतिषिक इति" (अमरकोषोद्घाटन)। 'ज्योतिष' यह पुंल्लिङ्ग पद शास्त्रसम्मत है या नहीं यह सूत्रतात्पर्य को समझने के बाद स्वतः समझ में आ जाता है। ज्योतिष शब्द में औकार की निवृत्ति के लिये नारायणभट्ट भी कहते हैं—'ज्योतिषमित्यत्र संज्ञापूर्वकत्वादवृद्धिरिति' (प्रक्रिया-सर्वस्व ४।३।८७)। दुर्घटवृत्ति में शरणदेव ने भी संज्ञापूर्वकविधि के अनित्यत्व का आश्रयण करके वृद्धिनिषेध का समर्थन किया है।[1] शरणदेव ने कहा है कि सुभूति आदि शब्दशास्त्र के पण्डितों का भी यही मत है।[2]

यदि 'ज्योतिष' शब्द असाधु होता तो इन वैयाकरणों ने यही कहा होता कि यह शब्द 'कालदुष्ट' है या कवियों ने भ्रांति से इसका प्रयोग किया है। 'ज्योतिष' यह पद मतान्तर में साधु है, ऐसा भी नहीं कहा गया। इसलिये समझना चाहिए कि यही पद सर्वसम्मत है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्यौतिष' यह शास्त्रनाम किसी भी वैयाकरण ने नहीं माना, यद्यपि अण्विधायक सूत्र अष्टाध्यायी में विद्यमान है।

१—कथं ज्योतिषं शास्त्रम्? अनेन [अधिकृत्येति सूत्रेण] अणि वृद्धिसंभवात्। उच्यते—संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद् वृद्ध्यभाव इति सुभूतिः (पृ० ९१)। कथं ज्योतिषं शास्त्रमिति? अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७) इत्यणि वृद्धेः। उच्यते—संज्ञापूर्वकानित्यत्वादिति भवभूतिः [सुभूतिः?] (पृ० १२६)।

२—सुपद्मविवरणपञ्जिकाकार कहते हैं—ज्योतिषमित्यादिवृद्धिराचार्यैर्नेष्टा (५।३।११८; इस विषय में ५।२।९६ सूत्रपञ्जिका भी द्रष्टव्य है)। परिभाषासंग्रह में भी कहा गया है—'ज्योतिरधिकृत्य कृते ग्रन्थे ज्योतिषम्...... एकृतस्या-नित्यत्वाद् वृद्धिर्न भवति (पृ० २२)। यह विचारना चाहिए कि भट्टोजि ने ग्रन्थान्ताधिके च (६।३।७९) के उदाहरण में 'समुहूर्तं ज्योतिषम्' ही कहा है (ज्योतिषं = ज्योतिः शास्त्रम्—बालमनोरमा)। क्वचित् ज्यौतिष पाठ भी कौमुदी में मिलता है, पर यह शास्त्रनाम नहीं है, यह नागेश ने अत्यन्त स्पष्टरूप से दिखाया है—ज्यौतिषमिति पाठे ज्योतिष इदम् इत्यर्थः (बृहच्छब्देन्दु०)। यदि ज्यौतिष शास्त्रनाम होता तो नागेश कभी भी ऐसा न कहते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो विद्वान 'ज्यौतिष' शब्द को ही ठीक मानते हैं वे अपने संपादित ग्रन्थों में 'ज्यौतिष' ही लिखते और प्रकाशित करते हैं। हमारी दृष्टि में ऐसा करना अशोभनीय है। छान्दोग्योपनिषद् में 'नक्षत्रविद्या' शब्द की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं 'नक्षत्रविद्या ज्योतिषमिति' (७।१।२)। शाङ्करभाष्य के सभी प्राचीन संस्करणों में यही पाठ मिलता है, पर गीता प्रेस के संस्करण में 'ज्यौतिष' पाठ दृष्ट होता है। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि काशी में भी जो ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किए जाते हैं, उनमें पुराने पाठ (ज्योतिष) को बदल कर 'ज्यौतिष' शब्द ही लिखा जा रहा है।

यहाँ यह भी विचार्य वस्तु है कि पुरुषोत्तम देव ने भाषावृत्ति में (४।२।५९) 'ज्यौतिष' शब्द का प्रयोग ज्योतिर्विद्याविद् के अर्थ में किया है। 'तदधीते तद्वेद' इस अर्थ में अण् करने पर 'ज्यौतिष' शब्द साधु ही है, जैसा कि 'ज्यौतिषिक' शब्द (द्र० पृ०२०५)। इस शब्द की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

अब देखना चाहिए कि 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस सूत्र का ज्योतिष शब्द के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं। यहाँ पाणिनि ने 'ग्रन्थ' पद का प्रयोग किया है, इसलिये जब 'ग्रन्थ' विवक्षित होगा तभी सूत्र की प्रवृत्ति होगी। जैसा कि 'शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः (भाष्यरूपी) = शारीरकीयः' निष्पन्न होता है। जिस प्रकार शिक्षा, कल्प या व्याकरण किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है; परन्तु विद्या या शास्त्र का नाम है, उसीप्रकार 'ज्योतिष' शब्द विद्याविशेष (या शास्त्रविशेष) को ही कहता है, न कि ग्रन्थ को। विद्या और ग्रन्थ में निश्चय ही भेद है। शास्त्र का तात्पर्य है—प्रतिपाद्य विषय; ग्रन्थ का तात्पर्य है—आचार्यविशेष द्वारा प्रणीत वाक्यसन्दर्भ जिसमें शब्दों की निश्चित आनुपूर्वी रहती है। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि पाणिनि ने व्याकरणविद्या का प्रणयन नहीं किया बल्कि सूत्र का प्रणयन किया है। शास्त्र और ग्रन्थ का यह भेद मेधातिथि ने मनुभाष्य में बहुत अच्छी तरह दिखाया है। 'इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ ....' (१।५८) इस श्लोक का व्याख्यान करते हुए वे कहते हैं—'इह शास्त्रपदेन स्मार्तो विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते, न तु ग्रन्थस्तस्य मनुना कृतत्वात्।' यद्यपि यहीं मेधातिथि ने यह भी कहा–'शास्त्रपदेन ग्रन्थाभिधानमपि शासनरूपार्थप्रतिपादकत्वाद् दृष्टमेव', इसलिये 'ग्रन्थरूप अर्थ में भी शास्त्र शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा हम कह सकते हैं, फिर भी यह वाक्य यह भी कहता है कि ऐसा प्रयोग लाक्षणिक ही होता है; और शास्त्र शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ग्रन्थ के अर्थ में होता है—इस मत को मान लेने पर भी शास्त्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ में ग्रन्थ पद का लक्षणया प्रयोग होता है—यह कथन सिद्ध नहीं होता। यह तो स्पष्ट ही है कि पाणिनि के सूत्र में 'ग्रन्थ' पद वर्त्तमान है। अतः शास्त्रवाची या विद्यावाची ज्योतिष शब्द की निष्पत्ति के साथ इस सूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

पूर्वोक्त युक्तियों से यह निश्चित किया जा सकता है कि 'ज्योतिष' शब्द ज्योतिर्विद्या के अर्थ में रूढ़ है। अथवा 'इसमें ज्योतिः (सूर्यादि) विचार्य विषय के रूप में हैं' इस अर्थ में मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय की कल्पना करनी होगी। जैसा कि दुर्घटवृत्तिकार ने कहा है—'ज्योतींषि नक्षत्राण्यस्य सन्ति गणनीयत्वेनेत्यर्श आद्यच्' (पृ० ९१)। इस प्रकार शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' है, यही प्रमाणसिद्ध होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्योतिष शब्द से स्वार्थ में अण् करके 'ज्यौतिष' सिद्ध किया जा सकता है। यदि संस्कृतवाङ्मय में ज्यौतिष शब्द का प्रयोग किया गया हो, तब तो इस शब्द की सिद्धि की कल्पना की जा सकती है। हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि यह शब्द अप्रयुक्त है। ऐसी स्थिति में 'ज्योतिष' शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए, न कि 'ज्यौतिष' का।

—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षोडश परिच्छेद

महाभाष्योक्त पदकार के अर्थ के विषय में एक भ्रम

सांख्य सिद्धान्त के विषय में एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के हस्तलेख विभाग के अध्यक्ष श्री पुलिन विहारी चक्रवर्ती एम० ए० महोदय ने एक ग्रन्थ लिखा है-जिसका नाम 'Origin and Development of the Samkhya System of Thought' है। यह ग्रन्थ सुलिखित है एवं आवश्यक सामग्री का संकलन प्रतिपद मिलता है।

इस ग्रन्थ में एक स्थान पर चक्रवर्ती जी लिखते हैं कि महाभाष्य में पतञ्जलि ने पदकार और सूत्रकार का उल्लेख किया है और सूक्ष्मेक्षिका से देखने से यह ज्ञात होता है कि वार्त्तिकों के रचयिता ही पदकार शब्द से उल्लिखित हुए हैं।[1] यह कहकर ग्रन्थकार ने 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'—यह महाभाष्यवचन (३।१।१०९) उद्धृत किया है।

चक्रवर्तीजी का यह विचार भ्रमात्मक है। हम मानते हैं कि सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में एक स्थान पर 'पदकार' शब्द से 'वार्त्तिक का रचयिता' उद्दिष्ट हुआ है, क्योंकि इसमें 'पदकारस्त्वाह जातिवाचकत्वात्' यह वाक्य मिलता है (पृ० ९) और यह 'जाति-वाचक' शब्द १।२।१० सूत्र के वार्त्तिक (दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्) और ४।१।४ सूत्र के वार्त्तिक (जातिवाचकत्वाच्च शब्दस्य) में मिलता है तथा युक्तिदीपिकाकार का लक्ष्य भी ये वार्त्तिक हैं, यह भी पूर्वापर-सम्बन्ध से स्पष्ट होता है। व्याकरण के ग्रन्थों में 'पदकार' शब्द से भाष्यकार और वार्त्तिककार लक्षित होते हैं, यह भी प्रसिद्ध है[२]।

1—We find Patanjali in his Mahabhasya referring to both the Padakara and Sutrakara and on a closure examination it appears that the author of the Varttika is meant by this Padakara (p. 58).

२—'व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १ अ० १०) में यह दिखाया गया है कि पदकार शब्द से महाभाष्यकार बहुलतया स्मृत हुए हैं, क्वचित् वार्त्तिककार भी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः ……' इत्यादि वाक्य में पदकार का अर्थ वार्त्तिककार नहीं है और न ही ऐसा अर्थ हो सकता है। इस वाक्य में 'पदकार' का अर्थ है 'पदपाठकार' (वेद के पदपाठों के रचयिता)। भाष्य के इस वचन का तात्पर्य यह है कि लक्षण (व्याकरण के नियम) पदपाठ का अनुसरण कभी नहीं करते, बल्कि पदपाठकार ही व्याकरणनियमों के अनुसार अपने पदपाठों की रचना करते हैं। महाभाष्य में अन्यत्र भी यह वाक्य है—"अवग्रहोऽपि–न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्या……यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्" (८।२।१६)। ध्यान देना चाहिए कि ३।१।१०९ भाष्यगत 'न लक्षणेन' इत्यादि वाक्य की जो व्याख्या कैयट ने की है[1] उससे भी यह निश्चित होता है कि 'पदकार' का अर्थ पदपाठकार ही है, वार्त्तिककार नहीं। पदकार शब्द से 'पदपाठकार' रूप अर्थ लेना अत्यन्त प्रसिद्ध है, यथा—निरुक्तटीका (२।१३) में स्कन्दस्वामी कहते हैं—"विचित्रा हि पदकाराणाम् अभिप्रायाः", जहाँ पदकार का अर्थ 'पदपाठकार' ही है, वार्त्तिककार नहीं। कैयट भी (केचित् पदकारा आ आदीत्यवगृह्णन्ति, प्रदीप ६।४।६४) पदकार का प्रयोग 'पदपाठकार' के अर्थ में करते हैं। प्रातिशाख्यों में भी पद से पदपाठ का ग्रहण अत्यन्त प्रसिद्ध है (द्र० ऋक्-प्रतिशाख्य)। अष्टाध्यायी के उक्थादिगण (४।२।६०) में जो 'पद' शब्द है, वह निश्चयेन 'पदपाठ' का वाचक है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पदकार का अर्थ पदपाठकार है और महाभाष्य के उपर्युक्त सन्दर्भ में यही अर्थ विवक्षित भी है।

ध्यान से विचारने से यह ज्ञात होगा कि 'न लक्षणेन पदकाराः'—इत्यादि वाक्य में पदकार का अर्थ वार्त्तिककार कभी हो भी नहीं सकता, क्योंकि तब अर्थ होगा—'लक्षण, अर्थात् व्याकरण (=व्याकरणसूत्र) का रचयिता पदकार अर्थात् वार्त्तिककार का अनुवर्त्तन नहीं करते।' इस वाक्य को कहने का अभिप्राय या प्रयोजन क्या है? सूत्रकार के बाद वार्त्तिककार होते हैं, अतः उनके द्वारा वार्त्तिककार के अनुवर्त्तन का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः इस निषेध वचन की आवश्यकता ही क्या है? किंच 'वार्त्तिककार व्याकरणसूत्रकार का अनुवर्त्तन करते हैं,' इस चक्रवर्त्ति-संमत अर्थ की संगति क्या है? वार्त्तिकों में मूल

१—"संहिताया एव नित्यत्वं पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्। तथा च यत्र अर्थनिश्चयाभावः तत्रावग्रहो न क्रियते। तदुक्तम्—हरिद्रुरनवगृह्यते इति; हरिद्रुरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्तः अथवा हरित् शब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्येयग्रंथ की समालोचना (उक्त–अनुक्त–दुरुक्तचिन्ता आदि) रहती हैं और प्रचुरमात्रा में दोषप्रदर्शन भी किया जाता है, अतः 'अनुवर्त्तन' का प्रश्न ही क्या है? न्यायशास्त्र आदि में तो वार्त्तिककार मूलग्रन्थ का अनुवर्ती है, पर पाणिनि-व्याकरण में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यदि महाभाष्य के इस वचन में पदकार का अर्थ वार्त्तिककार लिया जाए तो कई असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं।

पदपाठकार व्याकरण को मानकर चलते हैं, यह एक सत्य है। स्वर के प्रभाव के कारण पदपाठसंमत अर्थ छोड़ दिया जाता है, यह रीति यास्कादिसंमत है (द्र० वैदिकस्वरमीमांसा, अ० ७-८)। पदपाठ के अनुसार पदविभाग कर व्याख्या करना भी सार्वत्रिक नहीं है (द्र० निरुक्त ५।२१ की व्याख्याएं)। निरुक्त सम्प्रदाय के आचार्य वररुचि ने भी पदपाठ का अनादर कर व्याख्या की है (२।३९)। एक ही पद के विभाग में पदकार कहीं-कहीं विवदमान होते हैं (निरुक्त २।१३ की स्कन्द टीका), अतः व्याकरण-निरुक्तादि के अनुसार ही पदपाठ का प्रामाण्य स्वीकृत होता है। वस्तुतः व्याकरण के पीछे ही पदकार चलते हैं, पदकारों के पीछे व्याकरण नहीं। यह मत पदपाठ–व्याकरण की तुलना की दृष्टि से सत्य है और इससे पदपाठ का स्वकीय प्रामाण्य व्याहत नहीं होता, यह विवेच्य है।

चक्रवर्त्ती जी यह भी कहना चाहते हैं कि 'पद' शब्द एक प्रकार के व्याख्यान या व्याख्यान–विशेष का वाचक है। वे कहते हैं कि गीता में जो 'ब्रह्मसूत्रपद' शब्द है (१३।४), संभवतः वहाँ पद का अर्थ 'ब्रह्मसूत्र का व्याख्यान विशेष है'—Most probably it stands for the commentary upon the Brahmasutra as discussed above (p. 58)। वे यह भी लिखते हैं कि 'व्याख्याविशेष', रूप 'पद' शब्द का अर्थ पारिभाषिक है (Thus we find that the term पद in its technical sense passes for a commentary.)।

चक्रवर्त्ती जी का यह विचार भी असिद्ध है। व्याकरण को 'पद या पदशास्त्र' कहा जाता है (जो सर्वथा उचित है) और व्याकरण-सूत्र-सम्बन्धी ऊहापोह करने के कारण वार्त्तिककार या भाष्यकार को पदकार कहा जाता है, ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है। कृ धातु यहाँ क्रियासामान्यार्थक न होकर क्रिया-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थक है, जैसे 'मन्त्रकृत्'[1] का अर्थ—'मन्त्राध्यापक' या 'मन्त्रविनियोजक' होता है। इतना होने पर भी 'पद' को एक प्रकार की व्याख्या अथवा व्याख्या-विशेष मानना उचित नहीं प्रतीत होता, यद्यपि पदपाठ (और व्याकरण भी) एक प्रकार से व्याख्यानशास्त्र ही है। यदि 'पद' को व्याख्यान माना भी जाए तो 'शब्दशास्त्र-सम्बन्धित व्याख्यानविशेष' अर्थ ही होगा, तदितर शास्त्र में उसका अनुप्रवेश नहीं होगा, क्योंकि व्याख्यानविशेष के अर्थ में 'पद' शब्द का प्रयोग कहीं भी स्मृत नहीं है। व्याख्या के भाष्य, वृत्ति आदि अनेक प्रकार पूर्वाचार्यों ने कहे हैं, पर 'पद' नामक व्याख्याप्रकार कहीं भी कहा नहीं गया है। इस प्रकार 'पद' का ग्रंथकारदर्शित अर्थ भी चिन्त्य ही है। चक्रवर्ती जी ने जो 'संभवतः' (most probably) शब्द का प्रयोग किया है, वह संगत ही है।

—

१—ताण्ड्य ब्राह्मण में मन्त्रकृत् शब्द है (१३।३।२४)। ब्राह्मण का यह प्रकरण मनुस्मृति (अ० २) में व्याख्यात हुआ है; जहाँ ब्राह्मण में शिशु आङ्गिरस को मन्त्रकृत् कहा गया है वहाँ स्मृति में 'अध्यापयामास पितॄन्' वाक्य है (२।१०१), अतः अध्यापक रूप अर्थ संगत ही है। कुमारिल पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्य पर कहते हैं—शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्राणां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः (पृ० २३१ आनन्दाश्रम०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तदश परिच्छेद

पाणिनीय दृष्टि में व्याकरण की मर्यादा

किसी भी शास्त्र का प्रणयन एक विशेष दृष्टिकोण और एक निश्चित स्तर का सापेक्ष होता है, और शास्त्रकार अपनी रचना में इन दोनों तत्त्वों का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकते। यही न्याय व्याकरणशास्त्र में भी चरितार्थ होता है। प्रत्येक वैयाकरण का पृथक् दृष्टिकोण होता है, जिसके अनुसार वे शब्दों का अन्वाख्यान करते हैं; किंच प्रत्येक व्याकरण का एक निश्चित स्तर होता है, जिस स्तर को जानकर ही किसी व्याकरण के विषय में कोई समीक्षा करनी चाहिए।

शब्दविदों के दृष्टिकोण—जब हम प्राचीन तथा अर्वाचीन व्याकरणों का अध्ययन करते हैं, तब यह सिद्धान्त पूर्णतः दृष्टिगोचर तथा सम्यक् प्रमाणित होता है। हम देखते हैं कि कुछ वैयाकरण 'कार्यशब्दवादी' थे, तो कुछ 'नित्यशब्दवादी'; कुछ 'जातिपक्षवादी' थे, तो कुछ 'व्यक्तिपक्षवादी', इत्यादि। अवश्यमेव इन वैयाकरणों की गौण मान्यताओं में कुछ न कुछ भिन्नता थी तथा किसी अंश तक सब समदृष्टि थे। यदि हम किसी भी व्याकरण का अन्तरङ्गज्ञान करना चाहें, तो हमें इन मान्यताओं का ज्ञान करना होगा, अन्यथा हमारा शास्त्रानुशीलन कुछ न कुछ व्यर्थ होगा। हम यहाँ 'पाणिनीय व्याकरण का व्यापार' तथा 'संस्कृत भाषा की प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध' —इन दो विषयों में कुछ आलोचना करने जा रहे हैं, जिससे इस शास्त्र के आन्तरिक विश्लेषण में कुछ सहायता हो।

व्याकरण के विषय में आचार्य पाणिनि से उपज्ञात कुछ मान्यताओं की भी आलोचना प्रसंगतः की जाएगी। हम यह नहीं कह सकते हैं कि ये मान्यताएँ संपूर्णरूप से पाणिनि की सूझ हों; हो सकता है कि कुछ विचार प्राक्-पाणिनीय हों; वस्तुतः यह बात सत्य है। हम यहाँ संक्षेपतः मान्यताओं की ही आलोचना करेंगे, जो पाणिनीय तन्त्र के सूक्ष्मार्थ ज्ञान के लिये एक उपादेय अध्ययन होगा। यहाँ यह भी दिखाया जाएगा कि संस्कृत भाषा की प्रकृति के साथ पाणिनि-व्याकरण का क्या सम्बन्ध है तथा इस विषय में प्रचलित कुछ भ्रान्तियों का निराकरण भी किया जाएगा।[1]

१—हिन्दी भाषा-शास्त्र और हिन्दी व्याकरण के लिये ऐसी आलोचना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरण की स्वतःसिद्ध मान्यताएँ—प्रत्येक शास्त्र की रचना के लिये कुछ स्वतःसिद्ध सत्यों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके विना तर्क प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। प्रत्येक शास्त्र कुछ न कुछ स्वतः प्रमाण मानकर चलता है, जैसे—न्याय-वैशेषिक में संवित् (संविदेव भगवती वस्तुपगमेत् नः शरणम्—उपस्कार ७।२।४६ में उद्‌धृत तात्पर्याचार्य का वचन), शांकरवेदान्त में उपनिषद्-वाक्य, सांख्ययोग में योगजप्रज्ञा इत्यादि; उसी प्रकार पाणिनि ने भी एक स्वतःसिद्ध तथ्य मानकर अपने शास्त्र की रचना की है; वह है—"सिद्धाः शब्दार्थ-संबन्धाः", जैसा कि पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्द में कहा है—'कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणम् प्रवृत्तम् ? सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे (पस्पशाह्निक)। यहाँ प्रश्न उठाया गया कि क्या पाणिनि शब्दार्थ-सम्बन्धों का कर्त्ता है या स्मर्त्ता ? उत्तर यह है कि पाणिनि स्मर्त्ता है, कर्त्ता नहीं। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त ही प्रमाणित करता है कि वैयाकरण के पास शब्दार्थसंबन्ध-नियमन की शक्ति नहीं है। वाक्यपदीय (१।२३) में कण्ठतः यह मत भाषित हुआ है (नित्याः शब्दार्थ-सम्बन्धाः)।[1] आचार्य कैयट ने भी कहा है कि पाणिनि ने नित्य शब्दार्थसंबन्ध की नित्यता मानकर अपने व्याकरण की रचना कीहै (प्रदीप ३।४।६७)।

उपर्युक्त पाणिनीय स्वतःसिद्धान्त का अर्थ है—शब्द, अर्थ और इन दोनों

की पूर्ण सार्थकता है। अब तो यह निश्चित ही हो यगा है कि हिन्दी का व्याकरण तथा उसके भाषाविज्ञान को मूल रूप संस्कृत भाषा के निरुक्त-व्याकरण के अनुसार ही होना चाहिए, अन्यथा वह शास्त्र न होकर 'बुद्धि का विलास' मात्र रह जाएगा। हम निश्चयेन कह सकते हैं कि दीर्घकाल-व्यापी प्रयास कर हमारे पूर्व शाब्दिक तथा नैरुक्तों ने जो चिन्तनधारा दी है, वह हिन्दी की पैतृक सम्पत्ति है, जिसके अनुशीलन से हिन्दी अवश्यमेव समृद्ध होगी। संस्कृत व्याकरण का भाषासम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त हिन्दी वैयाकरणों द्वारा आलोचित होना चाहिए। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण तथा निरुक्तसे उपादेय सिद्धान्तों का पृथक्करण कर उनकी विशद आलोचना प्रस्तुत करनी चाहिए, जिससे हिन्दी का व्याकरण समृद्ध हो जाए।

१—नित्यः सम्बन्ध इत्यस्येदं भावे सति शब्दार्थयोः सोऽयमिति यः संबन्धः सोऽर्थादिशनस्य कर्तुमशक्यत्वाद् औत्पत्तिकः स्वभावसिद्धो न केनचित् कर्त्रा कश्चित् प्रतिपत्तारं प्रत्यज्ञातपूर्वः तत् प्रथमं कृत इति। तस्मादनादिर्नित्यः प्राप्ताविच्छेदः शब्दार्थयोः संबन्धः (१।२३ की हरिवृषभ-टीका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सम्बन्ध—ये तीन सिद्ध हैं। यहाँ सिद्ध = नित्य = अकृतक, जिसकी स्पष्ट व्याख्या नागेश के अनुसार है—'व्याकरणानिष्पाद्यत्व' (उद्द्योत १।१।४५), अर्थात् व्याकरण से अनिष्पादनीय। व्याकरण के विषय में यह सन्देह होता है कि क्या व्याकरणशास्त्र अपूर्वशब्दनिष्पादन-द्वारा अर्थविशेषसम्बन्ध का नियमन करता है, या सिद्ध शब्दार्थसम्बन्ध का बोधक है? पाणिनीय सम्प्रदाय स्पष्ट शब्द से कहता है कि पाणिनि लोकसिद्ध शब्दों के स्मर्त्ता थे, कर्त्ता नहीं, अतः 'व्याकरणकर्त्तृक नियमन' का प्रसंग ही नहीं उठता। व्याकरण के लिये बार-बार यह कहा जाता है कि 'प्रयुक्तानाम् इदम् अन्वाख्यानम्', अतः सिद्ध ही है कि व्याकरण लोकसिद्ध शब्दों अन्वाख्यायक है; वह निष्पादक या नियामक है, या नहीं, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। सुतरां 'पाणिनि ने संस्कृत प्रयोगों का नियमन या आविष्कार' किया, ऐसा सिद्धान्त करना भी शास्त्रीय दृष्टि से असंगत है। भौतिक विज्ञानशास्त्र में जडपदार्थ-व्यापार-सम्बन्धी अनेक नियम हैं। पर वे नियम जडपदार्थों का विश्लेषण कर निश्चित किए गए हैं, न कि वे नियम पहले कल्पित किए गए और जडपदार्थ उन नियमों को मानकर चल रहे हैं। जिस प्रकार भौतिक-विज्ञानी जड व्यापार का नियमन नहीं करता, जो विद्यमान है, उसका विश्लेषण मात्र करता है, ठीक उसी प्रकार पाणिनि भी विद्यमान संस्कृत प्रयोगों का विश्लेषण कर जो नियम पाते हैं, उसी को कहते हैं।

वैयाकरणों की चरम मान्यता के अनुसार यह कहा जाएगा कि पाणिनि जब कहते हैं—'इको यणचि' (६।१।७७) तब उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि 'इक्' के स्थान में 'यण्' को अवश्य होना चाहिए, यदि 'अच्' पर में हो'। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'अच् परे रहते इक् के प्रसंग में यण् को प्रयुक्त होते देखा गया है, अर्थात् पाणिनि का सूत्र शब्द-व्यवहार-सम्बन्धी एक विद्यमान घटना को दिखाता है, न कि उपदेश देता है कि ऐसा करना चाहिए, या करो। यद्यपि सूत्रों का अर्थ आदेशवाक्य या विधिवाक्य की तरह किया जाता है, पर वह प्रक्रिया की दृष्टि से ही किया जाता है, तात्त्विक दृष्टि से नहीं। हमें पहले ही जान लेना चाहिए कि घटना की प्रकृति के अनुसार नियम बनाए जाते हैं, न कि नियमों के अनुसार घटना घटती है। इसी प्रकार तत्त्वतः व्याकरणसूत्र के अनुसार शब्दप्रयोग नहीं होता है, प्रत्युत व्याकरण का सूत्र ही शब्दप्रयोग की प्रकृति को दिखाता है। व्याकरण पूर्णतः लक्ष्य (शब्द) के अधीन होता है—'लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य' (प्रदीप ५।२।८०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरण की मूल भूत दृष्टि—वस्तुतः वैयाकरणों का सिद्धान्त यह है कि शब्दसाधुत्व का ज्ञान व्याकरण से होता है, और लोक से शब्दार्थ का ज्ञान होता है, जो कदापि शास्त्रसापेक्ष नहीं है (न हि अविद्यमान-सम्बन्धस्य शक्तिः शास्त्रेण नियम्यते, प्रदीप २।१।७०) और वस्तुतः शब्दार्थ-सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान व्याकरण से न होकर वृद्धव्यवहार से ही होता है, जैसा कि कैयट ने कहा है—'तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थ-सम्बन्धव्युत्पत्तिः अनिच्छताऽपि युक्तिवशाद् एष्टव्या' (प्रदीप २।१।१), अतः पाणिनीय वैयाकरण निःसंशय होकर यह मानते हैं कि साधुत्वमात्र शास्त्रसापेक्ष है, पर अर्थज्ञान शास्त्रसापेक्ष नहीं है (साधुत्वमात्रं शास्त्रैकगम्यम् प्रयोग-तदर्थ-ज्ञानं तु प्राक्शास्त्रादपि अस्त्येव पाणिनेः—उद्द्योत १।३।१०), जिससे पूर्वोक्त सिद्धान्त ही दृढ़ीकृत होता है।

व्याकरण का अन्वाख्यान—पाणिनि-व्याकरण की इस अन्वाख्यान-परायणता को आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्टशब्द में दिखाया है, यथा—'तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्, आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्' (वाक्यपदीय १।४३)। पाणिनि ने नूतन 'शब्दानुशासन' आरम्भ करने से पहले पूर्व-प्रचलित शब्द-व्यवहार और तदन्वाख्यायक पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी स्मृतिशास्त्रों को देखा और तदनुसार अपना शास्त्र रचा। इसकी व्याख्या में हरिवृषभ ने युक्तियों से प्रमाणित किया है कि वैयाकरण को प्रतिपद लोक-सिद्ध शब्दव्यवहार मानकर चलना पड़ता है।[1]

इस दृष्टि को पतञ्जलि ने और भी उदात्तस्वर से कहा है—'यच् शब्द आह—तदस्माकं प्रमाणम्'। अब विचारना चाहिए कि व्याकरणशास्त्र का प्रमाण है 'शब्द', अतः वह प्रमाणों का नियमन या उद्भावन कैसे कर सकता है? जो जिसको प्रमाण मानता है, क्या वह उसको गत्यवरोधादि कर सकता है? हाँ, प्रमाण भ्रष्ट न हो जाए, या प्रमाण का स्वरूप और बलिष्ठ और स्पष्ट हो जाए, इसके लिये तो चेष्टा की जा सकती है, पर प्रमाण का नियमन नहीं हो सकता। किंच व्याकरण का विषय भी शब्द ही है, अतः प्रमाण और विषय दोनों शब्द

१—तस्मादपौरुषेयमनतिशङ्कनीयं पुरुषहितोपदेशाय प्रवृत्तमाम्नायं प्रमाणीकृत्य, पृषोदरादिवच्च साधुशब्दप्रयोगेषु शिष्टाचरितमविच्छिन्नपारम्पर्यं स्वचरण-समाचारं परिगृह्य, विरोधे च स्थितविकल्पानि उत्सर्गापवादवन्ति पूर्वेषामृषीणां स्मृतिशास्त्राणि प्रतिकालं दृष्टशब्दशक्तिस्वरूपव्यभिचाराणि प्रमाणीकृत्येद-माचार्यैः शब्दानुशासनं प्रक्रान्तमनुगम्यते (हरिवृषभटीका १।४३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही होने के कारण शब्दप्रयोग में व्याकरण का आधिपत्य नहीं चलता; हाँ, अन्वाख्यानरूप अनुशासन चल सकता है। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने कहा था—'साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः' (वाक्यप० १।१४३) अर्थात् व्याकरण-स्मृति केवल इतना ही दिखाती है कि किस अर्थ में कौन आनुपूर्वी साधु है और यह दिखाकर ही वह निवृत्त हो जाती है। व्याकरण से भाषासृष्टि के नियम बनाए नहीं जाते, प्रत्युत भाषागत नियम आवेदित होते हैं [तु० परश्चेति (३।१।२) नियमेन आवेदितम्—वाक्यप० टीका, ३ का० (१४। ८३)।

वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण से एक भी ऐसा शब्द नहीं बनाया जा सकता, जो पहले से लोकसिद्ध न हो। सूत्र की प्राप्ति होने पर भी उसका प्रयोग नहीं किया जाता, यदि तदनुरूप लोकसिद्ध शब्द न हो, ऐसा पतञ्जलि ने कई बार दिखाया है। यथा—पाणिनि के 'तत आगतः' (४।३।७४) सूत्र के अनुसार 'वृक्षमूलाद् आगतः' इस अर्थ में 'वार्क्षमूल' शब्द बनना चाहिए, पर वह नहीं बनाया जाता, क्योंकि 'वार्क्षमूल' शब्द का प्रयोग नहीं है (द्रष्टव्य भाष्य ४।३।२५)। क्यों सिद्ध शब्दों को छोड़कर असिद्ध शब्दों की ओर व्याकरण की प्रवृत्ति नहीं होती—इसका हेतु आचार्य कैयट ने दिया है—लोक-प्रसिद्धार्थानां शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।३७)। इसमें युक्ति यह है कि प्रयुक्त शब्दों की साधुता (अमुक शब्दानुपूर्वी अमुक अर्थ में साधु = वाचक है) तथा असाधुता के ज्ञापन के लिये व्याकरण रचा जाता है। शास्त्र के इस साधुत्वज्ञापनस्वभाव को स्पष्टतया कैयट ने दिखाया है, यथा—"लोके स्वार्थे प्रयुज्यमानानां शब्दानां साधुत्वमात्रम् अनेन शास्त्रेण अन्वाख्यायते, न तु अर्थे नियोगः क्रियते" (प्रदीप ५।१।९०), अर्थात् लोक में अपने अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त हैं उनका अन्वाख्यान-मात्र शास्त्र करता है। अन्वाख्यान 'साधुत्व का ज्ञापन' है, साधुत्व का नियमन नहीं; देवदत्त मनुष्य है—ऐसा कहने से देवदत्त मनुष्य नहीं हो जाता, प्रत्युत यह वाक्य देवदत्त की प्राक्सिद्ध मनुष्यता को दिखाता है, ऐसा यहां भी समझना चाहिए।

व्याकरण शब्द-प्रयोग का तत्त्वतः नियामक नहीं है—व्याकरणशास्त्र का व्यापार भी प्रमाणित करता है कि व्याकरण से शब्दगति का अवरोध या अपूर्व शब्दनिर्माण संभव नहीं है। वार्त्तिककार ने कहा है–'सदन्वाख्यानत्वात् शास्त्रस्य' (१।१।६१) अर्थात् शास्त्र सत् (= विद्यमान) शब्दों का अन्वा-ख्यान करता है। यह अन्वाख्यान किस प्रकार का है, इस विषय में आचार्य कैयट कहते हैं—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्त्ता सत् विद्यमानं वस्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (प्रदीप), अर्थात् पाणिनि ने पहले से विद्यमान शब्दों का स्मरण कर किसी एक निमित्त को लेकर शब्दों का अन्वाख्यान किया है, जिस अन्वाख्यान रूप कार्य का करण शास्त्र है। यह वाक्य भी प्रमाणित करता है कि पाणिनि ने शब्दों की गति का अवरोध नहीं किया है, क्योंकि—

(१) पाणिनि स्मर्त्ता हैं, कर्ता नहीं।

(२) विद्यमान वस्तु का स्मरण कर उन्होंने अन्वाख्यान किया है, नूतन शब्द सृष्टिपूर्वक नहीं।

(३) व्याकरण अन्वाख्यान का करण (सर्वोच्च सहायक) है।

(४) अन्वाख्यान किन्हीं व्यवस्थित निमित्तों को लेकर किया जाता है।

यदि हम इन चारों वाक्यों का अर्थ ठीक से समझें तो शब्दशास्त्रीय मान्यताओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा, और प्रमाणित होगा कि पाणिनि का शास्त्र विज्ञापक है; निष्पादक, व्यवस्थापक, या नियामक नहीं; तथा कहीं-कहीं जो पाणिनि में निष्पादकत्व, व्यवस्थापकत्व और नियामकत्व दिखाई पड़ते हैं, भाषाशिक्षार्थी के लिये प्रक्रियाअवस्था में ही प्रतिभास होते हैं, वे तात्त्विक नहीं हैं।

पाणिनि कर्तृक शब्द प्रयोग का अनवरोध—जो कहते हैं कि पाणिनि ने शब्दप्रयोगों का अवरोध किया है, उनका तात्पर्य क्या है, यह विचारना चाहिए। क्या पाणिनि ने कहीं कहा है कि अमुक-अमुक शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए? किसका प्रयोग होना चाहिए, इतना तो पाणिनि ने अवश्य दिखाया है, पर किसका प्रयोग नहीं होना चाहिए (जो अवरोधकारी को सर्वथा स्पष्टरूप से कहना पड़ेगा), इस विषय में पाणिनि सर्वथा मौन है। यदि कोई तर्क करे कि पाणिनि ने जिन शब्दों का साधुत्व नहीं दिखाया, वे पाणिनि के अनभिप्रेत हैं, और पाणिनि ने उन शब्दों का अवरोध किया है, तो यह बात असिद्ध है। इसमें निम्नोक्त युक्तियाँ आलोचनीय हैं:—

(१) पूर्वाचार्यों के वचनों से यह प्रमाणित है कि पाणिनि का व्याकरण संक्षिप्त है, सब साधु शब्दों का अन्वाख्यान उसमें नहीं है, अतः पाणिनि की अनुक्ति मात्र से शब्दविशेष का अवरोध संभव नहीं है।

(२) विचारना चाहिए कि शब्द-प्रयोग का नियमन किस रूप से संभव हो सकता है। विषय जिसके अधीन में हो, वह नियमन कर सकता है पर शब्द-प्रयोग कभी भी वैयाकरण के अधीन नहीं है। यदि संस्कृतशब्दों के ऊपर पाणिनि का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियन्त्रण सिद्ध होता, तो पाणिनि अनेक सूत्रों के साथ-साथ 'बहुलम्' न कहते और व्याख्याकारगण पाणिनि के अनेक सूत्रों को 'अनित्य' नहीं कहते। जब वैयाकरण को शब्द-मर्यादानुसारी' (उद्द्योत ५।१।२१) कहा जाता है, तब यह भी मानना पड़ता है कि वह शब्दगति का स्वरूप-विश्लेषण ही कर सकता है, नियमन या अवरोध नहीं। अतः व्याकरण की प्रक्रिया के विषय में कहा जाता है—'न हि अव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्' (भाष्य ६।४।४२)।

(३) आचार्यों का परम मान्य सिद्धान्त यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी केवल साधुशब्दों को दिखाता है; पतञ्जलि के शब्दों में 'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी' (भाष्य ६।३।१०९) है। इस स्थल के भाष्य में पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण का व्यापार (तथा सार्थक्य) को स्पष्ट दिखाया है जो आज भी सभी भाषा-वैज्ञानिकों के लिये एक मननीय विषय है।

शब्दशास्त्रीय व्यापार की सीमा—व्याकरण विद्यमान शब्द (शब्दार्थ-सम्वन्ध भी) का अन्वाख्यान करता है, शब्दनिर्माण के विषय में उसका साक्षात् आग्रह नहीं है। पाणिनि-व्याकरण के इस मौलिक स्वरूप के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि जिस प्रकार घट के लिये लोग कुम्भकार के घर जाकर कहते हैं कि 'घट बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा', उसीप्रकार वैयाकरणकुल में जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा (पस्पशा)। यदि वैयाकरण शब्दों का निष्पादक या नियामक होते तो कुम्भकारवत् वे शब्द-निर्माण या शब्द-नियमन करते, पर चूँकि शब्द-व्यवहार के ऊपर पाणिनि का कुछ भी नियमन नहीं है, इसलिये शब्दप्रयोग का अवरोध पाणिनि ने किया है—ऐसा कहना हेतुशून्य प्रतिज्ञामात्र है। शब्द, अर्थ आदि क्यों नित्य हैं तथा उस नित्यता का स्वरूप क्या है, इस विषय में कैयटाचार्य ने युक्ति दी है—'शाब्दश्च व्यवहारः अनादिवृद्धव्यवहारपरम्परा - व्युत्पत्तिपूर्वक इति शब्दादीनां नित्यत्वम्' (प्रदीप १ आ०)। भाषा बनाई नहीं जाती, वह स्वतः लोकस्वभावानुसार प्रवाहित होती रहती है—शब्द-नित्यतावादी का यह मत अत्यन्त युक्तियुक्त है।

यदि व्याकरणशास्त्र की वस्तुतः नियामक[1] शक्ति होती तो उसकी अवरोधन-

१—भाषा की प्रकृति का विश्लेषण करने पर जो नियम ज्ञात होते हैं, उनके द्वारा भाषा-प्रयोग-सांकर्य का नियमन किया जा सकता है, जो व्याकरण का गौण कार्य है। इस दृष्टि से 'भाषाविश्लेषक' और 'भाषाशिक्षक' रूप दो शास्त्र-भेद किए जा सकते हैं। व्याकरण का तात्त्विक रूप प्रथम वर्ग में आता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति भी मानी जाती, पर प्रयोगक्षेत्र में पाणिनीय सम्प्रदाय का नियम है—'यथालक्षणम् अप्रयुक्ते'। पतञ्जलि ने बार-बार इस न्याय का व्यवहार अनिष्ट-प्रयोगनिवारण के लिये किया है। भाष्यकार के अनुसार इस न्याय का अर्थ है—'अप्रयुक्त शब्द की सिद्धि के लिये पाणिनि का सूत्र प्रवर्त्तित नहीं होता' (२।४।३४ प्रदीप-टीका)। जो केवल शब्दशास्त्र के बलपर शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता—इस सिद्धान्त का एक रोचक विवरण हेलाराज ने दिया है (द्र० वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड वृत्ति० ८०)।

यदि पाणिनि के पास कुछ स्वाधीन शक्ति होती, तो यह कहा जा सकता था कि उन्होंने संस्कृतभाषा की गति का नियमन किया, पर विचारने से पता चलता है कि पाणिनि का आश्रयभूत पदार्थ शब्द था और शब्द ही पाणिनि के अनुसार चरम प्रमाण है, सुतरां यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनि ने स्वप्रमाणभूत शब्दों की गति का अवरोध किया? लोक-सिद्ध शब्दों को मानकर पाणिनि उनका अन्वाख्यान करते हैं, अतः पाणिनि के लिये यह संभव नहीं है कि वे शब्द-प्रगति में बाधा दें। शब्दशक्ति के विषय में पाणिनि का कोई भी निजी निर्देश (जो लोकसिद्ध न हो) प्रमाणभूत नहीं हो सकता, न हीं पाणिनि वैसा करने का साहस ही कर सकते हैं, जैसा कि हरिदीक्षित ने कहा है—'यदि शब्द में शक्ति अविद्यमान हो तो पाणिनि को सहस्र सूत्र भी उस शक्ति का स्फोरण नहीं कर सकते हैं' (शब्दरत्न १।२।६५)।

व्याकरण 'स्मृतिविशेष' है—वैयाकरणों का सिद्धान्त यह है कि पाणिनि स्मर्त्ता हैं। पूर्वाचार्य 'व्याकरण' को स्मृति कहते हैं; वस्तुतः पाणिनि का शास्त्र स्मृति ही है (पाणिनिना स्मृतिः उपनिबद्धा—काशिका ४।१।११४)। शब्दों को स्मारक पाणिनि कभी भी नियामक नहीं हो सकते। वस्तुतः पाणिनि का तात्पर्य इतना ही है कि अमुक अर्थ में अमुक शब्दानुपूर्वी साधु है; जैसा कि पाणिनीय शिक्षा के भाष्यकार ने स्पष्टतः कहा है—व्याकरण एतत् चिन्त्यते गोशब्दः सास्नादिमत्यर्थे साधुः' (१ कारिका)।

स्मृति होने के कारण व्याकरण नियमतः काल से अवच्छिन्न है, अर्थात् पाणिनि ने संस्कृत भाषा का जो अन्वाख्यान किया, वह चिरकालव्यापी भाषा का पूर्ण रूप से ज्ञापक है, ऐसी बात नहीं है। पाणिनि से पहले आपिशलि, काशकृत्स्न आदि वैयाकरण हुए थे, जिनका प्रामाण्य मानकर पाणिनि ने अपना ग्रन्थ रचा (पदमञ्जरी, पृ० ८), पर पाणिनि के व्याकरण में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन आचार्य से दर्शित सब शब्दों का अन्वाख्यान नहीं है। पाणिनि को उनके समय में प्रचलित संस्कृत का ही मुख्यतः अन्वाख्यान करना पड़ा, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन् आपिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्ताम् अनुसन्धत्ते' (पदमञ्जरी, पृ० ८)। आचार्य कैयट ने इस विषय में एक विलक्षण तथ्य का उद्घाटन किया है—'नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभागः (प्रदीप ५।१।२१); अतः आज हमें संस्कृत के प्रयोगों में पाणिनि का पूर्णतः अनुसरण करना चाहिए पर साथ ही हमें यह भी जान लेना चाहिए कि पाणिनि के व्याकरण से प्राचीनतर काल में व्यवहृत संस्कृत का पूर्णतः ज्ञान होना दुष्कर है।[1]

पाणिनि-स्मृत पूर्वाचार्य और शब्दनियमन—पाणिनि ने स्थान-स्थान पर अपने पूर्वाचार्यों का नामग्रहणपूर्वक उनके मतों का उल्लेख किया है। कुछ गवेषक कहते हैं कि इससे आचार्यविशेषकर्तृक शब्दनियमन सिद्ध होता ही है, अतः पाणिनि नित्यशब्दवादी कैसे हो सकते हैं? पाणिनि-दर्शन के विषय में यह एक मौलिक प्रश्न है, जिसके समाधान के विना यह शास्त्र विपर्यस्त हो सकता है। संक्षेप में इसका उत्तर यह है—

पाणिनीय सम्प्रदाय का सिद्धान्त यह है कि कोई भी आचार्य शब्द का नियामक नहीं है, वह 'स्मर्ता' मात्र है। पाणिनि ने जो अनेक सूत्रों में कई आचार्यों के नाम लिए हैं, उसका तात्पर्य केवल स्मारकत्व हेतु 'पूजा' को दिखाना है; भाष्यकार ने ऐसा ही कहा है। 'पूजा' का तात्पर्य कैयट के अनुसार यह है—'सा चैवं पूजा भवति–यदि येन आचार्येण यः शब्दः स्मृतः स तेनैव स्मृतत्वेन उपदिश्यते; एवं हि तस्य स्मृतृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुतिः कृता भवति' (प्रदीप ७।२।६३)। अर्थात् स्मर्ता आचार्य का प्रामाण्य मानना ही उनकी 'पूजा' है।

'नवेति विभाषा' (१।१।४३) सूत्र के भाष्य में पाणिनि द्वारा स्मृत आपिशलि आदि आचार्यों के मतोल्लेख के प्रामाण्य पर विचार किया गया है। भाष्यकार का कथन है कि पाणिनि का व्याकरण यह मानता है कि जब अमुक सूत्र अमुक आचार्य का नाम लेकर किसी विधि का उल्लेख करता है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि उस आचार्य ने उस प्रयोग का स्मरण किया,

१—इस तथ्य के सोदाहरण विवेचन के लिये मेरा 'संस्कृत भाषा का अनुशीलन' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यही 'पूजा' है। जिस आचार्य का नाम पाणिनि ने लिया है, उससे पृथक् अन्य आचार्यों ने उस शब्द का स्मरण नहीं किया—यह भी इससे ज्ञापित होता है (प्रदीप तथा उद्द्योत १।१।४३)। पर इसका कोई प्रभाव साधुत्व पर नहीं पड़ता, क्योंकि शब्दसाधुत्व आचार्यकृत नहीं है। शिष्टलोकव्यवहार्यता ही साधुता का चिह्न है, व्याकरण इस निर्धारण में सहायक है।

व्याकरण में अर्थानुशासन—व्याकरणप्रसंग में कैयट ने कहा है—'न तु अर्थे नियोगः क्रियते' अर्थात् 'व्याकरण अर्थसंबन्धी नियमन नहीं करता'। 'तेन रक्तं रागात्' (४।२।१) सूत्र-टीका में इस नियोगाभाव को कैयट ने इस प्रकार दिखाया है 'रक्तादि शब्दों का जो अर्थ है, वह यदि लौकिक प्रयोग में प्रत्यय से अभिहित हो तो प्रत्यय होगा, नचेत् नहीं (प्रदीप ४।२।१)। वस्तुतः व्याकरण मानता है—सर्वत्र चात्र शब्दशक्तिः प्रयोगानुसारिणी प्रमाणम् (प्रदीप ६।३।४६)।

प्रश्न हो सकता है कि तब अनेक सूत्रों में अर्थोपदेश क्यों है? उत्तर—वह वस्तुतः अर्थादेश नहीं है; उत्सर्गापवादात्मक सूत्रों के प्रयोग में अध्येता को भ्रम न हो जाए, इसलिये सुहृत् पाणिनि ने अर्थादेश किया है, जैसा कि कैयट से कहा है—'असंकरेण विशिष्ट एवार्थे अपवादा यथा स्युः इत्येवमर्था अर्थनिर्देशाः' (प्रदीप ४।३।२५)। एक उदाहरण लीजिए। पाणिनि के सूत्रों के अनुसार 'पञ्चभिः भुक्तम् अस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होना चाहिए। पर समास नहीं होता, क्योंकि अभिधान नहीं है। पतञ्जलि ने इस स्थल पर जो कुछ कहा है, वह स्पष्ट ही शब्दप्रयोग की व्यवस्था में अभिधान की शक्ति को दिखाता है; यथा-"तच्च अवश्यम् अनभिधानम् आश्रयितव्यम्। क्रियमाणेऽपि परिगणने यत्र अभिधानं न भवति, तत्र न बहुव्रीहिः" (भाष्य २।२।२४); नागेश ने अभिधान का अर्थ कहा है—'शिष्टानां ततोऽर्थबोधरूपम्'।

इस विषय में काशिकाकार का मत भी निःसंशय रूप से व्याकरण की शक्ति की सीमा को दिखाता है, यथा-शब्दैः अर्थाभिधानं स्वाभाविकं न पारिभाषिकम् अशक्यत्वात् लोकत एवार्थावगतेः (काशिका १।२।५६)।[1]

१—हेलाराज कहते हैं—'यदि शास्त्रं शब्दानां जनकं स्यात्, तदा यथाशास्त्रम् शब्दानामर्थोऽवतिष्ठेत, न चैवम्,... नित्याः शब्दाः शास्त्रेण ज्ञाप्यन्ते तथा चार्थानां देशनात् किञ्चिदर्थरूपमदूर विप्रकर्षेण समानत्वमंशभावेन आश्रित्य अवस्थितमेव शब्दरूपं नियतार्थम् अन्वाख्यायते इति सिद्धमिष्टम् (पुरुष समुद्देश ८ कारिका टीका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरणगत अर्थ-निर्देश—इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि यदि व्याकरण अर्थ-नियमन नहीं करता, तो सूत्रों में अर्थनिर्देश क्यों किया गया ? शब्दान्वाख्यानपरायण व्याकरण अर्थादेश क्यों करता है ? उत्तर में वक्तव्य यह है कि पाणिनि की अर्थादेशन-प्रक्रिया के रहस्य को जानने पर ऐसा प्रश्न उठता ही नहीं है। स्वयं पतञ्जलि ने इस विषय में २।१।१ सूत्रभाष्य में विस्तृत विचार कर जो सिद्धांत दिखाया है, उसका निर्गलित अर्थ यहाँ संक्षेप में दिखाया जा रहा है—

पाणिनि ने वस्तुतः अर्थों का आदेश नहीं किया प्रत्युत लोकसिद्ध अर्थों का अनुवाद कर मात्र किया है। जैसे यदि कोई कहता है कि 'आकाश में चन्द्र को देखो' तो यह समझना चाहिए कि चन्द्र अपने स्वभाव से आकाश में है, न कि चन्द्र को आकाश में स्थित कर ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार आकाश को चन्द्र के लक्षण (तत्रस्थता) की तरह मानकर वक्ता कहता है, उसी प्रकार पाणिनि भी स्वभावतः अर्थों में अभिनिविष्ट शब्दों का किसी निमित्त को लेकर अन्वाख्यान करते हैं। इसी दृष्टि के अनुसार नागेश ने कहा है—'तस्मात् लोकसिद्धानामेव निमित्तत्वेन अन्वाख्यानमित्येव युक्तम्' (उद्द्योत २।१।१)।

अन्वाख्यान के विषय में भर्तृहरि ने जो कुछ कहा है, उससे भी सिद्ध होता है कि व्याकरण नियामक नहीं है (द्र० वाक्यपदीय २।१७२–१८८)। उपर्युक्त प्रघट्टक में पाणिनि–व्याकरण का स्वरूप विश्लेषण कर यह प्रमाणित किया गया है कि पाणिनि ने व्याकरण रच कर शब्दगति का अवरोध नहीं किया था।

व्याकरण के दो व्यावहारिक उद्देश्य—पाणिनि के अनुसार व्याकरण के दो व्यावहारिक प्रयोजन हैं—

(क) सामान्य-विशेष-नियमों के ज्ञान से अनन्त शब्दों का ज्ञान;

(ख) भाषा के शुद्ध रूप की रक्षा में सहायक होना।

यहाँ इन दोनों तत्त्वों का अपेक्षित विवरण दिया जा रहा है।

व्याकरण किस रूप से सामान्य सूत्र और विशेष सूत्र की रचना कर शब्दों का अन्वाख्यान करता है, इसका सोदाहरण विचार महाभाष्य में है (द्रष्टव्य पस्पशाह्निक)। यद्यपि अन्वाख्यान की प्रक्रिया में आचार्य स्वतन्त्र हैं, पर यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि शास्त्र कभी भी लोकप्रामाण्य की अवहेलना कर अन्वाख्यान नहीं कर सकता, क्योंकि वह लोकप्रसिद्ध शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है। इस न्याय का एक विलक्षण प्रयोग ५।२।२७ सूत्रीय टीकादि में है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में दूसरी बात यह है कि व्याकरण कभी भी शब्दों का अन्वाख्यान पूर्णतः कर नहीं सकता। कैयट ने ठीक ही कहा है—'अशक्यो वा आनन्त्यात् सर्वशब्दानुगमः' (प्रदीप ५।१।५९)। शब्दों की इस अपरिमेयता और व्याकरणसामर्थ्य की ससीमता को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रों में 'बहुलम्' (अर्थात् सूत्र का प्रयोग अनिर्दिष्टरूप से करना चाहिए) शब्द का व्यवहार किया है। 'बहुल' शब्द की यह सार्थकता प्राचीन आचार्यों ने ही दर्शाई है—अपरिपूर्णानां हि पूर्णत्वं बहुलग्रहणेन क्रियते (प्रदीप ३।३।१)।

व्याकरण की इस अशक्ति को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रों में 'दृश्यते' शब्द का व्यवहार किया है, जिसका अर्थ यह किया जाता है कि प्रयोगों को देखकर सूत्रों का उपयोग करना चाहिए (प्रदीप २।३।२)।

व्याकरण 'साधुत्वज्ञानविषया स्मृति' है; यह दिखाया गया है। कैयट ने कहा है—प्रयुक्तानां शब्दानां साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात्' (प्रदीप ४।२।१)। जिससे ध्वनित होता है कि पाणिनि के समय साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्द लोक-प्रचलित थे, और पाणिनि ने लोक-प्रचलित शब्दों में कौन साधु है, इसका ज्ञापन किया। अन्यत्र इसी भाव को निम्नोक्त शब्दों में दिखाया गया है—'इह नित्यानां शब्दानां संकीर्णप्रयोगदर्शने सति साध्वसाधुविभागाय शास्त्रारम्भः' (प्रदीप ३।१।७); सुतरां यह मानना पड़ता है कि शब्दों के अन्वाख्यान के द्वारा साधु और असाधु का विवेक करना व्याकरण शास्त्र का कार्य है।

धीर बुद्धि से विचारने से विज्ञात होता है कि यही पाणिनि का मौलिक कार्य था, जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है—'सिद्धानां च शब्दानां संकरनिरासाय अन्वाख्यानं क्रियते न तु अप्रयुक्त-अपूर्व-शब्दव्युत्पादनाय' (३।१।८), अर्थात् सिद्ध शब्दों का ही अन्वाख्यान किया जाता है; व्याकरणशास्त्र अप्रयुक्त या अपूर्व शब्दों का निष्पादन करने के लिये प्रयास नहीं करता। पाणिनीय-वैयाकरण अपशब्दों की सत्ता को मानते हैं, और यह भी कहते हैं कि अपशब्द भी लोकसिद्ध एवं अर्थवान् हैं (अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते, साधुशब्द-समानार्थश्च, प्रदीप ३।१।८), पर अपशब्द साधु नहीं हैं; किंच व्याकरण यह भी मुख्यतः दिखाता है कि कौन शब्द साधु है जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—'साधुत्वप्रतिपादनार्थत्वात् शास्त्रस्य साधुत्वस्यैव प्राधान्यात्' (प्रदीप १।१।४३)। पर गौण रूप से असाधु शब्द का विवेक भी साधुशब्दान्वाख्यान से हो जाता है, और इसलिये यह कहना उचित प्रतीत होता है कि व्याकरण साधुशब्दों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञापन करता है, (उन शब्दों का अन्वाख्यान पूर्वक) तथा गौणरूप से असाधु शब्दों के सांकर्य का निरास करता है, जैसा कि आचार्य ने कहा है—'लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वम् असाधुत्वं च विचार्यते गोगव्यादिशब्दवत्' (प्रदीप २।१।१)। इस विषय में सारभूत वाक्य यह हैं—'नित्येषु शब्देषु प्रयोग-संकरे स्थिते ग्राम्यादिप्रयोगनिवारणायेदं शास्त्रम्' (प्रदीप २।२।३०)। व्याकरणावश्यकता के निर्णय में यह वाक्य अवश्य विचार्य है।

पाणिनि व्याकरण के मौलिक सिद्धान्त—उपसंहार में हम पाणिनीय व्याकरण के मौलिक सिद्धान्तों का सारसंकलन प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(क) शब्द, अर्थ तथा इन दोनों सम्बन्ध नित्य है।
(ख) नित्य = व्याकरण से अनिष्पाद्यत्व।
(ग) शब्दार्थ में लोक-व्यवहार का प्रतिषेध अशक्य है, तथा वह परम प्रमाण है।
(घ) व्याकरण तत्त्वतः न नियामक है, न निष्पादक।
(ङ) वह मुख्यतः 'किस अर्थ में कौन शब्दानुपूर्वी साधु है' इसका विचार करता है।
(च) गौणरूप से वह असाधु शब्द का विवेक भी करता है। (साध्व-साधुसंकरनिरास)।
(छ) व्याकरण एक स्मृति है, जो काल से अवच्छिन्न है।
(ज) सुतरां व्याकरण किसी न किसी अंश तक अपूर्ण है।
(झ) अन्वाख्यान की भिन्नता से शब्दप्रयोग की भिन्नता नहीं होती।
(ञ) व्याकरण से अनुक्त शब्द भी साधु हो सकते हैं।

—○—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टादश परिच्छेद

पाणिनीय वैयाकरणों की प्रकृति-प्रत्ययविश्लेषणपरक दृष्टि

व्याकरणशास्त्र शब्दों का अन्वाख्यान करता है। यह अन्वाख्यान किस दृष्टि से किया जाता है तथा अन्वाख्यान-प्रक्रिया का कारण क्या है—इत्यादि विषयों की आलोचना पाणिनीय वैयाकरणों की मान्यता के आधार पर की जा रही है। यह विवेचन आधुनिक वैयाकरणों में प्रचलित धारणाओं के अनुसार ही किया जा रहा है। प्राचीनतर सामग्री के मिलने पर प्रचलित धारणाओं में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

अन्वाख्यानस्वरूप—पहले शब्दों (भाषा) से वाक्यों का पृथक्करण, फिर वाक्यों का पदों में विभाग, और उसके बाद पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में विश्लेषण (आगम-आदेश इत्यादि के साथ)—ये तीन विभाग अन्वाख्यान में प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में यह पहले ही जान लेना चाहिए कि वैयाकरण पहले से सिद्ध शब्दों का अन्वाख्यान करते हैं,[1] न कि प्रकृति-प्रत्ययों का इच्छा-पूर्वक संयोग कर असिद्ध शब्दों को बनाते हैं। जब तक प्राचीन आचार्यों द्वारा उपदिष्ट यह सिद्धान्त हृदयङ्गम नहीं होगा, तब तक 'अन्वाख्यान' का रहस्य कदापि बोद्धव्य नहीं होगा।

वैयाकरण शब्दों को पहले से सिद्ध मानकर प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना करते हैं। भाष्यकार ने स्पष्टतः कहा है—'सत् शास्त्रेण अन्वाख्यायते।' कैयट ने इस वाक्य की व्याख्या में कहा है—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्ता सद् विद्यमानं वस्तु निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (२।२।६२)। वैयाकरण वस्तुतः शब्दों का कर्ता नहीं, स्मर्ता होता है; जिस प्रकार कुम्भकार के पास जाकर उसको घट बनाने के लिये कहा जाता है, इस प्रकार का व्यवहार शब्दक्षेत्र में नहीं देखा जाता। व्याकरणशास्त्र का मूल 'प्रयोग' है, अतः प्रयोग के अभाव में सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती (प्रदीप ६।१।९९)। व्याकरण (= लक्षण) लक्ष्य के अधीन ही होता है—'लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य' (प्रदीप ५।१।८०)।

अन्वाख्यान की आवश्यकता—इस अन्वाख्यान-पद्धति की आवश्यकता के विषय में कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा। प्राचीन संवाद में कहा गया है कि

१—लोकप्रसिद्धार्थानुवादेन साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।२०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहस्पति ने इन्द्र को 'प्रतिपदपाठ' रीति से दिव्य वर्षसहस्र तक पढ़ाया, पर शब्दराशि का अन्त नहीं हुआ।[१] केवल शब्दों की गणना करके उनका अर्थज्ञान कराने से कदापि सब शब्दों का अर्थज्ञान सम्भव नहीं है, इसीलिये उत्सर्ग तथा अपवाद सूत्रों की रचना करके शब्दार्थ-ज्ञान कराया जाता है—ऐसा पतञ्जलि ने कहा है (द्र० पस्पशाह्निक)। कोष आदि की शक्ति व्याकरण की अपेक्षा अल्प है, क्योंकि कोष में जितने शब्दों का संकलन है, उनके अतिरिक्त शब्दार्थों का ज्ञान कोषपाठी को प्रायेण नहीं होता, पर व्याकरण की अन्वाख्यान-पद्धति से व्युत्पादित शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी अर्थ-ज्ञान हो सकता है। व्याकरण की पद्धति से पद के उपादान के ज्ञान-पूर्वक पद-पदार्थ-ज्ञान कराया जाता है, अतः इस पद्धति से अज्ञातार्थक शब्दों का भी 'अर्थज्ञान' हो जाता है। जिस प्रकार पाँच ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाने से असंख्य बाह्य द्रव्यों का ज्ञान हो जाता है (सांख्यमतानुसार) उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार व्याकरणशास्त्र को पढ़ने से इसकी सत्यता प्रमाणित होगी।[२]

प्रकृति-प्रत्ययविश्लेषण की उपादेयता—व्याकरण की प्रकृति-प्रत्यय-विश्लेषण-पद्धति से लघुता से शब्दार्थ का ज्ञान होता है, यह मत वैयाकरणों में प्रसिद्ध है। नागेश ने लिखा है—

तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासम्भवात् तदन्वाख्यानस्य लघूपायेन अशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययभागकल्पनेन कल्पिताभ्यामन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्याः (लघुमञ्जूषा)।

१—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम (भाष्य-पस्पशाह्निक)।

२—वेद का पदपाठ भी एक प्रकार की शब्द-विश्लेषण-पद्धति ही है। समास में समस्यमान पदों को दिखाना, तथा क्रिया पद में उपसर्ग और धातु को पृथक् करना इत्यादि पदपाठ के विषय हैं। यह आदिम विश्लेषण-पद्धति है। व्याकरण इस पद्धति का ही अतिविकसित रूप है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि पदकार किसी भी प्रकार से व्याकरण की विश्लेषण-पद्धति की अवहेलना नहीं कर सकते—'न च लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (६।१।२०७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागेशभट्ट का यह वाक्य वैयाकरणों की शब्द-विश्लेषण-पद्धति के मूल-स्वरूप का ज्ञापक है। इस सारभूत वाक्य में विश्लेषणपद्धति के विषय में निम्नोक्त सिद्धान्त दिखाए गए हैं—

(१) शब्दार्थबोध में लाघव के लिये शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययविभाग किया गया है।

(२) यह विभाग वस्तुतः असत्य और काल्पनिक है तथा धातु, प्रातिपदिक आदि के जो अर्थ दिखाए जाते हैं, वे भी काल्पनिक हैं।

(३) यह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग केवल शास्त्रगम्य है, लौकिक (लोक-विदित) नहीं।

शब्द का यथार्थविपरिणामाभाव—उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने से पहले एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्राचीन वैयाकरण कभी भी यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि किसी अन्य भाषा के शब्द (चाहे भारतीय उच्चारण के अनुसार थोड़ा-सा विकृत होकर ही सही) संस्कृत भाषा में विद्यमान हैं। अतः आजकल जिस पद्धति से भाषान्तरीय शब्दों के उच्चारण की समानुपाती विकृति को दिखाते हुए शब्दों की निरुक्ति की जाती है (जैसे संस्कृत दर्पवत् > प्रा० दप्पुल > दपउल > ढपउल >—इत्यादि क्रम से हिन्दी के 'ढपोल' शब्द की निरुक्ति[1]), उस पद्धति का प्राचीन व्याख्याकारों ने कहीं भी आश्रय नहीं लिया। उनका विश्वास था कि संस्कृत भाषा सब प्राकृत-भाषाओं की जननी है और नियत है, तथा किसी अन्य भाषा के शब्द इसमें नहीं हैं।[2] भर्तृहरि ने इस मत को माना है तथा यह भी कहा है कि यह वाक् अर्थात् संस्कृत भाषा अनित्य नहीं है (दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः, अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः—वाक्यपदीय १।१५६)।

प्राचीन शाब्दिक शब्द का रूपान्तर न मानकर (अर्थात् कभी यह शब्द अमुक रूपवाला था बाद में अमुक रूपवाला हो गया—इस प्रकार) प्रत्येक

१—द्रष्टव्य ना० प्र० पत्रिका (वर्ष ५४ अङ्क २-३) में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति'।

२—यहाँ मत ही दिखाया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञानी इस मत को नहीं मानते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द को स्वतःसिद्ध मानते थे। जहाँ उन्होंने एक शब्द से अन्य शब्द की उत्पत्ति दिखाई है, वहाँ वे उत्पादक शब्द को वास्तविक और लोकप्रयोगार्ह नहीं मानते थे। उनके मत से स्थानी तथा आदेश (यतः वे पद नहीं हैं, अतः) काल्पनिक हैं, क्योंकि लोक में उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। व्याकरण के आदेश-आगम आदि क्यों लौकिक शब्द नहीं हैं, इसका एक उत्तर नागेशभट्ट ने दिया है कि कोष में आगम आदि का उल्लेख न होनेके कारण उनकी वाचकता (लौकिकपदत्व) नहीं है (उद्द्योत ३।१।१)। इस विषय में स्पष्ट युक्ति कैयट ने दी है—'शब्दसंस्काराय हि शास्त्रे सर्वत्र परिकल्पितार्थवत्ताऽश्रीयते, तात्त्विकी तु वाक्यस्यैव, तस्यैवार्थप्रत्यायनाय प्रयोगात्' (प्रदीप ५।१।२० ;) अर्थात् वास्तविक अर्थवत्ता वाक्य में होती है और उसी का अर्थबोध कराने के लिये प्रकृत्यादि की अर्थवत्ता कल्पित की जाती है। इससे वाक्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है तथा यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि मूलतः वाक्यार्थ-ज्ञान के लिये ही व्याकरणशास्त्र में प्रकृति-प्रत्ययविचार किया जाता है।

अब यहाँ इस प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-पद्धति का विशेष विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

द्विविध अन्वाख्यान—मौलिक अन्वाख्यान दो प्रकार का है। एक 'वाक्य-विभज्यान्वाख्यान' और दूसरा 'पदविभज्यान्वाख्यान'। इन दोनों प्रकारों के नाम यथाक्रम 'वाक्य-संस्कार' पक्ष और 'पद-संस्कार' पक्ष भी हैं पदों की ओर ध्यान न रखकर जब केवल वाक्यों का ही संस्कार (वाक्यार्थ को लक्ष्यकर उसका विभाग) किया जाता है तब वाक्य-संस्कार पक्ष होता है, और जब पदों का संस्कार (पदार्थ को लक्ष्यकर पद का प्रकृति, प्रत्यय, आदि में विभाग) किया जाता है, तब पदसंस्कार पक्ष होता है। सूत्र ६।१।८५ के भाष्य में इन दोनों के उदाहरण दिए गए हैं। इन दोनों पक्षों में प्रयोग की दृष्टि से क्या भेद है, यह भी व्याख्याग्रन्थों में दिखाया गया है। वस्तुतः श्रोता को पहले वाक्य (=विशेष्यविशेषणभावयुक्त क्रिया) का बोध होता है, फिर उसके बाद वाक्य में पदों की प्रतीति पृथक् होती है, अतः विश्लेषण भी 'वाक्यविश्लेषण' तथा 'पद-विश्लेषण' रूप दो प्रकार का होता है। (द्र० प्रदीप ३।१।१, ३।४।७७ इत्यादि)। पूर्वाचार्यों के कथन से यह स्पष्टतया अनुमित होता है कि प्राचीनों के अनुसार 'सिद्ध वाक्यों से पदों को पृथक् किया जाता है, न कि पदों से वाक्य बनता है'। पदों से यदि वाक्य बनता है, तो केवल प्रक्रिया की दृष्टि से, तत्त्वतः नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद की काल्पनिकता—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि केवल प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही काल्पनिक है, पर पाणिनीय वैयाकरणों का यथार्थ सिद्धान्त यही है कि वाक्यान्तर्गत पद भी काल्पनिक हैं। पद यदि सत्य होता तो कदाचित् 'हे राजपुरुष' कहने से 'राज' रूप क्रियापदार्थ की भी प्रतीति होती। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'—भाष्यकार का यह वाक्य (६।१।२०७) पद-विभाग की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है। वाक्यपदीयकार ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पद-विभाग मिथ्या है, अतः पदों का रूढ-यौगिक-योगरूढ रूप विभाग भी मिथ्या है (द्र० द्वितीय काण्ड)।

पाणिनीय संप्रदाय के अनुसार 'पाचक', 'लेखक' आदि शब्द यौगिक हैं, तथा 'घट' आदि शब्द रूढ हैं, पर वृद्धकातन्त्र संप्रदाय के अनुसार 'पाचक' आदि शब्द भी 'वृक्ष' आदि शब्दों की तरह रूढ ही हैं (वृक्षादिवद् अमी रूढाः—कातंत्र की दुर्ग टीका)। पदों का काल्पनिक विश्लेषण कर 'प्रकृति-प्रत्यय' की कल्पना की जाती है, अतः काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय की प्रवृत्ति के अनुसार वास्तविक पदों में विभाग नहीं हो सकता। यदि विभाग (रूढ, यौगिक आदि) किया भी जाए तो उससे काल्पनिक विषय में ही विप्रतिपत्ति होती है, वास्तविक पद में नहीं—यह मत वैयाकरणसंप्रदाय में प्रसिद्ध है।

व्याकरणोक्त उपायों की अनियतता—प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की काल्पनिकता को मानने से और एक सिद्धान्त निर्गलित होता है। वह है—उपायों की अनियतता; अर्थात् जब प्रकृति-प्रत्यय आचार्य की कल्पना के अनुसार कल्पित हैं, तब अपनी रुचि के अनुसार (व्याकरणरचनापद्धति के अनुकूल) प्रकृत्यादि की कल्पना कर पदों की सिद्धि की जा सकती है। इसीलिये सभी व्याकरणों में सिद्ध पदों का स्वरूप समान होनेपर भी उनके उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय आदि में अशेष विभिन्नता देखी जाती है। यह दोषावह नहीं है, क्योंकि उपाय में भेद होनेपर भी उपेय (व्याकरण प्रक्रियानिष्पन्न साधु शब्द और उसके लौकिक अर्थ) में भेद नहीं होता। उपायों की व्यर्थता स्वयं आचार्य भर्तृहरि ने बतलाई है—'उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते, उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते' (वाक्यपदीय २।३८)। प्रौढमनोरमा में भट्टोजि ने भी कहा है—'अतएव वैयाकरणनामुपायेषु अनाग्रहः'। नागेश भी कहते हैं—'अतएव व्याकरणभेदेन उपाया अनियताः'।

उपायों की अनियतता दोषावह नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान ही अन्तिम प्रयोजन है। व्युत्पत्ति की भिन्नता होनेपर भी वाक्यार्थ-ज्ञान में भेद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होता, अतः साधुत्वमात्र दिखाने के लिये व्युत्पत्ति की जाती है। अर्थानुसार व्युत्पत्ति दिखाने के लिये वैयाकरण चेष्टा करते हैं, पर अर्थ व्युत्पत्ति के अनुरूप होने के लिये बाध्य नहीं है। एक उदाहरण लें—'गो' शब्द की व्युत्पत्ति चाहे गम् धातु से की जाए, चाहें गृ अथवा गर्ज धातु से, पर 'गो' शब्द का अर्थ निश्चित ही रहेगा; किसी प्रकार साधुत्व-प्रतिपादन हो, इसी लिये अन्वाख्यान किया जाता है—'नित्यानां शब्दानां यथाकथंचिद् अन्वाख्यानं कर्तव्यम् इति मन्यते' (प्रदीप ३।१।९६); वस्तु और धात्वर्थ में न्यूनतम सदृशता मानकर एक शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से करने की प्रथा सभी आचार्यों ने मानी है। इसका एक रोचक उदाहरण श्वेतवनवासी ने दिया है, यथा (लोमशब्द की व्युत्पत्ति में)—'रुहे रुचेश्च रौतेश्च रुदिरुध्य रुषेरपि, षण्णामेव च धातूनां रोमशब्दं निपातयेत्' (उणादिवृत्ति, पृ०१८४)। यतः शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ (वाच्य वस्तु) का स्वभाव पूर्णरूपेण घटित नहीं होता, अतः वैयाकरण कहते हैं कि शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त (जैसा घट का घटत्व) समान नहीं हैं। (प्राचीनतर सामग्री के मिलने पर इस मत की सत्यता परीक्षित होगी)।

उपायानित्यता के उदाहरण—उपायों की अनियतता (अर्थात् प्रकृत्यादि विभाग की विचित्रता) के कुछ विशिष्ट स्थलों का उपन्यास यहाँ किया जा रहा है—

(१) पाणिनिव्याकरण में जहाँ 'अस्' धातु का पाठ है, आपिशल व्याकरण में वहाँ केवल 'स' का पाठ था (द्र० १।३।२२ सूत्र की न्यासव्याख्या)। द्रष्टव्य यह है कि यह भेद अनुबन्ध के विषय में नहीं, प्रत्युत धातु के स्वरूप के विषय में है। तिङन्त प्रयोग (यथा अस्ति, स्तः, सन्ति इत्यादि) के विषय में पाणिनि और आपिशलि में मतद्वैध नहीं है, पर धातु के स्वरूप के विषय में है—इससे प्रमाणित होता है कि स्व-शास्त्रानुसारिणी प्रक्रिया के अनुसार जो वैयाकरण धातु के जिस रूप की कल्पना को न्याय्य समझते थे, वे उस रूप की कल्पना कर सकते थे। धातु-स्वरूप की अनियतता का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है।

(२) दुर्गाचार्य ने निरुक्तव्याख्या में लिखा है कि प्राचीन वैयाकरणों की तिङन्त प्रक्रिया पाणिनीयानुरूप नहीं थी (निरुक्त १।१३) अर्थात् पाणिनि की भाँति ल-तिङ की कल्पना न कर वे लकारादेशके विना ही तिङन्त प्रयोगों की सिद्धि करते थे। इससे तिङन्त-प्रक्रिया की कल्पनिकता भी सिद्ध होती है, क्योंकि यदि प्रक्रिया सत्य होती, तो व्याकरण-भेद से उसमें भिन्नता होने पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिङन्त पदों में भी भिन्नता होती, परन्तु तिङन्त पदों के स्वरूप में विवाद नहीं है।

(३) पाणिनि 'यावत्' पद की सिद्धि के लिये वतुप् प्रत्यय के साथ प्रातिपदिक में आकार का आदेश करते हैं। कैयट ने लिखा है कि प्राक्पाणिनीय आचार्य आकारादेशयुक्त 'डावतु' प्रत्यय का विधान करते थे—पूर्वाचार्यास्तु डावतुं विदधिरे (प्रदीप ५।२।३९)। पाणिनि की पृथक् कल्पना का कारण उनकी निजी प्रक्रिया ही है। उक्त उदाहरण प्रत्ययों की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है।

(४) पाणिनि जिन शब्दों को तद्धित प्रत्ययों से सिद्ध करते हैं, कोई प्राक् पाणिनीय आचार्य उनकी सिद्धि धातु से ही करते थे। इससे तद्धित, कृत् आदि विभागों की भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। इस सिद्धान्त का एक उदाहरण क्षीरस्वामी ने दिया है—'काल्पनिके हि प्रकृति-प्रत्यय-विभागे द्राघिमादयः कस्मिंश्चिद् व्याकरणे धातोरेव साधिताः एवं नेदिष्ठादयोऽपि नेदत्यादेः' (क्षीरतरङ्गिणी १।८०)। अर्थात् प्राक्पाणिनीय आचार्य 'नेद्' धातु से 'नेदिष्ट' शब्द की सिद्धि करते थे और पाणिनि ने 'अन्तिक' शब्द से 'नेद' आदेश कर 'नेदिष्ठ' पद की सिद्धि की है।

स्पष्ट है कि पाणिनि ने जिस शब्द की निरुक्ति में तद्धित का व्यवहार किया है, प्राचीन आचार्य वहाँ कृत् प्रत्यय का व्यवहार करते थे। विपरीत पक्ष में यह भी देखा जाता है कि पाणिनि के अनुसार जो शब्द कृत्-प्रत्यय से बनता है, किसी-किसी के मतानुसार वह तद्धितान्त भी है। जैसे पाणिनि के अनुसार हन् धातु से यत् प्रत्यय (कृत्) कर 'वध्य' शब्द बनता है, पर किसी के मत से 'वधमर्हति' (वध के योग्य है) अर्थ में 'वध' शब्द से तद्धित-प्रत्यय कर भी 'वध्य' शब्द बन सकता है। कृत् और तद्धित प्रत्ययों की यह अन्योन्य-विनिमयप्रक्रिया प्रमाणित करती है कि ये दोनों ही काल्पनिक हैं, पर इनसे निर्मित पद अकाल्पनिक (सत्य) है।

(५) क्षीरस्वामी ने यह भी लिखा है कि 'गोमय' शब्द पाणिनि के अनुसार गो+मयट् प्रत्यय से बनता है, पर किसी व्याकरण के अनुसार यह 'गोम्' धातु से बनता था (१०।२६३)। ये सब उदाहरण प्रमाणित करते हैं कि प्रकृति-प्रत्यय का स्वरूप ही काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत उनके विभाग आदि सब काल्पनिक हैं। वैयाकरणभूषणसार में कोण्डभट्ट ने भी कहा है कि 'रामेण' पद यद्यपि नियत है, पर उसकी प्रक्रिया अनियत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक पृथक् तथा असम्बद्ध प्रकारों से जो व्युत्पत्ति की जाती है, उसका कारण क्या है—इस प्रश्न का सोदाहरण उत्तर आचार्य भर्तृहरि ने दिया है; यथा—

'वैरवासिष्ठगिरिशाः तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः ॥'
(वाक्यपदीय २।१७३) ।

अर्थात् 'निमित्त' और 'अवधि' के साङ्कर्य होनेके कारण पृथक् पृथक् रूप से अन्वाख्यान किया जाता है। यहाँ निमित्त = अर्थ, तथा अवधि = प्रत्ययों की प्रकृति (द्र० उद्द्योत ३।२।१५) है। यतः अर्थ और प्रत्ययोंकी प्रकृति—ये दोसदा समनुपाती नहीं होते, अतएव व्युत्पत्ति में भिन्नता होना अवश्यम्भावी है।

प्रकृत्यादि के अर्थसम्बन्धी मतभेद—प्रत्येक व्याकरण में, प्रकृति-प्रत्यय स्वरूप में ही विभिन्नता हो सो बात नहीं, प्रकृति-प्रत्यय आदि के अर्थों में भी मत-भिन्नता पाई जाती है। जैसे—'संख्या' को कोई आचार्य प्रातिपादिक का अर्थ और कोई विभक्ति का अर्थ मानते हैं।[1] स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के मतभेद होने पर भी पद या वाक्य के अर्थ में भिन्नता नहीं होती। यद्यपि वाक्यार्थ के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रीय मत हैं, तथापि वे प्रकृति-प्रत्यय के अर्थों की विभिन्नता को लेकर नहीं हुए हैं।

१—वाक्यपदीय हरिटीका में कहा गया है—केषाञ्चित् संख्या प्रत्ययेनाभिधीयते कर्मादयः प्रातिपदिकेन'''अपरेषां कर्मादयः प्रत्ययेन संख्या तु प्रातिपदिकेन ''अपरेषामभुयं प्रातिपदिकेन'''क्रियासाधनकालादयोऽपि कैश्चित् कथंचिदभिधीयत्वेन प्रविभक्ताः (१।२६ टीका) । पदावयवभूत प्रकृत्यादि की अर्थवत्ता जिस अन्वयव्यतिरेकरीति से निश्चित की जाती है, वह रीतिं पूर्णतः व्यवस्थापिका नहीं है, जैसा कि कैयट ने उदाहरण देकर सिद्ध किया है—इहान्वयव्यतिरेकाश्रया शास्त्रीया पदावयवानाम् आवापोद्धारिकी अर्थवत्ता। तौ चान्वयतिरेकौ एकतरस्यापि न व्यवतिष्ठेते, सार्वधातुकमन्तरेणापि कर्त्राद्यवगमात्—यथा गच्छ ग्रामम्, अशायि भवता, अकारि कट इति। तथा विकरणाभावेऽपि कर्त्राद्यवगतिरस्ति—लविषीष्ट क्षेत्रमिति। उभयाभावेऽप्यस्ति—अजागर्भवानिति। क्वचित्तूभयसन्निधौ कर्त्राद्यवगतिः—पचति पच्यत इति (प्रदीप ३।१।६७) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृत्यादि-कल्पना जनित गौण मत—उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकृति-प्रत्यय-विभाग और प्रकृत्यादि के अर्थों की पूर्ण काल्पनिकता प्रमाणित होने पर उससे और जितने मत अवश्यम्भावी रूप से निकलते हैं, उन सबका यहाँ संक्षेप में प्रतिपादन किया जा रहा है :—

(१) शब्दों की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है, क्योंकि व्युत्पत्ति भी वस्तुतः आचार्यकल्पनाप्रसूत है। व्युत्पत्ति प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार यथासम्भव किया जाता है, पर वह प्रवृत्तिनिमित्त की नियामक नहीं हो सकती। यही कारण है कि उणादिसूत्रों की अनेक व्युत्पत्तियों का आर्थिकदृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता।[1] निर्वचनों की अनेकविधता के विषय में भर्तृहरि ने जो कहा है, वही इस विषय का सारभूत वाक्य है। यथा—

कैश्चिन् निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥

(वाक्यपदीय २।१७५)

टीकाकार ने इसकी व्याख्या यथार्थ ही की है—'गिरति गर्जति गदति इत्येवमादाय साधारणा सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषः तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः'। अर्थात् गो शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न आचार्य गिरति, गर्जति, गदति आदि भिन्न-भिन्न क्रियावाची धातुओं से करते हैं।

(२) निर्वचन के सम्बन्ध में साधारण तथ्य यह है कि शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययादि से निर्माण नहीं होता; शब्द नित्य माने जाते हैं। वस्तुतः शब्दों में स्वर, अर्थ आदि के ज्ञान के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की जाती है—'नित्यानां भवतीत्यादि-शब्दानां स्वरार्थकालाद्यवबोधनार्थं प्रकृत्यादिविभाग-

१—अर्थदृष्टि से व्यर्थ होने के कारण व्युत्पत्ति 'वर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ' है, ऐसा मत आधुनिक वैयाकरणों में प्रचलित है। वर्णानुपूर्वी = अक्षरानुपूर्वी। प्रसिद्ध विद्वान् परशुराम कृष्ण गोडे महोदय अपने Studies in Indian Literary History (Vol. III p. 173) ग्रन्थ में एक स्थल पर 'वर्णानुपूर्वी'गत वर्णशब्द का अर्थ रंग (Colour) कहते हैं (खोङ्गाह आदि अश्वनामों के निर्वचन प्रसंग में; हेमचन्द्राचार्य का 'व्युत्पत्तिस्त्वेषां वर्णानुपूर्वी निश्चयार्थम्' वाक्य के आंग्लानुवाद में)। यह असावधानी से कहा गया है। हेमकोश श्लोक ३०३—३०९ टीका में पूर्वोक्त वाक्य कहा गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पनया व्याख्यानम् ।' (क्षीरतरंगिणी प्रारम्भिक वाक्य) । शब्द अनन्त हैं और प्रतिपदपाठ (प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् ज्ञान) से सब शब्दों का ज्ञान कभी संभव नहीं । परन्तु प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा करोड़ों शब्दों का ज्ञान सरलता से होता है । कहा गया है—

> प्रकृतिप्रत्ययानन्त्याद् यावन्तः पदराशयः ।
> लक्षणेनानुगम्यन्ते कस्तानध्येतुमर्हति ॥
>
> —कुमारिलभट्टकृत, तन्त्रवार्तिक (आनन्दाश्रम, पृ० २७९) ।

जो लोग इस तथ्य को नहीं मानते उनके विरोध में भाट्टचिन्तामणिकार ने कहा है—'यदपि लाघवं नास्तीत्युक्तं तदपि न, सुप्तिङाद्येकजातीयप्रत्ययकल्पनेन कोटिशब्दानुगमदर्शनेन लाघवानपायात्' ।

(३) धातु काल्पनिक है, अतः धात्वर्थ और उपसर्ग (प्र, परा आदि) भी काल्पनिक हैं । काल्पनिक धात्वादि के अर्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—'धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते' (२।२१२), अर्थात् केवल धातु आदि का कोई लोकविदित अर्थ नहीं होता ।

वैयाकरणों का स्पष्ट मत है कि वाक्यों से पदों का पृथक्करण किया जाता है । भर्तृहरि कहते हैं—'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा, अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्' (वाक्यपदीय ३।१।१) । सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत पाणिनि-दर्शन में स्पष्ट रूप से इस विश्लेषणप्रणाली का स्वरूप दिखाया गया है—यथा—"यथा पदार्थावगतये प्रकृति-प्रत्ययाः पदेभ्यः पृथक् कल्प्यन्ते, तथा वाक्यार्थावगतये वाक्येभ्योऽपि पदानि पृथक् कल्प्यन्ते । तच्च पृथक्कल्पितं पदजातं नामाख्यातभेदेन द्विधेति कैश्चिदुच्यते । उपसर्गनिपातयोः पृथग्गणनायां चतुर्धेति । कर्मप्रवचनीयां पृथग्गणनायानां पञ्चधेत्यर्थः" । (उपर्युक्त श्लोक की अम्यंकर टीका पृ० २२९) ।

(४) व्याकरणशास्त्र में जो 'स्थानी-आदेश'—भाव (अमुक शब्द के स्थान में अमुक का आदेश) है, वह भी पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक नहीं, काल्पनिक है । स्थान्यादेश की यह काल्पनिकता 'बुद्धिविपरिणामवाद' नाम से व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है ।

इस वाद का यथार्थ रहस्य जान लेना चाहिए । बात यह है कि पाणिनीय संप्रदाय परमार्थतः नित्य-शब्दवादी है । इस दृष्टि के अनुसार किसी शब्द के 'नाश' के बाद उसके स्थान पर नूतन शब्द की 'उत्पत्ति' नहीं होती, प्रत्युत एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द के प्रसंग में अन्य 'शब्द' का प्रसंग होता है ('षष्ठी स्थानेयोगाः' १।१।४९ सूत्र की व्याख्याएँ द्रष्टव्य)। इस दृष्टि से अस्तेर्भूः (२।४।५२) सूत्र का अर्थ होगा 'अस्' के प्रयोग के प्रसंग होने पर 'भू' का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि बोद्धा की 'अस्ति'-बुद्धि 'भू'-बुद्धि में परिणत हो जाती है।

'बुद्धि का ही परिणाम होता है, शब्द का नहीं'––यही 'बुद्धिविपरिणामवाद' है। कैयट ने कहा है–'बुद्धिविपरिणाममात्रं स्थान्यादेशभावः' (प्रदीप १।१।४४)। भाष्योक्त बुद्धिविपरिणामवाद का विस्तृत प्रतिपादन मञ्जूषा आदि ग्रन्थों में मिल जाता है।

(५) जब प्रकृति-प्रत्यय की काल्पनिकता सिद्ध हो गई तब कल्पना से एक का धर्म दूसरे में आरोपित किया जा सकता है। ऐसा करने से न्यायदोष नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकार का आरोप भी सत्य नहीं है। इसका एक उदाहरण लीजिए—

'इयत्' (इदम्+वतुप्) एक प्रातिपदिक है, जिसमें पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति का अंश पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, पर वैयाकरण केवल प्रत्यय अंश में प्रकृति के अर्थ का आरोप कर लेते हैं। 'इयत्' शब्द नित्य (लोकसिद्ध) है, और इसका उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं, इसलिये प्रकृतिभाग के न रहने पर भी अर्थ का बोध होता है और इसीलिये कोई दोष नहीं माना जाता।

(६) जब प्रकृति-प्रत्यय-विभाग असत्य है, तब उसका प्रतिपादक व्याकरण-शास्त्र भी असत्य है—यह वैयाकरणों का अन्तिम निष्कर्ष है—'शास्त्रेषु प्रक्रिया-भेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते' तथा 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' (वाक्य-पदीय २।२३४, २।२४०); ये दो वचन इस प्रसंग में आलोच्य हैं।

प्रकृति-प्रत्ययों की काल्पनिकता के साथ-साथ इन सबों की जो अर्थवत्ता है, उसकी भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। कैयट ने कहा है कि लोक में जब 'पाक' शब्द का प्रयोग होता है, तब प्रकृति-प्रत्यय का विचार कर प्रयोग नहीं किया जाता (प्रदीप १।३।१); वास्तव अर्थ तो वाक्य का है, वाक्यान्तर्गत शब्दों का नहीं (प्रदीप ५।१।२२)। यह सर्वमान्य है कि पदों के अन्तर्गत उपसर्ग, प्रत्यय आदि का कोई अर्थ वस्तुतः है ही नहीं, क्योंकि उन सबके अकेले प्रयोग करने पर लोक में कुछ भी अर्थबोध नहीं होता ; अर्थात् 'हरति' कहने से अर्थ का बोध होता है, 'प्र-हरति' कहने से भी होता है, पर केवल 'प्र' के प्रयोग से कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोध नहीं होता, उसी प्रकार 'हृ' से भी कुछ लौकिकार्थ का बोध नहीं होता। व्याकरणशास्त्र में प्र आदि उपसर्गों के जो अर्थ दिखाए गए हैं, वे मूलतः काल्पनिक हैं। वस्तुतः केवल प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग होता भी नहीं। शास्त्र में जो ऐसा प्रयोग दिखाया जाता है, वह सिद्ध शब्दों की कल्पित सिद्धि के लिये ही है।

प्रकृत्यादि-विभागसम्बन्धी कुछ विशिष्ट बातें—अब हम प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के एक विशिष्ट तथ्य पर पूर्वाचार्यों के मत प्रस्तुत करेंगे, जिससे वैयाकरणों का दर्शन स्पष्टरूप से बोधगम्य हो जाय—

(क) 'तिल से जात'—इस अर्थ में 'तैल' शब्द का प्रयोग शास्त्रसिद्ध है। पर 'तिल-तैल' तथा 'सर्षप-तैल' का प्रयोग भी होता है। इसकी संगति कैसे होगी? आजकल ऐसे सादृश्य-सम्बन्धमूलक प्रयोगों की उपपत्ति के लिये उत्तर दिया जाता है कि कालक्रम से भ्रमवश तैल का अर्थ 'तिल से जात' न जानकर 'स्नेह' मात्र मान लिया जाता है, अतः तिल से जो स्नेह निकलता है वह 'तिल-तैल' तथा सर्षप से जो स्नेह निकलता है वह 'सर्षप-तैल' कहलाता है।

इसी प्रकार अन्य प्रयोगों की भी सादृश्यादि-हेतुक उत्पत्ति होती है। पर प्राचीन वैयाकरण यह मानने को तैयार नहीं थे कि कालक्रम से शब्दार्थ में परिवर्तन होता है।[1] वे कहेंगे कि "तैल" शब्द का अर्थ है 'विकारविशेष', अतः 'तिलानां तैलम्' इस विग्रह में 'तिलतैलम्' शब्द बनने में बाधा नहीं है। 'इङ्गुदतैल' इत्यादि प्रयोग उपमान (सदृशतासम्बन्ध) से बनेंगे। वस्तुतः 'तिलानां विकारस्तैलम्', यह व्युत्पत्ति का उपायमात्र है और स्नेह-द्रव्यवाचक 'तैल' का (जो रूढ़ शब्द है), तिल से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे 'प्रवीण' शब्द की व्युत्पत्ति ('प्रकृष्टो वीणायां') केवल साधुता दिखाने के लिये हैं, 'वीणा' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका प्रवृत्तिनिमित्त 'कौशल' है, इसी लिये 'वीणायां प्रवीणः' ऐसा वाक्य भी बनता है (प्रदीप ५।२।२९)। वस्तुतः संस्कृत-वैयाकरण एक शब्द से अन्य शब्द की परमार्थतः उत्पत्ति मानते ही नहीं। उनके अनुसार 'पा' धातुसे 'सन्' प्रत्यय कर 'पिपास्' नाम का सनन्त धातु नहीं बनता। जैसा 'पा'

१—यह नित्यशब्दवादी वैयाकरणों के सम्बन्ध में कहा गया है, कार्य-शब्दवादी वैयाकरणों के अनुसार शब्दों में परिवर्तन होता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक स्वतन्त्र धातु है वैसा ही 'पिपास्' भी है—केवल शब्दार्थ-सादृश्य के कारण लाघव करने के लिये एक से अन्य का उद्भव शब्दशास्त्र में दिखाया जाता है। चूंकि ये वैयाकरण अर्थविपरिणाम नहीं मानते हैं, अतः उनको ऐसा कहना पड़ता है। भाषावैज्ञानिक इस विषय में आधुनिक मत कुछ अंशों में पृथक् है।[१]

—❀—

१—यह निबन्ध मतमात्रप्रदर्शक है, अतः प्रत्येक दृष्टि को उपपन्न करने का यत्न नहीं किया गया। व्युत्पत्तिसम्बन्धी पुष्कल विचार हमारे 'संस्कृत भाषा का अनुशीलन' नामक आगामी ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊनत्रिंश परिच्छेद

पाणिनीय मतानुसार क-वर्ग का उच्चारण-स्थान

आजकल यह आक्षेप प्रायः किया जाता है कि पाणिनीय सम्प्रदाय में कवर्ग का उच्चारणस्थान जो कण्ठ कहा जाता है[1], वह असम्यक् दर्शन है, वस्तुतः उच्चारण स्थान जिह्वामूल है[2]। इस विषय पर हम लोगों की दृष्टि यह है कि 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' कहने पर भी कोई दोष नहीं होता (यदि शास्त्रीय पद्धति को ठीक से समझा जाए); और जिह्वामूलवादी भी भ्रान्त नहीं हैं। प्राचीन शब्दविदों की विचार-सरणि के अनुशीलन करने पर उपर्युक्त मत सङ्गत ही प्रतीत होगा।

उच्चारण प्रक्रिया—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान काल में हम लोग प्राचीन संस्कृत-भाषी के अनुसार यथावत् कवर्ग का उच्चारण करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक वर्णों के उच्चारण में कुछ न कुछ विलक्षणता (चाहे वह नगण्य ही क्यों न हो) उत्पन्न हो गई है,[3] यह अवश्य स्वीकार्य है। कुछ वर्णों (ऋ, लृ) का उच्चारण तो बहुलतया भ्रष्ट ही है। ण—ष आदि वर्णों का जो प्रचलित उच्चारण है, वह भी कुछ न कुछ विकृत ही है, अतः हम समझते हैं कि क—वर्ग का उच्चारण यदि कुछ भ्रष्ट हो गया हो, तो वह

१—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' (सिद्धान्तकौमुदी १।१।९, कु=कवर्ग)। पाणिनिप्राचीन आपिशलि भी ऐसा ही कहते हैं—अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (आपिशलि शिक्षासूत्र, ७; न्यास भाग १।।१।९ में यह उद्धृत है)।

२—द्र० हिन्दी अनुशीलन [धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक] में डा० सिद्धेश्वर वर्मा का लेख—'क्या हिन्दी कवर्ग कण्ठ्यध्वनियां हैं ?'। हिन्दी का लक्ष्य संस्कृत से भी है, क्योंकि इस लेख में प्रातिशाख्यों का निर्देश है। अन्यान्य भाषाविद् भी ऐसा मानते हैं।

३—ऋ का उच्चारण इस विषय का प्रसिद्ध उदाहरण है। आज इसका उच्चारण 'रि' ही है, पर ऐसा मूल में नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर 'पितृ' आदि शब्दों में 'पि' गुरु हो जाएगा (संयोगे गुरु—इस नियम के अनुसार) जिससे छन्द का भंग होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्मयजनक नहीं है। हमारा स्पष्ट कहना है कि क-वर्ग के प्रचलित उच्चारण को देखकर इसका सम्यक् निरूपण करना दुरूह है कि प्राचीन काल में क-वर्ग का साधु उच्चारण कैसा था। वस्तुतः हमें उच्चारणसम्बन्धी शिक्षा-प्रातिशाख्यादिगत लक्षणवाक्यों पर ही निर्भर करना होगा[1] और यही इस समय वैज्ञानिक दृष्टि है। व्यवहारतः उच्चारणादि सम्प्रदायाधीन हैं और सम्प्रदाय बहुत कुछ भ्रष्ट हो गया है,[2] अतः पूर्वोक्त मार्ग ही ग्रहणयोग्य है। प्रचलित उच्चारण से कण्ठ और जिह्वामूल की पहचान करना भी कुछ न कुछ असङ्गत होगा, अतः स्थानादिनिर्देशपरक शास्त्रीय वचनों पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा (प्रचलित उच्चारण बहुत दूर तक सहायक अवश्य ही है, यह अन स्वीकार्य है)।

इस विषय में मतभेद—यह अनपलाप्य है कि जिस प्रकार 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' वाक्य मिलता है, उसी प्रकार यह निर्देश भी स्पष्टतः मिलता है कि कवर्ग का स्थान जिह्वामूल[3] है। यह भी ज्ञातव्य है कि कण्ठस्थानवादी भी इस मत को जानते थे। कण्ठस्थानवादी यह भी जानते थे कि कुछ पूर्वाचार्य

१—अनतिप्राचीन पूर्वाचार्य भी प्रत्यक्ष उच्चारण की अपेक्षा शास्त्रगत लक्षणवाक्य पर अधिक जोर देते हैं। अमोघानन्दिनी शिक्षा में कहा गया है—लक्षणं न त्यजेद् धीमान् सम्प्रदायोऽन्यथा भवेत्। लक्षणेन विना शिष्यः सम्प्रदायो विनाशवान्॥ (१२३); कभी-कभी इस सामान्य नियम का अपवाद भी मिलता है (लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा, १४)।

२—'यद्यपि वैदिकसम्प्रदाय इदानीं परिभ्रष्टः' इत्यादि नागेशभट्ट का वचन (उद्द्योत अ० ६) इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है। यह भ्रष्टता अत्यल्प है। शुक्लयजुः-माध्यन्दिन-संहिता १।३० गत 'वेष्प' पाठ भी सम्प्रदायभ्रंश के कारण कहीं कहीं 'वेष्य' बन गया है (द्र० श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत दयानन्दभाष्यविवरण)।

३—'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः' यह वचन पाणिनीय शिक्षा के सभी शाखा-भेदों में है (द्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'पाणिनीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ)। क-वर्गस्तु जिह्वामूले कथितः (पञ्जिका टीका, पृ० १४)। पूर्वोक्त पाणिनिवचन की व्याख्या में प्रकाशटीकाकार कहते हैं कि पाणिनि तथा अन्य आचार्यों ने क-वर्ग का स्थान जिह्वामूल कहा है (पृ० ३०)। वर्णरत्नप्रदीपिका (२५) में भी यह मत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अकार-हकार' मात्र का स्थान कण्ठ है, ऐसा मत भी रखते हैं।[1] जिह्वामूलवादी को भी यह ज्ञात था कि 'क-वर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ है,' ऐसा मानने वाले भी हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न होता है कि क्या इन मतों में परस्पर विरोध नहीं है? दूसरा प्रश्न यह भी है कि क्यों इन आचार्यों ने एक दूसरे के मतों का खण्डन नहीं किया, और मतभेद का ही प्रदर्शन कर निवृत्त हो गए? क्या इन पृथक् मतों का कोई समन्वय है?

'वर्णोच्चारण' के विषय में शिक्षाप्रातिशाख्यव्याकरण में जो विचारपद्धति है, उसको शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार जानने से यह विवाद समाप्त हो जाता है।

वर्णोच्चारण की सम्प्रदायनियतता—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि कुछ स्थलों में उच्चारण का भेद सम्प्रदायनियत रहता है, अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों (वैदिक आचार्य-परम्परा एवं तदनुग लौकिक परम्परा) में विभिन्न उच्चारण (विभिन्न उच्चारणस्थान-हेतुक) साधु[2] माने जाते हैं। देश-कालभेद से भी विभिन्न उच्चारण साधु माने जाते हैं, अतः उच्चारण-स्थान का यदि कोई पार्थक्य भी हो जाए तो वह भी साधु ही माना जाता है। इस नियम का एक प्रसिद्ध उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य (१।१) की उवटव्याख्या में मिलता[3] है, जहाँ रेफ के दो स्थान (दन्तमूल और मूर्धा) कहे गए हैं और यह भी कहा गया है

१—'कण्ठ्यौ अहौ' वचन पाणिनीय शिक्षा में है। ह को उरस्य वर्ण मानने का संप्रदाय [एकेषाम्] है (द्र० पाणिनीयशिक्षा-सूत्र ६ तथा आपिशलि शिक्षासूत्र ८)।

२—शाखाभेद देशकालभेद से हुए हैं,यह मानना पड़ता है (ऐतरेयालोचन, पृ० १२४-१२५)। 'अग्नि' शब्द का उच्चारण किसी शाखा में णकार घटित था (भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका,पृ० १)। इस उच्चारण भेद का कारण देशकाल का यथोचित प्रभाव ही है। दन्त्य वर्ण का मूर्धन्यवत् उच्चारण भी किसी वेदशाखा में था (शब्देन्दुशेखर ३।२।२७), जो देशकालभेद से ही उत्पन्न हुआ होगा।

३—यथा तावच् शिक्षायां स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः (पाणिनीय शिक्षा १७) इति सामान्येन सर्वशाखासु रेफो मूर्धन्य इत्युक्तः। तथाऽन्यस्यां शिक्षायां दन्तमूलीयः, (याज्ञ० शिक्षा) इतिरेफो दन्तमूलीय उक्तः। एवं सर्वा शिक्षा वर्णेषु स्थान-करणानुप्रदानादि सर्वासु शाखासु विदधाति, न तु नियमतः कस्यां शाखायां रेफो मूर्धन्यः कस्यां दन्तमूलीय इति .... एवमस्यां शाखायां दन्तमूलीयो वा वर्त्स्यो वा रेफ इत्येतदवधारितम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यह स्थानभेद विभिन्न शाखाओं में नियत है। उसी प्रकार विवृत्तिकाल (विवृत्ति = दोनों स्वरों के मध्य में जब कोई वर्ण नहीं होता, तब उन दो स्वरों का यथाक्रम उच्चारण) के विषय में जो मतभेद हैं (मात्राकाल, अर्ध-मात्राकाल या अणुमात्रा-काल), वे शाखाभेदानुसार व्यवस्थित हैं, ऐसा माना जाता है (नारदीयशिक्षा ३।४ की शोभाकरकृत टीका)। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। सर्वत्र शाखाभेद-व्यवस्था की बात शब्द-शास्त्रीय ग्रन्थ में कही गई हो, ऐसी बात भी नहीं है; ग्रन्थ में अनुक्त रहने पर भी सम्प्रदाय से या अन्य शास्त्र की सहायता से मतभेदों की सम्प्रदायनियतता ज्ञात होती है।[1]

अब यह सोचना चाहिए कि क-वर्गोच्चारणस्थान के विषय में जो मत-भेद मिलते हैं, कहीं वे सम्प्रदायनियत तो नहीं हैं; यदि ऐसी बात है तो 'कण्ठस्थान' और 'जिह्वामूलस्थान' दो पृथक् स्थान होंगे और पृथक् उच्चारण भी साधु माने जाएँगे, ऐसा नहीं कि कण्ठस्थान मानना अशुद्ध है और जिह्वा-मूल स्थान मानना ही शुद्ध है। हमारा प्रचलित उच्चारण इस विषय में प्रमाण नहीं हो सकता, यह पहले ही कहा गया है। यह पूर्णतः सम्भव है कि कालान्तर में सम्प्रदायनाश के कारण एक ही उच्चारण रह गया हो, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य प्रकार का उच्चारण भ्रान्त है।

स्थाननिर्देशपरक वाक्य की सामान्यार्थकता—हमारा यह भी कहना है कि वर्णोच्चारणस्थानों के नामों का निर्देश (व्याकरणशिक्षा-प्रातिशाख्य में) बहुत ही श्लथ भाषा में किया गया है, अतः एक ही 'स्थान' के लिये दो पृथक् निर्देशों का प्रचलित हो जाना या सामान्यार्थक शब्द से विशेष अर्थ को कहना या वाचक के स्थान पर लक्षक शब्द का व्यवहार करना—इन शास्त्रों में प्रायेण मिलता है। तात्पर्य यह है कि एक ही 'स्थान' को लक्ष्य कर 'कण्ठ' और 'जिह्वामूल' शब्द का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि व्याकरणादिशास्त्र कोई आयुर्वेदशास्त्र नहीं हैं कि शरीरावयवों के विवरण में वे शरीरविज्ञानी की दृष्टि के अनुसार शब्दों का प्रयोग करें। हठयोगीय ग्रन्थों में—जहाँ शरीरांशों का विवरण

१—पाणिनि के स्वरसम्बन्धी अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनमें विकल्प आदि का उपदेश सामान्यतः दिया गया है, पर प्रायेण वे विकल्प सम्प्रदाय में नियत हैं, यह प्रातिशाख्यादि से जाना जाता है। पाणिनि का निर्देश सामान्यार्थक होने पर भी क्वचित् उसका तात्पर्य विशेष में होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्ष्मरूपेण दिया गया है, वहाँ भी Anatomical और Physiological distinction पूर्वक कथन शायद ही कहीं मिलता हो, तब व्याकरण ग्रन्थ में स्थाननामों के उल्लेख में विज्ञानी की तरह सावधानी रखी गई है, यह नहीं कहा जा सकता। जिस समय वे लिखे गए थे, उस समय ग्रन्थ केवल अध्ययन-सहायक होते थे, गुरुओं के मुख से शिष्यगण (अपनी दृष्टि के अनुसार और प्रयोजन को लक्ष्यकर; उनको कण्ठ-तालु आदि स्थानों की पहचान नहीं करना था और न चिकित्सा करनी होती थी) प्रकृत उच्चारणस्थान का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लेते थे, उनको उच्चारण यथावत् (गुरुओं के द्वारा) कराया जाता था। समझाने-बुझाने के लिये कण्ठ-तालु आदि सामान्य शब्दों का यथासम्प्रदाय प्रयोग किया जाता था, न कि आजकल की तरह, प्रयोग-परीक्षण के लिये। अतः एक ही स्थान को लक्ष्यकर स्थूलतः कण्ठ और सूक्ष्मतः जिह्वामूल का प्रयोग किया जा सकता है, इससे उच्चारणभेद नहीं होता।

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रयोजन के अनुसार उपदेश करना आचार्यों की सांप्रदायिक शैली है। यदि वास्तव प्रयोजन न हो तो सर्वत्र चरम सत्य न कहकर स्थूल सत्य या आपेक्षिक सत्य कहने की परिपाटी हमारी परम्परा में है। व्याकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से चार प्रकार के वर्णोच्चारणप्रयत्न मानने पर भी कोई दोष नहीं होता, पर वास्तव उच्चारणप्रक्रिया की दृष्टि से और अधिक प्रयत्नों की सत्ता माननी पड़ती है (छाया टीका पृ० २१७)।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि 'कण्ठ' और 'जिह्वामूल' का कोई वस्तुतः विरोध नहीं भी हो सकता है। आजकल हम अङ्गों का जैसा परिचय देते हैं, वही पद्धति उस काल में भी थी, ऐसा नहीं समझना चाहिए। अनन्तदेव कहते हैं—'मुखस्यापि मस्तकावयवत्वेन प्रसिद्धेः' (प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्ट में मूर्धा शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य; यहां मूर्धा का अर्थ मुखप्रदेश किया गया है)। क्या शरीर विज्ञानी या कोई ग्रामीण अज्ञ व्यक्ति मुख को मस्तक का अवयव समझता है? आस्य का लक्षण भाष्यकार के अनुसार 'ओष्ठ से काकलक का आरम्भ पर्यन्त' है (१। १। ९)। यहाँ काकलक=ग्रीवा का उन्नत प्रदेश है (प्रदीप टीका)। क्या आयुर्वेद में या सामान्य व्यवहार में आस्य (मुख) का यही अर्थ है?

१—यद्यपि घोषाघोषाल्पप्राणमहाप्राणेति प्रयत्नचतुष्टयेनैव प्रक्रियांशनिर्वाहः सुकरस्तथापि शिक्षानुरोधेन अन्येषामुक्तिः (छाया, तुल्यास्यप्रयत्नम् सूत्र पर)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं कि शिक्षादि-शास्त्रगत कण्ठ-मूर्धा के विवक्षित अर्थ हम सर्वत्र पूर्णतया नहीं समझते। त्रिरत्नभाष्य में कहा गया है—मूर्धशब्देन वक्त्रविवरोपरिभागो विवक्ष्यते (२।३७ तै० प्रा०)। यहां 'विवक्ष्यते' कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस स्थल में मूर्धा शब्द का यह अर्थ है, अन्यत्र लोकप्रसिद्ध थोड़ा पृथक् अर्थ होगा। उसी प्रकार 'तालुपदेन जिह्वाया अधस्तनः प्रदेशः उच्यते' (वैदिकाभरण २।२२) कहा गया है। क्या तालु का यह अर्थ समीचीन है या शरीरविदों को अनुमत है ?

इसी प्रकार लाक्षणिक प्रयोग भी हैं। हम हठयोग के ग्रन्थ से एक उद्धरण दे रहे हैं। हठयोग प्रदीपिका १।१९ की टीका में कहा गया है—जानुशब्देन जानुसन्निहितो जङ्घाप्रदेशो ग्राह्यः (जानु का तात्पर्य जानु के पास स्थित जङ्घा है)। मूर्धा या ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ में 'तालु' शब्द शान्तिपर्व (२००।२०) में प्रयुक्त हुआ है[1]। यह दृष्टि वर्णोच्चारणस्थान-निर्देश में भी कहीं-कहीं मिलती है।

'दन्त' एक वर्णोच्चारणस्थान है, पर व्याख्याकार कहते हैं कि दन्त का तात्पर्य दन्तमूल है (दन्तशब्देन दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः, बालमनोरमा १।१।९)। कहीं-कहीं दन्त और दन्तमूल दो पृथक् स्थान के रूपमें परिगणित हुए हैं (याज्ञवल्क्य शिक्षा का वर्णोच्चारणस्थान प्रकरण द्र०)।

यह भी ज्ञातव्य है कि टीकाग्रन्थों में तालु आदि के जो लक्षण कहे गए हैं वे भी कुछ न कुछ अस्पष्ट हैं, वर्तमान शरीरविज्ञान में अंगलक्षणों की जो विशदता है, वह इन लक्षणों में प्राप्तव्य नहीं है और उस समय इस विशदता की कुछ आवश्यकता भी नहीं थी, प्रत्येक गवेषक को यह स्वीकार करना चाहिए।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानों की पहचान शास्त्रोक्त शब्दमात्र के अनुसार यदि की जाए तो वह बहुत कुछ अस्पष्ट-सी रहती है। उनके मतभेदों पर विचार करने से पहले इस तथ्य को जानकर तब आगे विचार करना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने 'यत् स्पर्शनं तत्स्थानम्' (अथर्वप्रातिशाख्य २।३३ तथा अन्यत्र) कहा है। ये स्थान भी स्वर और व्यञ्जनों की दृष्टि से विभिन्न प्रकार का है, यह तथ्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २।३१-३३ तथा अन्यत्र स्पष्टतः स्वीकृत हुआ है। इस 'स्पर्शन' के विभाग विभिन्न दृष्टियों से किए जा सकते हैं, और शारीरिक कार्य समान रहने पर भी स्थान-करण-प्रयत्न के कथन में विभिन्नता हो सकती है। यह विभिन्नता वर्गीकरण करने की शैली

१—'तालुदेशमथोद्दाल्य' की व्याख्या में नीलकण्ठ कहते हैं—तालुदेशं ब्रह्मरन्ध्रम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भेद के अनुसार होती है, वस्तुतः वहां मतभेद नहीं होता। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों को इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त दृष्टि को समझने के लिये कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। अथर्व-प्रातिशाख्य में 'जिह्वामूल' नामक कोई स्थान स्वीकृत नहीं हुआ है, पर करण (स्थान में आघात करने वाला शरीरावयवविशेष) के उल्लेख में अधरकण्ठ (=जिह्वामूल) का उल्लेख है (१।१८-१९)।

स्थानभेद कहने मात्र से वहां वस्तुतः मतभेद या उच्चारणभेद हुआ (अतः दोनों में कोई मत अवश्य अशुद्ध है,) ऐसा सोचना सर्वत्र सङ्गत नहीं है। रेफ का स्थान कहीं मूर्धा और कहीं दन्तमूल कहा गया है। यह कोई विरोध-स्थल नहीं है। जब रेफ का स्थान दन्तमूल कहा जाता है (याज्ञवल्क्यशिक्षा, पृ० १५४ अमरनाथशास्त्रिटीकासहित), जब 'जिह्वाग्र' उसका करण माना जाता है। टीकाकार कहते हैं कि जिह्वाग्र से दन्तमूल का स्पर्श और जिह्वामध्य से मूर्धा का स्पर्श एक ही बात है, अतः रेफ का स्थान मूर्धा भी कहा जा सकता है, दन्तमूल भी।[1]

वर्गीकरण (स्थान-करण-प्रयत्न सम्बन्धी) के भेद से इस प्रकार मतभेद हो जाना स्वाभाविक है, पर यहां वास्तव क्रिया समान ही होगी। 'ऋ' का स्थान बहुत्र मूर्धा माना गया है, पर याज्ञवल्क्यशिक्षा में इसका स्थान 'जिह्वा-मूल' माना गया है (पृ० १५४)। टीकाकार कहते हैं कि पाणिनि ने प्रक्रिया-लाघव के लिये (न कि मतभेद दिखाने के लिये) 'ऋ' का स्थान मूर्धा कहा है, वस्तुतः इसका स्थान जिह्वामूल है और हनुमूल करण है।[2] यदि कोई

१—'एको दन्त्यमूलीयो रेफः' की व्याख्या में कहा गया है—वस्तुतो जिह्वा-मध्यकरणेन मूर्धस्थानोक्तिः पाणिन्यादिसंमता रेफस्य न विरुध्यते, यतो जिह्वा-ग्रेण दन्तमूले ईषत्स्पृष्टे अर्थादेव जिह्वामध्यस्य मूर्धनि स्थितिरिति करणभेदस्तु पाणिनेरपि ग्राह्यः।

२—अत्र ऋवर्णस्य जिह्वामूलीयत्वमपि पाणिनीयस्य मूर्धन्योक्त्याऽविरुद्ध-मेव। मूर्धन्यष–रवर्गाभ्यामस्य करणविशेषप्रदर्शनाय अत्रोक्तिः, न तु स्थानद्वयेन द्विविध - ऋवर्णोपत्तिः प्रतिपत्तव्या। पाणिनिना तु प्रक्रियालाघवायास्य मूर्धन्यता स्वीकृता रेफ इव; यहाँ प्रक्रियालाघव शब्द पर ध्यान देना चाहिए, और यह निर्णय करना चाहिए कि बहुत्र शास्त्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत्य को जानते हुए भी कभी-कभी प्रक्रियालाघव (या ग्रन्थलाघव) के लिये स्थूलतर उपदेश करते हैं; ऐसे स्थलों में मतभेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हनुमूल को करण के रूप में स्वीकार न करे तो वह 'ऋ' का स्थान मूर्धा ही कहेगा।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब वर्णों का उच्चारण स्थान भी मुख के अन्तर्गत है, उच्चारण का करण भी मुख के अन्तर्गत अंशविशेष हैं, और इन अवयवों का साक्षात् या अन्तरित परस्पर संयोग भी है, तब इन स्थानकरणों के निर्धारण में दृष्टिभेद के कारण स्थानकरण-निर्देश भी विभिन्न होंगे (एक ही वर्णोच्चारणप्रयत्न के क्षेत्र में) यद्यपि उससे वस्तुस्थिति में भिन्नता या मतभेद वस्तुतः नहीं होता।

जिस स्थान में वर्ण की उपलब्धि होती है, वह स्थान है—यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् (पाणिनिशिक्षासूत्र ७।७ तथा आपिशलिशिक्षासूत्र ७।३)। यह स्थानोपलब्धि दृष्टिभेद से विभिन्न प्रकार की ज्ञात हो सकती है—कोई स्थूल दृष्टि से, कोई सूक्ष्मदृष्टि से, कोई सूक्ष्मतर दृष्टि से। धोती किससे बनी है, इसका उत्तर 'सूत से बनी है' भी हो सकता है और 'रूई से बनी है' यह भी हो सकता है; और इन दो उत्तरों में न एक से दूसरा खण्डित होता है और न पार्थक्य होता हुआ भी विरोध होता है; उसी प्रकार जितनी बारीकी से छानबीन किसी आचार्य ने वर्णोत्पत्तिस्थान के विषय में की है, उतना ही सूक्ष्म से सूक्ष्म तर उत्तर दिया गया है। हम समझते हैं कि यदि चिरकाल से संस्कृतभाषी समाज में क-वर्ग का उच्चारण एकरूप ही रहा है तो उसका उच्चारणस्थान भी वस्तुतः एक ही रहा है, पर वह स्थान वस्तुतः क्या है, इसमें अनुसन्धाता की दृष्टि के सूक्ष्मताक्रम के अनुसार मतपार्थक्य होगा—एक ही स्थान को लक्ष्यकर कण्ठ, कण्ठमूल या जिह्वामूल शब्द भाषित हो सकता है, जिसमें आचार्यों के दृष्टिप्रकर्ष का तारतम्य है,वस्तुतः विरोध नहीं है।

प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि वर्णरत्नप्रदीपिका में क–वर्ग का करण जिह्वामूल है, यह कहा गया है (२५)। ध्यान देना चाहिए कि इवर्ण–चवर्ग तथा षवर्ण-रवर्ण के स्थान करण (करण के लिये वर्णरत्नप्रदीपिका में कारण शब्द दिया गया है) परस्पर भिन्न हैं, पर क–वर्ग का स्थान और करण एक ही हैं; ऐसा कहा गया है; यह दृष्टि सर्वग्रन्थकारों में एकरूप नहीं है। चूंकि स्थान और करण ये दो शरीरावयवविशेष ही हैं, और ये सब अवयव परस्पर साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से प्रायेण संयुक्त हैं, अतः स्थानकरण-विभाजन-तत्त्व के निर्धारण में दृष्टिभेद के अनुसार स्थान-करण-निर्देश अवश्य ही पृथक्-पृथक् होंगे। इस परिस्थिति में यदि एक वर्ण का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, तो स्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी भिन्न-भिन्न होंगे, यह कहना न्यायतः प्राप्त होता है और यदि एक वर्ण का उच्चारण समान ही है तब स्थान करण-निर्देश[1] विभिन्न प्रकार के होने पर भी वहां तत्त्वतः मतभेद नहीं है, यह स्वीकार्य होगा; वस्तुतः वहां दृष्टिभेदानुसारी प्रक्रिया भेद ही है।

यह रहस्य पूर्वाचार्यों को अनुमत है। देखा जाता है कि तै० प्रा० २।३५ में क-वर्ग का स्थान हनुमूल और करण (जिसके द्वारा स्थान में स्पर्श किया जाता है-तै० प्रा० २।३४) जिह्वामूल कहा गया है, जब कि अन्यत्र जिह्वामूल को स्थान ही माना गया है। पवर्गोच्चारण में उत्तरोष्ठ को स्थान माना जाता है और अधरोष्ठ को करण, जब कि अन्यत्र दोनों ओष्ठों को ही स्थान माना गया है। सामान्य दृष्टि से देखने से इन सब मतों में मतभेद ज्ञात होता है, पर चूंकि उच्चारण में वैलक्षण्य नहीं माना जाता, अतः यही मानना उचित होगा कि स्थान और करण का पृथक्-पृथक् निर्धारण करने की दृष्टियाँ विभिन्न स्तर की होती हैं और परस्पर में पार्थक्य होने पर भी विरोध नहीं होता; हां, दृष्टिभेद के उत्कर्षापकर्ष का विचार किया ही जा सकता है, यद्यपि यह मानना होगा कि स्थूलार्थक शब्दप्रयोग करने वाले आचार्य सूक्ष्म अर्थ को सिद्धान्ततः जानते थे; यदि स्थानादि भेद होने पर उच्चारण में भी विलक्षणता होती हो तो स्थानभेद का कथन वस्तुतः मतभेद ही माना जाएगा। चूंकि आधुनिक भाषाशास्त्री यह नहीं कहते हैं कि कण्ठवादी और जिह्वामूलवादी के अनुसार उच्चारण में भी भेद होता है, अतः कण्ठ और जिह्वामूल, दो पृथक् मतवालों के सम्मत दो उच्चारण स्थान नहीं हैं, एक ही स्थान को लक्ष्यकर ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं—यह निश्चयेन ज्ञातव्य है।

१—करण का स्वरूप भी दृष्टिभेद से भिन्न होता है, यद्यपि इससे उच्चारण में विलक्षणता नहीं आती। किं पुनरास्ये भवम्, स्थानं करणं च—इस भाष्यवाक्य की व्याख्या में कैयट मतभेद दिखाते हैं कि या तो स्पृष्टता-ईषत्स्पृष्टतादि करण हैं या जिह्वा के अग्र-उपाग्र-मध्य-मूलभाग करण हैं (पृ०२१९)। सोचना चाहिए कि कहां स्पृष्टतारूप चेष्टाविशेष और कहां जिह्वा रूप द्रव्यका अंशविशेष, पर पृथक्-पृथक् वर्गीकरण के अनुसार ये दो करण माने जा सकते हैं। ऐसे मतभेदों से उच्चारणभेद नहीं होता, यह ज्ञातव्य है। स्थानकरणादि के उपदेशभेद के अनुसार कहां उच्चारण में भेद होता है और कहां नहीं, इसका विवेक करना आधुनिक भाषाशास्त्री का मुख्य कर्तव्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विंश परिच्छेद

पाणिनीय वैयाकरणों की दृष्टि में अनभिधान की सहेतुकता

संस्कृत भाषा के शब्दशास्त्र में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहां यह कहा जाता है कि 'अमुक शब्द का प्रयोग सामान्यतया सिद्ध होने पर भी नहीं होगा, क्योंकि ऐसे प्रयोग का अभिधान नहीं है' (अनभिधानात्)। ऐसे स्थलों पर स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि अनभिधान का कारण क्या है; इसके उत्तर में प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि शब्द की ऐसी ही शक्ति है कि अमुक शब्द तो निष्पन्न होता है और अमुक शब्द निष्पन्न नहीं होता।

हमारा दृष्टिकोण यह है कि चूंकि यह देववाणी स्वभावतः संस्कार[1] से युक्त है, अतः प्रयोगों के अनभिधानों का भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। इस चिन्ता से प्रणोदित होकर कुछ अनभिधान स्थलों पर यह विचार किया

१—'संस्कार' के विषय में यह स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि यह संस्कृत भाषा का सहजात गुणविशेष है। असंस्कृत भाषाओं में गुणाधान कर संस्कृत भाषा बनाई नहीं गई है, बल्कि तथ्य यही है कि संस्कृत का संस्कार नामक गुण नष्ट होकर ही असंस्कृत भाषाएँ क्रमशः बनी हैं। लोपागमवर्णविकारादि की सुव्यवस्था आदि गुण सहजतः इस भाषा में है, अतः यह संस्कृत है। इस संस्कार नामक गुण का जैसा-जैसा ज्ञान होता जाएगा, वैसा-वैसा संस्कृतभाषा की दिव्यता भी प्रकटित होती जाएगी। उपादान कारण से कार्य स्थूलतर होता है; यदि असंस्कृत भाषाओं का संस्कार कर संस्कृत को व्यवहृत किया गया होता तो यह भाषा अन्य भाषाओं से स्थूल होती (विशेष विचार के लिये 'संस्कृतभाषा का अनुशीलन' ग्रन्थ द्रष्टव्य है)। व्याकरणीय नियमों की उपपत्ति के लिये गुणत्रय का प्रसंग करना भी उपर्युक्त दृष्टि का ज्ञापक है, यथा—एक न्याय है—'सामान्ये नपुंसकम्' तथा 'लिङ्गसम्बन्धी वलाबल में नपुंसक लिङ्ग बलवान् होता है'। यह नियम जड विज्ञानानुसारी है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—व्यापितत्वात् नपुंसकस्य प्राधान्यमाह। स्थितिः नपुंसकम्। सा च सर्वत्र विद्यते इति स्थिति-रूपत्वेनैव स्त्रीपुंसयोरपि विवक्षायां सिद्धो नपुंसक-शब्द-प्रयोगः (प्रदीप १।२।६९)। इस प्रकार के हेतुपरक व्याख्यान से इस दैवी वाक् का अतिशयविशेष सिद्ध होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है कि तत्-तत्-अनभिधानों का मनोवैज्ञानिक या जडवैज्ञानिक (अर्थात् मानसचिन्ताप्रणाली के अनुसार या जडपदार्थ के स्वभाव के अनुसार) हेतु क्या हो सकता है। हमने पूर्वाचार्यों की सम्मति के अनुसार ही यह विचार किया है, जिससे यह ज्ञात हो जाय कि यह मेरी कोई सर्वथा अभिनव खोज नहीं है, बल्कि इस चिन्ता का बीज पूर्वाचार्यों की बुद्धि में भी थी। इस विचार-पद्धति में हमारा कोई आग्रह नहीं है और हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे भी इस विषय पर निर्णय करने के लिये चेष्टा करें। यह एक प्राथमिक विचार है, ऐसा जानना चाहिए।

द्विवंचन और तरप् प्रत्यय—संस्कृत में पौनःपुन्य अर्थ के द्योतन के लिये तिङन्त पद का द्वित्व किया जाता है, जैसे 'पचति पचति' (वह बार-बार पाक कर रहा है), और अतिशय अर्थ के द्योतन के लिये 'तरप्' प्रत्यय का व्यवहार होता है। (जैसे सुन्दर से सुन्दरतर)। वीप्सा में भी द्वित्व होता है जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' अर्थात् सब वृक्षों का सेचन कर रहा है।

पर अतिशय अर्थ के साथ पौनःपुन्य या वीप्सा (जिन दोनों के लिये पद का द्वित्व किया जाता है) की विवक्षा हो तो क्रियापद का जैसा प्रयोग होता है, द्रव्य शब्द का वैसा प्रयोग नहीं होता। जैसे, 'पचति' इस क्रिया के साथ पौनःपुन्य और अतिशय की युगपत् विवक्षा होने पर 'पचति पचतितराम्' ऐसा प्रयोग होगा, अर्थात् क्रियापद का ही द्वित्व होगा, और एक ही बार 'तरप्' प्रत्यय होगा। विपरीत पक्ष में हम देखते हैं कि द्रव्य शब्द में ऐसा प्रयोग नहीं होता, वहां पद का द्वित्व होता है और साथ ही 'तरप्' प्रत्यय भी दो बार प्रयुक्त होता है, 'आढ्यतरः आढ्यतरः' ऐसा प्रयोग होता है— 'आढ्याढ्यतरः' ऐसा नहीं।

क्रियाशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय नहीं होता, और द्रव्यशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय होता है—साधारण दृष्टि से इस का कुछ भी हेतु प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के प्रश्नों को मूढोचित कहा जाता है, क्योंकि 'इस प्रकार का शब्दप्रयोग क्यों होता है'—ऐसा प्रश्न व्यर्थ समझा जाता है, और यदि हेतु के लिये जोर दिया जाता है तो केवल यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसा ही प्रयोग कर्त्तव्य है, इसमें पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता।

पर हमारा सिद्धान्त है कि संसार की अन्य भाषाओं में इस प्रकार की युक्ति भले ही चले संस्कृत में ऐसी हेय युक्ति नहीं चलेगी। जहां भी नियमों का व्यतिक्रम है, वहां वह अवश्यमेव सकारण है। धीर बुद्धि से विचार करने पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पता चलता है कि उपर्युक्त स्थल में भी कुछ न कुछ मानसिक कारण था, जिससे इस प्रकार के विलक्षण प्रयोग होते थे, आकस्मिक रूप से इस प्रकार के व्यवस्थित प्रयोग नहीं हो गए। वह कारण निम्नलिखित प्रकार का है—

क्रियावाची पद में (अर्थात्, यहाँ 'पचति' = पाक करता है) अतिशयार्थक तरप् प्रत्यय के बाद, पौनःपुन्यार्थक द्वित्व का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि मानसिक चिन्ता इसके विपरीत है। किसी का प्रकर्ष (अतिशय) किसी प्रतियोगी की अपेक्षा से ही संभव है, स्वतः नहीं, पर किसी क्रिया का पौनःपुन्य स्वतः होता है, किसी की अपेक्षा से नहीं, अतः क्रिया में पौनःपुन्यभाव अन्तरङ्ग होता है, और बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग स्वाभाविक रूप से ही बलवान् होता है। मानवीय चिन्ता इस तथ्य का अतिक्रमण नहीं कर सकती, अतः क्रिया का पौनःपुन्यबोधक द्वित्व ही पहले होगा, और उसके बाद प्रकर्ष द्योतक तरप् प्रत्यय। अतः 'पचतितराम् पचतितराम्' ऐसा न होकर 'पचति पचतितराम्' ही होगा।

द्रव्यप्रकर्ष के उदाहरण (आढ्यतरः आढ्यतरः) में ऐसी चिन्ता नहीं होती। यहाँ तो जो आढ्य वस्तुतः प्रकर्षयुक्त है, उसकी ही वीप्सा (पूर्णतायुक्त सम्बन्ध) होती है, वीप्सा से युक्त आढ्यों का प्रकर्ष विवक्षित नहीं होता। उपर्युक्त वाक्य (आढ्यतरम् आढ्यतरम् आनय) में प्रकर्षयुक्त आढ्यों का आनयन विवक्षित है, जो आनयन सर्वतोभावेन सम्पूर्ण है। हम प्रकर्षयुक्त प्रत्येक आढ्य से पूर्ण सम्बन्ध जोड़ते हैं—आनयन क्रिया में, न कि आनयन क्रिया की पूर्णता से आढ्य का सम्बन्ध स्थापित कर उस आढ्य का प्रकर्ष कहते हैं। आढ्य का प्रकर्ष उसका अपना है, उसमें जो वीप्सा है, वह आढ्य से पृथक् व्यक्ति की है, अतः आढ्य के प्रकर्ष के लिये पहले तरप् प्रत्यय होकर 'आढ्यतर' शब्द बन जाएगा, और उसके बाद वीप्सा के द्योतन के लिये 'आढ्यतर' शब्द का द्वित्व होगा जैसा कि उदाहरण में दिखाया गया है।

यह एक ही उदाहरण प्रकटित करता है कि संस्कृत की अवयवरचना कितनी वैज्ञानिक है, जिसकी तुलना शायद ही भाषान्तर से की जा सके।

धातु या तिङन्त का द्विर्वचन—द्विर्वचनसम्बन्धी एक अन्य उदाहरण से भी यह तथ्य प्रमाणित होगा, यथा :—

नित्यवीप्सयोः (८।१।४) सूत्र से सुबन्त या तिङन्त पद का द्विर्वचन (नित्यता और वीप्सा अर्थ में) विहित होता है। पाणिनीय व्याकरण का यह नियम है कि यह द्वित्व (द्विर्वचन) तिङन्त धातु का ही होगा; धातुमात्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं होगा, अर्थात् 'पचति पचति'—ऐसा होगा, 'पच् पचति' इस प्रकार नहीं होगा।

यहां यह शंका की जा सकती है कि द्वित्व प्रकरण में पाणिनि ने कण्ठतः पदाधिकार नहीं कहा, अतः नित्यता में विधीयमान द्वित्व धातु को ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि धातु क्रियावाची है और आभीक्ष्ण्य = पौनःपुण्य (यहां नित्यता का यही अर्थ है) क्रिया का धर्म है, अतः धातु का द्वित्व न होकर तिङन्त पद का ही द्वित्व क्यों होता है ?

इसके उत्तर में आधुनिक विद्वान् केवल यही कहेंगे कि यह तो शब्दशक्ति का स्वभाव है (अर्थात् धातुद्वित्व का अभिधान नहीं है) अतः ऐसा नहीं होता। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि द्वित्व का यह अनभिधान न्यायमूलक है—सकारण है। विचारने से पता चलता है कि नित्यता (=आभीक्ष्ण्य) व्यवहारसिद्ध ही होती है, और क्रिया व्यवहारोपयोगिनी तब होती है, जब वह साधन से अवश्य ही अन्वित होती है। यह साधनभाव तिङविभक्ति (जिससे काल आदि से क्रिया का सम्बन्ध होता है) से युक्त होने पर ही होता है, अतः तिङन्त पद का ही द्विर्वचन होता है, केवल धातु का नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तिङन्त धातु का जो लौकिक अर्थ है, चूंकि उस अर्थ में ही द्विर्भाव सम्भव है, अतः शब्द में भी तिङन्त धातु का ही द्वित्व होता है। अतः 'जब तिङन्त पद का द्वित्व होता है. तब केवल क्रियावाची धातु का भी द्वित्व क्यों नहीं होता' इस प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान मिल जाता है और 'धातुद्वित्व का हेतुहीन अनभिधान है' ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

उपसर्गों का क्रम—अष्टाध्यायी ७।१।६८ सूत्र के भाष्य में प्रसंगवश पतञ्जलि ने कहा है कि 'सुप्रलम्भ' प्रयोग होगा, पर 'प्रसुलम्भ' प्रयोग नहीं होगा। (अन्योपसृष्टान् मा भूत् इति—प्रसुलम्भम्; नैषोऽस्ति प्रयोगः। इदं तर्हि सुप्रलम्भम्)। अब विचारने की बात यह है कि यदि सु+प्र+ लभ्+खल् = 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, तो प्र+सु +लभ्+खल्= 'प्रसुलम्भ' प्रयोग क्यों नहीं हो सकता ? प्रथम प्रयोग में पहले 'सु' उपसर्ग है, उसके बाद 'प्र' उपसर्ग और दूसरे प्रयोग में पहले 'प्र' है, और उसके बाद 'सु'। क्या कारण है कि 'सु' उपसर्ग के बाद 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग तो साधु होता है, पर 'प्र' के बाद 'सु' का नहीं ? साधारण रूप से इसका यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसे प्रयोगों का अभिधान नहीं है और व्याकरणशास्त्र भी प्रयुक्त शब्दों का ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्वाख्यान करता है[1], अप्रयुक्त शब्द-सम्बन्धी तर्क शब्दशास्त्र करता ही नहीं है। 'शिष्टों में बोध हो जाना, यही अभिधान का स्वरूप है, अतः किसी अप्रयोगार्ह शब्द का कारण ढूंढ़ना आवश्यक नहीं है।

पर यह भी जानना चाहिए कि शब्द मनोभाव को अभिव्यक्त करता है, और अन्य प्रकार के शब्दों से भाषाशब्द की यही विशिष्टता है कि वह मनोभाव के अनुसार प्रवर्त्तित होता है, (यन्मनसा चिन्तयति तद्वाचा वदति) और मनोभाव के परिवर्त्तन तथा गौण-मुख्यभाव के अनुसार शब्दप्रयोग में भी विचित्रता होती है। अतः यह सिद्ध होता है कि 'प्रसुलम्भम्' प्रयोग के अनभिधान के लिये मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य है। 'प्र' का प्राचीन अर्थ है 'आरम्भ' और 'सु' का अर्थ है 'अतिशय' या 'सौकर्य'। अब धातु और उपसर्ग सम्बन्धी समास का यह नियम है कि पहले धातु और उसके निकटस्थ उपसर्ग का समास होगा और इसके बाद अन्य उपसर्ग से समास होगा अर्थात् पहले 'सु+लभ्' का समास होगा और उसके बाद 'प्र' से 'सु+लभ्' का। पर ऐसा होना बोध की दृष्टि से सम्भव नहीं है। क्योंकि 'सु+लभ्'' का अर्थ है 'अतिशय विशिष्टलाभ' या 'सौकर्यविशिष्ट लाभ' और सातिशय लाभ तभी सम्भव है जब पहले उसका आरम्भ हो चुका हो (जिसका आरम्भ नहीं हुआ, उसका अतिशय या सुकरता कैसे हो सकती है ?)। अतः 'सु+लभ्' होने के बाद 'प्र' की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, सुतरां प्र+सु+लभ् = प्रसुलम्भ प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता।

पर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, क्योंकि 'प्र+लम्भ' का अर्थ होता है; जिस लाभ का आरम्भ हुआ है और आरब्ध पदार्थ के अतिशय के द्योतन के लिये बाद में 'सु' के साथ समास कर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग बनाया जा सकता है। इस प्रकार के अन्य प्रयोगों में भी यही हेतु दिखाई पड़ता है, जैसे 'सुप्रकाश' आदि प्रयोग तो साधु होंगे, पर 'प्रसुकाश' आदि प्रयोग साधु नहीं माने जाते हैं। यदि कहा जाए कि प्र = प्रकर्ष और सु=अतिशय, अतः प्रकर्ष का अतिशय दिखाने के लिये 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, तो यह जानना चाहिए कि व्याकरण अप्रयुक्त शब्दों का निर्माण नहीं करता है[2] और जिसका प्रयोग व्याकरण

१—लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वमसाधुत्वं च विचार्यते (प्रदीप २।१।१); प्रयुक्तानां शब्दानां साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात् (प्रदीप ४।२।१), लोकप्रसिद्धार्थानां शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।३७)।

२—वैयाकरण वस्तुतः विद्यमान शब्दों का स्मर्ता है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्ता सद् विद्यमानं वस्तु निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (प्रदीप १।१।६१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र प्राप्त होने पर भी नहीं होता है, उसका कारण यहां दिखाया जा रहा है। अतः उपसर्ग के अनभीष्ट अर्थों की कल्पना कर किसी असिद्ध शब्द का साधुत्व नहीं दिखाया जा सकता। यदि इस विशिष्ट प्रयोग में 'सु' का अतिशय तथा 'प्र' का प्रकर्ष अर्थ विवक्षित होता, तो वैसा प्रयोग होने की सम्भावना थी, पर (व्याकरणसिद्ध होने पर भी) वैसा प्रयोग न होना ज्ञापित करता है कि मानवीय चिन्ताक्रमकी असमंजसता ही 'प्रसुलम्भ' प्रयोग न बनने का कारण है।

न-घटित समास—अष्टा० ६।३।१ सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि निषेधार्थक से 'नञ्' 'नतराम्' (=पूर्णरूपेण नहीं) शब्द होता है, पर 'परम्+नञ् = परमन ऐसा प्रयोग नहीं होता है, (यद्यपि परम+गति=परमगति आदि प्रयोग होते हैं) । यहां भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नञ्' (प्रतिषेधार्थक) से तर-प्रत्यय तो हो जाता है, पर उसी के प्रायः समान अर्थ में परम+न= परमन का प्रयोग क्यों नहीं होता ?

वस्तुतः इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है। यथा—केवल 'नतराम्' का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि प्रतिषेध्य के विना प्रतिषेध का प्रयोग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम 'नतराम् गमनम्' रूप एक वाक्य की कल्पना कर रहे हैं। गमन-प्रतिषेध की आत्यन्तिकता का प्रतिपादन करना इस प्रयोग का लक्ष्य है। प्रतिषेध से प्रतिषेध्य का ज्ञान होने पर, जिस आत्यन्तिकता रूप प्रकर्ष के लिये (चाहे वह आरोपित हो या अनारोपित) 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है, उस निषेधप्रकर्ष की प्रतीति परम्परा-संबन्ध से गमन में होती है, जिससे शाब्दबोध में गमन की अप्रयुक्ततरता का ज्ञान होता है, जिसको हम ('नतराम्' शब्द के अर्थबोध के विषय में) संस्कृत में यों कह सकते हैं—'यतः निषेधप्रकर्षवद् गमनम्, अतः अयुक्ततरं गमनम्' इति। पक्षान्तर में यदि 'परम+न='परमन' गमनम् के प्रयोग की कथञ्चित् कल्पना भी की जाए, तो वह चिन्ताप्रणाली की दृष्टि से सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि तब 'परमत्वविशिष्ट निषेधयुक्त गमन' ऐसा शाब्दबोध होगा, और उससे गमन की अयुक्ततरता का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि गमन में प्रकर्ष की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। परम्परा-सम्बन्ध की कल्पना करना निष्प्रयोजन तथा अनुचित होगा (प्रयोगाभाव के कारण), और यही मानसिक कारण है कि 'परम-न' ऐसा प्रयोग नहीं होता। 'परम-न' का प्रयोग क्यों होगा, इसका अन्य उत्तर भी हो सकता है। 'परम' शब्द का प्राचीन अर्थ है, उत्कृष्ट, अभ्यर्हित—'जैसे परमे व्योमन्, परमात्मा, परमपुरुष, परमगति' आदि प्राचीन प्रयोगों में दिखाई पड़ता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'परमपाप' 'परमतिरस्कार' आदि का प्रयोग न होना भी उक्त सिद्धान्त का ज्ञापक है। अब सोचना चाहिए कि 'परम' का यह अर्थ (उत्कृष्ट= अभ्यर्हित) प्रतिषेधार्थक 'नञ्' के साथ कैसे अन्वित हो सकता है? क्योंकि प्रतिषेध में अभ्यर्हितता नही घट सकती। सुतरां परमेश्वर पद सिद्ध होने पर भी परम-न प्रयोग अनुपपन्न ही रहेगा।

उपसर्ग-धातु-सम्बन्ध—धातु (क्रियावाची), उपसर्ग (क्रिया का विशेषक) तथा साधन (कर्तृत्व, कर्मत्व, संख्याबोधक प्रत्यय) का जो सम्बन्ध संस्कृत व्याकरण में दिखाया गया है, वह भी प्रमाणित करता है कि क्रिया का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति के प्रकार के विषय में संस्कृतभाषी प्राचीन भारतीय असाधारण ज्ञान रखते थे। मन में चिन्ता का जैसा क्रम उठता था, तदनुसार प्रयोग किया जाता था, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा या साधन (जिससे संख्या, काल आदि का बोध होता है, और जिससे क्रिया की निष्पत्ति होती है) से होगा, यह संस्कृत व्याकरण का एक विचार्य विषय है। इस विषय में सूक्ष्मदर्शी पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का योग उपसर्ग से होगा, और उसके बाद उपसर्गयुक्त धातु का योग साधन से होगा।[1]

हम समझते हैं कि क्रिया का स्वभाव, प्रकार और क्रिया-निष्पत्तिरूप व्यापार में जो व्यावहारिक क्रम है, उनके अनुसार ही यह सिद्धान्त भाषित हुआ है, न कि प्रयोगों की सिद्धि के लिये अपनी इच्छा से इस मत को माना गया है, अर्थात् लोक में क्रिया-सिद्धि का जो वैज्ञानिक रहस्य है, वह इस सिद्धान्त से जाना जा सकता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

क्रिया में विशिष्टत्व लाना उपसर्ग का कार्य है, और सामान्य या विशेष किसी प्रकार की क्रिया की सिद्धि करना साधन का कार्य है। हम लौकिक भूयो-दर्शन से जानते हैं कि किसी अवान्तर व्यापारयुक्ता क्रिया की पूर्णता यदि हो गई तो पुनः उसमें विशिष्टता लाई नहीं जा सकती, क्योंकि सिद्धि के बाद क्रिया समाप्त हो जाती है। क्रिया की पूर्णता यदि साधन से एक बार हो गई, तो वह अन्य किसी भी विशेषण के लिये अपेक्षा नहीं करेगी, अतः साधन के साथ क्रिया के योग के बाद, विशेषण के साथ उसका योग लोक में न होने के

१—सुट्कात् पूर्वः (६।१।१३५) सूत्र का भाष्य आलोच्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण, शास्त्र में भी उपसर्ग का योग अनुशिष्ट नहीं सकता। अतः व्याकरण का नियम यह है कि पहले साधन के साथ धातु का योग नहीं हो सकता।

पर पहले उपसर्ग के साथ धातु के योग के बाद साधनके साथ योग होने में किसी भी प्रकारसे लौकिक व्यवहार में बाधा नहीं होती, क्योंकि क्रिया, जो विशिष्ट स्वभाववती होती है, साधन से नहीं होती प्रत्युत वह क्रिया की अपनी प्रवृत्ति है, जैसे गमन साधन-बल से आगमन नहीं होता, हरण साधन-बल से संहरण नहीं होता, बल्कि वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है। अतः लौकिक दृष्टान्त के अनुसार यह माना जा सकता है कि क्रिया की विशिष्टता एक स्वतन्त्र क्रिया है और वह क्रिया अपनी पूर्णता के लिये बाद में अपने साधन के साथ युक्त हो सकती है। शब्दशास्त्र की दृष्टि से धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा, और उसके बाद साधन (प्रत्यय) से; तात्पर्य यह कि विशिष्ट क्रिया की निष्पत्ति साधन से होती है, पर किसी भी लब्धस्वरूप क्रिया का विशेष अन्य के योग से नहीं हो सकता क्योंकि साधनसे स्वरूपलब्ध होनेके बाद किसी में विशिष्टता का अनुप्रवेश नहीं हो सकता (स्वरूप का नाश किये विना), पर स्वरूप की पूर्णता होने के पहले किसी वस्तु में असाधारण वैशिष्ट्य लाया जा सकता हैं, जैसे घट बन जानेके बाद उसके स्वरूप में वैशिष्ट्य नहीं लाया जा सकता, पर घट बनने से पहले उसकी आकृतिमें असाधारण परिवर्त्तन किया जा सकता है। यह इस विषय का लौकिक दृष्टान्त है। सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने भी इस मत की प्रतिध्वनि की है कि जो वस्तुतः नील है उसको सहस्र शिल्पी मिल पर भी पीत नहीं बना सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चूँकि दृश्य व्यापार में, क्रिया में, विशिष्टता उसकी निष्पत्ति से पहले ही की जा सकती है, निष्पन्न होने के बाद नहीं, अतः व्याकरण में भी धातु पहले उपसर्ग से सम्बन्धित होती है, तब प्रत्ययों से। शङ्का हो सकती है कि तब दूसरे मत की उत्पत्ति ही क्यों हुई (क्योंकि वास्तव दृष्टि से तो वह असम्भव है)? उत्तर यह है कि क्रिया नियमतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्रिया से सम्पृक्त साधन ही ग्राह्य होता है, अतः चूँकि क्रियाज्ञान साधन-सापेक्ष है, इसलिये ज्ञान ही सत्ता (Knowing is being) है। इस न्याय से व्यवहार-दृष्टि से पहले साधन के साथ क्रिया का योग होता है, ऐसा कहा जा सकता है। यह मत एक स्तर तक सत्य होता हुआ भी सार्वभौम नहीं है, अतः भाष्यकार ने इस मत को 'सारहीन' कहा है, मिथ्या नहीं कहा ('नैतत् सारम्—भाष्य ६।१।१३५), क्योंकि क्रियातत्व की दृष्टि से क्रिया और साधन पृथक् पदार्थ हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया के साथ उपसर्ग का प्राथमिक सम्बन्ध एक व्याकरणीय नियममात्र नहीं है, अपितु यह नियम प्राकृत व्यापारानुसारी है।

क्रियापद में लिङ्गाभाव—संस्कृत भाषा का नियम है कि क्रियापद (तिङन्त) के साथ लिङ्ग का योग नहीं होता, पर नाम के साथ होता है। इसका कारण क्या है, इसके लिये एक साधारण उत्तर यह दिया जाता है कि यह 'शब्द-शक्ति-स्वभाव' है अतः इसका कोई हेतु देना सम्भव नहीं है। पर हम समझते हैं कि क्रिया (साध्य) और लिङ्ग का स्वरूप यदि यथार्थतः ज्ञात हो जाए, तो इस निषेध का भी समाधान हो सकेगा।

संस्कृत व्याकरण का सिद्धान्त है कि लिङ्ग सत्त्वधर्म है और क्रिया असत्त्व रूपा होती है, (असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते[1]—वाक्यप्रदीय (२।१९७) अतः दोनों का एकान्त सन्निवेश होना असंभव है। यह निष्कर्ष स्थूलदृष्टि के मानवों को असमीचीन मालूम पड़ सकता है, पर यदि कोई लिङ्ग को सत्त्व-धर्म की तरह अनुभव करे (जैसा कि संस्कृतभाषी एक दिन करते थे) तो उसके लिये लिङ्ग के अनुसार क्रियापद में भेद करना अचिन्तनीय ही होना। वस्तुतः आज लिङ्ग की सत्त्वधर्मता तथा क्रिया की असत्त्वरूपता को प्रयोग काल में कोई भी व्यक्ति नहीं सोचता, अतः वह तिङन्त क्रियापद में सत्त्वधर्म-द्योतक लिङ्ग का योग करने में दोष नहीं समझता। सहस्रों वर्षों के व्यवधान से चिन्ताप्रणाली में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, यह मानना ही पड़ेगा। लिङ्ग के प्रकृतस्वरूप की विवेचना अन्यत्र की जाएगी।[2]

सन्-णिच्-संबन्ध—पाणिनीय धातुपाठ की वृत्ति में आचार्य क्षीर-स्वामी ने कहा है कि 'णिजन्त' धातु के बाद 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग हो सकता

१—यथा पाक एव उभयत्र नामपदस्याख्यातस्य च वाच्यः शब्दशक्ति-स्वाभाव्यात् तथा पचतीत्याख्यातेन असत्त्वभूतोऽसावभिधीयते, पाक इत्यत्र नामपदेन परिनिष्ठितस्वभावः सिद्ध इति (पुण्यराजटीका)।

२—हम समझते हैं कि व्याकरणीय पदार्थों का स्वरूप जैसा जैसा अनुभव-गोचर होता जाएगा, वैसा वैसा ईदृश नियमों की सार्थकता प्रतीत होती जाएगी। विशेष्य के लिङ्ग और वचन विशेषण में भी होंगे—इस नियम के पीछे भी कोई युक्तिप्रणाली है' जो विशेष्य-विशेषण-स्वरूप को तात्का-लिक मनुष्यों के अनुसार यथावत् जानने पर विज्ञात हो सकेगी। वैयाकरण यदि इस ओर ध्यान दें, तो गुहाहित एक सत्य का प्रकटीकरण हो जाएगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, पर 'सन्नन्त' धातु के बाद 'णिच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा प्रयोग निष्प्रयोजन है—'स्यात् शुद्धा प्रकृतिः ण्यन्ता सन्नन्ता णिचि सन् परा। यङन्ता यङ्लुगन्ता च नातोऽन्या निष्प्रयोजना' (क्षीर तरङ्गिणी, भू धातु)। क्षीरस्वामी ने ऐसे अनुशासन के लिये किसी प्रकार की युक्ति नहीं दी, किन्तु चिन्ता करने पर ऐसे अनुशासनों के लिये भी मनोवैज्ञानिक[1] कारण का पता चलता है।

जब किसी क्रिया के लिये अपनी इच्छा होती है, 'तब 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग होता है (द्र० पाणिनि का सूत्र–धातोः समानकर्तृकादिच्छायां वा'—३।१।७), जब कोई किसी को किसी कर्म में प्रेरणा देता है, तब 'णिच्' प्रत्यय होता है (हेतुमति च, ३।१।२६)। जब स्वतः इच्छा होती है, तब किसी को प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं होती, अतः 'सन्' प्रत्यय (आत्मेच्छा का द्योतक) के बाद 'णिच् प्रत्यय' (पर से प्रेरणा का द्योतक) निष्प्रयोजन हो जाता है। पर णिच् प्रत्यय के बाद सन् प्रत्यय सार्थक होता है, क्योंकि किसी से प्रेरणा पाने के बाद उस क्रिया में अपनी इच्छा भी हो सकती है। अतः मानसिक असमंजता के कारण ही सन् प्रत्यय के बाद णिच् प्रत्यय नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। यदि कहीं सन् प्रत्यय के बाद णिच् का प्रयोग मिल

१—संस्कृत व्याकरण में जब यह कहा जाता है कि अमुक प्रयोग का अभिधान नहीं है, तब कोई न कोई लौकिक कारण दिखाने के लिये व्याख्याकार कहीं कहीं चेष्टा करते हैं। इन कारणों से भी निबन्धस्थ दृष्टि की पुष्टि होती है, यथा–वार्त्तिककार ने कहा है–अकर्मणो हि असमानकर्तृकाद् वाऽनभिधानात्' (३।२।७)। यहां अनभिधान क्यों है, लौकिक अभिधान (=अर्थबोध होना) में बाधा क्या है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। यदि धीर बुद्धि से आलोचना की जाए तो पता चलेगा कि इस अनभिधान में भी एक मानसिक व्यापार ही कारण है। प्रदीपकार ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रदर्शित किया है। यथा—'इच्छायाः कर्मणा अवश्यं भाव्यमिति प्रत्यासत्त्या प्रकृत्यर्थ एव कर्मत्वेनाश्रयिष्यन्ते नतु तद्व्यतिरिक्तमिति गमनेनेच्छतीति सन् न भवति। प्रत्यासत्त्यैव समानकर्तृत्वमाश्रयिष्यते इति देवदत्तस्य भोजनमिच्छतीति अत्रापि न भविष्यति इत्येतन् न्यायमूलमनभिधानाम्'। अभिधान के लिये मानवीय चिन्ता कारण है और चिन्ता में विरोध होने से प्रयोग नहीं होगा, यह स्पष्टतः यहां दिखाया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाए (और वह प्रामाणिक प्रयोग हो) तो यह जानना होगा कि वहाँ णिच् प्रत्यय अप्रवृत्त को प्रयुक्त करने के लिये नहीं, प्रत्युत प्रवृत्त का विराम न हो, इसलिये प्रयुक्त हुआ है। सुतरां ऐसा प्रयोग मिलने पर पूर्वोक्त सिद्धान्त का बाध नहीं होगा।

भाववाच्य में पुरुष-वचनप्रयोगाभाव—भाववाच्य में उत्तम-मध्यम-पुरुष का प्रयोग क्यों नहीं होता, इसके लिये एक गम्भीर युक्ति का प्रयोग हेलाराज ने किया है, यथा—तदेवं श्रुतिविशेषेण शब्दविशेषेणोपलक्षितौ मध्यमोत्तमौ यथायोगं स्वार्थमाचक्षाते, अतः कर्तृकर्मविशेषणभूतः पुरुष इति पूर्वाचार्याः प्राहुः, अतएव कर्तृकर्मविशेषणत्वात् पुरुषस्य भावविषयता नास्तीति तत्र लकारे मध्यमोत्तमयोरप्रयोगः प्रथम एव शेषत्वात् तत्र प्रयुज्यते' (वाक्यपदीय ३ । १० । १)। हेलाराज का यह विचार व्याकरण की पारिभाषिक प्रक्रिया के आधार पर है, जो साधारण पाठकों के लिये दुर्बोध है, इसलिये यहां इस युक्ति की व्याख्या नहीं की जा रही है। हमें केवल इतना ही कहना है कि भाववाच्य में संस्कृत में केवल प्रथम पुरुष का प्रयोग क्यों होता है (उत्तम-मध्यम-पुरुष का क्यों नहीं होता), इसका उत्तर है; यह नहीं कि यह निषेध अहेतुक मान लिया जाय। क्या अन्य भाषा में भी ऐसे निषेधों का युक्तियुक्त कारण दिखाया जा सकता है ?

भाववाच्यसम्बन्धी अन्य नियम भी सहेतुक हैं। एक नियम यह है कि भाववाच्य में द्विवचन तथा बहुवचन नहीं होते हैं, केवल एकवचन का प्रयोग होता हैं; यह निषेध क्यों है—इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि अन्य वचन का अभिधान नहीं है।

मैं समझता हूं कि इस अनभिधान का भी कुछ हेतु है, जिसकी आलोचना यहां की जा रही है।

भाववाच्य में एकवचन ही क्यों होगा और द्वि-बहुवचन क्यों नहीं होंगे, इसकी युक्ति अत्यन्त संक्षेप में भट्टोजिदीक्षित ने दी है, यथा—तिङ्वाच्यभावनाया असत्त्वरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्तु एकवचनमेव, तस्य औत्सर्गिकत्वेन संख्यानपेक्षत्वात् (सि० कौ०)। युक्ति का सरलार्थ यह है कि तिङ् प्रत्यय से जिस क्रिया (=भावना) का बोध होता है, वह असत्त्वरूप है, उस रूप में द्वित्व-बहुत्व की विवक्षा नहीं हो सकती। शंका होगी कि तब उसमें एकवचन का ही प्रयोग क्यों होता है ? उत्तर में वक्तव्य है कि क्रिया (चाहे वह किसी प्रकार की ही क्यों न हो) एक भावपदार्थ है, और किसी भी भाव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ के ज्ञान में संख्या का बोध मानव बुद्धि में अवश्य उत्पन्न होता है; यदि द्वित्व और बहुत्व का बोध प्रमाणान्तर से बाधित हो जाए, तो एकत्व का बोध होगा ही, क्योंकि एकत्वबोध का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह निषेध भी सहेतुक है, केवल 'शब्दशक्ति का यह स्वभाव है' ऐसा मानकर चलने की आवश्यकता नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकविंश परिच्छेद

छात्री शब्द का साधुत्व

छात्र के स्त्रीलिङ्ग (अध्येत्री स्त्री अर्थ में) में 'छात्रा' होगा या 'छात्री' यह विचारित हो रहा है।[1] दोनों पक्षों के मानने वाले अपने-अपने पक्षों की पुष्टि के लिये प्रचुर तर्क-युक्ति का व्यवहार करते हैं, पर कोई भी पुराण-इतिहास-स्मृति तथा उनकी प्राचीन टीकाओं से 'छात्री' या 'छात्रा' का प्रयोग उद्धृत नहीं करते—यह खेद का विषय है। व्याकरणानुसार यथार्थ शब्द 'छात्त्र' है (छद्+त्र) पर यहां एकतकारयुक्त प्रयोग ही किया जा रहा है।

जब प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में 'छात्र' का प्रचुर प्रयोग है, तब अध्ययन-कारिणी के लिये उसके स्त्रीलिङ्ग रूप की सत्ता प्राचीन ग्रन्थों में होनी चाहिए। हम 'लक्ष्यमूलत्वाद् व्याकरणस्मृतेः' 'लक्ष्यमूलं हि व्याकरणम्' मत को मानते हैं, अतः विवादास्पद स्थलों में पहले प्रामाणिक प्रयोग का अन्वेषण करना चाहिए, क्योंकि उसी मार्ग में एकतरपक्षनिर्धारणात्मक समाधान है, अन्यथा केवल सूत्रविचार से विवादास्पद स्थलों में किसी भी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता।

'छात्र' के स्त्रीलिङ्ग रूप का प्रयोग ढूँढ़ने के लिये प्रचुर परिश्रम किया गया, पर प्राचीन स्मृत्यादि ग्रन्थों में 'छात्री' 'छात्रा' में कोई एक भी रूप नहीं मिलता। किसी रूप का न मिलना विस्मयजनक है; क्योंकि इस देश में अध्ययनकारिणी स्त्रियों की कमी नहीं थी। चूंकि प्रयोग के बल पर निर्णय नहीं किया जा सकता, इसलिये पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों के विचारों का आधार लेकर विचार किया जा रहा है। यह विचार तभी सुप्रतिष्ठित होगा, जब प्रयोग मिल जाएगा।

'छत्रादिभ्यो णः' (४।४।६२) सूत्र से 'छात्र' बनता है (छत्र = गुरु के दोषों का आवरण करना, यह जिसका शील = स्वभाव है, वह 'छात्र' है—ऐसा कहा जाता है)। यहाँ छत्र शब्द से ण प्रत्यय हुआ है। पाणिनीय तन्त्र में एक परिभाषा है—'ताच्छीलिके णे अणकृतानि भवन्ति' अर्थात् अण् प्रत्यय

१—पुंयोग आदि अन्य अर्थों में छात्री शब्द बन सकता हैं या नहीं, यह विचार यहां अप्रासङ्गिक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से जो कार्य होता, वही कार्य ण-प्रत्यय में भी होगा। ण और अण् में स्वरादि में कुछ भी भेद नहीं होता, केवल स्त्रीप्रत्यय में भेद होता है, जैसा कि 'अणि ङीब्भयात् ण उक्तः' वाक्य से जाना जाता है (प्रक्रिया-सर्वस्व ४।२।५७)। अतः यहाँ ण-प्रत्यय होने पर भी अण् प्रत्ययानुसार कार्य (अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय) होकर 'छात्री' शब्द ही होगा, 'छात्रा' नहीं (अर्थात् टाप् प्रत्यय नहीं होगा)।

परिभाषा की स्वारसिक प्रवृत्ति के कारण यही मानना युक्त है कि 'छात्री' रूप ही साधु है। इसके विरोध में जो कुछ कहा जा सकता है, उसका उत्तर दिया जा रहा है—

(१) 'ताच्छीलिके णे अणकृतानि भवन्ति' यह ज्ञापक सिद्ध वचन है; ऐसा वचन अनित्य होता है—'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र', अतः 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा का बाध होकर 'छात्रा' ही क्यों न हो? उत्तर—यदि 'छात्रा' प्रयोग किसी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ में मिल जाए, तभी 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' के बल पर। 'छात्रा' प्रयोग की कल्पना कर उसकी सिद्धि के लिये 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा की प्रवृत्ति को रोकने का शास्त्रसङ्गत अधिकार किसी को नहीं है। सिद्ध प्रयोगों की सिद्धि के लिये ज्ञापकसिद्ध परिभाषा होती है, और असिद्ध प्रयोगों की सिद्धि के प्रसंग आने पर 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' माना जाता है, अतः जबतक 'छात्रा' प्रयोग प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिल जाए, तबतक 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा के अनुसार 'छात्री' प्रयोग मानने के लिये विद्वान् शास्त्रतः बाध्य हैं।

(२) प्रश्न होगा कि यद्यपि हम 'छात्रा' यह प्रयोग न दिखा सकें, पर पतञ्जलि ने 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा के उदाहरण में चूँकि 'चौरी' 'तापसी'—ये दो उदाहरण ही दिए हैं, अतः हम अनुमान करते हैं कि उनकी दृष्टि में 'छात्री' अशुद्ध है, नहीं तो वे अवश्य 'छात्री' का (प्रथमोपात्त होने के कारण) उल्लेख करते।

यह युक्ति सङ्गत नहीं जान पड़ती। भाष्यकार ने सर्वत्र सूत्र-गणपाठस्थ शब्दों के क्रम के अनुसार उदाहरण नहीं दिया, यह निश्चित रूप से जाना जाता है। उदाहरणार्थ, 'रसादि' (५।२।९५) गणस्थ शब्दों में अन्य मत्वर्थीय प्रत्यय होते हैं, इसके उदाहरण में पतञ्जलि ने रस, रूप और स्पर्श शब्द को लिया है, यद्यपि इन शब्दों के मध्य में पठित वर्ण, गन्ध को छोड़ दिया है। क्या इनमें अन्य मत्व-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्थीय प्रत्यय नहीं होते। किञ्च उदाहरणाभाव से ही यदि 'छात्री' शब्द को अशुद्ध माना जाए तो क्या यह युक्ति-प्रणाली अन्य सूत्र-भाष्यों पर भी चरितार्थ होगी? उदाहरण से अनेक स्थलों पर सूत्रीय शब्द का अर्थनिरूपण, एवं सूत्र-प्रवृत्ति का निर्धारण आदि प्राचीन आचार्य अवश्य करते हैं (यद्यपि यह भी मानना पड़ता है—'न चोदाहरणमादरणीयम्'—शब्देन्दु० द्विरुक्त प्रक०पृ०४१५), पर उदाहरणाभाव से कुछ निर्णय करना (जिसके लिये अन्य स्वल्प प्रमाण भी नहीं है) साहसमात्र जान पड़ता है। उदाहरणाभाव से कुछ निर्णय करना कहाँ तक उचित है, इस पर शब्देन्दु-टीकाकार का मत दिया जा रहा है— 'अस्मिन्प्रकरणे एकभिक्षी इति भाष्ये नाभिहितम् इत्यनभिधानं कैयटेनोक्तम्। परन्तु प्रयोगाप्रदर्शनमात्रेण अनभिधानं न युक्तमित्यनभिधाने मानान्तरमन्वेषणीयम्' (चन्द्रकला, पृ० २६ तत्पुरुषप्रकरण)।

(३) सूत्रीय विभक्ति, वचन आदि पर निर्भर करते हुए भी निश्चित परिणाम निकालनेके समय उसके समर्थक अन्य प्रमाण उपस्थित करना चाहिए(द्रं०शब्देन्दु० भाग २, पृ० ५८ में 'नासत्याः' शब्द पर विचार)। जबतक प्रयोग न दिखाया जाय, तबतक विवादास्पद स्थलों में केवल शब्दशास्त्रीय नियमाश्रित विचार अप्रतिष्ठित होगा। ५।१।९० सूत्र में 'षष्टिकाः' यह बहुवचनान्त शब्द पढ़ा गया है, जिससे इस शब्द की नित्यबहुवचनान्तता का अनुमान किया जा सकता है। कैयट ने कहा है कि लोक में एकवचनान्त प्रयोग भी है, पर नागेश कहते हैं कि बहुदर्शियों को इस पर ध्यान देना चाहिए (द्र० प्रदीप-उद्द्योत)। इसी दृष्टि से हम कहते हैं कि 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा की प्रवृत्ति को हम तभी बाधित समझ सकते हैं, जब 'छात्रा' प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिल जाए।

(४) विपरीत पक्ष में यह कहा जा सकता है कि प्रक्रियासर्वस्व-कार नारायणभट्ट ने (जो नागेशादि से प्राचीन हैं) 'ताच्छीलिके णे' के उदाहरण में 'छात्री' उदाहरण दिया है (तद्धित खण्ड, पृ० ११४)। यदि वे यह समझते कि पतञ्जलि को 'छात्री' शब्द अमान्य है, तो क्या वे ऐसा करते? इससे यह सिद्ध होता है कि एक प्राचीन शाब्दिक 'छात्री' शब्द को ही मान्य समझते हैं।

(५) कैयट ने जो कुछ कहा है, उससे भी सिद्ध होता है कि वे भी 'छात्री' रूप को साधु समझते थे। पर कैयटादि प्राचीनों के वाक्य से ऐसा जान पड़ता है कि वे इस ण प्रत्यय के सभी गणस्थ शब्दों में अण् कार्य ही मानते हैं, अन्यथा वे 'अण् ही करना चाहिए'—ऐसा कभी न कहते; सुतरां सङ्गततर 'अण्' के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर 'ण' कह कर सूत्रकार ने यह भी ज्ञापित किया है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय व्याकरण से लिया गया है।

हमारा यह निर्णय प्रयोग-दर्शन पर निर्भर है। छत्रादिगणस्थ ण-प्रत्ययान्त किसी भी शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप यदि आकारान्त हो तो हम कथंश्चित् 'ण' का सार्थक्य मानकर 'छात्रा' प्रयोग को साधु मान सकते हैं और प्रयोग मिलने पर नारायण भट्ट की बात को भी असंगत कह सकते हैं। पर हमें खेद है कि आज तक हमें न 'छात्री' रूप मिला और न 'छात्रा' रूप ही मिला।

(६) अब प्रश्न यह है कि यदि छत्रादि गण के सभी शब्दों में अण् कार्य (ङीप्) ही इष्ट है, तो 'छत्रादिभ्योऽण्' ही क्यों न कह दिया गया ? 'ण' का कुछ फल तो होना चाहिए, सुतरां 'छात्रा' रूप (जो ण का फल है) क्यों नहीं सङ्गत होगा ?

प्रश्न उचित है, और शायद प्रतिवादी की यह सर्व बलिष्ठ युक्ति भी है। इस पर मेरा निर्णय यह है कि 'छत्रादिभ्यो णः' पाणिनि का स्वरचित सूत्र नहीं है, पाणिनि ने किसी प्राचीन व्याकरण से अविकल रूप से इसे ले लिया है। पाणिनि के कुछ सूत्र ऐसे हैं, जिनमें सूत्रोपात्त शब्दों की सार्थकता नहीं होती या अन्य सूत्रों के लिये वे शब्द उपयुक्त होते हैं (जैसा कि सभी वैयाकरण जानते ही हैं)। अपने द्वारा नूतन रचित सूत्रों में यह बात संभव नहीं होता, पर अन्य व्याकरण से ले लेने के कारण (जहां वह शब्द उस व्याकरण की प्रकृति के अनुसार सार्थक था) पाणिनि-तन्त्र में सूत्रगत शब्द निरर्थक हो जाता है (पाणिनि की रचना के प्रातिस्विक वैशिष्ट्य के कारण)। इस निर्णय के विषय में यह भी जानना चाहिए कि यदि छत्रादिगणीय ण-प्रययान्त सभी शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में ङीप् ही दृष्ट हो, तभी यह निर्णय सङ्गत होगा, अन्यथा अण् न कहकर 'ण' कहने के कारण प्रयोगानुसार टाबन्त प्रयोग भी होगा (जिससे 'छात्रा' बनेगा) ऐसा कहना सुसंगत ही होगा।

(७) यदि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' के बल पर 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा को अनित्य मानकर 'छात्रा' रूप की सिद्धि की जाए (यद्यपि शास्त्रतः ऐसा नहीं किया जा सकता), तो यह प्रश्न होगा कि छत्रादिगण में पठित अन्य शब्दों पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा, या केवल 'छात्र' शब्द पर ही ? चौरी और तापसी रूप में किसी को सन्देह नहीं है। अन्य शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में कौन-सा रूप प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, यह देखना चाहिए। यदि अन्यान्य शब्दों में भी ङीप् ही मिले, तो 'छात्र' में भी ङीप् होने की सम्भावना दृढतर होगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) यह ध्यान देने की बात है कि शब्दकौस्तुभ, न्यास, पदमञ्जरी, काशिका, भाषावृत्ति, प्रक्रियाकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व आदि ग्रन्थों में (जो नागेशादि से प्राचीन हैं) कहीं भी 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा को अनित्य नहीं कहा गया। अतः जबतक 'छात्रा' का प्राचीन प्रयोग न मिल जाए, तबतक इस परिभाषा को अनित्य मानकर, 'छात्रा' प्रयोग बनाना अशास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करना होगा।

(९) 'छात्रा' रूप का उल्लेख अत्यन्त नवीन टीकाकारों ने किया है। अनुमित होता है कि इनकी व्यवहार्य भाषा (लोकभाषा) में 'छात्रा' का प्रचुर प्रयोग होता था। अतएव, भ्रमवश वे समझते थे कि संस्कृत में भी यही प्रयोग साधु है। अर्वाचीन काल में इस प्रकार के अनेक भ्रम हुए हैं और आज तो ऐसे भ्रम सुप्रतिष्ठित होते जा रहे हैं (उदाहरण देना अनावश्यक है)। नवीन वैयाकरणों की दृष्टि शब्द-सिद्धि-प्रक्रिया में बद्धादर थी, लक्ष्य शब्दों पर उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत कम थी, यह कोई भी व्यक्ति व्याकरणवाङ्मय का पूर्ण अवगाहन कर जान सकता है।

(१०) 'छात्र' का स्त्रीलिङ्गरूप छात्र की तरह सुप्रचलित अवश्य रहा होगा, (चिरकाल से स्त्रियों का अध्ययन इस देश में प्रचलित होने के कारण), पर स्मृतिपुराणादि के किसी भी प्राचीनग्रन्थ में यदि छात्रा या छात्री का प्रयोग न मिले तो 'इन शब्द का अनभिधान है' ऐसा भी सोचा जा सकता है। पर यह निर्णय जिस बात का सापेक्ष है, उसको हम पहले ही कह चुके हैं।

(११) यदि 'छात्री' शब्द ही संस्कृत में साधु है, तो 'छात्रा' का प्रयोग हिन्दी में क्यों प्रचलित हुआ, ऐसा प्रश्न हो सकता है? यहां 'सादृश्य (भाषा विज्ञान के शब्द में Analogy) कारण प्रतीत होता है, यथा—छात्र और शिष्य पर्यायवाची हैं, और चूँकि शिष्य से शिष्या बनता है अतः छात्र से छात्रा बनेगा—ऐसा भ्रम हो गया है। 'छात्रा' के संस्कार के कारण आधुनिक वैयाकरणों ने उसको ही साधु माना है, इसमें संशय नहीं होना चाहिए। अर्वाचीन वैयाकरणों में शब्दसाधुत्वसम्बन्धी अल्पज्ञान विद्यमान हैं, संस्कृतभाषा के प्राचीन ग्रन्थों का स्वल्पाध्ययन ही इसका कारण है। अर्वाचीन वैयाकरणों में प्रक्रियाज्ञान का पाटव है (जो व्याकरण का बाह्य अंश है), पर वे अतिप्राचीन आचार्यों के व्याकरण ज्ञान से अपरिचित थे (क्योंकि उनके ग्रन्थों में प्राचीनतम शाब्दिकों के वाक्यों के उद्धरण अत्यल्प हैं)। तथा वे शब्द स्वरूपों के नानाविध वैचित्र्य से भी परिचित नहीं थे, यह हम प्रमाणित कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं, अतः 'छात्रा' के साधुत्व के विषय में उनका निर्णय कोई महत्त्व नहीं रखता।

इस प्रसंग में अन्य गूढ़ तथ्यों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। पतञ्जलि ने 'छात्र' की जो व्युत्पत्ति दी है,[1] क्या वह सांशयिक नहीं है? गुरु के दोष का आवरण = छत्र—यह छत्र शब्द का मूलार्थ नहीं है—यह सादृश्याश्रित अर्थ है। क्या छत्र का मूल अर्थ लेकर छात्र शब्द को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता, जिससे गौणार्थ का आश्रय न करना पड़े?

हम यहाँ एक सुझाव उपस्थित करते हैं। ऐसा सोचा जा सकता है कि अध्येता ब्रह्मचारी (उस काल में) गुरुकुलवास के समय छत्र का वर्जन करता था[2] (और अध्ययन समाप्ति के अनन्तर स्नातक बनने के समय छत्र का धारण करता था), अतः छत्र का वर्जन करना अध्येता का एक बाह्य परिचय था, जिससे 'छत्रवर्जक' इस अर्थ में 'छात्र' शब्द बनता था। 'वर्जन' अर्थ में तद्धित वृत्ति होती है, जैसे—'व्रत का वर्जनकारी' अर्थ में 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग (व्रतं परिहरति व्रात्यः)। अध्येता छत्रातिरिक्त अन्य पदार्थों का भी वर्जन करता था, उनके अनुसार नाम क्यों नहीं पड़ा—यह पर्यनुयोग व्यर्थ है, घट बनाने पर भी 'कुम्भकार' शब्द ही प्रचलित हुआ, घटकार नहीं (जातिनाम के रूप में); 'विचित्रा हि शब्दवृत्तिः' यह सबको मानना ही पड़ता है।

और भी सोचा जा सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि 'छात्र' शब्द स्नातक रूपी अन्तेवासी के लिये ही प्रथमतः प्रयुक्त होता था, बाद में अध्येतृसामान्य में प्रयुक्त होने लगा। विशेषार्थक शब्दों का सामान्यार्थक हो जाना या सामान्यार्थक शब्दों का विशेषार्थक हो जाना शब्दशास्त्र का प्रसिद्ध तथ्य है। जो अन्तेवासी के रूपमें छत्र का वर्जन कर चुका था, वह स्नातक होकर छत्र का ग्रहण करता है[3]—(गार्हस्थ्य जीवन से पहले) इस वैचित्र्य के कारण स्नातक के लिये छात्र शब्द (छत्रग्रहणकारी) प्रयुक्त हो ही सकता है। पतञ्जलिदर्शित काल्पनिक अर्थ (छत्र = गुरुदोषावरण) की तुलना में उपर्युक्त दो कल्पनाएँ संगततर हैं।

१—गुरोर्दोषावरणं छत्रं तच्छीलमस्य छात्रः (महाभाष्य) द्र० गणरत्न० ६।३८५

२—आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।७।५; गौतमधर्मसूत्र २।१९; बौ० ध० सू० १।२।२५

३—अथ स्नातकस्य (बौ०ध०सू० १।३।१); उष्णीषं छत्रं············(१।३।६); (एतेऽप्यस्य भवेयुः—गोविन्दटीका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि उपर्युक्त बात मान ली जाए तो इस रहस्य का भी समाधान हो जाता है कि 'छात्र' का स्त्रीलिंगरूप क्यों नहीं मिलता ? अध्येत्री कन्या के लिये छत्र-ग्रहण-छत्रवर्जन का कोई प्रसंग ही नहीं हैं (द्र० धर्मसूत्र-स्मृत्यादि) अतः छात्र शब्द स्त्रीलिंग में उस काल में प्रयुक्त नहीं होता था; अध्ययनकारिणी अर्थ में अध्येत्री शब्द साधु है, क्योंकि इसमें छत्रग्रहणादि लौकिक बाह्य मर्यादाओं की अपेक्षा नहीं होती। गुरुकुलवासादिपूर्वक नियमविशेष के अधीन रहने पर ही छत्रादि-ग्रहणवर्जन का प्रसंग होता है, यों गुरुमुख से अक्षरानुपूर्वीग्रहण या स्वयं पठन में ऐसे कोई विधि-निषेध प्रवर्तित नहीं होते।

इस प्रसंग में 'छात्र्यादयः शालायाम्' (६।२।८६) सूत्र-सिद्ध 'छात्रिशाला' शब्द पर भी विचार करना प्रासंगिक होता है। सभी व्याख्याकार इस सूत्र में ह्रस्व इकारान्त 'छात्रि' शब्द ही मानते हैं; गणपाठ भी इस मत को पुष्ट करता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि 'छात्री' और 'शाला' के समास होने पर ह्रस्व होकर 'छात्रिशाला' रूप बन गया है; यहाँ ह्रस्व होने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

हमारी दृष्टि में 'छात्रि' आचार्य-विशेष का नाम है। इस गण में पठित व्याडि आदि आचार्यनामपरक शब्द भी इस मत को पुष्ट करते हैं। 'शाला' शब्द भी 'छात्रि' शब्द के आचार्यविशेषनाम होने का एक बलिष्ठ प्रमाण है। यद्यपि 'छात्र' नामक आचार्य प्रचलित ग्रन्थों में स्मृत नहीं हैं, तथापि इस आचार्य की सत्ता में कोई बाधक भी नहीं है। इ-प्रत्ययान्त अनेक आचार्यनाम वैदिक ग्रन्थों में हैं, यथा—प्लाक्षि (=प्लक्ष का पुत्र, तै० आरण्यक १।७), अतः छात्रि नाम वैदिक व्यवहारसिद्ध ही है।

—०—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वाविंश परिच्छेद

राष्ट्रीय शब्द की साधुता

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—इन दोनों शब्दों की साधुता पर वर्षों से वाद-विवाद चल रहा है। हिन्दी के विद्वानों के साथ संस्कृत के विद्वान् भी इस पर अपना अभिमत प्रकाश करते आ रहे हैं। अभी तक इन शब्दों पर लोग विचार करते हैं, अतः इस विषय में कुछ कहना उचित होगा। संस्कृत व्याकरण (अर्थात् पाणिनीय तन्त्र) के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए—यह यहाँ दिखाया जाएगा। हिन्दी-भाषा की प्रकृति के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए, इस पर विचार करना अप्रासंगिक है। हमारा निर्णय है कि पाणिनीयमत के अनुसार राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—दो ही समान रूप से साधु हैं और दोनों के अर्थों में भेद भी है।

जो 'राष्ट्रीय' को असाधु समझते हैं (पाणिनीय मतानुसार), उनका कथन यह है कि पाणिनि के 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' (४।२।९३) सूत्र से राष्ट्र शब्द में केवल 'घ' (= इय) प्रत्यय होगा, जिससे 'राष्ट्रिय' ही बनेगा। 'राष्ट्रीय' शब्द के लिये छ प्रत्यय (= ईय) की आवश्यकता है और ४।२।९३ सूत्र इस छ प्रत्यय की प्रवृत्ति में बाधक होता है, अतः 'राष्ट्रीय' बनने की संभावना नहीं रहती, सुतरां 'राष्ट्रिय' ही होगा।

यदि पाणिनि की तद्धितप्रक्रिया ठीक से समझी जाय तो वह विचार अशुद्ध प्रतीत होता है, यथा—

'राष्ट्र ....' (४।२।९३) सूत्र की प्रवृत्ति तद्धित के सभी प्रकरण और अर्थों में नहीं होती; एक निश्चित अवधि तक इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है और उसके बाद इस सूत्र का कार्य नहीं होता, तथा इस अधिकार से बहिर्भूत अर्थों में तत्तत्स्थलीय प्रत्यय ही होते हैं (जैसे ठ, छ, आदि), जो प्राचीन प्रयोगों से भी समर्थित होते हैं।

अब इस युक्ति का विशदीकरण किया जा रहा है :—४।२।९३ सूत्र शेषाधिकारमें पठित है (शेषे ४।२।९२ सूत्र) और शैषिकप्रकरणपर्यन्तही ४ २।९३ सूत्र प्रयोज्य है, इसके बाद नहीं। यह शैषिक प्रकरण ४।३।१३३ सूत्रपर्यन्त है, अतएव इसके बाद किसी भी प्रकरण में ४।२।९३ सूत्रदर्शित प्रत्यय नहीं लगेगा—राष्ट्र शब्द से। अर्थात् 'जात' (४।३।२५) 'भव' (४।३।५३), 'संभूत' (४।३।४१),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'व्याख्यान' (४।३।६६), 'आगत' (४।३ ७४) 'प्रभवति' (४।३।८३), 'अभिजन' (४।३।९०), 'भक्ति' (४।३।९५; यहाँ काशिका में 'राष्ट्रिय' उदाहरण भी है), 'तस्येदम्' (४ ३।१२०; यहाँ भी 'राष्ट्रिय' काशिकास्थ उदाहरण है) इत्यादि अर्थों में राष्ट्र से 'घ' प्रत्यय ही होगा (यदि अन्य बाधक न हो), पर ४।३।१३४ सूत्र से जो विकार आदि अन्यान्य अर्थ उक्त हुए हैं उन अर्थों में तत्-तत् प्रकरणविहित प्रत्यय ही होंगे, 'घ' नहीं होगा। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अण् आदि प्रत्यय इसके बाद भी होंगे क्योंकि 'तेन दीव्यति······' (४।४।२) सूत्र पर्यन्त उन प्रत्ययों का अधिकार है (अर्थात् चतुर्थ अध्याय के तृतीयपादपर्यन्त)। ४।३।१३४ सूत्र के बाद ४।३।९३ सूत्र दर्शित 'घ' प्रत्यय की प्रवृत्ति नहीं होती, यह सभी व्याख्याकारों ने कहा है—'तस्य प्रकरणे तस्येति पुनर्वचनं शैषिकनिवृत्त्यर्थम्, विकारावयवयो र्घादयो न भवन्ति' (काशिका ४।३।१३४)।

यही कारण है कि तद्धित की कुछ वृत्तियों में घ-प्रत्यय न होकर 'ठक्' प्रत्यय होता है जिसमे 'राष्ट्रिक' शब्द बनता है।[1] यह शब्द 'राष्ट्रं रक्षति' (४।४।३३) इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय से होता है तथा अन्यान्य अर्थों में भी 'ठक्' की संभावना है। राष्ट्रिक शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यहाँ सोचना चाहिए कि यदि तद्धितीय सभी वृत्तियों में केवल 'घ' प्रत्यय ही होता तो राष्ट्रिक का प्रचुर प्रयोग क्यों मिलता, जो पाणिनीय तंत्र से सुसिद्ध भी है।

जिस प्रकार शैषिकाधिकार-बहिर्भूत अर्थों में 'ठक्' से 'राष्ट्रिक' बनता है, उसी प्रकार 'छ' (=ईय) प्रत्यय से 'राष्ट्रीय' शब्द भी पाणिनितन्त्रसिद्ध नहीं होगा, इसमें संशय है। शैषिकाधिकार-बहिर्भूत जिन जिन अर्थों में छ प्रत्यय होता है, यदि तद्विधायक किसी सूत्र की प्रवृत्ति राष्ट्र शब्द में हो, तो राष्ट्रीय बनने में कोई भी बाधा नहीं होगी।

उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि 'तस्मै हितम्' (५।१।५) ['यह उसके लिये हित है--इस अर्थ में] सूत्र से 'छ' (=ईय) प्रत्यय होकर 'राष्ट्रीय' शब्द ही बनेगा, जिसका अर्थ होगा-'वह कार्य या प्रतिष्ठान जो राष्ट्र के लिये हित हो।'

१—राष्ट्रिक शब्द का प्रयोग :—'राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति (मनु १०।६१)। वनौषधियों में कण्टकारि के लिये भी राष्ट्रिक शब्द है (अमर, वनौषधिवर्ग, श्लोक २०७), जिसके अर्थ में 'राष्ट्रउपद्रव हैं इसमें' ऐसा कहा जाता है (त्रिकाण्डचिन्तामणि टीका)। हरिवंश० २।१२७।२६ में 'राष्ट्रिक' है (=राष्ट्राधिपतिः—नीलकण्ठ)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस 'हित'अर्थ में कभी भी 'घ' प्रत्यय नहीं होगा,यह स्पष्ट जान लेना चाहिए और यह 'हित' अर्थ चूंकि शैषिक प्रकरण में नहीं है,अतः शैषिक प्रकरणस्थ किसी भी अर्थ में 'राष्ट्रीय' नहीं बनेगा, केवल 'राष्ट्रिय' होगा। उसी प्रकार 'राष्ट्र इसका हो या इसमें हो' इस अर्थ में ५।१।१६ सूत्र से छ' होकर 'राष्ट्रीय' बनेगा। तथैव यदि अभिधान हो तो तदर्हति (५।१।६३) सूत्र से 'राष्ट्रमर्हति' इस अर्थ में यथा-विहित प्रत्यय (ठक्, यत्, अण् इत्यादि में प्रयोगानुसार कोई एक) होगा और यह प्रत्यय अवश्यमेव ४।२।९३ सूत्र दर्शित घ-प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि ५।१।६३ सूत्र शैषिकाधिकार से बहिर्भूत है।

जिस प्रकार'राष्ट्रिक'का प्रयोग मिलता है, उसी प्रकार 'राष्ट्रीय' का प्रयोग भी मिलता है या नहीं, यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर में वक्तव्य है कि राजनीति से सम्बन्धित ग्रन्थों में इसका प्रयोग है या नहीं देखना चाहिए (ऐसे प्राचीन ग्रंथ अब नहीं मिलते) पर पुराण में एक स्थल पर राष्ट्रीय का प्रयोग मिला है— 'त्वद्राष्ट्रीयैर्जनैःसर्वैः कारयेमान् शुभावहान्' (स्कन्दपुराण वैष्णव खण्ड, वैशाख-मासमाहात्म्य ११।४७)। द्र० मुग्ध० तर्कवागीशटीका, ४३३ सू०।

एक बात और तद्धित वृत्तियों के विषय में कहनी है। पतञ्जलि ने कहा है— 'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' (भाष्य ३।३।२९) जिसके स्पष्टीकरण में कहा जाता है–'कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम्, लक्षणं त्वनभिज्ञानां तदभिज्ञानसूचकम्'। तात्पर्य यह है कि सूत्र की प्रवृत्ति होने मात्र से ही तद्धित प्रत्यय नहीं हो जाते, उसके लिये अभिधान चाहिए। यथा—पाणिनि ने कहा है 'तत आगतः' (४।३।७४), पर सर्वत्र इस सूत्र का कार्य नहीं होता। 'शुल्कशाला से आगत' इस अर्थ में ४।३।७४ सूत्र विहित कार्य होगा, पर 'वृक्षमूल से आगत' इस अर्थ में यह सूत्र नहीं लगेगा (क्योंकि अभिधान नहीं है), यद्यपि सूत्र में इस प्रकार के किसी बाधक तत्त्व का उल्लेख नहीं है। हमने जितने अर्थों में तद्धित प्रत्यय होने की संभावना कही है, वे अभिधान होने से ही होंगे, अन्यथा नहीं होंगे, यह विवेच्य है। यह भी ज्ञातव्य है कि अभिधान का ज्ञान भी दुष्कर है, अतएव सहसा 'राष्ट्रीय शब्द 'हित अर्थ में नहीं होगा' ऐसा नहीं कहना चाहिए, (जब क्वचित् प्रयोग भी मिल गया है)। तद्धित के विषय में यह भी जानना चाहिए कि कितनी ही ऐसी तद्धितवृत्तियाँ हैं, जिनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया तथा पाणिनि-दर्शित निषेध का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिक्रमणपूर्वक कृत प्रयोग इतिहास-पुराणादि प्राचीन वाङ्मय में मिलते हैं।[1]

प्रसंगतः राष्ट्र शब्द से सम्बन्धित 'अन्ताराष्ट्रिय' 'अन्तर्राष्ट्रिय' 'अन्तर-राष्ट्रिय' इन तीन शब्दों पर भी विचार किया जा रहा है; यहाँ इन शब्दों के प्रथमांश पर विचार प्रसक्त है।

अँग्रेजी में International शब्द के लिये इन शब्दों को रचा गया है। पता नहीं इस अर्थ में प्राचीन काल में कौन-सा शब्द था। इस शब्द का अर्थ है— 'Pertaining to nations, अथवा 'Reciprocally affecting nations' (अनुनाडेल कृत Concise English Dictionary द्रष्टव्य) संस्कृत भाषा में जो 'अन्तर्' शब्द है, उसका यह अर्थ नहीं है, सुतरां अन्तर् शब्द का प्रयोग करना ही व्यर्थ है। अन्तर् अव्यय है, और अव्यय अनेकार्थ होता है इसलिये अन्तर् का प्राग्दर्शित अर्थ में प्रयोग हो सकता है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि कहीं भी अन्तर् शब्द के इस अर्थ के सदृश अर्थ में भी प्रयोग मिलता नहीं है। 'अन्तर्' शब्द भी प्रागुक्त अर्थ को नहीं कहता, सुतरां इस काकदन्तपरीक्षा से विरत होना उचित है।

प्रश्न होगा कि क्या 'pertaining to' इस अर्थ में संस्कृत में कोई शब्द नहीं है? उत्तर—है, और वह है 'प्रति' उपसर्ग। संक्षेप में हमारा तात्पर्य यह है कि हम 'राष्ट्रं राष्ट्रं प्रति' इस विग्रह के अनुसार अव्ययीभाव समास में 'प्रतिराष्ट्रम्' यह पद बना सकते हैं (जैसे—अर्थम् अर्थं प्रति'प्रत्यर्थम्')।

१—मूल बात यह है कि राष्ट्र शब्द से छ (=ईय) प्रत्यय का दर्शन यदि प्रामाणिक ग्रंथों में कहीं मिल जाए, तो 'पाणिनि से स्मृत है या नहीं' यह विचार व्यर्थ है, क्योंकि पाणिनि से अस्मृत सहस्रों साधु शब्द हैं; यदि कहीं भी राष्ट्रीय का प्रयोग न मिले तो इसका प्रयोग संस्कृत में न करना ही अच्छा होगा और तब यह मान लेना चाहिए कि 'राष्ट्रिय' या 'राष्ट्रिक' से ही सभी तद्धितीय वृत्तियों का बोध होता था। पर राजनीतिसम्बन्धी संस्कृत ग्रंथों का आज यादृश अभाव है, उससे यह कहना साहसमात्र है कि राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग संस्कृत में नहीं था। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि 'इय' प्रत्यय यदि अन्य तद्धितीय प्रत्ययों का बाधक ही होता, तो 'राष्ट्रिक' (इकप्रत्यय) का प्रयोग क्यों होता? अतएव निःसंशय होकर हम 'राष्ट्रीय' का प्रयोग कर सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस 'प्रतिराष्ट्र' शब्द से 'तत्र भवः' (४।३।५३) इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय का (या यदि अन्य प्रत्यय ठीक हो तो उसका प्रयोग कर) 'प्रतिराष्ट्रीय' शब्द बनाया जा सकता है, जिसका अर्थबोध भी सुकर होगा तथा अन्तर् शब्द के साथ समास करने से जो क्लिष्ट सन्धि कार्य उत्पन्न होता है (हिन्दी में) वह भी नहीं रहेगा। 'तत्र भवः' की प्रवृत्ति में यदि आपत्ति हो, तो 'तस्येदम्' (४।३।१२०) प्रकरण में विहित उचित प्रत्यय का आश्रय लिया जा सकता है।

'राष्ट्रं राष्ट्रं प्रति' = प्रतिराष्ट्रम्[1]—यह 'अव्ययम्—' (२।१।६) सूत्रान्तर्गत यथार्थ शब्द के अर्थ में (= वीप्सा) समास है। वीप्सा (= कृत्स्नता) में द्वित्व होता है, जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' (नित्यवीप्सयोः ८।१।४ का उदाहरण)। वृक्षम् का अर्थ है 'कृत्स्नं वृक्षम्' अर्थात् किसी विवक्षित वाटिका के सभी वृक्ष (बाल मनोरमा ८।१।४)। उसी प्रकार राष्ट्रं राष्ट्रं प्रति (= प्रतिराष्ट्रम्) का अर्थ होगा—भूमण्डस्थ सभी राष्ट्र।

इस वीप्सा-अर्थ में यदि आपत्ति हो, तो 'प्रति' के साथ 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) सूत्र से भी 'प्रतिराष्ट्र' बन सकता है। इस अव्ययीभाव समास में 'प्रति' का अर्थ है—'लक्ष्यलक्षणभाव एवं आभिमुख्य' (तत्त्वबोधिनी), जिससे 'प्रतिराष्ट्रम्' का अर्थ होगा—'राष्ट्रज्ञाप्यम् राष्ट्राभिमुखं च', जो वस्तुतः 'pertaining to nations' का अर्थ पूर्णतः देता है। द्वि-बहु की आवश्यकता होने पर हम 'राष्ट्रान् प्रति = प्रतिराष्ट्रम्' भी बना सकते हैं जैसे 'प्रत्यक्ष' शब्द में देखा जाता है (अक्षिणी प्रति = अक्ष्णोराभिमुख्यम्)।

अब इस प्रतिराष्ट्र शब्द से 'तत्रभवः' (४।३।५३) या 'तस्येदम्' (४।३।१२०) प्रकरण का कोई भी उचित प्रत्यय लगा कर 'प्रतिराष्ट्रिय' आदि शब्द बनाया जा सकता है। कौन प्रत्यय संगत होगा, इसका विचार कठिन नहीं है और जहाँ तक मेरा मत है, हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'प्रतिराष्ट्रीय' शब्द ही ठीक रहेगा। ('प्रति' से विरोध की भावना होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है)।

यदि इक प्रत्यय (= ठक्) लगाने की इच्छा हो, तो 'प्रतिराष्ट्रिक' भी हो सकता है। यहाँ एक संशय उठता है कि प्रातिराष्ट्रिक होगा या प्रतिराष्ट्रिक?

१—यहाँ अन्तरराष्ट्रीय या अन्ताराष्ट्रीय शब्दान्तर्गत 'अन्तर्' या 'अन्तरा' या 'अन्तर' शब्द की अनुपयुक्तता में ही मेरी विवक्षा है और जिस चिन्ताधारा का परिचय यहाँ दिया गया है, तदनुसार अन्य समीचीन शब्द भी विद्वान् बना सकते हैं। (अन्तरितिमध्ये—गणरत्न० १।१६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में अत्यन्त संक्षेप में मेरा विचार यही है कि जहाँ पाणिनि-व्याकरण का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है (या पाणिनि को यथावत् मानने का आग्रह नहीं है) वहां केवल उत्तर पद की वृद्धि करना ही पर्याप्त होगा, पूर्वोत्तरपदों में वृद्धि करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इसका प्रबल हेतु यह है कि संस्कृत में भी ऐसे स्थानों में जहाँ पाणिनि का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता, वहाँ उत्तरपद-वृद्धि की ओर अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों से प्रमाणित होगा: —

'गुरुलघु' शब्द से अण् प्रत्यय करने पर आदि स्वर या द्वितीयपद का आदि स्वर—इन दोनों में किसी एक की वृद्धि होगी, या दोनों स्वरों में वृद्धि होगी–इस विषय में पाणिनि की स्पष्ट व्यवस्था नहीं मिलती, पर 'गुरुलाघव' का ही प्रयोग मिलता है—'भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि' (शकुन्तला), 'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्'इत्यादि स्थलों में। यहाँ स्पष्टतः उत्तरपद के आदि स्वर की वृद्धि हुई है और इसीलिये परवर्ती व्याकरणों का अनुशासन भी परपद के आदि स्वर की वृद्धि के पक्ष में है (गुरुलघ्वादेरुत्तरपदस्य)। इसी प्रकार 'पितृ-पितामह' शब्द के बाद अण् प्रत्यय करने से किसकी वृद्धि होगी, यह संशय रहता है, क्योंकि पाणिनि का स्पष्ट अनुशासन नहीं मिलता, पर प्रयोग 'पितृपैतामही' ही मिलता है (पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा—महाभारत, अनुशासन अ० १५१।८) अतएव यह कहा जा सकता है कि जहाँ व्याकरण का स्पष्ट अनुशासन नहीं मिलता, वहाँ यदि उत्तरपद की ही वृद्धि की जाए, तो क्षति नहीं है, इस दृष्टि से हम प्रतिराष्ट्रिय या प्रतिराष्ट्रीय शब्द को साधु समझते हैं—अब 'विद्वांसः प्रमाणम्'।

—०—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रयोविंश परिच्छेद

पाणिनि के शब्दार्थ-ज्ञापक-कौशल

आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में ग्रन्थरचना की कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। इस ग्रन्थ की रचना में आचार्य ने अनेक सूक्ष्म एवं विचित्र कौशलों का प्रयोग किया है। स्वयं भाष्यकार ने कहा है कि पाणिनि विचित्र शैली प्रिय थे[1]। आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में शाब्दिकलाघव (अर्थात् बहुत कम शब्दों से अधिक से अधिक शब्दों का बोधन) की रीति अपनाई है। अत्यधिक शाब्दिक लाघव करने की चेष्टा करने के कारण कहीं-कहीं शब्दार्थ में अस्पष्टता, असमञ्जसता आदि दोष होने की सम्भावना होती है। इन दोषों के निराकरण के लिये पाणिनि ने ऐसे कौशल आविष्कृत किए हैं जिनसे शब्दार्थ ज्ञान में कोई बाधा नहीं होती है; जहाँ विवक्षित अर्थ का बोधनिःसंशय रूपसे होना असम्भव मालूम पड़ता है वहाँ भी यथार्थ शब्दार्थ का बोध हो जाता है। व्याकरण वाङ्मय में इन कौशलों की असाधारण महिमा है तथा साहित्य रसिकों के लिये भी इन कौशलों का ज्ञान अपरिहार्य है। इस निबन्ध में उन अर्थनियामक कौशलों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।[2]

१—एवमर्थं खल्वपि आचार्यश्चित्रयति क्वचिदर्थान् आदिशति क्वचिन्नेति (भाष्य ३।१।१६); कैयट कहते हैं—अनेक-मार्गमाश्रयतीत्यर्थः। अनेकमार्गाश्रयण ही विचित्रशैलीप्रियता है।

२—भर्तृहरि के श्लोक हैं—संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः। सामर्थ्य मौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः (शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ (वाक्यपदीय २।२१७-२१८)। व्याख्याकार पुण्यराज ने दिखाया है कि संयोग आदि के द्वारा सांशयिक स्थलों पर शब्द का विवक्षित तात्पर्य किस प्रकार निर्णीत होता है, यथा—अवाद् ग्रः (१।३।५१) सूत्रोक्त ग्रधातु 'गॄ निगरणे' है, न कि गॄ उपदेशे (अव-उपसर्ग के संयोग के कारण); भुजोऽनवने (१।३।६६) सूत्र में विप्रयोग के कारण कौटिल्यार्थक भुज धातु का ग्रहण नहीं होगा; तथैव विपराभ्यां जेः (१।३।१९) सूत्र में साहचर्य बल से उपसर्ग 'परा' का ग्रहण होगा, परारूप विशेषण का नहीं। सामर्थ्यबल से प्रथमानिर्दिष्टं समासः (१।१।४३) सूत्र में समास का अर्थ 'समासार्थ शास्त्र' होगा, इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुवचन का प्रयोग :—सूत्रकार ने बहुवचन के बल से कई स्थलों पर अभीष्ट अर्थ का ज्ञापन किया है। 'मद्रेभ्योऽञ्' (४।२।१०९) सूत्र इसका एक उदाहरण है। मद्र शब्द भद्रवाची भी होता है, जनपदवाची भी। पाणिनि ने बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है कि जनपदवाची का ही ग्रहण हो, भद्र-पर्यायवाची का ग्रहण न हो। 'स्वाङ्गेभ्यः प्रसृते' (५।२।६६) सूत्र में भी इस शैली का आश्रय लिया गया है। व्याख्याकार कहते हैं कि पाणिनि के द्वारा स्वाङ्गपद का बहुवचन में व्यवहार ज्ञापित करता है कि यहाँ यह शब्द केवल स्वाङ्गवाची ही नहीं है, प्रत्युत 'स्वाङ्गसमुदायवाची' भी है। तथैव 'पूर्वैः कृतम्' (४।४।१३३) सूत्र में पूर्वशब्द का बहुवचन ज्ञापित करता है कि यहाँ पूर्व शब्द का अर्थ 'पूर्वपुरुष' है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाणिनि ने एक विशेष अर्थ में व्यवहार करने के लिये किसी शब्द का 'बहुवचन' में प्रयोग किया है।

यह भी ज्ञातव्य है कि अष्टाध्यायी में अनेकत्र अर्थप्राधान्यबोधक बहुवचन का प्रयोग किया गया है, यह पूर्वव्याख्यान से जाना जाता है, यथा—अर्थ-प्राधान्यबोधकस्य बहुवचनस्य (प्रौ० मनो०, अजन्त० पृ० २९४), न च तिसृभ्य इति बहुवचननिर्देशात् तिस्रर्थप्राधान्ये एवायं स्वरः (स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका ६।१।१६६)। बहुवचननिर्देश मे पर्याय का भी ग्रहण किया गया है (सि० कौ० ७।३।१८); कभी-कभी बहुवचन अविवक्षित भी होता है (काशिका ६।१।३६)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुवचन द्वारा अर्थ और क्वचित् शब्द का भी नियमन किया गया है। सामान्यार्थक शब्द का विशेषार्थ में ग्रहण भी बहुवचन से ज्ञापित होता है जैसा कि ५।१।१३५ सूत्र में देखा जाता है। यहां ऋत्विग्वाची होत्रा शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, जब कि एकवचन में ही प्रयोग होना चाहिए था। बहुवचन के कारण ऋत्विग्-विशेष का ग्रहण होता है।

शब्दों का साहचर्य—शब्दों के परस्पर साहचर्य से भी पाणिनि ने अनुक्त अर्थों का ज्ञापन किया है। यथा—पाणिनि का सूत्र है 'पूर्वकालैकसर्वजरत्-पुराणनवकेवलाः.........'(२।१।४९)। इस सूत्र में जो 'नव' शब्द है, उसके दो अर्थ होने हैं—'नूतन' और 'नौ' संख्या। कौन अर्थ यहां युक्त है, इसके उत्तर में सहेतुक उत्तर दिया जाता है कि चूंकि नव शब्द पुराण शब्द के साथ पठित हुआ है, इसलिये यहाँ नव शब्द का अर्थ 'नूतन' ही लिया जाएगा;

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्याविशेष नहीं। तथैव 'पणपादमाषशताद् यत्' (५।१।३४) सूत्र में पण और माष शब्द के साहचर्य से पाद शब्द परिमाणविशेषवाची ही माना जाएगा, चरणवाची नहीं (इह सूत्रे पणमाषसाहचर्यात् पादशब्दोऽपि परिमाणविशेषवाची गृह्यते-बालमनोरमा)।

उत्तरसूत्रगत शब्द के अर्थविशेषज्ञापन में पूर्वसूत्रोक्त शब्द भी सहायक होता है। ४।३।९० सूत्र में अभिजन शब्द है, जिसका अर्थ है—पूर्वबान्धव (अभिजनशब्देन पूर्वे बान्धवा उच्यन्ते—प्रदीप; द्र० देवबोध, सभा० १६।१५), पर ४।३।८९ सूत्रगत निवास शब्द के साहचर्य स 'पूर्वपुरुषवासभूमि' रूप अर्थ ही ग्राह्य होता है, पूर्वबान्धव नहीं (निवाससाहचर्याच्च अभिजनो देशो गृह्यते न तु पूर्वे बान्धवाः—प्रदीप)।

साहचर्य बल से अर्थज्ञापन करना अष्टाध्यायी में सर्वत्र दृष्ट होता है। व्याख्याकार कहते हैं कि १।३।१ सूत्रगत 'वा' के साहचर्य से असत्त्ववाची भूशब्द का ग्रहण होगा। तथैव २।२।१८ सूत्र में गत्यादि के साहचर्य से कुत्सितार्थक कु-शब्द का ही ग्रहण होगा, पृथिवीवाची कु-शब्द का नहीं, इत्यादि। साहचर्यबल से शब्द और अर्थ के बहुविध नियमन अष्टाध्यायी में दृष्ट होते हैं, जिसपर अन्यत्र विचार किया गया है [1]।

निपातनरीति—विशिष्ट अर्थ के द्योतन के लिये निपातन सूत्रों की रचना भी की गई है। जहाँ पाणिनि ने किसी पद को निपातन में सिद्ध किया है, वहाँ प्रायः वह पद किसी विशिष्ट अर्थ का वाचक होता है [2] (निपातन का अन्य प्रयोजन भी है)। जैसे—७।३।६९ में भोज्यशब्द निपातित हुआ है, अतः अभ्यवहार्यरूप भक्ष्य में ही इसका प्रयोग होगा, परिपालनीय भक्ष्य में नहीं; तथैव ५।१।९० सूत्र में 'षष्टिकाः' शब्द निपातित हुआ है, जिसके कारण शालिविशेष में ही इसका प्रयोग होगा, मुद्गों में नहीं (यद्यपि उनमें भी षष्टिरात्रपाच्यत्व है) इत्यादि। निपातनहेतुक अर्थनियमन के अनेक उदाहरण लेखान्तर में द्रष्टव्य हैं [3]।

१—पाणिनीयतन्त्रे साहचर्यबलम् (संस्कृतम् २४।५।४९)।

२—निपातनस्य रूढ्यर्थत्वात् (धातुवृत्ति, दमु उपशमे धातु), निपातनं रूढ्यर्थम् (न्यास ७।३।६८, ७।३।६९), निपातनसामर्थ्यात् अर्थविशेषे वृत्तिः (न्यास ४।१।३२)।

३—द्र० इसी ग्रन्थ का षष्ठ परिच्छेद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वोपात्तपदस्थापन—कहीं कहीं सूत्रकार ने विशिष्टार्थ के ज्ञापन के लिये पूर्व सूत्र से अनुवृत्त पद का पुनः प्रयोग किया है। यह पुनः कथन ही प्रमाणित करता है कि सूत्रकार ने इस द्विरुक्त शब्द को किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसका एक विशिष्ट उदाहरण 'देवताद्वन्द्वे च' (६।३।२६) में दृष्ट होता है। इस सूत्र में पूर्वसूत्र सें (आनङ् ऋतो द्वन्द्वे, ६।३।२५) द्वन्द्व पद की अनुवृत्ति आती है, अतः पुनः ६।३।२६ में द्वन्द्व पद का ग्रहण कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि इस सूत्र में द्वन्द्व-पद से साधारण साहचर्य का नहीं, प्रत्युत प्रसिद्ध साहचर्य (अर्थात् वेद में सहभावेन निर्दिष्ट, जैसे इन्द्रा-वरुण, ब्रह्मप्रजापति इत्यादि) का ही ग्रहण होगा[1]। शब्द-लाघव के साथ अर्थ-नियमन का यह कौशल सूत्रकार की महती बुद्धि का ज्ञापक है।

विशिष्ट शब्दों का संयोजन—कहीं सूत्रकार विशिष्टार्थ के ज्ञापन के लिये उस शब्द के साथ 'आख्या' 'नाम' आदि कुछ शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। यह अधिकशब्दप्रयोग ही ज्ञापन करता है कि यहाँ प्रयुक्त शब्द किसी विशेष अर्थ में व्यवहृत हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) सूत्र में स्थेय शब्द ही पर्याप्त था, 'स्थेयाख्य' कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। पर सूत्रकार ने 'आख्या' शब्द का जो प्रयोग किया है, उसका कारण काशिकाकार के अनुसार यह है—'विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इति प्रसिद्धः, तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाख्याग्रहणम्' अर्थात् 'आख्या' शब्द का प्रयोग कर पाणिनि यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि स्थेय का अर्थ अन्य कुछ न होकर उपर्युक्त 'विवादपदनिर्णेता' रूप ही है।

'आख्या' शब्द से रूढ्यर्थबोध करने का एक उदाहरण सायण ने भी दिया है। कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (३।२।९२) सूत्रोक्त आख्या शब्द रूढ्यर्थक है, यह उनका कहना है—आख्याग्रहणं रूढ्यर्थम्, श्येनाग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचित्-शब्देन उच्यते (स्वादि० चिञ् धातु)। यहाँ अग्न्याख्य = 'अग्न्याधारस्थल-विशेष की आख्या' है।

उसी प्रकार 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' (६।३।७) सूत्रगत आख्या शब्द के कारण वैयाकरणसंव्यवहारसिद्धता ज्ञापित हुई है (आख्याशब्देन संव्यवहार-मात्रमुच्यते इत्यर्थः—प्रदीप; आख्या = प्रतिपादन=व्यवहार)।

१—द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं लोकवेदयोर्यो द्वन्द्वस्तस्य यथा स्यात् (भाष्य)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वचन' शब्द भी अर्थविशेष का ज्ञापक है। सूत्र है-भाववचनाश्च (३।३।११)। कैयट कहते हैं - वचनग्रहणेन लोकप्रसिद्धं वाचकमवगम्यते (प्रदीप)।

एकप्रकरण में एकाधिक स्थलों पर पाठ करना :—कोई पद यदि उसी प्रकरण में दो स्थल पर पठित है (एक कार्य के लिये) तब एक स्थल में उस पद की शक्ति किसी विशेष अर्थ में है, यह पाणिनि की एक शैली है। 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' (५।१।४) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यहां जो हविष् शब्द है, वह 'हविर्विशेष' का वाची है 'हविःसामान्य' का नहीं। इसका कारण यह है कि पाणिनि ने इस हविष् शब्द को इसी प्रकरण में अन्यत्र (५।१।२) पढ़ा है अतः ५।१।४ सूत्र पर पुनः उसका पाठ करने से वह शब्द सामान्यार्थक न होकर विशेषार्थक हो गया है।[1] शब्द की द्विरावृत्ति से इस प्रकार का अर्थ-नियमन अन्य शास्त्र में भी दृष्ट होता है।

समास का अकरण—कहीं कहीं समास-योग्य स्थल पर समास न कर पाणिनि ने विशेष अर्थ का ज्ञापन किया है। यदि कौशल अन्यशास्त्र में भी चरितार्थ हो जाए, तो अनेक स्थलों पर गूढ़ अर्थों का भी ज्ञान हो जाएगा। 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५।२।४७) सूत्र इस कौशल का एक उदाहरण है। यहाँ लाघव के लिये ('गुणस्य निमाने' के स्थान में) 'गुणनिमान' पद का प्रयोग किया जा सकता था, पर पाणिनि ने ऐसा समासयुक्त पाठ न कर ज्ञापित किया है कि यहाँ गुण का एकत्व विवक्षित है, अर्थात् द्वित्वादि-संख्याविशिष्ट गुण होने पर इस सूत्र का प्रयोग नहीं होगा[2]—निमाणविशेषणे

१—गवादिगणे हविःशब्दस्य पाठात् स्वरूपग्रहणाच्च विभाषा हविरित्यत्र हविर्विशेषवाचिग्रहणम् (प्रदीप ५।१।२)।

२—पाणिनि का यह एक ऐसा नियम है जिसके द्वारा अन्य शास्त्र के शब्द प्रयोग पर विचार करने से नवीन अर्थ की प्रतीति हो सकती है। एक उदाहरण दिया जा रहा है। योगदर्शन में सूत्र है—'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा' (२।२१)। यहाँ पर 'दृश्यात्मा' कहा जा सकता था (जिससे लाघव भी होता, जो सूत्र का एक मौलिक गुण है) पर ऐसा नहीं कहा गया, क्योंकि दृश्य (सांख्ययोग के मतानुसार) एक है, जिसके द्योतन के लिये पतञ्जलि ने समास न कर एकवचनान्त पद को पृथक् रखा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणस्येत्यत्र एकत्वं विवक्षितम्, तेनेह न—त्रयो यवानां भागा निमानमनयोरुदश्विद्भागयोरिति (बृहच् शब्देन्दु० पृ० १४६२)। वस्तुतः जहाँ संख्या विवक्षित है वहाँ संख्यारक्षार्थ समास नहीं किया जाता; इस दृष्टि से अन्यान्य असमस्त स्थलों का अध्ययन कर गूढ अर्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

पर्यायशब्द—कभी-कभी पर्यायशब्द के एकत्र प्रयोग से भी शब्द का विशिष्ट अर्थ ज्ञापित होता है। सूत्र है—मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८)। मति और बुद्धि एकार्थक है, अतः व्याख्याकार कहते हैं कि यहाँ मति का अर्थ 'इच्छा' है—मतिरिहेच्छा बुद्धेः पृथगुपादानात् (सि० कौ०)।

क्रतुयज्ञेभ्यश्च (४।३।६८) सूत्र भी इस रीति का एक उदाहरण है। क्रतु और यज्ञ पर्यायवाची है; अतः दोनों का उपादान एक सूत्र में व्यर्थ है, पर यह उभयग्रहण अर्थविशेषद्योतनार्थ है. ऐसा व्याख्याकार कहते हैं—सोमसाध्येषु यागेषु एतौ प्रसिद्धौ, तत्र अन्यतरोपादानेन सिद्धे उभयोरुपादानसामर्थ्यात् असोमका अपीह गृह्यन्ते। असोमक यज्ञ भी ४।३।६८ सूत्र में गृहीत हो, इसलिये दोनों सोमसाध्ययागवाची शब्द सूत्र में प्रयुक्त हुए हैं।

पर्यायरीति से मिलता-जुलता एक अन्य उपाय का उदाहरण दिया जा रहा है। सूत्र है—प्रीतौ च (६।२।१६)। इस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र है 'सुखप्रिययोर्हिते' (६।२।१५)। सुख और प्रिय प्रीति से अव्यभिचारी (पृथक् नहीं रहनेवाला) हैं, अतः 'प्रीतौ च' सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु सूत्रकार ने पुनः प्रीति शब्द का जो ग्रहण किया, उससे ज्ञापित होता है कि यहाँ प्रीति का अर्थ है—अतिशय प्रीति (काशिका)। एक शब्द के अर्थ का, उसकी पराकाष्ठा में किस कौशल से व्यवहार किया जा सकता है, यह पाणिनि ने यहाँ प्रदर्शित किया है।

अधिकशब्दप्रयोग—कहीं-कहीं सूत्रकार ने अधिक शब्दों का प्रयोग कर भी किसी शब्द का विशेष अर्थ दिखाया है। 'दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु' (६।२।१०३) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यतः व्याकरण शब्दसम्बन्धी शास्त्र है, अतः केवल 'दिक्' कहना ही पर्याप्त था, 'दिक्शब्द' कहने का कुछ भी प्रयोजन नहीं था, फिर भी सूत्र में जो 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया, उसका कारण यही है कि 'कालवाची दिक्' शब्द का भी ग्रहण हो, केवल 'देशवाची' का ग्रहण न हो। यह एक असामान्य कौशल है कि अधिक शब्द का प्रयोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से अधिक अर्थ का अवबोधन होता है। 'शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम्' यह एक प्रसिद्ध नियम है। यह एक नियम ही प्रमाणित करता है कि संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान के लिये भाषाप्रकृति का कितना व्यापक परिज्ञान अपेक्षित है। प्राचीन आचार्यों के शब्दप्रयोग की सूक्ष्मता का परिचय रखना अत्यन्त आवश्यक है।

६।२।१०३ सूत्रसदृश अन्य उदाहरण ५।३।२७ सूत्र में दृष्ट होता है। यहाँ भी 'दिक्शब्द' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कैयट कहते हैं—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः ये रूढ्या दिशो वाचकाः पूर्वादयस्ते गृह्यन्ते, न तु ऐन्द्र्यादयो यौगिकाः (प्रदीप)। 'शब्द' शब्द से यह विशिष्ट तथ्य ज्ञापित होता है (शब्दग्रहण-सामर्थ्यलभ्यमाह—उद्द्योत)। यह वस्तुतः अर्थनियमन नहीं है, पर ६।२।१०३ सूत्रीय विषय की पूर्णता के लिये यहां उदाहृत हुआ है।

द्वन्द्वं......मर्यादावचन......(८।१।१५) सूत्रोक्त मर्यादा-वचन शब्द भी इस नियम का एक उदाहरण है। केवल मर्यादा न कहकर जो 'मर्यादावचन' कहा गया, इसके लिये जिनेन्द्र कहते हैं—वचनग्रहणं शब्दोपात्तायां मर्यादायां यथा स्यात्, अर्थ-प्रकरणादिना गम्यमानायां मा भूत् (न्यास)—शब्दोपात्तमर्यादा के बोध होने पर ही ८।१।१५ सूत्रीय कार्य होगा, प्रकरणादिगम्य मर्यादा में नहीं होगा—यह अर्थ वचनग्रहण से ज्ञापित हुआ है।

इति का प्रयोग—विवक्षानुसार प्रयोग के साक्षात् ज्ञापन के लिये सूत्रकार की एक अतिप्रिय शैली है। वह है—'इति' शब्द का प्रयोग। तद्धित तथा समास में इस कौशल के कई उदाहरण हैं। यथा—'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) सूत्र। 'इति' शब्द ज्ञापन करता है कि केवल साधारण अस्तित्व मात्र होने पर ही 'मतुप्' प्रत्यय नहीं होता, प्रत्युत बहुत्व, प्रशंसा, नित्ययोग आदि गम्यमान होने पर ही 'मतुप्' होगा। 'इति' शब्द के बल से पाणिनि ने यहाँ 'अस्तित्व' का नियमन किया है; यथा—केवल यव रहने पर ही किसी को 'यवमान्' नहीं कहा जाएगा, या रूपमात्र होने पर ही किसी को रूपवान् नहीं कहा जाएगा, प्रत्युत जिसके पास अधिक यव है या प्रशस्तरूप जिसमें है, उसको ही यथाक्रम 'यवमान्' या 'रूपवान्' कहा जाएगा यद्यपि यह साक्षात् अर्थनियमन नहीं है, प्रत्युत विवक्षा-नियमन है, तथापि विवक्षा अर्थ-विशेष ही है, ऐसा समझ कर यह उदाहरण उपन्यस्त हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदस्य तदस्मिन् स्यादिति (५।१।१६) सूत्र गत 'इति' शब्द भी विवक्षा-ज्ञापक है—इतिशब्दो लौकिकीं विवक्षामनुसारयति', अर्थात् शिष्टप्रयोगगत विवक्षा की प्रकृति को जानकर ही ५।१।१६ सूत्र का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टाध्यायी के अनुशीलन से पूर्वाचार्यप्रसिद्ध एक ऐसी गूढ़ शैली का परिचय प्राप्त हो जाता है, जिसकी उपादेयता अर्थज्ञान के लिये असाधारण है। अनुसन्धान करने पर अन्य शैलियों का ज्ञान भी हो सकता है, यह ज्ञातव्य है।

—:०:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्विंश परिच्छेद

पाणिनीय सम्प्रदाय की दृष्टि में लोकप्रामाण्यवाद

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता—वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि पाणिनि ने शब्दार्थसम्बन्ध को सिद्ध मानकर सूत्रों की रचना की है। इससे यह ध्वनित होता है कि व्याकरण शब्द बनाता नहीं है, वह लोकव्यवहृत शब्दों का अन्वाख्यान-मात्र करता है। लोक में जिस शब्द की जो शक्ति नहीं है, व्याकरण के सहस्र सूत्र भी उस अर्थ को स्फुटित नहीं कर सकते—इस सिद्धान्त को महावैयाकरण हरिदीक्षित ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—नह्यविद्यमानायाः शक्तेरेकशेषशास्त्रसहस्रेणापि प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् (शब्दरत्न १।२।६५)। शब्दार्थसम्बन्ध में यदि लोक का प्रामाण्य है, तो शास्त्र का सार्थक्य क्या है ? इसका उत्तर वार्त्तिककार ने दिया है—'शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' (पस्पशा)। इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध के क्षेत्र में यदि नियामिका शक्ति किसी की है, तो वह 'लोक' की है, शास्त्र की नहीं।

लोकसिद्ध शब्द ही व्याकरणशास्त्र का विषय है। इसका प्रमाण 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' यह वचन है। किसी भी अज्ञात प्रयोग के सम्बन्ध में विचार करते समय पतञ्जलि इसी परिभाषा का आश्रय लेते हैं, और इसी के बल पर निश्चित करते हैं कि अमुक प्रयोग होगा या नहीं। इस वचन की व्याख्या में कैयट ने कहा है— नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात् (प्रदीप १।१।२३) अर्थात् लोक में अप्रयुक्त शब्द की सिद्धि के लिये व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता, क्योंकि लोक-प्रयुक्त शब्दों का ही सूत्रों से अन्वाख्यान किया जाता है। नागेश ने स्पष्ट कहा है कि 'अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता न तु लक्षणस्य' अर्थात् लोक में अप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि के लिये व्याकरण का नियम लगता ही नहीं है, और यही व्याकरण की महिमा है। इससे यह सिद्ध होता है कि लोक में अप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि में सूत्र को घटाना 'काकदन्तपरीक्षा' की तरह व्यर्थ है, क्योंकि व्याकरण कभी भी असिद्ध शब्दों का निर्माण नहीं करता।

व्याकरणानुमत शब्दान्वाख्यान—व्याकरण-शास्त्र का स्वरूप क्या है—इस विषय में वार्त्तिककार ने कहा है—'सदन्वाख्यानत्वात् शास्त्रस्य' (१।१।६१) अर्थात् जिस प्रकार चक्षु विद्यमान रूप को देखता है, रूप को उत्पन्न नहीं करता,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी प्रकार व्याकरण भी विद्यमान शब्दों के विषय में ज्ञापन करता है–किस भाषा में कौन-सी वर्णानुपूर्वी साधु है, कौन-सी असाधु है; अथवा किस अर्थ में कौन पद साधु है, कौन असाधु है; इत्यादि, 'अमुक शब्द का अमुक अर्थ निश्चित किया जाता है'–ऐसा निर्देश करने का अधिकार व्याकरण को नहीं है। वस्तुतः लक्षण (व्युत्पादक सूत्र) बनाना व्याकरण का विषय है, लक्ष्य बनाना नहीं। व्याकरण में लक्षण की प्रधानता है, इसे दुर्गाचार्य ने भी माना है।

व्याकरण का जो दूसरा लक्षण है, 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' वह भी यही प्रमाणित करता है कि यह शास्त्र लक्ष्य (प्रयुक्त शब्दों) का अतिक्रमण नहीं कर सकता है।

लोकप्रामाण्यस्वरूप––लोक-प्रामाण्य के विषय में काशिकाकार ने कहा है—'शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकम्, न पारिभाषिकमशक्यत्वात् लोकत एव अर्थावगतेः' (१।२।५६)। भाष्यकार ने भी बार-बार कहा है—'स्वाभाविकमर्थाभिधानम्' (२।१।१)। शब्दार्थ-सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का नियोग व्याकरण से साध्य नहीं है। वह केवल लोक-साध्य है, यह आचार्यों ने प्रमाणित किया है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है––स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेषु अर्थेषु अभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते' (२।१।१)। इस वाक्य से प्रमाणित होता है कि लोकद्वारा नियमित अर्थों में प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरण करता है।

अर्थाभिधान की स्वाभाविकता (लोकसिद्धता)––इस सिद्धान्त को न मानने पर जो असामञ्जस्य उत्पन्न होंगे, उनका विस्तृत विचार २।१।१ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने किया है। तथा यह भी प्रमाणित किया गया है कि व्याकरण द्वारा अर्थाभिधान सम्भव ही नहीं है। आजकल के प्रत्येक शब्दतत्त्वविश्लेषक को यह अंश ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। कैयट ने इस प्रसंग का निम्न शब्दों में उपसंहार किया है—'तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिरनिच्छताऽपि युक्तिवशादेष्टव्येत्यर्थः'। इस वाक्य से यह ध्वनित होता है कि शायद कुछ लोग उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध भी करते थे, जिनको लक्ष्यकर कैयट ने 'अनिच्छताऽपि' पद का व्यवहार किया है।

अभिधान का बल—शब्दार्थसम्बन्ध की लोकसिद्धता के विषय में कई ज्ञातव्य तथ्य हैं। यथा—भाष्यकार ने कहा है 'अभिधानलक्षणाः कृत्-तद्धित-समासाः' अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सूत्रों का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है, अर्थात् प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवर्तित नहीं होगा,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि उस शब्द से उस अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है कि पाणिनि के 'तत आगतः' (४।३।७४) सूत्र के अनुसार 'वृक्षमूलाद् आगतः' इस अर्थ में 'वार्क्षमूलः' पद की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु इसलिये सिद्धि नहीं होती कि इस अर्थ में इस शब्द की लोकप्रसिद्धि नहीं है (४।३।२५)। व्याकरण के सूत्रों में कहीं-कहीं अर्थनिर्देश उपलब्ध होता है पर यह जानना चाहिए कि ऐसे सूत्रों से अर्थ-नियमन नहीं होता—यह वैयाकरण कहते हैं। पाणिनि-सूत्रदर्शित अर्थनिर्देश के कारण के विषय में कैयट ने कहा है—'असंकरेण विशिष्टे एवार्थेऽपवादा यथा स्युरित्येवमर्था अर्थनिर्देशाः' (प्रदीप ४।३।२५) अर्थात् उत्सर्गापवाद के प्रयोग में प्रयोक्ता कहीं गलती न करें—इस लिये छात्रसुहृत् पाणिनि ने सूत्रों में अर्थ-निर्देश किया है। यदि कहीं पर पाणिनिसूत्रों के पदों के अन्वयादि में सन्देह हो जाए तो यादृश विश्लेषण से लोकानुसारी पद की सिद्धि होगी, तादृश विश्लेषण ही मान्य होगा। इसका एक उदाहरण ५।२।३७ सूत्र के प्रदीप में है। यहां कैयट लिखते हैं--'लोकप्रसिद्धार्थानां शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात्, लोके च नानाशब्दस्य पृथग्भावाभिधायित्वात् 'नसह' इति प्रकृत्यर्थनिर्देशः'। पाणिनि के सूत्रों में 'न सह' शब्द पठित हैं, वह प्रत्ययार्थ है, या प्रकृत्यर्थ, इसमें संदेह था। लोकप्रामाण्य के आश्रय मानकर उत्तर दिया गया कि 'न सह' प्रकृत्यर्थ है—प्रत्ययार्थ नहीं। पाणिनि के सूत्रार्थ में कितने ही ऐसे सांशयिक स्थल हैं, जिनका उत्तर लोकप्रामाण्य के आश्रय से सरलता से दिया जा सकता है, जहाँ शास्त्रवाक्यमात्र से निश्चित निर्णय करना अशक्य जान पड़ता है।

अभिधान के बल से भाष्यकार ने अनेक स्थलों में अनिष्ट प्रयोगों का वारण किया है, जो सूत्र के व्याख्यानमात्र से संभव नहीं है। यथा—'पञ्चभिः भुक्तमस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास क्यों नहीं होता? भाष्यकार ने उत्तर दिया है—'अनभिधानात्' (२।२।२४)। इस स्थल पर पतञ्जलि ने अभिधान की महिमा को दिखाया है, यथा--'तच्चावश्यम् अनभिधानमाश्रयितव्यम्। क्रियमाणेऽपि परिगणने यत्राभिधानं न भवति, तत्र न बहुव्रीहिः यथा पञ्च भुक्त-वन्तोऽस्येति'। लौकिक अर्थ का द्योतन प्रत्यय से यदि संभव हो, तभी सूत्र-विहित प्रत्यय होगा, अन्यथा नहीं। इसी युक्ति के बल पर सर्वदा अनिष्ट प्रयोगों का वारण किया जाता है। इस विषय में कैयट का निम्न सन्दर्भ अवलोकनीय है--'रक्तादीनां शब्दानां योऽर्थः स एव यदि लौकिके प्रयोगे प्रत्ययेनाभिधीयते, तदा प्रत्ययो भवति नान्यथा। प्रयुक्तानां शब्दानां साध्वसाधु-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेकाय शास्त्रारम्भात् (४।२।१)। शास्त्र और लोक का सम्बन्ध इस वाक्य से स्पष्ट दिखाया गया है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि शास्त्र में जिसे 'शब्द-शक्ति' कहा जाता है, वह भी शास्त्रारम्भक या शास्त्र से नियन्त्रित नहीं है, अपितु वह प्रयोगानुसारिणी है, जैसा कि कैयट ने कहा है–"सर्वत्र चात्र शब्दशक्तिः प्रयोगानुसारिणी प्रमाणम्" (प्रदीप ६।३।४६)। व्यवहार ही शब्दशक्तिग्रह में सर्वप्रधान है, यह सिद्धान्त वैयाकरण सम्प्रदाय में निर्विवाद है (द्र० शक्तिग्राहकशिरोमणेः व्यवहारस्य तुल्यत्वात्––लघुमञ्जूषा)।

प्रयोगव्यवस्था लोकापेक्ष है––इसको मान लेने पर भी विप्रतिपत्ति रहती है कि यदि लोक में ही मतभेद हो जाए, तो क्या होगा? संस्कृतभाषा के व्याकरण-ग्रन्थों में इस प्रकार का विचार प्रायेण नहीं है; एक स्थल में ऐसी शंका का उत्तर दिया गया है कि 'प्रचुरलोकापेक्ष्या व्यवस्था होती है' (प्रदीप २।१।१५)।

लोकशक्ति की महत्ता––शास्त्र लोक-शक्ति को हटाकर कोई नियमन नहीं कर सकता, लोक के अनुसार ही शब्दशास्त्र को चलना पड़ता है, यह न्याय वैयाकरण-निकाय में पूर्णरूपेण ग्राहृत है। परिभाषा भी है—'नहि अनिष्टार्था शास्त्रप्रक्लृप्तिः' अर्थात् व्याकरण के सूत्रों से अनिष्ट प्रयोगों को नहीं बनाना चाहिए। अनिष्ट प्रयोग = लोक में असिद्ध प्रयोग। ठीक यही बात योगविभाग के विषय में कही जाती है। कभी-कभी कुछ सिद्ध प्रयोगों की निष्पत्ति के लिये सूत्रावयवों को इतस्ततः विच्छिन्न करके व्याख्या की जाती है (जहाँ सूत्रों के सरल अर्थ से उन प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती), परन्तु इस विभागयुक्त व्याख्यान से ऐसे शब्दों की भी सिद्धि होने लगती है, जो लोकसिद्ध नहीं हैं। इस उभयतस्पाशा रज्जु से बचने के लिये उत्तर दिया जाता है कि 'योगविभाग इष्टसिद्ध्यर्थः' अर्थात् लोकसिद्ध शब्दों की सिद्धि के लिये ही योगविभाग (=सूत्रों के शब्दों का इतस्ततः विच्छेद) उचित है, पर उससे अनिष्ट शब्दों की सिद्धि नहीं करनी चाहिए। व्याकरण शास्त्र की यह लोकापेक्षिता कैयट के निम्न वाक्य में भली भाँति प्रकाशित हुई है––'नहि वाक्योपमर्दनेन समासः क्रियते लौकिके प्रयोगे द्वयोरपि नित्यत्वात्। अन्वाख्यानमात्रं तु शास्त्रेण क्रियते' (२।२।२५); अर्थात्, यतः लोक में समास और विग्रह दोनों समान रूप से प्रयुक्त होते हैं, अतः वाक्यप्रवृत्ति का उन्मूलन कर समास की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

लोक से केवल अर्थ-नियमन ही नहीं, प्रत्युत लोक-व्यवहार से 'शब्द-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवेश' भी होता है [द्रष्टव्य भाष्यवचन—'कारणाद् द्रव्ये शब्द-निवेशः' पर कैयट की व्याख्या 'शब्दार्थावसायहेतुः लोकव्यवहारोऽत्र कारणशब्देन विवक्षितः' (२।२।२९)]। पतञ्जलि ने जिस रूप से इस वाक्य को लिखा है, उससे मालूम पड़ता है कि यह एक प्रचलित आभाणक है। केवल शब्द-निवेश ही नहीं, एक शब्द का अर्थान्तराभिधायित्व भी लोकव्यवहारगम्य है—यह भी इसी स्थल पर कैयट ने कहा है। शब्दनिवेश में लोक-व्यवहार ही हेतु है, ऐसा वार्त्तिककार का भी मत है, जैसा कि उन्होंने कहा है—'दर्शनं वै हेतुः'। (यहाँ पर दर्शन का अर्थ है—लोकव्यवहार—प्रदीप)।

अप्रयुक्त शब्द-निर्माण की असम्भवता—हम पहले यह कह चुके हैं कि 'यथालक्षणम् अप्रयुक्त' इस परिभाषा के अनुसार वैयाकरण लोकप्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करते हैं। इस परिभाषा की दो व्याख्याएँ हैं, जिनसे वैयाकरणों की दो धाराओं का पता चलता है। प्रथम—जिसका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, व्याकरण के अनुसार उसका संस्कार करना चाहिए। यह मत लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों का है। द्वितीय—जो प्रयोग (शब्द) अप्रयुक्त है, उसमें व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता है (प्रदीप २।४।३४)। यह मत लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों का है। इनमें से दूसरा अर्थ ही पतञ्जलि का सम्मत है—क्योंकि उन्होंने लक्ष्य के अनुसार सूत्रसार्थक्य पर विचार किया है (द्र० भाष्य, रसादिभ्यश्च ५।२।९५ आदि सूत्रों पर)। मालूम पड़ता है कि जब संस्कृत भाषा प्रचलित थी, तब दूसरा मत स्वीकृत था, पर जब संस्कृत-भाषा अप्रचलित हो गई, तब भाषा के शरीर में विकृति न आ जाए, इसलिये प्रथम मत का प्रचलन हुआ। यह बात सत्य है, क्योंकि वैयाकरण कहते हैं—'प्रयोगमूलत्वाद् व्याकरणस्मृतेः (प्रदीप ५।१।१६) अर्थात् व्याकरणशास्त्र का मूल है 'प्रयोग'=लोकसिद्ध शब्द।

व्याकरणशास्त्र में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर किसी एक विशेष प्रकार के प्रयोगों का होना या न होना व्याकरण से निर्धार्य होता है। ऐसे स्थलों पर सबको मानना पड़ता है कि प्रयोगानुसार ही सूत्रों की व्याख्या करनी चाहिए। पाणिनि का 'गणपाठ' लोक-प्रामाण्य का एक स्पष्ट उदाहरण है। अधिकांश गणपाठ आकृतिगण हैं, अर्थात् अन्य समान कार्यभाक् शब्दों का भी निवेश उस गण में हो सकता है। पर किन शब्दों का अन्तर्भाव करना चाहिए, यह व्याकरण से निर्णीत नहीं हो सकता। लोकप्रयुक्त शब्द के अनुसार ही गणपाठीय शब्दों का सङ्कलन उचित है—यह मत भी लोकप्रामाण्य की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वशीर्षता का द्योतक है। इस विषय का विशिष्ट उदाहरण १।३।१५ के व्याख्यानभूत उद्द्योत में है। कैयट ने यहाँ वार्तिकस्थ 'हसादीनाम्' पद का अर्थ किया है—'हसिप्रकाराणां शब्दक्रियाणाम्'। इस पर नागेशभट्ट कहते हैं—'अशब्दहासे भवति न वेति बहुदर्शिनो विचारयन्तु'। जो बहुदर्शी होगा, अर्थात् अधिक लोकसिद्ध प्रयोगों का ज्ञान रखेगा, वही वार्त्तिकस्थ 'हसादीनाम्' का विवक्षितार्थ जान सकेगा। सूत्र-वार्त्तिकादि का अर्थ प्रयोगानुसार ही होना चाहिए, यह बात इससे ध्वनित होती है।

शब्द की विषयनियतता—जिस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध लोकसिद्ध है, उसी प्रकार शब्द का विषय भी नियत है। उपसर्ग आदि भी क्वचित् नियत-विषय होते हैं—जिससे शब्द की लोकसिद्धता सुदृढरूप से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने कहा है—'अवाद् ग्रः' (१।३।५१); गॄ धातु से 'गिरति' तथा 'गृणाति' इन दोनों का ग्रहण हो सकता है अतएव 'अवाद् गिरतेः' ऐसा कहना चाहिए, जिससे 'गृणाति' का ग्रहण न हो—ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं—'न वक्तव्यम् प्रयोगाभावात् × × न चावपूर्वस्य गृणातेः प्रयोगोऽस्ति' अर्थात् यतः अव+गृणाति का प्रयोग लोक में नहीं है, अतः पाणिनि ने निःसङ्कोच हो कर सन्दिग्ध 'ग्रः' पद का व्यवहार किया (लाघव के लिये), क्योंकि वे जानते थे कि सूत्र से यद्यपि 'अव+गृणाति' का भी ग्रहण हो सकता है, तथापि ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि लोक में ऐसा प्रयोग नहीं होता है। व्याकरणसूत्रों की रचनापद्धति में भी लोक का कितना प्रभाव रहता है—यह इससे प्रमाणित होता है।

वस्तुतः व्याकरण से शब्दसाम्राज्य का पूर्ण विश्लेषण सम्भव नहीं है। कृत् आदि के प्रयोगों में कितने ही ऐसे लौकिक शब्द मिलते हैं, जिनके लिये अष्टाध्यायी में अनुशासन नहीं है, यद्यपि उन प्रयोगों को साधु मानना पड़ता है। ऐसे स्थलों के लिये प्रत्यय आदि का अन्वेषण करना चाहिए—ऐसा ही व्याख्याकारों ने कहा है (द्र० प्रदीप १।४।३ आदि)। जिस प्रकार शब्द-सिद्धि के विषय में यह बात घटती है, उसी प्रकार अर्थ-सिद्धि के विषय में भी जानना चाहिए। कैयट ने स्पष्टतया कहा है—'शास्त्रेऽनुपात्तोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते' (१।४।२१)। लोकशक्ति की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है?

लोक का तात्पर्य—उपर्युक्त सन्दर्भ से जो बात स्पष्ट होती है वह यह है—'लोके स्वार्थे प्रयुज्यमानानां शब्दानां साधुत्वमात्रमनेन शास्त्रेण प्रतिपाद्यते,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तु अर्थे नियोगः क्रियते' अर्थात् लोक में अपने अर्थ में प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरण में किया जाता है, न कि 'अमुक शब्द का प्रयोग अमुक अर्थ में होना चाहिए'--इस प्रकार का नियोग (५।१।९०)।' इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि लोक किसे कहते हैं ? उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या में नागेश ने कहा है--'शिष्टलोकव्यवहारकाले' (उद्द्योत)। पतञ्जलि के अनुसार शिष्ट = आर्यावर्त्त के निवासी लोभादिहीन ब्राह्मण (द्र० भाष्य ६।३।१०९)। इससे यह प्रमाणित होता है कि जो भाषा जिस स्थान की है, उस स्थान के शिष्ट भाषावित् निवासी ही उस भाषा के प्रयोग में प्रमाण हैं। लोक के लक्षण में एक कारिका भी मिलती है, यथा--'लोक्यते येन शब्दार्थो लोकस्तेन स उच्यते, व्यवहारोऽथवा वृद्धव्यवहर्तृपरम्परा' (उद्द्योत ४।१।३) अर्थात् शब्द के अर्थ का अवलोकन जिससे होता है, उसका नाम 'लोक' है। वह लोक दो प्रकार का है—व्यवहार और व्यवहारकारियों की परम्परा। व्याकरण के व्याख्याकारों ने यह भी बार बार कहा है कि 'लोक' से अशिक्षित जनता नहीं, प्रत्युत 'शिष्टलोक' विवक्षित है। शब्द-व्यवहार यद्यपि आपामर-साधारण है, तथापि विरोध की उपस्थिति में प्रामाण्याप्रामाण्य के निर्णय के लिये शिष्टों की ही अपेक्षा है। यह सत्य आज भी समानरूपेण स्वीकार्य है। यद्यपि शिष्टों के विश्लेषणयोग्य शब्द केवल शिष्टों की ही सम्पत्ति नहीं है, वह सर्वलोकसाधारण है। शिष्टों का स्वतः प्रामाण्य है या नहीं, शिष्टों का प्रामाण्य किस प्रकार का है, इत्यादि विषयों की आलोचना व्याख्यानग्रन्थों में बहुलमात्रा में है।

वस्तुतः वैयाकरण को जिस प्रकार वाग्योगवित् कहा जाता है,(आध्यात्मिक दृष्टि से), उसी प्रकार उनको कभी-कभी 'शब्दमर्यादानुसारी' भी कहा जाता है (उद्द्योत ५।१।२१), क्योंकि वे शब्द का अनुसरण करते हैं, वे अवश्य ही उसके निर्माता नहीं हैं, प्रत्युत तदनुसार शास्त्र-संस्कार करते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि वैयाकरणों का कार्य है सिद्ध शब्दों का विश्लेषण करना, न कि असिद्ध शब्दों को बनाना।

पतञ्जलि की वचोभङ्गी से भी यही बात प्रमाणित होती है। कई स्थलों पर उन्होंने कहा है—नैषोऽस्ति प्रयोगः (६।३।१), और तदनुसार सूत्रार्थ किया है। यदि व्याकरण से प्रयोग बनता, तो कभी भी पतञ्जलि—'नैषोऽस्ति प्रयोगः' कहने का साहस नहीं करते। लोक की इतनी प्रधानता देखकर ही शायद कोई आलोचक व्याकरण की निरर्थकता का ख्यापन करते थे। वे कहते थे 'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणमिति'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पस्पशा)। पर यह बात ठीक नहीं है, व्याकरण की अपनी सार्थकता है, जिसका प्रतिपादन यथास्थान किया गया है।

कार्यशब्दवाद—हम कह चुके हैं कि 'शब्द व्याकरण से निष्पाद्य है' ऐसा भी एक मत था; कार्यशब्दवादी ही इस मत के प्रख्यापक थे—ऐसा ज्ञात होता है। इन लोगों के अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध का नियामक शास्त्र है (उद्योत ३।४।६७); इनके अनुसार प्रत्यय आदि नियोगतः कर्तृत्व आदि के द्योतक हैं, तथा प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग भी सर्वथा अवास्तव नहीं हैं। इनके दर्शन के विषय में कहा गया है—घटादिरूपकार्यवत् शब्दा अपि कार्या इति बुद्धया पठन्ति' (उद्योत २।१।६८)। इनके अनुसार व्याकरण का लक्षण है—'अपूर्वशब्दनिष्पादनद्वारा अर्थविशेषसम्बन्धनिष्पादकम्'। पतञ्जलि ने इस कार्यशब्दवाद का खण्डन किया है, जो कि सर्वदा उचित ही है।[1]

लोक की यदि इतनी प्रधानता है, तो व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है—इस युक्त शंका का उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से दिया जा सकता है। यह मानना ही पड़ेगा कि जब संस्कृत भाषा जीवित थी, तब व्याकरण का जो प्रयोजन था, वह बाद में (जब संस्कृत भाषा जीवित भाषा नहीं रही) ठीक वैसा नहीं रहा। प्राचीन लोग कहते थे कि 'शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' अर्थात् शास्त्रपूर्वक प्रयोग करने से अभ्युदय होता है'। वस्तुतः व्याकरणशास्त्र धर्मोपदेशन है (भाष्य ६।१।८४)—ऐसा पतञ्जलि ने स्पष्टतः कहा है। व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति प्राचीनों की दृष्टि में ठीक कैसी है—यह कैयट के निम्नोक्त वाक्य से ज्ञात होता है—'साधुभिर्भाषितव्यमिति धर्मनियमोऽनेन क्रियते इति—अर्थप्रतिपादनाय प्रयुज्यमानेषु सर्वेष्वेव शब्देषु इदं शास्त्रमन्वाख्यानाय प्रवर्तते' (प्रदीप ६।१।८४)।

१—कार्यशब्दवाद तथा नित्यशब्दवाद व्याकरण शास्त्र के दो मौलिकदर्शन हैं—इन मतों का विस्तृत विश्लेषण निबन्धान्तरसाध्य है, अतः इस विषय को यहीं छोड़ दिया जाता है।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चविंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी के ज्ञानसम्बद्ध शब्द

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें ज्ञानसंबन्धी निर्देश मिलते हैं। इन निर्देशों का तात्पर्य क्या है, यह यहाँ विचारित हो रहा है। यद्यपि अष्टाध्यायी कोई दर्शनग्रन्थ नहीं है, तथापि ज्ञान के साथ शब्द का नियत संबन्ध होने के कारण व्याकरणसूत्र में कहीं न कहीं ज्ञान का प्रसंग आ जाना स्वाभाविक ही है। ज्ञानसंबद्ध शब्दों का अभिप्राय निश्चितरूप से जानना आवश्यक है, अन्यथा हम अनुपयुक्त स्थल में सूत्र का प्रयोग कर सकते हैं, यह ज्ञातव्य है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि के ग्रन्थों की सामग्री पूर्वतन स्रोतों से समाहृत हुई है जिन स्रोतों का यथावत् ज्ञान हम लोगों के पास नहीं है। पाणिनि के सूत्रों में एक ही शब्द किंचित् विभिन्न अर्थों में व्यवहृत मिलते हैं; एकही शब्द पारिभाषिक और अपारिभाषिक अर्थ में अनेकत्र प्रयुक्त हुए हैं; अतः शब्दों के अर्थावधारण में भ्रान्तियों का होना स्वाभाविक है। ज्ञानसंबद्ध शब्द पर भी यही बात चरितार्थ होती है। क्वचित् ज्ञानपरक साक्षात् चर्चा भी व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध होती है, जैसा कि १।४।२९ भाष्य में पतञ्जलि के वाक्य से जाना जाता है (अथवा ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति)।[२] "ज्ञान की शब्दरूपापत्ति' भाष्यसंगत पक्ष है, यह कैयट ने कहा है (ज्ञानस्य शब्दरूपापत्ति-रिति दर्शनं भाष्यकारस्य)।

विचार की सुविधा के लिये हम ज्ञानपरक शब्दों का वर्गीकरण शब्द की मूल प्रकृति (धातु) के अनुसार करेंगे। चूंकि अष्टाध्यायी कोई दार्शनिक-विचारपरायण ग्रन्थ नहीं है, अतः विषयानुसार विभाग करना व्यर्थ है। ज्ञान-

---

१—वैदिक चरणशब्द पाणिनि के कुछ सूत्रों में 'शाखा' अर्थ में और कुछ सूत्रों में 'शाख्याध्येता' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (२।४।३, ६।३।८६, ४ १।६३) की विभिन्न व्याख्याएँ द्र०)। उसीप्रकार अमनुष्य शब्द २।४।२३ में रक्षः-पिशाचादि का वाचकहै और ३।२।५३ में निर्जीवपदार्थ का वाचक।

२—यथा ज्वालारूपं ज्योतिरविच्छेदेन उत्पद्यमानं सादृश्यात् तत्त्वेनाध्य-वसीयमानं सन्ततं तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपतामापद्य-मानानि सन्ततान्युच्यते (प्रदीप)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध शब्द जिन धातुओं से निष्पन्न हुए हैं, उन धातुओं को लेकर विचार करना ही उचित जंचता है। ज्ञानसम्बद्ध शब्द निम्नोक्त धातुओं से निष्पन्न हुए हैं—ज्ञा, विद्, बुध्, मन्, दृश, दिश्, लुच्, चर्, सिध्, शिक्ष आदि; इसके अतिरिक्त वे सूत्र भी यहाँ विचारित हुए हैं जिनसे ज्ञानसम्बन्धी कोई न कोई विचार निर्गलित होता हो।

हमने सर्वत्र पूर्व व्याख्यानों की सहायता से पाणिनिव्यवहृत शब्दों का अर्थ दिखाया है और कुछ स्थलों पर पूर्वव्याख्यान की आलोचना भी की है। इस विषय में अन्यान्य वैयाकरण संप्रदायों का क्या मत है, यह एक अवश्य ज्ञातव्य विषय है, जिसके लिये अधिकारी विद्वानों को चेष्टा करनी चाहिए।

ज्ञाधातु—ज्ञा-धातु-घटित सर्वमुख्य शब्द है—ज्ञान; इसका प्रयोग १।३।३६ सूत्र में है। अर्थ है—प्रमेयनिश्चय (काशिका)। १।३।४७ सूत्र में भी ज्ञान शब्द है, इस अर्थ में वदधातु आत्मनेपदी होता है। 'केवल प्रमेयनिश्चय रूप ज्ञान' नहीं, बल्कि 'ज्ञानपूर्वक व्यवहार' एतत्-सूत्रोक्त 'ज्ञान' का तात्पर्य है। इस सूत्र के 'ज्ञान' के उदाहरण-भूत 'शास्त्रे वदते' वाक्य की व्याख्या में कहा गया है—शास्त्रे वदते इति। विषयसप्तमी, व्यवहरतीत्यर्थः। व्यवहारश्च ज्ञानं विना न संभवतीति ज्ञानसार्थिकम्, ज्ञात्वा व्यवहरतीति फलितम् (बालमनोरमा)। इससे व्यवहार और ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से कर्म सफल होता है—ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति (शान्ति० २३८।१)।

सम्+ज्ञा का प्रयोग २।३।१२ सूत्र में है यहाँ 'सम्यग् ज्ञान' में ही तात्पर्य है—संजानीते सम्यग् जानीते इत्यर्थः (तत्त्वबोधिनी)।

उपज्ञोपक्रमं ·····(२।४।२१) सूत्र में उपज्ञा शब्द है। इस सूत्र के 'पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम्' रूप उदाहरण की व्याख्या से उपज्ञा का स्वरूप समझ में आ जाता है। पाणिनि की जो निजी सूझ है, (उनकी निजी चिन्ता का जो फल है, जिस अंश में पूर्वाचार्यों से उनकी भिन्नता है) वह उपज्ञा है। पाणिनि का व्याकरण अकालक (कालपरिभाषाशून्य) है;[1] पूर्वव्याकरणों में कालसम्बन्धी

१—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। उपज्ञायते इत्युपज्ञा प्रथमज्ञानम्। कालपरिभाषाशून्यं व्याकरणं पाणिनिना प्रथमं ज्ञातमित्यर्थः (धातुवृत्ति, ज्ञा अवबोधने धातु पर)। काशिकाकार भी यही कहते हैं—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतमकालकं व्याकरम् (२।४।२१; काशिका के किसी-किसी संस्करण में यह वाक्य अशुद्धरूप से मुद्रित हुआ है)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिभाषाएँ थीं, पर उन परिभाषाओं की लोकगम्यता (अष्टा० १।२।५७) को देखकर पाणिनि ने उनका त्याग किया—यह उनकी उपज्ञा का फल है। २।४।२१ काशिका में उपज्ञान पद उपज्ञा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पाणिनि का सूत्र है 'उपज्ञाते' (४।३।११५) जिसमें उपज्ञान रूप एक ज्ञान-विशेष का परिचय मिलता है। इसका अर्थ है—विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञातम् (काशिका) अर्थात् उपज्ञान वह ज्ञान है जो उपदेश के विना उत्पन्न होता है। काशिका में ४।३।११५ का उदाहरण है—पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्, अर्थात् पाणिनि का शास्त्र उपदेश के विना रचित हुआ है। पर 'प्रोक्त' अष्टाध्यायी के विषय में ऐसा कहना उचित नहीं है, विशेष कर जब कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण किया है, जैसा कि व्याख्याकारगण दिखाते हैं। संभवतः अष्टाध्यायी की रचना में पाणिनि की स्वोपज्ञ कुछ बातें हैं, जिनको लक्ष्य कर ऐसा कहा गया है। इस दृष्टि से उपज्ञा और उपज्ञान एक ही है।

४।३।११६ पर काशिकाकार कहते हैं—विद्यमानमेव ज्ञातमुपज्ञातम्। इससे उपज्ञान का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है, पर यह 'उपज्ञान' और पूर्वोक्त 'अनोपदेशिक ज्ञान' सर्वथा समान नहीं हो सकते। कुछ विद्वान् उपज्ञात = प्रथमज्ञात कहते हैं (बालमनोरमा ४।३।११५) पर तब २।४।२१ सूत्रोक्त 'उपज्ञा' और यह 'उपज्ञान' एक ही वस्तु हो जाते हैं; जिससे उपज्ञान का विवक्षित अर्थ विचारणीय हो जाता है[1]। अनौपदेशिक ज्ञान को 'विद्यमान वस्तु का ज्ञान' कहा जा सकता है इस दृष्टि से कि किसी के हृदय में जो 'अनोपदेशिक ज्ञान' उत्पन्न होता है वह स्वमहिमा में विद्यमान ही है, उसका विषय भी स्वप्रतिष्ठ है, ऐसा योगशास्त्र के आचार्य कहते हैं[2]; पर अष्टाध्यायी में यह तथ्य प्रयोगार्ह है या नहीं, यह विचार्य है।

ज्ञा धातु का एक विचित्र प्रयोग ज्ञोऽविदर्थस्य (२।३।५१) में दृष्ट होता है। इसका उदाहरण है—सर्पिषो जानीते। इसकी विभिन्न व्याख्याओं से

१—४।३।११५ सूत्र में जहाँ वासुदेव दीक्षित 'उपज्ञातं प्रथमं ज्ञातम्' कहते हैं, वहाँ ज्ञानेन्द्र 'विनोपदेशेन ज्ञातम्' यही मानते हैं। अमर में 'उपज्ञा ज्ञान-माद्यम्' कहा गया है (२।७।१३)।

२—अनोपदेशिक ज्ञान का उल्लेख योगविद्या में है; पातञ्जलयोगसूत्र ३।५४ में अनोपदेशिक ज्ञान का प्रसंग है, पर यही ज्ञान इस सूत्र में लक्षित हुआ है या नहीं, यह विचारणीय है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अविदर्थ ज्ञा' धातु (ऐसा ज्ञा धातु जिसका अर्थ वेदन नहीं है) का अर्थ जाना जाता है, यथा—अनेकार्थत्वाद् धातूनां प्रवृत्तिरिह ज्ञोऽर्थः अथवा भ्रान्त्या सर्वमुदकादिकं सर्पीरूपेण प्रतिपद्यते इति मिथ्याज्ञानं वा ज्ञोऽर्थः (प्रसाद टीका); ज्ञानपूर्विकायां प्रवृत्तौ जानातेर्लक्षणा (तत्त्वबोधिनी); सर्पिःसंबन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः, जानातेः प्रवृत्तौ लक्षणेत्याहुः (बृहच् शब्देन्दु पृ० ९२२)[1]।

पूर्वोक्त वचनों से मिथ्याज्ञान और ज्ञानपूर्विका प्रवृत्ति (ज्ञा धातु का लाक्षणिक प्रयोग) रूप दो अर्थ ज्ञात होते हैं। मिथ्याज्ञान का स्वरूप स्पष्ट ही है—अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान (एक में अन्य का ज्ञान) को मिथ्याज्ञान कहते हैं।

संज्ञा शब्द 'सम्यग् ज्ञान' के अर्थ में 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (१।२।५३) सूत्र में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि भाष्यकार के वचन से ज्ञात होता है (संज्ञानं संज्ञा)। यह संज्ञाशब्द भाव में अङ्प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है, अतः इसका अर्थ अवगम, संप्रत्यय है (द्र० प्रदीप-उद्द्योत)।

अज्ञाते (५।३।७३) सूत्र में अज्ञान नामक एक ज्ञानभेद का उल्लेख है। 'अज्ञातः अश्वः = अश्वकः' यह अत्रत्य उदाहरण है। यहाँ अज्ञातत्व क्या है, इस पर काशिकाकार कहते हैं—स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेण अज्ञाते प्रत्यय-विधानमेतत्। कस्यायमश्व इति स्वस्वामिसंबन्धेन अज्ञातेऽश्वे प्रत्ययः। जब कोई पदार्थ पदार्थसामान्य रूप से ज्ञात होता है, पर विशेष रूप से अज्ञात रहता है, तब वह 'एक प्रकार का अज्ञान' का उदाहरण होता है। विशेष रूपेण न जानना रूप अज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है, जैसा कि काशिका-कार कहते हैं—एवमन्यत्रापि यथायोगम् अज्ञातता विज्ञेया।

प्रज्ञ शब्द ५।४।३८ सूत्र में है (प्रज्ञ एव प्राज्ञः—स्वार्थ में अण्)। प्रज्ञः = प्रजानाति। प्रज्ञा शब्द प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः (५।२।१०१) में है। व्याकरणग्रन्थ में प्रज्ञा का स्वरूप विवृत नहीं हुआ है;[2] प्रज्ञा का स्वरूप 'व्यवहार को सफलता

१—ज्ञान-प्रवृत्ति-कर्मादि के विषय में यह भारतवचन सारवान् है—ज्ञानपूर्वा भवेल् लिप्सा लिप्सापूर्वाऽभिसंधिता। अभिसन्धिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् (शान्ति० २०६।६)।

२—पूर्वाचार्यों ने प्रज्ञा और ज्ञान का पृथक्करण किया है। जीवरथ के वर्णन में 'प्रज्ञानाभि' 'ज्ञानसारथि' रूप दो पृथक् शब्दरूपकालङ्कार में प्रयुक्त हुए हैं (२३६।११)। इसी प्रकार अन्य एक रूपकालङ्कार में 'प्रज्ञा ...ज्ञाना-श्रयं तृप्तितोयम्' कहा गया है (अश्व. २७।१५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की संपादक बुद्धि', या 'हिताहितज्ञानकारिणी बुद्धि' है[1]; कभी-कभी प्रज्ञा या प्रज्ञान आत्मज्ञान का वाचक भी होता है, पर अष्टाध्यायीगत 'प्रज्ञा' शब्द प्रथमोक्त अर्थ का वाचक ही प्रतीत होता है।

विद्धातु—इस धातु से निष्पन्न 'वेदना' शब्द 'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' (३।१।१८) में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ वेदना का अर्थ है—अनुभव या अन्तर्बोध जिसे हम 'चैत्तिक ज्ञान' भी कह सकते हैं (वेदयते अनुभवति—गणरत्न० ८।४४५)। वेदना का प्रकृतिभूत विद्धातु चुरादि गणीय है, जिसका अर्थ चेतना है (विद चेतनाख्यानविवादेषु १०।१५४ क्षीर०)। चेतना = अन्तःकरण की सुखादियुक्त वृत्ति है जैसा कि शान्तिपर्व में कहा गया है—तत्र विज्ञान-संयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा। सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च (२१९।११) यहाँ वेदना और चेतना समार्थक हैं।[2]

विद से निष्पन्न विन्दुशब्द ३।२।१६९ में है—जिसका अर्थ है—वेदनशील। यह विद् अदादिगणीय ज्ञानार्थक है। तच्छील-तद्धर्मादि अर्थ में इसी विद् धातु से विदुर शब्द बनता है (३।२।१६२)। यह विद्धातु भी अदादिगणीय है (द्र० काशिका)।

३।३।९९ सूत्र में संज्ञा-अर्थ में विद्+क्यप् प्रत्यय से विद्यापद की सिद्धि की गई है। यह विद्याशब्द करण में निष्पन्न है, (विदन्ति अनया इति विद्या) इस अर्थ में विद्या = शास्त्र है।

कुछ व्याख्याकार (यथा स्वामी दयानन्द) विद्याशब्द को भाव में व्युत्पन्न समझते हैं। इनके अनुसार ३।३।९८ सूत्रीय भाव शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में आती है, जिससे विद्या का अर्थ होगा—वेदन (द्र० दयानन्दकृत अष्टाध्यायी-वृत्ति—भाव इत्यनुवर्तते)। [द्र० विद्या = विज्ञान, दुर्ग १।२ ख०]।

१—प्रज्ञाप्रसादमारुह्य..., मन्दबुद्धीनवेक्षते (शान्ति० १७।२०), प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्यात् (शान्ति० २०५।३) इत्यादि वाक्यों से ऐसा ही जाना जाता है।

२—त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते २९। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत। सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः। तमोगुणेन संयुक्तो भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ शान्ति १९४।३० ॥ सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः। त्रिविधा वेदना येषु प्रसूताः सर्वसाधनाः (शान्ति० २१९।२५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यायोनिसंबन्ध ४।३।१७७ में है। विद्यासंबन्ध का अर्थ है—विद्याकृत-संबन्ध, जैसे आचार्य, उपाध्याय आदि। ज्ञानाधिगम के क्षेत्र में इस विद्यासंबन्ध की महती आवश्यकता है।

इस प्रसंग में 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) सूत्रीय विद्धातु के अर्थ पर विचार करना चाहिए। यहाँ अध्ययन से वेदन को पृथक् माना गया है। अध्ययन = गुरुमुख से अक्षरानुपूर्वी का ग्रहण एवं वेदन = अर्थज्ञान, ऐसा वासुदेवदीक्षित कहते हैं (बालमनो०)। यह अर्थ नागेशादि को अनुमत है—शब्दपाठोऽध्ययनं तदर्थज्ञानं वेदनम् (शब्देन्दु०)। चिरकाल से ही ज्ञानाधिगम की ये दो पद्धतियां प्रसिद्ध रही हैं।

बुध्धातु—बुध्धातु निष्पन्न बुद्धिशब्द १।४।५२, ३।२।१८८ में है। सूत्र १।४।५२ में बुद्धि का अर्थ ज्ञानसामान्य है (सूत्रे ज्ञान सामान्यार्थानामेव ग्रहणम्—सि० कौ०)।

इस बुध् धातु से निष्पादित संबोधन शब्द २।३।४७ सूत्र में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—'अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्'। व्याख्याकारगण ठीक ही कहते हैं कि 'सम्यग् बोधनमेव संबोधनम् समित्युपसर्गलात्'।

मन्धातु—इस धातु से निष्पन्न मति शब्द ४।४।६० सूत्र में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ मति का अर्थ है—निश्चित धारणा, स्थिर विश्वास। 'अस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः', इस वाक्य में मति का अर्थ ज्ञान-सामान्य नहीं हो सकता, बल्कि उपर्युक्त अर्थ ही संगत होगा। मति का अर्थ मनन करने पर वह और अधिक संगत होता है। आत्ममान शब्द ३।२।८३ में है, जिसका अर्थ है—आत्मनो मननम् (काशिका)।

संमति शब्द ८।१।८ में प्रयुक्त है। संमति का अर्थ यहां 'पूजा' है। पूजा का तात्पर्य है—प्रशंसायुक्त मनोभाव रखना, जैसा कि उदाहरणों से जाना जाता है। गणरत्न० में 'संगता मतिर्यस्यासौ समतिः' कहा गया हो (७।३।९३)।

संमानन शब्द १।३।३६ में है। यहां भी संमानन का अर्थ 'पूजन' है, पर इस पूजा का संबन्ध ज्ञान से है, जैसा कि 'नयते चार्वी लोकायते' इस उदाहरण की व्याख्या से जाना जाता है—'चार्वीः तत्संबन्धादाचार्योऽपि चार्वी स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते, उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति, ते युक्तिभिः संस्थाप्यमानाः सम्मानिताः पूजिता भवन्ति' (काशिका)।

४।४।९७ सूत्रद्वारा मतकरण अर्थ में मत्यशब्द निष्पन्न होता है। टीकाकारों के अनुसार मत्य का अर्थ ज्ञानजननसाधन तथा ज्ञानजननक्रिया—ये दो हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१।३।३७ सूत्र में विमति शब्द है। काशिकाकार कहते हैं—विमतिर्नानामतिः, क्षेत्रे विवदन्ते गेहे विवदन्ते, विमतिपतिता विचित्रं भाषन्ते इत्यर्थः। यह विमति संशय मात्र नहीं है। वर्धमान भा कहते हैं—विविधा मतिर्यस्यासौ विमतिः (गणरत्न० ७।३६३)।

दृशधातु—इस धातु से निष्पन्न 'अदर्शन' शब्द 'अदर्शनं लोप' सूत्र में प्रयुक्त हुआ है (१।१।६०)। यहाँ यतः शब्द का प्रकरण है, अतः अदर्शन का अर्थ है—अनुपलब्धि अर्थात् दर्शन = उपलब्धि है। चूंकि दृश्धातु इन्द्रियव्यापार का अभिधायक होता है (यथा सांख्य में दृष्ट प्रमाण = प्रत्यक्षप्रमाण—दृष्टमनुमानमाप्तवचनम्—सांख्यकारिका), इसलिये यह अर्थ संगत ही है। उच्चारण अर्थ में दर्शन का प्रयोग पूर्वमीमांसा १।१।१८ में है। अप्रयोग के अर्थ में अदर्शन का प्रयोग १।२।५५ में है (द्र० काशिका)—योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्, यहाँ अदर्शन = अप्रयोग ही है।

५।२।६ सूत्र (यथामुखसंमुखस्य दर्शनः खः) में दर्शन (पुं०) = आदर्श आदि है। अतः ज्ञानविचार के साथ इस दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१) सूत्र से 'साक्षाद् दर्शन' रूप ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। कर्म में अपने को व्याप्रियमाण न कर कर्म को देखना' ही यह दर्शन है, जैसा कि बालमनोरमा में कहा गया है—'यः कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति सोऽयं साक्षीत्युच्यते। लौकिक साक्षी का ही पारमार्थिक रूप अध्यात्मशास्त्र में है, जहाँ निर्विकार चित् को लक्ष्यकर 'साक्षी' पद प्रयुक्त हुआ है।

दर्शनवाच्य पश्य[1] शब्द (दृश् से पश्य शब्द निष्पन्न है—भाव में) ८।१।२५ सूत्र में है। सूत्र में आलोचन (अचाक्षुषज्ञान) शब्द है, अतः पश्य का अर्थ ज्ञानसामान्य हैं (दर्शनं पश्यः, तच्चेह ज्ञानमात्रम् अदर्शनं लोप इत्यत्र यथा, न तु चाक्षुषज्ञानमेव अनालोचने इति निषेधात्—तत्त्वबोधिनी ८।१।२५)। दृश्धातु कभी-कभी ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्ति होने के कारण अज्ञानार्थक होता है, जैसा कि ३।२।६० की टीका में कहा गया है—तमिवेमं पश्यन्ति जनाः, स इवायं पश्यति। ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थाद् अज्ञानार्थादिति तु संगच्छते।

१—दर्शन और अदर्शन के अर्थ से संबद्ध पश्य और अपश्य का प्रयोग कपिलासुरि संवादगत इस श्लोक में मिलता है—पश्यः पश्यति पश्यन्तमपश्यन्तं च पश्यति। अपश्यस्त्वावपश्यत्वात् पश्यापश्यौ न पश्यति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र दृशेर्ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वेऽपि विषयीकरणावृत्तित्वात् (तत्त्वबो०)। वासुदेव दीक्षित कहते हैं—दृशेरत्र विषयात्वापत्तिमात्र-वृत्तित्वादज्ञानार्थता इति त्यदादिषु दृशेः—इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

दिश्धातु--इस धातु से निष्पन्न उपदेश शब्द १।३।२, ७।२।६२, ८।४।१४ आदि सूत्रों में प्रयुक्त हुआ है। अन्यों से जो सुना जाता है, वह उपदेश है; इस उपदेश से श्रोता में शाब्दबोध उत्पन्न होता है, अतः उपदेश एक ज्ञानकरण (=आगम नामक प्रमाण) ही है। आगम प्रमाण के विवरण में उप+दिश धातु का प्रयोग १।७ व्यासभाष्य में है।

व्याकरण में उपदेश=शास्त्रवाक्य और खिल पाठ है (काशिकादि द्र०)। जो परार्थ प्रय ग होता है, वह उपदेश है--उपदेशः परार्थः प्रयोगः, स्वयमेव तु यदा बुद्धया परामृशति तदा नास्त्युपदेशः (काशिका १।४।७०)। मूल आम्नाय उपदेश के माध्यम से ही लोक में प्रवर्तित हुआ था, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है— साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः (निरुक्त १।२० ख०)। १।३।२ भाष्य में प्रत्यक्ष आख्यान को उपदेश कहा गया है, अर्थात् इन्द्रियगोचर अर्थ का जो आख्यान है, वह उपदेश है (प्रदीप)। कभी-कभी गुण से विवरण करना भी उपदेशपदवाच्य होता है जैसा कि यहीं दिखाया गया है।

दिष्ट शब्द (दिश्+क्त) ४।४।१०० सूत्र में है। काशिका के अनुसार दिष्ट अर्थ है—प्रमाणानुगा मतिः (=प्रमाण के अनुसार चलने वाली मति)। अन्य व्याख्याकार दिष्ट=दैव कहते हैं। काशिकोक्त अर्थ में कई प्राचीन प्रयोग ज्ञात नहीं है[1]। भीष्मपर्व में दो स्थलों पर दिष्ट शब्द है, जहाँ उसका अर्थ दैव ही है (देवबोध टीका ४९।२, ९२।१९)।

लुचधातु—इस धातु से निष्पन्न अनालोचन शब्द (नञ्+आलोचन) ३।२।६० और ८।१।२ में है। टीकाकारों ने आलोचन को चाक्षुषज्ञान कहा है,

---

१--यच्च प्रमाणानुगता मतिर्दिष्टा, सास्येति विग्रहेऽप्ययं प्रयोगः, प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टग्रहणादिति, तन्न, दैवं दिष्टमिति कोशविरोधेन त्वदुक्तार्थककोशानुपलम्भेन च, तत्सत्वे मानाभावात्। यत्तु अर्शआद्यचि दिष्टाशब्दः साधुः, सूत्रे टाबन्तेन समाहारद्वन्द्व इति, तन्न, तावतापि प्रमाणानुगतेत्यर्थालाभात्, दिष्टमित्यस्य मति दैष्टिक इति भाष्यविरोधाच्च (बृहत् शब्देन्दु पृ० १३८३-१३८४)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम् (काशिका ८।१।२५), आलोचनमिह चक्षुर्ज्ञानमात्रमभिप्रेतम् (न्यास ३।२।६० ; मुद्रितपाठ अनालोचनम् है, जो अशुद्ध है)। आलोचन = चक्षुर्विज्ञान—इस विषय में धातुवृत्ति का यह सन्दर्भ अवलोकनीय है—नेह निशामनं ज्ञानमात्रं किन्तु चक्षुःसाधनं ज्ञानम् । शम लक्ष आलोचने इत्यस्य हीदं रूपम्, आलोचनं च चक्षुर्विज्ञाने प्रसिद्धम्, निशामनं चक्षुर्विज्ञानमिति स्थितम् (भ्वादि ५३५ सू०)। चक्षुर्विज्ञानवाची आलोचन शब्द आधुनिक नहीं हैं; शान्तिपर्व में 'चक्षुरालोचनायैव' वाक्य है (१८४।१३)।

चरध तु—पाणिनि का सूत्र है—विचार्यमाणानाम् (८।२।९७)। इससे विचार नामक एक ज्ञानभेद का पता लगता है। विचार का स्वरूप नागेशभट्ट ने इस प्रकार दिखाया है—'कोटिद्वयस्पृग् विज्ञानम् ।' इस विचार्यमाण शब्द पर यह कारिका प्रसिद्ध है—

> कोटिद्वयस्पृग् विज्ञानं विचार इति कथ्यते।
> विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते ॥

भूधातु—३।३।१५४ सूत्र में सम्भावन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—योग्यताध्यवसाय । कोई कोई 'अस्तित्वाध्यवसाय' शब्द का प्रयोग करते हैं।

ख्याधातु—आख्याता शब्द १।४।२९ में है (आख्यातोपयोगे)। जिससे ज्ञान प्राप्त हो, जो आख्यान करे, वह आख्याता है। यह सूत्र ज्ञानाधिगमसम्बन्धी एक तथ्य को दिखाता है।

इस सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है –'ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति' । ज्योति जिस प्रकार निर्गत होकर अन्धकार को दूर कर ज्ञेय बाह्य वस्तु को प्रकाशित करती है, ज्ञान भी उसी प्रकार विषय को प्रकाशित करता है—इस सादृश्य से ही यह वाक्य कहा गया है।

'ख्या' धातु जात अनुपाख्यशब्द (अष्टा० ६।३।८०) विचार्य है। उपाख्यायते प्रतीयते' इस अर्थ में उपाख्य = प्रत्यक्ष है। अतः 'अनुपाख्य' का अर्थ होगा—अनुमेय (उपाख्यं प्रत्यक्षं तद्भिन्नेऽनुमेये—शब्देन्दु०)। अनुमानप्रमाणगम्य को अनुमेय कहा जाता है। यह यद्यपि 'ज्ञान' नहीं है, पर अनुमितिरूप ज्ञान से सम्बद्ध है।

दर्शनग्रन्थों में भी विशिष्ट अर्थों में अनुपाख्य शब्द व्यवहृत हुआ है (द्र० कुसुमाञ्जलि १।५)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिध् धातु--सिध्यतेरपारलौकिके (६।१।४९) सूत्र की व्याख्या में कैयट कहते हैं--सिध्यति तापसः आविर्भूतज्ञानलक्षणप्रकाशो भवतीत्यर्थः। तप ज्ञान का उत्पादन किस रूप से करता है--इस पर नागेश कहते हैं--तपो हि चान्द्रायणादिकमनुष्ठीयमानम् अनुष्ठातुर्विवेकविषयज्ञानातिशयमुत्पादयतीत्यर्थः (उद्द्योत)। [1]

शिक्ष धातु—शिक्षेर्जिज्ञायासाम् (१।३।२१ वा०) का उदाहरण है—विद्यासु शिक्षते, धनुषि शिक्षते। यहाँ यह प्रश्न है कि सन्नन्त शक् धातु का रूप 'शिक्ष' है या 'शिक्ष विद्योपादाने' का रूप है। यदि प्रथम पक्ष माना जाए तो शकधातु जिज्ञासाविषयक होगा—इह तु जिज्ञासाविषयः शकिर्गृह्यते, विद्यां जिज्ञासितुं घटते इत्यर्थः (प्रदीप)। यही पक्ष संगततर जँचता है।

युज् धातु--युज् धातु घटित उपयोग शब्द १।४।२९ में है, जिसका अर्थ है--नियमपूर्वक विद्याग्रहण (उपयोगशब्दस्यैवायमर्थो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्–प्रदीप)। यह ज्ञानाधिगमसम्बन्धी एक विशिष्ट शब्द है। धातु-पाठगत युज् समाधौ (दिवादि) धातु भी ज्ञान का पराकाष्ठा-रूप समाधि (चित्तवृत्तिनिरोध = समाधि = योग--यह धातुवृत्तिकार कहते हैं) का वाचक है—यह इस प्रसङ्ग में स्मार्य है।

ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ तथ्य आचार्यकरण (१।३।३६), 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' आदि वाक्यों से भी ज्ञात होते हैं, संक्षेपार्थ जिनका संग्रह यहाँ नहीं किया गया है। प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि शब्द भी इस प्रसङ्ग में विचार्य हैं, पर पूर्वोक्त कारण से इनका सङ्कलन भी नहीं किया गया है।

१—यह सिद्धान्त योगशास्त्रानुमोदित है। योगाङ्ग (तप नियमरूप योगाङ्ग है) के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति होती है—यह पतञ्जलि कहते हैं (२।२८)। तप के अनुष्ठान से अशुद्धिरूप आवरणमल नष्ट होता है (व्यासभाष्य २।४३) यह मत भी इस सिद्धान्त का ज्ञापक है। अशुद्धि का नाश तप के विना नहीं होता (व्यासभाष्य २।१), अतः नागेश का वाक्य उचित ही है।

——

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्विंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी-वर्णित कर्तृत्व-भेद

यद्यपि शब्दों के अन्वाख्यान के लिये ही पाणिनि की अष्टाध्यायी प्रणीत हुई है, तथापि बहुधा लौकिक विषय और व्यवहारसम्बन्धी विवरण भी इस स्वल्पकाय ग्रन्थ में मिल जाता है। इस निबन्ध में कर्तृत्व से संबद्ध अष्टाध्यायी -प्रोक्त विवरण का एक संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है।

सब लौकिक व्यवहारों में कर्ता ही प्रधान होता है। पाणिनि के पारिभाषिक कर्ता में भी यह लक्षण चरितार्थ होता है, क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' (१।४।५४) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकारादि ने एक स्वर से कहा है कि 'स्वतन्त्र इति प्रधानभूत उच्यते' (काशिका), 'यत् कारकं प्रधानभूतं विवक्षितम्'। 'इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति' भाष्योक्त इस वचन से कर्ता का सर्वकारक-नायकत्व ज्ञात होता है।

कर्तृत्व के भेद—कर्ता के लक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि उसमें अनेक स्वगत भेद हैं, अर्थात् अनेक प्रकार का कर्तृत्व[1] हो सकता है। इसका कारण यह है कि क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र है, वह कर्ता कहलाता है। अतः क्रिया की प्रवृत्ति से, और साधनसंवद्ध अन्तरङ्ग बहिरङ्गदृष्टि से, क्रिया की सिद्धि और स्वातन्त्र्य के स्वरूप में विभिन्नता आ जाती है। देखा जाता है कि काष्ठछेदन रूप क्रिया का स्वरूप, कर्ता के उद्देश्य की भिन्नता से विभिन्न प्रकार का होता है; यथा—इन्धन के लिये और नौकानिर्माण के लिये काष्ठछेदन की क्रिया में भेद होता है। इस प्रकार क्रियानिष्पादन में भिन्नता होने से, उससे लक्षित कर्तृत्व में भी भेद सिद्ध होता है। साधन आदि की भिन्नता से भी भेद उत्पन्न होता है। पाणिनि ने कर्तृत्व के जिन भेदों का संग्रह किया है उनमें से कतिपय विशिष्ट स्थलों का उपन्यास किया जा रहा है:—

शिल्पी कर्त्ता—शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५) सूत्र में एक कर्तृ-विशेष का उल्लेख है, जिसको 'शिल्पी कर्ता' कहा जा सकता हैं। कर्तृत्वसामान्य से इसका

१—कर्तृत्व का सामान्य लक्षण यह है—'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते' (वाक्यपदीय); द्र० इसी ग्रंथ का अष्टम परिच्छेद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद उदाहरण और लक्षण से स्पष्ट हो जाता है। शिल्प = 'अभ्यासपूर्वकं क्रियासु कौशलं शिल्पम्' (प्रदीप ४।१।५५)। एकही क्रिया को बहुशः करने से क्रियासिद्धि में पटुता उत्पन्न हो जाती है, उस विशेष गुण से अन्वित कर्ता साधारणकर्ता से भिन्न ही होता है। साधारण व्यक्ति की वस्त्रवयन क्रिया और तन्तुवाय की वस्त्रवयनक्रिया की प्रकृति में स्पष्ट भेद है, और उससे क्रियासिद्धि में भी भेद होगा, अतः शिल्पी रूपकर्ता और सामान्यकर्ता में भेद सिद्ध हुआ। वर्तमानकाल में भी Skilled और Unskilled Labour नाम से यह भेद प्रख्यात है।

शीली कर्त्ता—ताच्छील्यवयोवचन...(३।२।१२९), सूत्र में एक विशिष्ट कर्ता का उल्लेख है, जिसे हम 'शीलीकर्ता' कह सकते हैं। शील = स्वभाव = 'फलमनपेक्ष्य प्रवर्तनम्'। जो कर्त्ता स्वभावतः (फल की अपेक्षा न कर) प्रवृत्त होता है ऐसा कर्ता इस सूत्र में लक्षित हुआ है। सामान्य कर्ता फलेच्छु होकर ही प्रवृत्त होता है, परन्तु शीली कर्ता' सदा "फलनिरपेक्षः तत्र प्रवर्तते" (काशिका)। क्रियासम्पादन के उद्देश्य में भेद होने से सामान्य कर्ता और 'शीली कर्ता' में भेद भी अवश्य स्वीकार्य होगा। गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते ··' वाक्य में लक्षित कर्ता एतादृश कर्ता है।

धर्मी कर्ता—आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४) सूत्र में जो 'तद्धर्म' पद है, उससे 'धर्मी कर्ता' नामधेय एक विशिष्ट कर्ता का परिचय मिलता है। जब कर्ता क्रिया में स्वभावतः प्रवर्तमान नहीं होता, अपितु धार्मिक दृष्टि से प्रवृत्त होता है, तब वह कर्ता इस स्थल का उदाहरण है। उपनयन में मुण्डन करने से लौकिक कोई फल नहीं होता, न ही वह कर्म पिपासानिवृत्त्यर्थ जलाहरण की तरह स्वाभाविक है, तथापि कर्ता किसी कारणविशेष से उस क्रिया में प्रवृत्त होता है, अतः यह कर्ता सामान्तकर्ता से विलक्षण स्वभावयुक्त होगा। कोई कहते हैं कि जिस जाति के लिये जो शास्त्रानुमोदित-विशेषकर्म नियत हो (यथा क्षत्रियों के लिये युद्ध में नरहत्या), उस धर्म-क्रियाकारी को 'धर्मी कर्ता कहा जाएगा। साधारण दृष्टि से नरहत्या अधर्म है, परन्तु युद्ध क्रिया में संलिप्त क्षत्रिय को धार्मिक कहा जाता है, अतः युद्धकालिक नरहत्यारूप-क्रियाकारी क्षत्रिय का कर्तृत्व साधारण नरहत्याकारी के कर्तृत्व से पृथक् है; अतः यह भी एक विशिष्ट कर्तृत्व का स्थल है, ऐसा मानना होगा। एक ही क्रिया को धर्म्यदृष्टि तथा सामान्यदृष्टि से करने से, उस काल में कर्ता के मनोभाव में विभिन्नता आ जाती है, इसको सभी अनुभव कर सकते हैं। फल में भेद होने पर कर्ता के मन में भी भेद की सत्ता माननी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। कथित उदाहरण में भी फल-भेद है, यथा—क्षत्रियों का स्वर्गलाभ और अन्यों का नरकलाभ। धार्मिकदृष्टि से क्रिया करने से चित्तशुद्धि रूप फल मिलता है, जो सामान्य कर्त्ता में दृष्ट नहीं होता।

साधुकारी कर्ता—पूर्वोक्त सूत्र से अन्य एक कर्तृविशेष का भी परिचय मिलता हैं, जिसको हम 'साधुकारी कर्त्ता' कह सकते हैं। साधुकारी = सम्यक् रूप से करने वाला, अतः असम्यक् रूप से करने वाले कर्त्ता से इसका भेद है, जो प्रत्यक्षगम्य है। शङ्का हो सकती है कि 'शिल्पी' और 'साधुकारी' समान ही हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से भेद प्रतीत होगा—अर्थात् शिल्पी तो साधुकारी हो सकते हैं, परन्तु साधुकारी सदा शिल्पी ही होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ३।१।१४९ में समभिहार शब्द है, जिसका अर्थ साधुकारित्व है (समभिहार-ग्रहणेनात्र साधुकारित्वं लक्ष्यते (काशिका)। अतः समभिहारी कर्ता और साधुकारी कर्त्ता एक ही हैं।

आनुलोम्यवान् कर्ता—कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३।२।२०) सूत्र में 'आनुलोम्यवान् कर्ता' रूप एक कर्तृविशेष का उल्लेख है। आनुलोम्य = अनुलोमता = अनुकूलता 'आराध्यचित्तानुवर्त्तनम्' (तत्त्वबोधिनी)। कर्त्ता की ऐसी भी क्रिया है, जो उसका शील वा स्वभाव नहीं है, उसका निजी कोई प्रयोजनविशेष भी नहीं है, परन्तु वह अपने इष्ट व्यक्ति के लिये ही (उसकी प्रीति के लिये ही) क्रिया में प्रवृत्त होता है। प्रभु की प्रीति के लिये भक्तों की भजन आदि क्रिया इस स्थल का सर्वजनविदित उदाहरण है। शील आदि से इस क्रिया में भेद है, क्योंकि आराध्य की प्रीति हो—ऐसी कामना उसके मन में रहती है। आराध्यचित्तानुवर्तन सर्वदा धर्म के अन्तर्गत भी नहीं हो सकता है, जैसे दलपति के आज्ञानुसार दस्यु की अपहरणक्रिया में धर्मभाव नहीं होता है। अपने लिये करना और दूसरों के लिये करना—लोक में सभी क्रियाओं का ऐसा भेद विद्यमान है, वही यहाँ ज्ञापित हुआ है। क्रियासम्पादन के स्वभाव में भेद होने से कर्त्ता में भी भेद सिद्ध हुआ।

हेतुकर्ता—इसी सूत्र में 'हेतुकर्त्ता' नाम के एक कर्तृविशेष का भी उल्लेख है—जैसे 'शोककरी कन्या'। कन्या शोक का उत्पादन नहीं करती, जिस प्रकार कुम्भकार घट का उत्पादन करता है, परन्तु कन्या को देखने से जनक के हृदय में शोक उत्पन्न होता है। शोकोत्पादन में कन्या का हेतुरूप कर्तृत्व है। यह एक विशेष प्रकार का कर्तृत्व है, यह लोक से विज्ञेय है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतुमति च (३।१।२६) सूत्र से 'हेतुमान् कर्ता' का परिचय मिलता है, जिसका यथार्थ नाम होगा—'प्रयोजक कर्ता'। जब कर्ता की क्रिया अन्य की प्रयोजिका होती है, तब वह इस स्थल का विषय होता है। हेतुकर्त्ता से इसमें भेद है। हेतुकर्त्ता में क्रिया विवक्षित नहीं होती है, परन्तु प्रयोजक कर्ता का लक्षण ही है—'अन्यव्यापार का अनुकूल व्यापारवान्'। प्रेरणात्मिका क्रिया का कर्ता सामान्य कर्त्ता से भिन्न होता है, और प्रेरणा में शिल्प, धर्म, शील का होना अनिवार्य नहीं है, अतः प्रेरक कर्त्ता सामान्य कर्ता से एक विशिष्ट कर्ता है।

सशक्ति कर्ता—शक्तौ हस्तिकपाटयोः (३।२।५४) सूत्र में भी 'शक्तिमान्' रूप एक कर्तृविशेष का उल्लेख मिलता है। क्रियासम्पादन में जिसका सामर्थ्य प्रचुर (अर्थात् प्रयोजन से अतिरिक्त) है, उसका क्रियासम्पादन और साधारण कर्ता के क्रियासम्पादन में भेद है। प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के अनुसार यहाँ शक्तिपद से अन्य सहाय-निरपेक्षता का ग्रहण होता है। जो कर्ता अन्य सहाय-निरपेक्ष होकर क्रिया की सिद्धि करता है, वह वस्तुतः एक विशिष्ट कर्ता है। यद्यपि सभी प्रकार के कर्ता में ही क्रियासिद्धि के लिये उपयुक्त सामर्थ्य है ही, तथापि जो कर्ता लघुतम प्रयोग से गुरुतर्पासिद्धि को लाता है, वह एक असामान्य कर्ता है, यही इस सूत्र से ज्ञापित होता है।

उपमान-कर्ता—कर्तुर्युपमाने (३।२।७९) सूत्र से जिस कर्तृ विशेष का ज्ञापन होता है, उसे 'उपमान कर्ता' कहा जा सकता है। उपमान कर्ता वह कर्ता है, जिसकी क्रिया स्वमेधा से उद्भावित नहीं है, स्वोपयोगी भी नहीं है, अपितु दूसरों की क्रिया का सदसद्विचारशून्य अन्धानुकरण-मात्र है। वस्तुतः यह कर्ता सामान्य कर्ता से सम्पूर्ण पृथक् जातीय है; जैसा इस सूत्र का 'उष्ट्र-क्रोशी' 'ध्वाङ्क्षरावी' (ऊँट और कौवे के समान शब्द करने वाला) आदि उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

अकृच्छ्री कर्ता—इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि (३।२।१३०) सूत्र में 'अकृच्छ्री कर्ता' नामक एक कर्तृविशेष का परिचय मिलता है; इस कर्ता को क्रिया-निष्पत्ति के लिये कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ता, अर्थात् जिसका क्रिया-सम्पादन सुखसाध्य होता है। क्रिया को सुखसाध्य बनाना एक साधारण काम नहीं है; साधारण कर्ता को तो सर्वजातीय क्रियाओं की सिद्धि आयासपूर्वक ही करनी पड़ती है, अतः जिस कर्ता का क्रियासम्पादन सुखमय हो, वह अवश्य ही एक विशिष्ट कर्ता होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टाध्यायी में इसके अतिरिक्त भी अनेक विशिष्ट प्रकार के कर्ताओं का उल्लेख मिलता है—जैसे भृतिमान् कर्त्ता आदि। इस संक्षिप्त निबन्ध में विशिष्ट कतिपय उदाहरणों का ही संकलन किया है। उपर्युक्त उदाहरणों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह भी पता चलता है कि व्याकरणशास्त्र से केवल शब्दसाधुत्व का ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत 'लौकिक व्यवहार में किस प्रकार का मनोभाव काम करता है', इसका भी प्रकृष्ट ज्ञान हो जाता है।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तविंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी प्रोक्त क्रियाभेद एवं उत्पत्ति

क्रियाभेदों पर विचार करने से पहले यह ज्ञातव्य है कि 'क्रिया' का लक्षण क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि; इन विषयों पर पाणिनि सर्वथा मौन हैं। उनका मनोभाव यह है कि यह विषय सर्वथा लोकगम्य हैं, और लोकव्यवहार से ही इन विषयों का निर्णय करना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं (दार्शनिक दृष्टि पर ध्यान न देकर)। निबन्ध में संक्षिप्तता लाने के लिये कुछ ही उदाहरण दिए गए हैं; व्याख्यानग्रन्थों के अनुसार ये उदाहरण संकलित किए गए हैं। अनेक स्थलों पर केवल उदाहरण को देखकर ही लक्षण का परिज्ञान हो सकता है। आवश्यकतानुसार पूर्वाचार्यों के लक्षण भी दिए गए हैं।[1]

क्रिया-समभिहार—क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२१) सूत्र में 'समभिहार' रूप क्रिया की एक अवस्था वर्णित है। समभिहार के दो अर्थ है—बार-बार होना' तथा 'अति तीव्रता' (पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः—काशिका)। (भृशार्थ = प्रकर्षातिशय)। शङ्का होगी कि क्रिया निश्चय ही अवयवभूत व्यापारों की समष्टि है और प्रत्येक क्रिया क्षणव्यापिनी है (तत्त्वतः), अतः क्रिया का स्वरूप सदैव एक रूप ही रहेगा, उसमें प्रकर्ष (= भृशता) कैसे सम्भव हो सकता है ? पतञ्जलि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। यथा—यद्यप्येका सामान्यक्रिया, अवयव क्रियास्तु बह्व्यः × × × ताः कश्चित् कार्त्स्न्येन करोति, कश्चित् अकार्त्स्न्येन तत्र यः कार्त्स्न्येन करोति स उच्यते पापच्यत

१—अनेक स्थलों पर सूत्रकार ने पूर्वाचार्य व्यवहृत शब्द (पूर्वाचार्यदर्शित अर्थ में) ग्रहण किया है। ऐसे शब्द पूर्व व्याकरण संप्रदायों में प्रसिद्ध थे, अतः सूत्रकार ने उनका अर्थनिर्देशकरना व्यर्थ समझा। वक्ष्यमाण 'क्रियासातत्य' शब्द इस तथ्य का एक उदाहरण है। न्यासकार कहते हैं–सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमपि आश्रितम् (६।१।१४४)। पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं, अतः ईदृश शब्दों के अर्थज्ञान में कहीं विपर्यास हो ही सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति। अर्थात् एक क्रिया की अनेक अवान्तर क्रिया होती है, और उन सब अवान्तर क्रियाओं को कोई जब पूर्णतः करेगा (एक का भी परित्याग नहीं करेगा) तब वह क्रिया भृश होगी और जब अपूर्ण रूप से किया जाएगा, तब भृश नहीं होगी। इसी अर्थ को और भी स्पष्ट रूप से विट्ठल ने कहा है—'एक प्रधाने-क्रियाया अधिश्रयणाधिकायाः साकल्येन सम्पत्तिः—(प्रसादटीका), अर्थात् पाकक्रिया के अन्तर्गत क्रियाओं को पूर्णतः करने से क्रिया भृश होती है। कैयट ने यह भी दिखाया है कि यह समभिहार मुख्य नहीं है, क्योंकि क्रिया अमूर्त है और वह युगपत्काल भाविनी भी नहीं है[1]। यही कारण है कि विट्ठलने भृशार्थ के लक्षण में 'फलातिरेको वा' भी कहा है, अर्थात् जहाँ फल का आधिक्य हो, वहाँ क्रिया को भृश समझना चाहिए, क्योंकि यदि क्रिया में भृशता न हो, तो फल का अतिरेक नहीं हो सकता।

क्रिया-पौनःपुन्य—यह समभिहार का दूसरा अर्थ है। इसके लक्षण में विट्ठल ने कहा है—'प्रधानक्रियायां पचनादिकायाः क्रियान्तर० व्यवधानेन आवृत्तिः पौनःपुन्यम् (प्रसादटीका), अर्थात् व्यवधान के साथ एक ही क्रिया जब बार बार की जाती है, तब वह पौनःपुन्य होता है।

क्रियासातत्यः—क्रिया की साततिकता, अर्थात् अविच्छेद से होते रहना। 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये (६।१।१४४) सूत्र में इस शब्द का प्रयोग है। 'अपरस्पराः गच्छन्ति' का अर्थ होगा 'अविच्छेदेन गच्छन्ति' अर्थात् गमन क्रिया में कोई विच्छेद नहीं है।

पौनःपुन्य और सातत्य में भेद यह है कि पौनःपुन्य में व्यवधान के बाद आवृत्ति होती है और सातत्य में अविच्छेद रूप से क्रिया का प्रवाह चलता है।

क्रियाव्यतिहार—कर्तरि कर्मव्यतिहारे (१।३।१४) सूत्र में क्रिया के इस भेद का उल्लेख है। यद्यपि सूत्रकार ने कर्मव्यतिहार कहा है, तथापि यहाँ कर्म=

१—इह समभिहारो नाम मूर्तस्यानेकस्य एककालस्य भवति, धातुवाच्या तु क्रिया एकैव, युगपदेकेन धातुना अनेकस्या अभिधानात्। सा च निवृत्तभेदा साध्यैकस्वभावत्वाद् धातुना प्रत्याय्यते। अधिश्रयणादिनां च क्रमजन्यत्वाद् युगपदवस्थानाभावाच्च क्रियासमभिहारो न संभवति मुख्यस्य...समभिहारस्येहा-संभवाद् गौण आश्रीयते। बुद्धिगोचरानेकपकलाजयत्क्रियागतः पौनःपुन्येना-नुष्ठीयमानकप्रधानक्रियाविषयो वेत्यर्थः (प्रदीप ८।१।२१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया ही है, जैसा कि कैयट ने युक्ति से समझाया है[1]। व्यतिहार = विनिमय (काशिका) अर्थात् एक का योग्य कार्य अन्य से करना, जैसे–'व्यतिलुनीते' क्रिया का अर्थ होगा—'शूद्रयोग्य शस्यादिकर्त्तन ब्राह्मण करते हैं'। शंका हो सकती है कि क्रिया तो साध्यैकस्वभाववती होती है और क्षणमात्र-व्यापिनी भी, अतः व्यतिहार कैसे हो सकता है? उत्तर में वक्तव्य है कि यहाँ क्रियाव्यतिहार से साध्य-साधनभाव का व्यत्यास विवक्षित है, अतः वह उपपन्न होता है; जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है–क्रियाणां साध्यैकस्वभावत्वात् कथं व्यतिहार इति चेत्? योग्यतावशाद् अस्येयं क्रिया साध्या अस्या इयं साधनमिति निर्ज्ञाते साध्यसाधनभावे यो व्यत्यासः स क्रिया व्यतिहारः' (प्रदीप)।

क्रियाव्यतिहार की अन्य व्याख्या भी है। वह है—'परस्परकरणम्'। उदाहरण के साथ कैयट ने यह समझाया है, यथा—'परस्परकरणमपि क्रिया-व्यतिहारः, यथा संप्रहरन्ते राजानः, अत्र एकैव क्रिया संचारिणीव लक्ष्यते' (प्रदीप) अर्थात् परस्पर-करण भी क्रियाव्यतिहार है, जैसे—अनेक राजा परस्पर प्रहार कर रहे हैं। यहाँ प्रहार रूप एक ही क्रिया संचारिणी होकर चलती है। यहाँ एक का कार्य दूसरा करता है, यह बोध नहीं होता और मालूम पड़ता है कि एक ही क्रिया हो रही है।

लक्षणरूप क्रियाः—लक्षण-हेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६) सूत्र में इस भेद का उल्लेख है। कभी-कभी क्रिया अर्थविशेष की सूचिका होती है। उदाहरण यथा—'शयाना भुञ्जते यवनाः' (यवन सोते हुए भोजन करते हैं)। यहाँ भोजनकालीन शयनक्रिया यह सूचित करती है कि भोक्ता यवन हैं; अतः यहाँ क्रिया 'परिचायिका' है।

लक्षणात्मिका क्रिया के विषय में व्याख्याकारों ने यह कहा है कि क्रिया कभी-कभी क्रियान्तर का भी ज्ञापक होती है, और कभी-कभी कारक का भी। जब कहा जाएगा 'तिष्ठन् मूत्रयति' (=खड़ा होकर लघुशंका कर रहा है) तब स्थितिक्रिया मूत्रक्रिया को परिचायक होती है। बहुसंख्यक लघुशंकाकारियों में कौन देवदत्त है, इस प्रश्न के उत्तर में 'यः तिष्ठन् मूत्रयति' जब कहा जाता है तब स्थाधातुवाच्य-क्रिया मूत्रक्रिया का लक्षण होती है (प्रदीप)। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कभी-कभी एक कर्ता के साथ दोनों क्रियायों का कथन होने

१—क्रियायाः साध्यत्वात् प्रधान्यात् क्रिययाप्तुमिष्टतमत्वात् कर्मग्रहणात् क्रियाव्यतिहारोऽयं गृह्यते, क्रियाया धातुवाच्यत्वाद अन्तरङ्गत्वात् (प्रदीप)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र से वे दो क्रिया एक दूसरे का लक्षण नहीं भी हो सकती हैं और वे कर्त्ता का ही लक्षण बनती हैं--यह व्याख्याग्रन्थों में स्पष्ट दिखाया गया है।

कभी-कभी लक्षण का अर्थ ज्ञापक न होकर तत्त्वाख्यान (=स्वभावाख्यान) ही होता है, और पाणिनि को यह लक्षण भी इष्ट है। वस्तुतः क्रिया जिस प्रकार क्रिया की ज्ञापिका होती है, इसी प्रकार स्वभाव-निर्देशपरक भी होती है। इस सूत्र में यह अर्थ भी लिया जा सकता है।

हेत्वात्मक क्रियाः—३।२।१२६ सूत्रोक्त; एक क्रिया अन्य क्रिया का हेतु भी होती है, जैसे—'अर्जयन् वसति' (=अर्जन के लिये रहता है)। इस सूत्र में हेतु का अर्थ फल भी है, कारण भी है (हेतुः फलं च-सि०कौ०)। 'अर्जयन् वसति' में अर्जन रूप फल के प्रति वास हेतु है, और जब 'हरिं पश्यन् मुच्यते' (=हरि को देखकर मुक्त होता है) कहा जाता है, तब हरि-दर्शनक्रिया मुक्ति क्रिया का कारण बनती है।

क्रियाप्रबन्ध—इसका उल्लेख 'नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्ध-सामीप्ययोः' (३।३।१३५) सूत्र में है। क्रियाप्रबन्ध=क्रिया का सातत्य अर्थात् अनुष्ठान का त्याग न करना, जैसे—'यावज्जीवं भृशमन्नम् अदात्' इस वाक्य में अन्नदान रूप क्रिया का सातत्यानुष्ठान प्रतिपादित होता है। यहाँ का सातत्य पूर्वोक्त सातत्य से भिन्न है, क्योंकि यहाँ के सातत्य का अर्थ है–'उस क्रिया का परित्याग न करना' न कि 'सतत उसको करते रहना'; अन्नदानक्रिया अविच्छेद से नहीं चल सकती, यह स्पष्ट है।

क्रिया-सामीप्यः—३।३।१३५ सूत्र में ही इस भेद का उल्लेख है। सामीप्य=तुल्यजातीय क्रिया से अव्यवधान; जैसे--यदि यह कहा जाए 'येयं पौर्णमासी अतिक्रान्ता तस्याम् अग्नीन् आधीत' (यह जो पौर्णमासी अतिक्रान्त हुई, उसमें अग्नियों का आधान उसने किया था) तो यहाँ क्रिया का सामीप्य प्रतीत होता है; यद्यपि यहाँ पौर्णमासी के बाद कृष्णपक्ष आने से कुछ अहोरात्र की स्थिति होने के कारण व्यवधान होता है, पर यह व्यवधान सजातीय पदार्थ का नहीं है, अतः यहाँ क्रिया का सामीप्य है (पौर्णमास्या उपरि कृष्णपक्षे कतिपयाहोरात्रैः व्यवधानेऽपि सामीप्यमस्त्येव, पौर्णमास्यन्तरेण सजातीयेन व्यवधानाभावात्–बालमनो०)।

क्रियातिपत्ति—इसका उल्लेख 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) सूत्र में है (क्रियातिपत्ति=कुतश्चिन्निमित्तात् क्रियाया अनिष्पत्तिः–उद्द्योत) अर्थात् किसी निमित्त से क्रिया की निष्पत्ति न होना, जैसे--'सुवृष्टि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्चेत् अभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्' (=यदि सुवृष्टि होगी, तो सुभिक्ष होगा) इस वाक्य में वृष्टिसापेक्षता के कारण भिक्षा मिलने की क्रिया की अनिष्पत्ति कही गई है। क्रियातिपत्ति में साधनातिपत्ति भी संगृहीत है, क्योंकि फलतः साधनातिपत्ति क्रियातिपत्ति में ही आ जाती है—जैसा कि भाष्यकार ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है।

क्रियार्था क्रिया--क्रिया का यह भेद 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) सूत्र से विज्ञात होता है। क्रियार्था क्रिया = क्रिया के लिये क्रिया' जैसे 'फलेभ्यो याति' वाक्य में 'फलाहरण क्रिया' के लिये 'गमनक्रिया' विवक्षित है। शंका होगी कि यहाँ तो गमन-क्रिया फल के लिये हैं, अतः वह 'क्रियार्था क्रिया' कैसे हुई? उत्तर यह है कि पूर्वोक्त वाक्य में गमनक्रिया वस्तुतः आहरण क्रिया के लिये ही है, और आहरण का कर्म फल है, अतः यह वस्तुतः 'क्रियार्था क्रिया' ही है।

क्रियाभ्यावृत्ति—इसका उल्लेख 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५।४।१७) सूत्र में है। इसका अर्थ है—'क्रिया का जन्म'। अतः यहाँ 'क्रिया-जन्म की गणना' रूप एक तथ्य प्राप्त होता है। इस सूत्र में यह शंका होती है कि संख्या-शब्दों की ही तो गणना में वृत्ति होती है, अतः सूत्र में संख्या शब्द का पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? दूसरी शंका यह है कि अभ्यावृत्ति तो क्रिया की ही होती है, क्योंकि क्रिया का विषय साध्यार्थ है। द्रव्य और गुण तो सिद्ध भाव है और जहाँ द्रव्य और गुण का पुनः पुनः जन्म कहा जाता है (जैसे 'पुनः पुनः स्थूलः' इत्यादि वाक्यों में) वहाँ भी अस्तित्व क्रिया की बार-बार उत्पत्ति विवक्षित होती है, अतः 'क्रियाभ्यावृत्ति' कहने की सार्थकता क्या है?

पहले प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य है कि कहीं-कहीं निश्चित संख्या के अभाव में भी अभ्यावृत्ति होती है, जैसे—'भूरिवारान् भुङ्क्ते' इस वाक्य में भूरि = बहु और वार = 'समभिव्याहृत क्रिया पर्याप्तकाल' है, अतः वाक्य का अर्थ होगा—बहुकाल में व्याप्त भोजन क्रिया, अर्थात् यहाँ भोजनबहुत्व का बोध होता है, क्योंकि वार शब्द गणनावाची नहीं है और भूरि शब्द भी संख्यावाची नहीं है[1]।

१-बहुवारान् भुङ्क्ते इति भूरिशब्दो बहुशब्दपर्यायः। वारशब्दस्तु समभिव्याहृतक्रियापर्याप्ते काले वर्तते। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे इति द्वितीया। बहुकालेषु कार्त्स्न्येन व्याप्ता भोजनक्रियेत्यर्थः। भोजनबहुत्वं तु अर्थाद् गम्यते। तथा च वारशब्दोऽयं न गणनवाची। भूरिशब्दोऽपि न संख्याशब्देन गृह्यते, बहुगणवतुडति संख्या इत्यत्र बहुग्रहणेन तत्पर्यायस्य असंख्यात्वबोधनात् (बालमनोरमा ५।४।१७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार संख्याबोध जहाँ न होगा, वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त न हो जाए, इसलिये गणन और संख्या शब्द का एकत्र प्रयोग किया गया है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य यह है कि अभ्यावृत्ति क्रिया की ही होने पर भी इस सूत्र में क्रियाग्रहण व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उत्तर सूत्रों में क्रिया पद की आवश्यकता है, इसलिये सूत्रकार ने यहीं 'क्रिया' शब्द का उल्लेख कर दिया है। यह समाधान टीकाकारों ने दिया है, पर इसमें संदेह का अवकाश है।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक गौण क्रियाभेदों का उल्लेख भी अष्टाध्यायी में मिलता है, पर संक्षेपार्थ उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

अब 'उत्पत्ति'[1] के विषये पाणिनीय सामग्री का सङ्कलन किया जा रहा है। पहले ही यह जानना चाहिए कि शाब्दिकों का दृष्टिकोण तात्त्विक नहीं होता प्रत्युत सर्वथा लौकिक होता है; अतः उनके व्याकरण में लौकिक दृष्टि रहती है और इसको मान कर ही हम यहाँ विचार करेंगे। पाणिनि का विचार लौकिक दृष्टि का अनुवाद मात्र है—ऐसा आचार्यों ने कहा है[2] यद्यपि पाणिनि ने उत्पत्ति, कार्य-कारण आदि के लक्षण नहीं दिए हैं, तथापि उनके सूत्रों के उदाहरणों से उनका मत स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण से सांशयिक स्थलों में सूत्र का विवक्षित अर्थ जानना चाहिए—यह सर्वाचार्यसंमत रीति है।

जन्म के विषय में पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र है—तत्र जातः (४।३।२५)।[3] इस सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि जन्म के लिये कोई आश्रय चाहिए, जिसमें कार्यद्रव्य की उत्पत्ति हो। यह आश्रय विभिन्न प्रकार का हो सकता है;

१—जन्म (=आविर्भाव=उत्पत्ति) सम्बन्धी दार्शनिक विवेचन के लिये वाक्यपदीय ३।८।२५—२७ विशेषतः द्रष्टव्य है।

२—ननु कोशस्य वस्त्रकारणत्वात् कारणे च कार्यस्य सम्भवात् कथमर्थानुपपत्तिः? नैष दोषः। लोकप्रसिद्धार्थबाध एवं कृतः स्यात्, न हि कार्यावस्थायां लोकः कार्यकारणयोः सम्भवक्रियापेक्षम् आधाराधेयभावम् अधिगच्छति, किन्तर्हि प्रकृतिविकारभावम्.........लौकिकोऽर्थो विकारे प्रत्ययविधानेन शास्त्रेणानुसृतत्वाद् युक्तियुक्तो भवतीत्यर्थः (प्रदीप ४।३।४२)। लोके हि यद्यस्माज् जायते तत् ततो निर्गच्छतीत्युच्यते; लोकप्रसिद्ध्यनुसारेण शब्दप्रयोगः, अर्थतत्त्वं तु तथा भवतु अन्यथा वा (पदमञ्जरी १।४।३०)।

३—अभूत का उद्भव 'जन्म' है—अभूतप्रादुर्भावो जनिः (तत्त्वबो० १।४।३१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई देश में जात होता है, कोई किसी काल में उत्पन्न होता है (४।३।२६-२७), कोई किसी नक्षत्र में उत्पन्न होता है (४।३।३४)। मिट्टी में जैसे घट उत्पन्न होता है, वैसा सम्बन्ध यहाँ नहीं है' परन्तु देशादि अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा से जहाँ उत्पत्ति होती है, वह इस सूत्र से लक्षित है।

जन्मसम्बन्धी दूसरा सूत्र है—'तत्र भवः' (४।३।५३)। भव और जात के अर्थ में कुछ भेद हैं, अन्यथा एक ही अर्थ में दो सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं थी। इन दोनों अर्थों के अनुसार शब्द प्रयोग में भी भेद होता है, जैसे 'प्रावृषि भव' (वर्षाकाल में उद्भूत) इस अर्थ में 'प्रावृषेण्य' रूप बनता है, और 'प्रावृषि जातः' इस अर्थ में 'प्रावृषिकः' रूप होता है (भाष्य ४।३।२५); अतः जात और भव में भेद है—यह स्पष्ट है। टीकाकारों ने यहाँ भव शब्द को सत्तार्थक माना है[1]। इस भावार्थ में जितने शब्द निष्पन्न होते हैं, उनके अध्ययन से भव का अर्थ विज्ञात होता है। दिश्य, ग्रैवेय, बाह्य आदि जितने शब्द भावार्थ में निष्पन्न होते हैं, उनसे यही ध्वनित होता है कि यहाँ प्रकृति-विकृति भाव विवक्षित नहीं है; जब करणसम्बन्ध, अधिकरणसम्बन्ध या अन्य सम्बन्धों से किसी एक पदार्थ की सत्ता अन्य पदार्थ का अधीन होती है, तब वहाँ जिस प्रकार की उत्पत्ति होती है, वही 'भव' शब्द का अर्थ है[2]।

भव शब्द से सम्बन्धित संभूत शब्द भी अष्टाध्यायीं में मिलता हैं। सूत्र है—'संभूते' (४।३।४१)। इस सूत्र का प्रचलित उदाहरण है—स्रौघ्नः (स्रुघ्ने संभवति), जिसकी व्याख्या में विट्ठल ने कहा है—यस्तु सुघ्ने संभाव्यते, स्रुघ्न प्रमाणाच्च नातिरिच्यते स एवमुच्यते' (प्रसाद टीका ४।३।४१) अर्थात् जिसकी संभावना (संभव) स्रुघ्न में है, या जिसका परिमाण स्रुघ्न के परिमाण से अधिक नहीं है, वह स्रौघ्न कहलाता है : क्रिया में योग्यता होना संभावना का

१—यद्यपि भूधातुरुत्पत्तौ अपि वर्तते तथापीह सत्तार्थ एव गृह्यते, तत्र जात इति पृथग्ग्रहणात् (शब्दकौ० ४।३।५३)।

२—जन्म और अस्तित्व (सत्ता) के परस्पर सम्बन्ध के विषय में निरुक्त-भाष्यकार दुर्ग का यह वाक्य द्रष्टव्य है—तत्रैवं सति जनिशब्दवाच्ये भावविकारे अस्तेरप्यर्थोऽस्ति विद्यमानता। किं कारणम् ? न ह्यविद्यमानो जायते, अपि च कारणात्मनि भावे सर्वं एते भावविकाराः सन्ति, सर्वार्थप्रसवशक्तित्वांत् तस्य। यथा पृथिव्यां घटादयो भावविकाराः। ते तु द्वारद्वारिभावेन विशेषात्मलाभं प्राप्नुवन्ति तद् यथा जनिद्वारेण अस्तिः········· (१।२ ख०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण है, जिससे यह अर्थ होगा कि जिसकी उत्पत्ति स्रुघ्न में निश्चित है, वह स्रौघ्न कहलाएगा। काशिकाकार ने भी संभव=अवक्लृप्ति कहा है, जो संभावना का समर्थक है।

'आधारपरिमाण से आधेय का अनतिरेक' का अर्थ[1] है—कार्य-कारण का आधेय-आधार-भाव (कार्य कारण का आधेय होता है)। संभव का यह अर्थ पाणिनि को मान्य था, जिसके कारण उन्होंने 'कोशाड् ढञ्' (४।३।४२) यह सूत्र संभव प्रकरण में पढ़ा था। इस सूत्र से कौशेय शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—कोशे संभवति। कोश एक कृमि-विशेष है; जिसके सूत्रों से जो वस्त्र बनता है, वह कौशेय वस्त्र कहलाता है। यहाँ तत्त्वतः सत्कार्यवाद[2] की दृष्टि से कोश में वस्त्र है, और इस दृष्टि से संभूत के इस अर्थ में कौशेय-शब्द-निष्पादक इस सूत्र की संगति होती है। यहाँ का आधाराधेयभाव उत्पत्ति-क्रिया-सापेक्ष है, अतः 'घट में जल है' ऐसे अर्थ में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

भव के प्रसंग में 'प्रायभवः' (४।३।३९) सूत्र भी आलोच्य है। इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि भवार्थ में प्रायभव गतार्थ हो जाता है, अतः 'प्रायभवः' सूत्र की आवश्यकता नहीं है। पर यह दृष्टिकोण सबको मान्य नहीं है। काशिका में इन दोनों के अर्थों में भेद दिखाया गया है—'प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह', अर्थात् पूर्णता की दृष्टि से 'तत्र भवः' सूत्र और न्यूनता की दृष्टि से 'प्रायभवः' सूत्र पृथक्-पृथक् चरितार्थ हैं। यह न्यूनता अनेक प्रकार की हो सकती है, जैसा कि किसी की दृष्टि के अनुसार ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने कहा है—'कादाचित्कभवनाश्रयः प्रायभवः, तेन तत्र भव इत्यनेन न गतार्थतेत्याहुः' (तत्त्वबोधिनी) दोनों अर्थों में जो भेद था, उसका स्पष्टीकरण कैयट ने किया है—'यस्तत्र कदाचिद् भवति, कदाचिन् न भवति स तत्र भव इति भावः' स प्रायभवः, यस्य तु नियत आधाराधेयभावः (प्रदीप ४।३।३९)। भाष्यकार ने इस मत का खण्डन कर यह दिखाया है कि व्यवहारतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है[3]।

१—सूत्रे तन्त्राद्याश्रयणादनवक्लृप्तिः, आधेयस्य आधारात् परिमाणानतिरेकश्च इत्यर्थद्वयमपि विवक्षितम्। (शब्दकौ० ४।३।४१)।

२—कौशेयमिति। वस्त्रविशेषे योगरूढोऽयम्। कोशे संभवस्तु सत्कार्यवादाभिप्रायेण (तत्त्वबोधिनी ४।३।४२)।

३—न्यासकार भी मानते हैं कि चूंकि 'तत्र भवः' में भव का अर्थ नित्य भव नहीं हो सकता, अतः 'प्रायभवः' का अन्तर्भाव 'तत्रभवः' में हो जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भव और संभव[1] के प्रसंग में पाणिनि का प्रभव शब्द भी आलोच्य है। इस विषय में पाणिनि के दो सूत्र हैं--'भुवः प्रभवः' (१।४।३१) तथा 'प्रभवति' (४।३।८३)। प्रभव शब्द का अर्थ यद्यपि उत्पत्तिस्थान है तथापि १।४।३१ में इसका अर्थ 'प्रथम प्रकाशस्थान'[2] ही है; यदि यह न माना जाए, तो इस सूत्र के उदाहरण (=हिमवतो गङ्गा प्रभवति) की संगति नहीं होती ऐसा व्याख्याकार कहते[3] हैं। उनके अनुसार गङ्गा का प्रथम दर्शन हिमालय में होता है और इसीलिये न गङ्गा की प्रकृति हिमालय है और न हिमालय से गंगा निकलती है (बालमनोरमा)। प्रभव='अन्यतः सिद्धस्य प्रथममुपलम्भः' (तत्त्वबोधिनी)। इस तरह प्रभव शब्द यद्यपि जन्मस्थानवाची नहीं होता, परन्तु जन्मस्थान से इसकी असाधारण निकटता है, यह स्पष्ट विज्ञात होता है।

उत्पत्ति-परक विचार में 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (५।२।१) सूत्र भी आलोच्य है। उत्पत्तिवाची भूधातु से भवन शब्द बना है, जिसका अर्थ है—उत्पत्तिस्थान। सूत्रगत 'क्षेत्र' पद ज्ञापित करता है कि भूधातु उत्पत्तिवाची है, अन्यथा 'यत्र विद्यते तद् भवनम्' इस व्युत्पत्ति से गृहकुसूल आदि आधार-सामान्य का ग्रहण होता (द्र० तत्त्वबोधिनी।

अब हम उन सूत्रों की आलोचना करेंगे, जहाँ प्रकृति-विकृत-भाव के साथ उत्पत्ति का प्रसंग आया है। पाणिनि ने कण्ठतः प्रकृति, विकृति, विकार आदि शब्द कहे हैं और दर्शन-शास्त्र में इन सूत्रों का लक्षण भी है। प्रकृति=उपादान कारण; विकार या विकृति=कार्य, 'विकारो नाम प्रकृतेरवस्थान्तरम्' (प्रसादटीका ४।३।१३४)।

पाणिनि ने एक सूत्र में कार्यकारण भाव का उल्लेख किया है—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (५।१।१२)। यहाँ उस प्रकृति का उल्लेख है, जो विकृत्यर्थ

१—अभिव्यक्त के अर्थ में संभव शब्द का प्रयोग गीता में है। श्लोक है--'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (१४।५)। इसकी व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने कहा है--'प्रकृतेः सकाशात् पृथक्त्वेन अभिव्यक्ताः'। यह अर्थ पाणिनि सूत्र में चरितार्थ होता है या नहीं--यह विचारणीय है।

२—प्रभवतीत्यस्य उत्पद्यते इत्यर्थे तु असङ्गतिः गङ्गायास्तत्र अनुत्पत्तेः (बालमनोरमा)। ४।३।८३ की व्याख्या में न्यासकार कहते हैं कि 'प्र' का अर्थ प्रथम और भूधातु का अर्थ उपलब्धि है।

३—नहि हिमवान् गङ्गायाः कारणम्, सा हि अन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पन्ना; हिमवति तु केवलं प्रथमत उपलभ्यते इति (न्यास १।४।३१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(= कार्य के लिये) है। सूत्र का तात्पर्य यह है कि विकृत्यर्थ प्रकृति यदि गम्यमान हो, तो विकृति वाचक शब्द से तद्धित प्रत्यय होता है, जैसे जो काष्ठ अङ्गार के लिये है, उसको 'अङ्गारीय' कहा जाएगा। यहाँ प्रकृति (काष्ठ) का विकार अङ्गार है, अतः अङ्गार से प्रत्यय होता है।

इस सूत्र में एक द्रष्टव्य बात है। कभी-कभी दो पदार्थों में एक को अन्य की प्रकृति माना जाता है, पर दूसरे को उसकी विकृति नहीं माना जाता। विट्ठल ने यह तथ्य उद्घाटित किया है, यथा—'कूप उदकस्य प्रकृतिः, न तूदकं कूपस्य विकृतिः'। इस विषय में उन्होंने जो युक्ति दी है, वह लक्षणीय है—'समान-स्वभावयोः समानसन्तानवर्तिनोरेव प्रकृतिविकारभावः' (प्रसाद टीका ५।१।१२), अर्थात् कार्य और कारण में[1] स्वभाव की एकता तथा समान सन्तान वर्तिता होनी चाहिए।

उपादानकारण से सम्बद्ध दूसरा प्रसिद्ध सूत्र है—'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (१।४।३०)। सूत्र का अर्थ यह है कि जायमान की प्रकृति की अपादान संज्ञा होती है। इस सूत्र की व्याख्या में टीकाकारों ने कार्यकारणसंबन्ध पर कुछ विचार किया है, जिसका सार नीचे दिया जा रहा है—

भाष्यकार ने जिस पक्ष का अवलम्बन कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है उससे सूचित होता है कि 'कारण से कार्य अपक्रान्त होता है'—यह मत उन्होंने माना है, जैसे 'वृक्ष से उत्पन्न फल' में 'वृक्ष से अपक्रान्त फल' ऐसा बोध होता है। पर पाणिनि ने जिस दृष्टि से इस सूत्र को लिखा है, उस दृष्टि में कारण से कार्य का अपक्रम ध्वनित नहीं होता। यहां पाणिनि ने वैशेषिक दर्शन के अनुसार कारण-कार्यसम्बन्ध को कहा है, ऐसा किसी-किसी व्याख्याकार का मत है (वैशेषिकदर्शने परमाण्वादिसमवेतं कारणेभ्यो पृथग् देशं कार्यमुपद्यते इति नास्ति कार्यस्यापक्रमः (प्रदीप)। कोई यह भी कहता है कि पाणिनि ने यहां सांख्यमतानुसार कार्य-कारण-स्वभाव को माना है, जिसके अनुसार

१—समानस्वभावयोः समानसन्तानवर्तिनी रेव हि प्रकृतिविकृतिभावो यथा आसादेष्टकादीनाम्। तु० यत्तु खल्विदमुच्यतेऽन्यादीनां विलक्षणानाम् उत्पत्ति-दर्शनात् प्रधानभेदानामतज्जातीयत्वप्रसंग इति, तदयुक्तम्। कस्मात्, अभिप्राया-नवबोधनात्। नैवं ब्रूमो यो यस्य विकारः स तज्जातीयक इति, किन्तर्हि यो यज्जातीयकः स तस्य विकार इति (सांख्यकारिका १५ की युक्तिदीपिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आविर्भाव-तिरोभाव-लक्षणक जन्म-नाश-रूप परिणाम के स्वीकार करने से कार्य का कारण से अपक्रम सिद्ध नहीं होता। एक अन्य मत यह भी है कि यहाँ का प्रकृति शब्द 'हेतु' का वाचक है, पर यह सङ्गत नहीं जान पड़ता[1]। यह सूत्र यह भी कहता है कि प्रकृति कार्य का कर्ता होता है।

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में पतञ्जलि ने यह पक्ष भी माना है कि कार्य कारण से पृथक् होता है (अन्याश्च अनाश्च प्रादुर्भवन्ति)। कार्य और कारण का भेद-दर्शन एक प्रसिद्ध मत है।

विकार और प्रकृति में अभेद विवक्षा कर भी पाणिनि ने एक सूत्र रचा है। पाणिनि का सूत्र है—'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' (५।४।५०)। यहाँ अभूततद्भाव विवक्षित है—यह वार्त्तिककार का मत है। इसकी व्याख्या में वासुदेव दीक्षित ने कहा है—'यत्र प्रकृतिस्वरूपमविकाररूपमापद्यमानं विकारा-भेदेन विवक्ष्यते तत्रैवायं प्रत्ययः' (बालमनोरमा) अर्थात् जहाँ प्रकृति का स्वरूप ही विकार (कार्य) का रूप प्राप्त होता है और विकार के साथ उसका अभेद विवक्षित होता है, वहीं तद्धित-प्रत्यय होता है। जब हम 'अकृष्णः कृष्णः संपद्यते' कहते हैं, तब यह लक्षण पूर्णतः चरितार्थ होता है। कैयट कहते हैं—च्विप्रत्ययश्च यदा प्रकृतिर्विकाररूपतामापद्यमाना विवक्ष्यते तदोत्पद्यते, परिणामविषयत्वात् च्विप्रत्ययस्य (६।३।४६)। जब धर्मी अपने स्वरूप से अप्रच्युत रहता है और उसके पूर्व धर्म के स्थान पर नया धर्म उत्पन्न होता है, तब वहाँ 'परिणाम' पद प्रयुक्त होता है[2]।

उत्पादित के अर्थ में निर्मित शब्द का प्रयोग 'छन्दसो निर्मिते' (४।४।९३) सूत्र में मिलता है। यहाँ छन्दः = इच्छा है, और 'इच्छाकृत' इस अर्थ में

१—१।४।३० सूत्रगत 'प्रकृति' शब्द उपादान एवं निमित्त कारणवाचक है, ऐसा पदमञ्जरी और न्यास में स्पष्टतया कहा गया है। न्यासकार का वाक्य उद्धृत किया जा रहा—द्विविधं हि कारण मुपादानकारणं सहकारिकारणं च। तत्र यत् कार्येणाभिन्नदेशं तदुपादानकारणम्, यथा घटस्य मृत्पिण्डः। सहकारि-कारणं यत् कार्येण भिन्नदेशम्, यथा तस्यैव दण्डचक्रादिः। तत्र असति प्रकृति-ग्रहणे प्रत्यासत्तेरुपादानकारणस्यैव भवति। भट्टोजि आदि भी प्रकृति से द्विविध कारण लेते हैं।

२—जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दस्य शब्द बनता है। निर्मित के अर्थ में उरस्य और औरस शब्द निष्पन्न होते हैं, जैसे औरस पुत्र (काशिका ४।४।९४)। यहाँ करण सम्बन्ध में निर्माण अर्थ लिया गया है, कर्ता के अर्थ में नहीं—यह ध्यान देने योग्य है।

जात शब्द की तरह संजात शब्द भी अष्टाध्यायी में है—'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (५।२।३६)। संजात का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं दिया गया, अतः जात से संजात में क्या भेद है—यह स्पष्ट नहीं है। तारकित, (आकाश) पुष्पित, फलित (वृक्ष) आदि उदाहरणों से पता चलता है कि उत्पत्ति के साथ 'अधिकता' या 'पूर्णता' विवक्षित होने से 'संजात' होता है, जैसे पुष्पित=बहुत पुष्पों से भरा हुआ, तारकित=तारकाओं से भरा हुआ इत्यादि। पर यह निर्णय अभी संशयास्पद है।

परिजात शब्द 'सस्येन परिजातः' (५।२।६८) सूत्र में पठित है—परिजात=परितः जातः (तत्त्वबो०)। विट्ठल के अनुसार जिसकी विशद व्याख्या है—परितो गुणैः पूर्ण आकारः शुद्ध इत्यर्थः (प्रसाद टीका)। यहाँ सस्य=गुण है, जिससे इस सूत्र से निष्पन्न 'सस्यक' का अर्थ होगा 'शोभनगुणयुक्त'। काशिकाकार ने विशदतर व्याख्या की है—यो गुणैः सम्बद्धो जायते यस्य किंचिदपि वैगुण्यं नास्ति'।

प्रादुर्भाव शब्द २।१।६ में है, जिसका अर्थ प्रकाशन है। प्रादुर्भाव अर्थ में समास होने से 'इतिपाणिनि' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते'। यह भी उत्पत्ति में कथंचित् गणित हो सकता है। कृत और उदय शब्द भी इस प्रसङ्ग में विचार्य हैं। पाणिनि ने रचित के अर्थ में 'कृत' शब्द का प्रयोग भी किया है। कृते ग्रन्थे (४।३।११६) सूत्र को काशिकावृत्ति में कहा गया है—'उत्पादितं कृतम्'। उत्पादित का अर्थ रचित है।

'उदय' भी जन्म ही है, और इस अर्थ में उद्गमन शब्द का प्रयोग 'आङ उद्गमने' (१।३।४०) सूत्र में मिलता है (एवं चात्र उद्गमनमत्रोदय एवेति बोध्यम्—उद्द्योत)।

विजायते (५।२।१२, गर्भं विमुञ्चति) आदि विशिष्ट उत्पत्ति-क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है, संक्षेपार्थ जिनका परित्याग कर दिया गया है।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टाविंश परिच्छेद

सौत्रशब्दगत-बहुवचन से ज्ञापित अर्थ

यह प्रसिद्ध है कि बहुत्व के ज्ञापन के लिये बहुवचन का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि 'बहुषु बहुवचनम्' (१।४।२१) सूत्र से जाना जाता है। सूत्रगत बहु का अर्थ बहुत्व है[1]।

सामान्यतया बहुवचन का अभिप्राय ऐसा होने पर भी अन्य अर्थों में भी बहुवचन का प्रयोग सूत्रकार ने किया है। पाणिनि-सूत्रगत बहुवचनान्त शब्दों के अध्ययन से ये अर्थ परिज्ञात होते हैं। संस्कृत भाषा के अध्येता के लिये इन अर्थों का ज्ञान आवश्यक है, जिससे प्राचीन ग्रन्थकारों का तात्पर्य सम्यक्रूप से ज्ञात हो जाए[2]।

यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वत्र बहुवचन किसी न किसी गूढ़ अर्थ का ज्ञापक ही है—ऐसी प्रतिज्ञा पूर्वाचार्यों ने नहीं की है। कुछ स्थलों पर शब्दसंस्कार के लिये ही बहुवचन का प्रयोग किया गया है, कार्यविशेष की सिद्धि के लिये नहीं, जैसा कि कैयट ने अनुदात्तानाम् (१।२।३९) शब्दगत बहुवचन की व्याख्या के प्रसंग में कहा हैं—शब्दसंस्कारार्थमेवात्र बहुत्वं विवक्ष्यते, नतु कार्यसिद्ध्यर्थम् (प्रदीप)।

१—यदि सूत्र में बहु का अर्थ बहुत्व है तो 'बहु' शब्द में बहुवचन का प्रयोग कैसे हुआ, इसके उत्तर में कहा जाता है कि 'बहुत्वसंख्याधार द्रव्यगत बहुत्व का बहुत्वगुण में आरोप कर' बहुवचन किया गया है। कैयट ने ठीक ही कहा है—आश्रयगतं बहुत्वं बहुत्वे गुणे आरोप्य निर्देशः कृतः। तस्यैतत् प्रयोजनं भिन्नवस्त्वाधारस्य बहुत्वस्य संख्यारूपस्य ग्रहणं यथा स्यात्, एकाश्रयवर्त्तिनो वैपुल्य-रूपस्य मा भूत् (प्रदीप १।४।२१)।

२—जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम्······ (१।२।५८ से ६० सूत्र पर्यन्त) इत्यादि सूत्रों में बहुवचन-प्रयोग के जो नियम कण्ठतः उक्त हुए हैं, वे इस निबन्ध के विचार्य विषय नहीं हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र बहुवचन गूढाभिप्राय का ज्ञापक नहीं है—इसके लिये 'सूत्रे लिङ्ग-वचनमतन्त्रम्'[1] यह परिभाषा भी द्रष्टव्य है (परिभाषावृत्ति ११७)। व्याख्याकार-गण अनेक सूत्रीय शब्दों के बहुवचन की व्याख्या के प्रसंग में 'बहुवचनमतन्त्रम्' (बहुवचन की विवक्षा नहीं है) ऐसा कहते ही हैं, जैसा कि हम 'कुस्तुम्बुरूणि' (६।१।१४३), षष्टिकाः (५।१।९०) आदि सूत्रों में देखते हैं। बहुवचन की तन्त्रता-अतन्त्रता व्याख्यान से या प्रयोगदर्शन से विज्ञात होती है—यह ज्ञातव्य है[2]।

बहुवचन का एक वैचित्य द्रष्टव्य है; वह है सन्देहस्थल में (जहां संख्या का ज्ञान निश्चित नहीं है) बहुवचन का प्रयोग करना। पाणिनीय संप्रदाय में एक परिभाषा भी है—'सन्देहे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्', जिसकी व्याख्या में सीरदेव ने संगत रूप से ही कहा है—युक्तमेवेदं व्याप्तिन्यायेन बहुवचननिर्देशने सर्ववचना-नामनुग्रहात् (१२२ परिभाषा)। पूर्वोक्त सिद्धान्त कभी-कभी 'अनिज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयुज्यते' वाक्य से भी अभिहित होता है।

गुरुत्वज्ञापनार्थ बहुवचन—गुरुत्व के ज्ञापन के लिये (श्रद्धाभाव-प्रकटनार्थ) बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा प्राचीन अनुशासन है, यद्यपि पूर्वाचार्यनाम के ग्रहण करने के समय ब्रह्मसूत्र, मीमांसासूत्र, सांख्यसूत्र आदि ग्रन्थों में यह शैली नहीं दृष्ट होती। आदाचार्याणाम् (७।३।८९) सूत्र में यह शैली दृष्ट होती है। 'आचार्याणाम्' पद के बहुवचन की उपपत्ति के लिये हरदत्त कहते हैं—आचार्यस्य पाणिनेर्य आचार्यः स इहाचार्यः गुरुत्वाद् बहुवचनम्।

'पूजार्थक बहुवचन' पूर्वाचार्यानुमोदित है। दुर्ग कहते हैं—एकस्या एव पूजनार्थं बहुवचनम्' (निरुक्त १।५ ख०)।

१—तन्त्र=प्रधान; भाष्यस्थ 'नात्र बहुवचनेन निर्देशस्तन्त्रम्' वाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं—तन्त्रशब्दोऽत्र प्रधानवाची; नागेश कहते हैं—विवक्षितत्वलक्षणं प्राधान्यम्।

२—इस अतन्त्रता का हेतु क्या है—इस पर पुरुषोत्तम का विचार बहुत ही सारवान् प्रतीत होता है; यथा—शास्त्रं हि लक्ष्यपराधीनं सूचकमात्रं वस्तुसंज्ञा-वदुपलक्षकमित्युच्यते। न चावश्यं लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते। तस्य लक्ष्यपरत्वात् लिङ्गलक्षणं वचनलक्षणं च सूत्रेष्वकिञ्चित्करं न प्रवर्तते। ततो येन केनचिल् लिङ्गेन येन केनचिद् वचनेन च निर्देशः कर्तव्यो न तस्य तन्त्रताऽवसेया। (सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् परिभाषा की व्याख्या—११७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशिष्ट्यज्ञापक बहुवचन—रक्षोयातूनां हननी (४।४।१२१) सूत्रगत बहुवचन इसका उदाहरण है। द्विवचन के स्थान पर बहुवचन करने का हेतु यह है कि यह वैदिक पदार्थ बहुसंख्यक रक्षः और यातुओं का हननी (=हननकरणी-भूता) होता है। बहुसंख्यक रक्षः आदि का हनन करने से अधिक बलवत्ता सिद्ध होती है, जिससे उसकी स्तुति होती है—बहुवचनान्ताद् विधानं स्तुत्यर्थम्, बहूनां तेषां हननेन हि स्तुतिर्भवति।

बहुवचनान्तताका ज्ञापन—बहुवचनान्त से निर्देश करने का एक सामान्य प्रयोजन यह होता है कि वह शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त हो—यह नियम ज्ञापित हो जाए। नित्य बहुवचनान्तताज्ञापन की यह रीति 'वर्षाभ्यष्ठक्' (४।३।१८) सूत्र में दृष्ट होती है। तृतीय ऋतुवाचक वर्षाशब्द नित्य बहुवचनान्त है—यह बहुवचनान्त वर्षाशब्द से ज्ञापित होता है,[1] अन्यथा बहुवचन के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार का यह निर्देश लिङ्गानुशासन से भी समर्थित होता है (अप्-सुमनः-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वम्)।[2]

बहुवचन होनेपर 'बहुवचनान्त शब्द का ही ग्रहण होने की सम्भावना' बहुत्र रहती है; जैसा कि कैयट के इस शंकावचन से ज्ञात होता है—बहुवचनार्थग्रहणे सति पर्यायार्थं वा स्याद् बहुवचनान्तसमासविधानार्थं वा (प्रदीप २।१।४०)।

विशिष्टार्थज्ञापन—एक विवक्षित विशिष्ट अर्थ के ज्ञापन के लिये बहुवचन का प्रयोग करना पाणिनि की एक शैली है। सूत्र है—पूर्वैः कृतम् (४।४।१३३)। काशिकाकार कहते हैं—पूर्वैरिति बहुवचनान्तेन पूर्वपुरुषा उच्यन्ते। स्वाङ्गेभ्यः प्रसृते (५।२।६६) सूत्र में भी इस शैली का उदाहरण मिलता है। यहाँ बहुवचन

१—तृतीयर्तौ वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः (बालमनो०)।

२—यह ज्ञातव्य है कि अप्, सुमनः आदि शब्द एक निश्चित अर्थ में ही बहुवचनान्त होते हैं, योग के बल पर अर्थान्तर करने से बहुवचनान्तता अप्रयोज्य हो जाती है। वासुदेव एकवचनान्त 'सुमनाः' शब्द पर कहते हैं—यद्यपि स्त्रियाम् इत्यधिकारे 'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रे सुमनः शब्दस्य नित्यं बहुवचनं विहितं तथापि देवादिपर्याय-(रूविषयम्। सु शोभनं मनो यस्येति सुमना इति बहुव्रीहिर्यौगिक इति भावः ढबालमनोरमा ३।१।१२)। सिकता शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग कर सूत्रकार यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यहां स्वाङ्ग से स्वाङ्ग-समुदाय का भी ग्रहण करना चाहिए-बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात्। स्वाङ्ग मानकर जिस प्रकार 'केशकः' प्रयोग ५।२।६६ सूत्र से निष्पन्न होता है, उसी प्रकार स्वाङ्गसमुदाय मानकर 'केशनखकः' प्रयोग भी निष्पन्न होगा।

अर्थग्रहण--बहुवचन के द्वारा कभी कभी यह ज्ञापित होता है कि शब्द का स्वरूप आदि का ग्रहण न होकर उसके वाच्य अर्थ का ग्रहण होगा। यह शैली महत्त्वपूर्ण है, अतः उदाहरणों से इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

पाणिनि का सूत्र है—नदीभिश्च (२।१।२०)। क्या इस सूत्र में नदी का तात्पर्य 'नदी' इस शब्द से है (शब्दप्रधान व्याकरण में ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है), अथवा पाणिनि द्वारा परिभाषित नदी संज्ञा (यूस्त्याख्यौ नदी १।४।३) से है अथवा नदी शब्द के पर्यायों (सरित्, तटिनी आदि) से है, अथवा गोदावरी आदि नदीविशेष से है। पूर्वाचार्यों का निर्णय है कि यहाँ बहुवचन के ग्रहण से 'नदी' का तात्पर्य नदीवाचक शब्द और नदीविशेष से ही है[1] (जिससे यथाक्रम पञ्चनदम् और सप्तगोदावरम् उदाहरण निष्पन्न होते हैं)।

अर्थग्रहण का दूसरा उदाहरण 'कालाः' (२।१।२८) सूत्र है। ऐसे सूत्रों में बहुवचन से शब्दस्वरूप का निरसन किया जाता है और तद्वाचक शब्दों (मास आदि) का ही ग्रहण इष्ट होता है, जैसा कि इसी सूत्र पर कहा गया है—बहु-वचननिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः, कालवाचिनो द्वितीयान्ताः क्तान्तेन वा समस्यन्ते (तत्त्वबोधिनी)।

शब्दस्वरूपनिरसनपूर्वक तदर्थवाची शब्दों का ग्रहण करने के उदाहरण अष्टाध्यायी में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सूत्र है—ठगायस्थानेभ्यः (४।३।७५)। आयस्थान में बहुवचन होने के कारण आयस्थानवाची कोई भी शब्द (यथा शुल्कशाला, आकर, आपण आदि) गृहीत होगा, पर 'आयस्थान' यह शब्द गृहीत नहीं होगा।

कालेभ्यो भववत् (४।२।३४) सूत्र में भी बहुवचनान्त काल का अर्थ है—कालवाची शब्द = कालविशेष वाची शब्द = मास, प्रावृट् आदि।

१— अत्र नदीशब्देन नदीशब्दविशेषस्य नदीवाचकानां च ग्रहणमिति संख्या-संज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम्, एतेन पञ्चनदं सप्तगोदावरम् इत्यादि सिद्धयति (बाल-मनोरमा); स्वरूपस्य संज्ञायाश्च नेह ग्रहणं बहुवचननिर्देशात् किं तु अर्थस्य न च तस्य समासः सम्भवति अतस्तद्वाचिनामयं समासः, ते च न केवलं विशेष-शब्दा एव, किंतु सामान्यशब्दा अपि (तत्त्व०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातरूपेभ्यः परिमाणे (४।३।१५३) सूत्र भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। 'जातरूप' शब्द के बहुवचन होने के कारण जातरूपवाची हाटक, तपनीय (स्वर्णवाचक) आदि शब्द इस सूत्र में गृहीत होंगे—बहुवचननिर्देशात् तद्वाचिनः सर्वे गृह्यन्ते।

अर्थप्राधान्यज्ञापन—बहुवचन की अर्थप्राधान्यज्ञापकता प्रसिद्ध है। 'अर्थप्राधान्यबोधकस्य बहुवचनस्य' यह वाक्य पूर्वाचार्यों ने बार-बार कहा है (प्रौढमनोरमा, अजन्त० पृ० २९४)। बहुवचनस्थल में अर्थप्राधान्यबोधकता है या नहीं—इस पर शंका भी की गई है। तिसृभ्यो जसः (६।१।६६) सूत्रीय तिसृशब्दगत बहुवचन पर यही स्थिति है—न च तिसृभ्य इति बहुवचननिर्देशात् तिस्रर्थप्राधान्ये एवायं स्वरः······(द्र० स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका)।

इस शैली का एक उदाहरण 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) सूत्र में दृष्ट होता है। यहाँ यदि षष्शब्द में बहुवचन न किया जाता और 'षषो लुक्' ऐसा ही सूत्रशरीर होता, तो भी इष्ट प्रयोग सिद्ध हो सकता था; तथापि सूत्रकार ने जो बहु वचन का प्रयोग किया, उसका तात्पर्य यह है कि षट्रूप अर्थ का प्राधान्य जहां हो वहीं ७।१।२२ सूत्रीय कार्य हो—बहुवचननिर्देशोऽर्थप्राधान्यसूचनार्थः (प्रौढमनोरमा); षट्शब्देन षट्संज्ञकः शब्दः तदर्थसंख्याश्रय श्चेत्युभयमपि विवक्षितम् (शब्दरत्न)। यही कारण है कि बहुव्रीहिसमास में ७।१।२२ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

पर्यायशब्द का ग्रहण—कहीं-कहीं बहुवचन से यह ज्ञापित किया जाता है कि शब्द के पर्यायों का भी ग्रहण इष्ट है। अनेक सूत्रों में यह शैली दिखाई पड़ती है, यथा—

१. जे प्रोष्ठपदानाम् (७।३।१८); भट्टोजि कहते हैं—बहुवचननिर्देशात् पर्यायोऽपि गृह्यते (सि० कौ०)। इस नियम से 'भद्रपद' शब्द का भी ग्रहण प्रोष्ठपद शब्द से होता है।

अनुक्त-अर्थ का संग्रह—अनुक्त अर्थों का संग्रह करने के लिये भी सूत्रों में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। पाणिनि का अधिकारसूत्र है—कृत्याः (३।१।९५)। यहाँ 'कृत्यः' ऐसा एकवचन करने पर भी कोई दोष नहीं होता जैसा कि एतत्सदृश अन्य सूत्रों में देखा जाता है (प्रत्ययः आदि सूत्र द्र०)।

१—पर्याय द्योतन के लिये २।३।७२ गत तुल्यार्थैः पद स्थल भी द्रष्टव्य हैं (तुल्यैरिति बहुवचनादेव पर्यायवचने सिद्धो—बालमनोरमा)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बहुवचन अनुक्त प्रत्ययों के संग्रह करने के लिये किया गया है—ऐसा व्याख्याकार कहते हैं—अत्र प्रत्यय इत्यादिवत् कृत्य इत्यधिकारेणापीष्टसिद्धे- बहुवचनमनुक्तप्रत्ययसमुच्चयार्थम् (तत्त्व०)।

भेदाभिप्राय का ज्ञापन—इस शैली का उदाहरण स्वल्प है। कृत्यैर्ऋणे (२।१।४३) सूत्र में बहुवचनान्त कृत्य शब्द इसका उदाहरण है। यहाँ कृत्यसंज्ञक सभी प्रत्यय गृहीत नहीं होंगे, (तव्य आदि), यत् आदि प्रत्यय ही गृहीत होंगे, इस भेदपूर्वक निर्देश के लिये कृत्य शब्द में बहुवचन किया गया है। यही कारण है कि 'मासेदेयम्' में तत्पुरुष समास हो जाता है, पर 'मासे दातव्यम्' में समास नहीं होता, यद्यपि 'दातव्यम्' भी कृत्यप्रत्ययान्त है।

अन्तर्गतावयवबहुत्व-ज्ञापन—इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'ग्रीवाभ्योऽण् च' (४।३।५७) सूत्र में दृष्ट होता है। 'ग्रीवाशब्द से अण् प्रत्यय के विधान' में ग्रीवाशब्द में बहुवचन का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर उद्भूतावयवविवक्षा (प्रत्येक अवयव के प्रकटन की विवक्षा) से बहुवचन किया गया है। ज्ञानेन्द्र कहते हैं—ग्रीवाशब्दो धमनीसंघाते वर्तते, तत्र उद्भूतावयवसंघात- विवक्षया सूत्रे बहुवचनम्। तिरोहितावयवसंघातविवक्षायां त्वेकवचनान्तादपि अण्ढञो स्त एव (तत्त्व०)। अन्यान्य व्याख्याकार का भी यही मत है।[1]

गणनिर्देश—किसी शब्द का बहुवचन में प्रयोग कर गणपाठविशेष का ज्ञापन करना (उस शब्द को गण के आदि में रखकर) सूत्रकार की प्रसिद्ध शैली है। शब्द का बहुवचन ईदृश गणपाठ का ज्ञापन कर सकता है—इस विषय में शब्दशास्त्र में कोई विधिवाक्य नहीं मिलता, पर सभी व्याख्याकारों ने इस रीति को प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया है। सूत्र है—सप्तमी शौण्डैः (२।१।४०); यहाँ शौण्ड शब्द में जो बहुवचन है, उससे शौण्डादिगण (शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, निपुण आदि शब्दों का पाठ इसमें है) को लक्षित किया गया है—बहुवचननिर्देशात् शौण्डादिभिरिति विज्ञायते (भाष्य)। यह कैसे सम्भव होता है, इसके लिये कैयट ने युक्ति भी दी है कि जिस प्रकार छत्रियों (छत्रधारियों) के साहचर्य के कारण अछत्रियों पर छत्रित्व का आरोप कर 'छत्रिणो यान्ति' प्रयोग किया जाता है, जिससे छत्रि-अच्छत्रियों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार धूर्त आदि शब्दों का शौण्डादिगण में पाठ होने के कारण धूर्त आदि शब्दों में शौण्ड शब्दस्वरूप का आरोप कर तथा शौण्ड पद से शौण्डशब्द का ग्रहण कर (अजहल्लक्षणा के बल पर) शौण्डादिगणस्थ

१—ग्रीवाशब्दो धवनीवचनस्तासां बहुत्वाद् बहुवचनं कृतम् (काशिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों का बोध किया जाता है (धूर्तादीनां साहचर्याद् आरोपितशौण्डशब्द-रूपाणां शौण्डशब्दस्य च शौण्डशब्देनाभिधानाद् यथा छत्रिणो गच्छन्तीति भावः—प्रदीप)।

अर्धर्चाः पुंसि च (२।४।३१) सूत्र में जो बहुवचन है, वह भी गणपाठ का ज्ञापक है। कैयट कहते हैं—यथा अर्धर्चाः पुंसि चेति गोमयादीनामर्धर्च-शब्देन, तथा च बहुवचनं कृतम् (६।१।१०२)।

अर्थगतबहुत्व का शब्द में आरोप—अर्थगत बहुत्व का आरोप वाचक शब्द में कर उसमें बहुवचन किया गया है—ऐसा भी देखा जाता है। तिसृभ्यो जसः (६।१।१६६) में तिसृशब्द में जो बहुवचन है, वह इस पद्धति का ही उदाहरण है। 'त्रि' रूप अर्थ में जो बहुत्व है, उसका आरोप त्रिशब्द में कर यह बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है—ऐसा कैयट कहते हैं—अर्थगतं बहुत्वं शब्दे आरोप्य बहुवचननिर्देशः।

'अर्थगत बहुत्व का शब्द में समारोपण' का एक उदाहरण ६।३।१०९ सूत्र के 'धासु वा' वार्त्तिक में भी मिल जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि नानाधि-करणवाची जो 'धा' शब्द है, उसीका ग्रहण वार्त्तिक में इष्ट है, अन्य अर्थ का बोधक 'धा' का ग्रहण अनिष्ट है; यही कारण है कि 'षोढा' पद होता है, पर 'धा' का अर्थ जब धारणकारी (दधाति) होगा तब उत्व नहीं होगा—'षड्धा' रूप निष्पन्न होगा। यहाँ कैयट ने कहा है—अर्थगतं बहुत्वं शब्दे समारोप्य धासु इति बहुवचननिर्देशः क्रियते' (प्रदीप)।

पाणिनीय वैयाकरणों ने बहुवचन-सम्बन्धी सूक्ष्म विचार भी किया है। नित्यवीप्सयोः (८।१।४) सूत्रानुसार वीप्सा (व्याप्तुमिच्छा वीप्सा; व्याप्ति-प्रतिपादनेच्छा) में 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' प्रयोग होता है। यहाँ यह शङ्का की गई है कि 'वृक्षं वृक्षम्' कहने पर बहु का भान होता है, अतः बहुवचन क्यों न हो? उत्तर दिया गया है कि बहु का भान होने पर भी बहुत्वसंख्या का भान नहीं होता; प्रत्येकवृक्ष-निष्ठ एकत्व ही भासमान रहता है, अतः बहुवचन नहीं होता।[1]

१—वृक्षं वृक्षमित्यादौ बहुवचनं तु न, वस्तुतस्तत्र बहुत्व सत्त्वेऽपि अभानात्। प्रत्येकनिष्ठमेकत्वमेव हि तत्र भासते (बृहच्छब्देन्दु० ८।१।४; प्रौढमनोरमा भी द्र०)।

——

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊनत्रिंश परिच्छेद

काशिकोक्त कुछ उदाहरणों का तात्पर्य

[१]

सतृणम्—अष्टाध्यायी के 'अव्ययं विभक्ति...'(२।१।६) सूत्रगत 'साकल्य' के उदाहरण में काशिका में 'सतृणम् अभ्यवहरति' (तिङन्त पद उदाहरण के अर्थ की स्पष्टता के लिये उपन्यस्त हुआ है, प्रकृत उदाहरण 'सतृणम्' है)[1] वाक्य दिया गया है। साकल्य का अर्थ है—'अशेषता' अर्थात् 'तृण को भी न छोड़ कर', जिससे 'सतृणमभ्यवहरति' का अर्थ होगा—'तृण को भी न छोड़ कर खाता है' (अभि+अव+हृ धातु का अर्थ है 'खाना')।

'सतृणम्' का अन्वयवार्थ यद्यपि ऐसा ही है, पर काशिकाकार कहते हैं—'नहि किञ्चिदभ्यवहार्यं परित्यजतीत्ययमर्थोऽधिकार्थवचनेन प्रतिपाद्यते' अर्थात् 'खाने योग्य कुछ भी नहीं छोड़ता' यह अर्थ अधिकार्थवचन से प्रतिपादित होता है। तात्पर्य यह है कि 'तृण को भी खा लेता है' इसकी ध्वनि यह है कि—'जो भी खाने के लिये दिया गया, उस सबको खा लेता है'। जो भी खाने के लिये दिया गया, वह खाद्य हो या न हो, उसे यदि कोई पूर्णतः खाता है तो वहाँ उस व्यक्ति की निन्दा (या दृष्टिभेद से प्रशंसा) का भाव आता है। इस तथ्य को दिखाने के लिये काशिकाकार ने 'अधिकार्थवचन' पद का समावेश किया है। यह अधिकार्थवचन क्या है, इसका स्पष्टीकरण काशिका में अन्यत्र किया गया है—स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तमध्यारोपितार्थवचनम् अधिकार्थवचनम् (२।१।३३), जैसे श्वलेह्य कूप (कुत्ता के द्वारा लेहनयोग्य कुआँ) कहने से यह प्रतीत होता है कि कूप अत्यन्त छोटा है। कूप का यह छोटापन कूप की निन्दा है। दृष्टिभेद से यह शब्द प्रशंसा का भी बोधक हो सकता है कि यह कूप इतना अगभीर होते हुए भी जल देता है। चाहे प्रकृत स्थिति में निन्दा का भाव हो या प्रशंसा का, पर इतना तो निश्चित है कि शब्दार्थ के साथ स्तुति या निन्दा की ध्वनि अवश्य है। इसी प्रकार 'सतृणम्' में भी स्तुति या निन्दा की ध्वनि अवश्य ही है, क्योंकि प्राचीन व्याख्यान के अनुसार यहाँ भी अधिकार्थवचन है।

१—कातन्त्र में भी 'सतृणमभ्यवहरति' उदाहरण है (चतुष्टय २७२ दुर्गटीका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वाचार्यों के अनुसार 'सतृणम् अभ्यवहरति' का तात्पर्य होता है—'खाद्या-खाद्यविवेक न कर सब कुछ खा लेना'। इसका तात्पर्य केवल तृणभक्षण से नहीं है, केवल भक्षण से भी नहीं है, बल्कि 'जो मिले उसका कुछ भी न छोड़ना' यह तात्पर्य है। भट्टोजि ने ठीक ही कहा है—'न किञ्चित् परित्यजतीत्यर्थः, न त्वत्र तृणभक्षणे तात्पर्यम्' (शब्दकौस्तुभ)। शब्दरत्नकार भी कहते हैं—'यस्तृणानि भक्षयेत् स कथमन्यत् परित्यजेत्'—जो तृण ऐसे अखाद्य को भी मिले तो खा लेता है, वह अन्य पदार्थ कैसे छोड़ सकता है—यह 'सर्वग्रहण-मनोवृत्ति' ही 'सतृणम्' उदाहरण का तात्पर्य है; अविवेकपूर्वक सब कुछ जो ग्रहण करता है, उसकी निन्दा के लिये 'सतृणम् अभ्यवहरति' प्रयोग होता है।

प्रश्न यह उठता है कि 'ग्राह्य-त्याज्य-बोध न रख कर अविवेकपूर्वक सब कुछ ग्रहण करना' रूप मनोवृत्ति का प्रकृत लक्ष्य स्थल क्या है? काशिकाकार जब 'अधिकार्थवचन' के अनुप्रवेश की बात करते हैं, तब इस अर्थ में 'सतृणम्' का कहीं कोई निश्चित व्यवहार अवश्य होता होगा। कई व्याख्यान ग्रन्थों में जब 'सतृणम्' उदाहरण है, तब यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है,[1] यह भी कहना सङ्गत ही है। हम समझते हैं कि अधिकार्थवचन की सत्ता के कारण 'सतृणम्' का कोई निश्चित प्रयोग स्थल था। यह स्थल क्या है, यह विचार्य है।

अनुसंधान से ज्ञात होता है कि सतृणाभ्यवहारी शब्द अलंकारशास्त्र में चिरकाल से प्रसिद्ध है, जिसका प्रयोग उस कवि के लिये किया जाता है जो अविवेकपूर्वक सर्वप्रकार के अलंकारादि का साकल्येन प्रयोग करता है, यह नहीं सोचता कि कहाँ किस अलंकार-छन्द आदि का प्रयोग करना संगत होता है। काव्यालंकार सूत्र में वामन ने इस मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्रण किया है[2]। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस अर्थ में सतृणाभ्यवहारिता का विशद

१—मूर्धाभिषिक्त उदाहरण वह है जो सभी वृत्तिग्रन्थों में उदाहृत किया जाता है—कैयट ने ऐसा ही कहा है (प्रदीप १।१।५७)।

२—अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। इह खलु द्वये कवयः संभवन्ति-अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति। अरोचकि-सतृणाभ्यवहार-शब्दौ गौणार्थौ। कोऽसावर्थः? विवेकित्वम् अविवेकित्वं चेति—इत्यादि सन्दर्भ (१।२।-१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेचन किया है[1]। रुय्यक[2] ने भी इस प्रवृत्ति का वर्णन किया है। अलंकार-शास्त्र के इन तीन आचार्यों के द्वारा 'सतृणाभ्यवहारी कवि' का जो लक्षण दिया गया है, उसमें 'साकल्यग्रहण' = कुछ भी न छोड़ना = अविवेकपूर्वक सब कुछ ग्रहण का भाव स्पष्ट है। ऐसे कवि काव्यघटक तत्त्वों को अविवेकपूर्वक सर्वत्र लाने की चेष्टा करते थे, चाहे उससे कविता में चारुता हो या न हो।

रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में सतृणाभ्यवहारी कवि के उदाहरण में शिवभद्र नामक कवि का उल्लेख किया है और यह कहा है कि ऐसे कवि श्लेष-चित्र-यमक के निरन्तर प्रयोग करते रहते हैं (पृ० १२०)। काव्योत्कर्ष के लिये तृण की तरह हेय शब्दालङ्कारों को जो कवि अविचारपूर्वक प्रयुक्त करता है और अविवेकपूर्वक सर्वत्र सभी व्यङ्ग्यार्थहीन अलंकारों का प्रयोग करना उचित समझता है, वह 'सतृणाभ्यवहारी कवि' कहलाता है और हमारी दृष्टि में काशिकोक्त 'सतृणम्' (अभ्यवहरति) का लक्ष्य एतादृश कविकर्म ही है। किसी की तुच्छता प्रदर्शित करने के लिये 'न त्वां तृणं मन्ये' प्रयोग संस्कृतभाषा में प्रचलित है। केन उपनिषद् में भी शक्तिपरीक्षणार्थ तृण को जलाने के लिये या तृण को लेने के लिये ही कहा गया है (तृतीय खण्ड); अतः उपर्युक्त धारणा हमारे समाज में चिरकाल से विद्यमान रही है, यह प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट होता है कि 'सतृणम्' का तात्पर्य है—'अत्यन्त तुच्छ तत्त्वों को भी न छोड़ना'। यह भी ज्ञात होता है कि उपर्युक्त निकृष्ट कवि कर्म के लिये ही यह प्रयोग होता था, क्योंकि 'सतृणम्' का प्रयोग अन्य तात्पर्य में दृष्ट नहीं होता। इसमें जो निन्दा का भाव (अधिकार्थवचन) अनुस्यूत है, वह भी पूर्वोक्त कविकर्म में सम्यक् चरितार्थ होता है।

प्राचीन विशिष्ट उदाहरणों का इस प्रकार विशिष्ट अर्थ होना सर्वथा सङ्गत है। इसी स्थल में काशिका में 'साग्नि' उदाहरण है, जिसका (अव्ययी-

---

१—सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि—व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति, ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति (पृ० १४)।

२—अलंकारसर्वस्व के प्रथम प्रकरण में चार प्रकार के कवियों की गणना है—सत्कवि, विदग्धकवि, अरोचकिकवि और सतृणाभ्यवहारि-कवि। सप्तम प्रकरण में इन कवियों का विश्लेषण है। सतृणाभ्यवहारि-कवि गौडीरीति को अपनाता है और श्लेष-चित्र-यमकों का बहुशः प्रयोग करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव समास के अनुसार) सांप्रदायिक अर्थ है—'अग्निपर्यन्त' (=अन्त में अग्नि के लेकर); 'अग्नि' का प्रकृत तात्पर्य है—अग्नि ग्रन्थ पर्यन्त=शतपथ ब्राह्मणगत अग्नि-चयन पर्यन्त (शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ से ९ तक का नाम 'अग्नि' है, क्योंकि उसका विषय अग्निचयन है)। यहाँ जिस प्रकार सामान्य अग्नि शब्द का तात्पर्य 'शतपथ ब्राह्मण का एक निश्चित प्रकरण' होता है, उसी प्रकार 'सतृणम्' का तात्पर्य भी उपर्युक्त कविकर्म है, ऐसा कहना अनुचित नहीं है, विशेष कर उस परिस्थिति में जब कि अन्य अर्थ में इस शब्द का कोई शिष्ट प्रयोग मिलता नहीं है।

प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि काशिका में जो 'सतृणम् अभ्यवहरति' उदाहरण है, वही संगत है, सिद्धान्तकौमुदीगत 'सतृणम् अत्ति' उदाहरण व्याकरण की दृष्टि से संगत होता हुआ भी परम्परागत प्रयोग की दृष्टि से असंगत है, क्योंकि अलंकारशास्त्रों में सर्वत्र 'अभ्यवहार' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, अद आदि धातुघटित कोई भी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ[1]।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि 'सतृणम्' का ऐसा विशिष्ट तात्पर्य है, तो 'साकल्य' का जो दूसरा उदाहरण 'सबुसम्' है, क्या उसका भी कोई विशिष्ट तात्पर्य है? अभी हम इसका उत्तर नहीं दे सकते।

[२]

लाकृति—६।१।७७ सूत्र के उदाहरण में 'लाकृति' (लृ+आकृति) शब्द दिया गया है। यह लाकृति उदाहरण कातन्त्र आदि अन्यान्य व्याकरणों में भी मिलता है (इसी नियम के प्रसंग है), अतः ज्ञात होता है कि यह मूर्धाभिषिक्त प्राचीन उदाहरण है।

यह विचारना चाहिए कि 'लृ के बाद अच् परे रहने का उदाहरण' देने के प्रसंग में लृ+आकृति=लाकृति (यणादेश कर) दिया गया है। प्रश्न है कि यहाँ लृ+इति=लिति या लृ+उच्चारण=लुच्चारण इत्यादि अन्य कोई उदाहरण भी सरलता से दिया जा सकता था—लाकृतिरूप

१—यह द्रष्टव्य है कि २।१।६ सूत्र के उदाहरण में 'सतृणम्' उदाहरण 'अभ्यवहरति' क्रिया के साथ है, जब कि कुछ अन्य सौत्र पदों के उदाहरणमात्र पठित हुए हैं। जहाँ इस प्रकार का एक निश्चित वाक्य उद्धृत होता है, वहाँ उसका कोई निश्चित तात्पर्य होगा—ऐसी संभावना होती है। वह निश्चित तात्पर्य क्या हो सकता है—यह दिखाने की चेष्टा यहाँ की गई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण ही सर्वत्र क्यों दिया गया ? निश्चयेन 'लाकृति' शब्द में कुछ विशिष्टता होगी जिसके कारण अन्यान्य व्याकरणों में भी यह उदाहृत हुआ है।

हम समझते हैं कि आरम्भ में कुछ विशिष्टता के कारण ही यह उदाहरण मूर्धाभिषिक्त के रूप में सम्मानित हुआ था। बाद में गतानुगतिकरूपेण यह उपन्यस्त हो रहा है। 'लाकृति' को लेकर निम्नोक्त उद्भट श्लोक इस शब्द की विचित्रता को ज्ञापित करता है—

स्वभावेन हि यः क्षुद्रो द्व्यादिगुणान्वितोऽपि सः।
न जहाति निजं भावं संख्याङ्के लाकृतिर्यथा॥

तात्पर्य यह है कि जो स्वभाव से क्षुद्र है वह चाहे दो-गुना तीन-गुना आदि बढ़ जाए, पर वह अपने धर्म को नहीं छोड़ता, जैसा कि लाकृति (ऌ की तरह आकृति वाली) संख्या (अर्थात् नौ संख्या) को गुना करने पर देखा जाता है, अर्थात् ९×२=१८ और पुनः १+८=९ ही है; तथैव ९×४=३६; ३+६ ९; तथैव ९×५=४५; ४+५=९; इसी प्रकार ९×९=८१; ८+१=९।

प्रश्न होगा कि लाकृति में नौ संख्या का क्या सादृश्य हैं ? उत्तर यह है कि प्रचलित देवनागरी लिपि में भले ही कोई सादृश्य न दृष्टिगोचर हो, पर भारत में ऐसी लिपि है (और थी) जिसमें ऌ वर्ण की लिपि और नौ संख्या की लिपि अत्यन्त सदृश हैं (प्रचलित बंगला लिपि या पूर्वभारतीय कई लिपियों में यह सादृश्य दर्शनीय है)। जिस वैयाकरण ने 'लाकृति' उदाहरण दिया था, निश्चयेन उनकी व्यवहार्य लिपि में ९ संख्या और ऌ वर्ण की लिपि अत्यन्त सदृश थी और इस चमत्कार के कारण ही यह 'लाकृति' उदाहरण मूर्धाभिषिक्त उदाहरण का पद पा गया था। लोक में जो उदाहरण बहुलमात्रा में (तथा विभिन्न सम्प्रदायों में भी) व्यवहृत होता है उसके मूल में इस प्रकार की कोई बात अवश्य होनी चाहिए।

हमारी दृष्टि में यह उदाहरण मूलतः उस व्याकरण का है, जिसके वृत्तिकारों की लिपि में ऐसा सादृश्य था। यह कौन सम्प्रदाय हो सकता है, यह गवेषणीय है। यह ध्यान देने की वस्तु है कि 'लाकृति' का अर्थ तत्पुरुष-समास मानकर किया जा सकता है, बहुव्रीहि मानकर भी; पर विभिन्न सम्प्रदायों में बहुव्रीहिसमास ही माना गया है (ऌकारस्येवाकृतिर्यस्येति विग्रहः—सन्धिवृत्ति ३४ सूत्र की पञ्जिका टीका),जिससे पूर्वोक्त गूढ़ तात्पर्य ही ज्ञापित होता है। तत्पुरुष मानकर अर्थ करने पर भी सन्धिकार्य की दृष्टि से कोई हानि नहीं है, तथापि बहुव्रीहि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानने की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि परम्परा में 'लाकृति' का पूर्वोक्त गूढ़ अर्थ प्रचलित था। 'बहुव्रीहिसमास यह है' यहां तथ्य पाणिनीय सम्प्रदाय को भी ज्ञात था; यही कारण है कि वासुदेव कहते हैं—लृवर्णस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्येति (बालमनोरमा)। ऋवर्णपरक सन्धि दिखाने के समय भी 'राकृति' दिखाया जा सकता था, पर केवल 'लृ' के विषय में ही 'आकृति' युत उदाहरण देना निश्चयेन 'लाकृति' के किसी गूढ़ तात्पर्य का विज्ञापक है।

यह भी द्रष्टव्य है कि सभी आचार्य 'लाकृति' ही कहते हैं; लाकार (लृ+आकार) इत्यादि समार्थक अन्य शब्द नहीं देते। 'लाकार' भी ६।१।७७ का संगत उदाहरण हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'लाकृति' यही आनुपूर्वी प्रसिद्ध हो गई थी, अतः समार्थक शब्दान्तर देने की प्रवृत्ति किसी को नहीं हुई। ध्यान देना चाहिए कि पूर्वोक्त श्लोक में 'लाकृति' के स्थान पर 'लाकार' पढ़ने से छन्दोदोष होगा; अतः यह श्लोक या एतत् सदृश कोई वचन इस उदाहरण के मूल में अवश्य है, यह स्वीकार्य है।

बहुव्रीहि समासपक्ष में लृवर्ण से भिन्न किसी पदार्थ को यह शब्द अवश्य ही लक्ष्य करेगा; लृवर्णाकृति और किसी वर्ण की नहीं है, अतः उपर्युक्त अर्थ में ही इस उदाहरण का तात्पर्य स्वीकार्य है—विशेषकर जब इस सादृश्य में एक चमत्कारजनक कथन भी उपलब्ध होता है।

[३]

गुरुलाघवम्—काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् (काशिका ४।३।११५)या आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् (काशिका ६।२।१४)–ये दो उदाहरण काशिका में मुद्रितरूपेण मिलते हैं। इन उदाहरणों के पाठ में कुछ भेद मिलता है[1], जिसका निर्णय हस्तलेख के विना नहीं हो सकता। यहाँ उदाहरणवाक्य के पूर्वांश पर विचार करना नहीं है (और उसी में पाठवैलक्षण्य है); यहाँ हम यह मानकर चल रहे हैं कि चाहें आपिशलि हो, चाहे काशकृत्स्न, इन दोनों में से किसी के व्याकरण को लक्ष्यकर "गुरुलाघवम्" यह विशेषण (स्वरूपनिर्देशक) दिया गया है। इन दोनों के किसी का व्याकरण पूर्णतया नहीं मिलता; इन दोनों के व्याकरण के जो भी वचन उद्धृत मिलते हैं, उनसे व्याकरणरचना की प्रकृति का विशद ज्ञान भी नहीं होता—यह पहले ही ज्ञातव्य है।

१—द्र० सं० व्या० शा० इ० भाग १, पृ० ११९, १२६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।३।११५ सूत्र 'उपज्ञान' से सम्बन्ध रखता है और ६।२।१४ सूत्र 'उपज्ञा' से। इन दोनों शब्दों के अर्थों के विषय में पहले आलोचना की गई है (द्र० २५ वाँ परिच्छेद)।

'गुरुलाघव' शब्द के अर्थ पर पं०युधिष्ठिर मीमांसक कहते हैं—'काशकृत्स्न ने अपने संक्षिप्त शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव (=लोक में प्रयोग) और लाघव (लोक में अप्रयोग) को मुख्यता दी' (सं० व्या० शा० इ० भाग १, पृ० १२०। मीमांसक जी का तात्पर्य है कि काशकृत्स्न ने लोक में अप्रसिद्ध अनेक शब्दों को छोड़ दिया।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी कहते हैं--काशिका में उल्लेख है कि आपिशलि के व्याकरण में गुरु और लघु सम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया था—आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् (६।२।१४)। संभव है कि पाणिनि के ह्रस्वदीर्घप्रकरणों में आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३४)।

उपर्युक्त दो अर्थ कहाँ तक युक्तिसंगत हैं, यह विचारित हो रहा है। आपिशलि और काशकृत्स्न से इस लेख का कोई तात्पर्य नहीं है, 'गुरुलाघव' शब्द का अर्थ क्या है, यही विचार्य है।

मीमांसकजी ने गौरव-लाघवशब्दों का जो अर्थ दिखाया है, वह काल्पनिक ही है। दर्शित अर्थों में गौरव आदि शब्द पूर्वाचार्यों द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए हों यह ज्ञात नहीं है। किंच जो ही व्याकरण बनाएगा वह प्रचलितता-अप्रचलितता पर ध्यान अवश्य रखेगा, क्योंकि व्याकरण एक स्मृति है और स्मृति सदैव कालावच्छिन्न ही होगी। चिरकाल से प्रचलित सभी शब्दों के सब रहस्य कदापि किसी के द्वारा विज्ञात नहीं हो सकते, आचार्य रहस्यान्वेषण की ओर बहुत दूर तक सफल चेष्टा ही कर सकते हैं। अतः 'प्रचलन-अप्रचलन पर दृष्टि देना' किसी आचार्य की 'उपज्ञा' नहीं हो सकता, वह तो सभी को अपनी पद्धति के अनुसार करना ही है।

डा० अग्रवालदर्शित अर्थ में यह विप्रतिपत्ति है कि 'गुरुलघुसम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन' रूप अर्थ 'गुरुलाघव' शब्द का नहीं हो सकता। गुरुलघु का अर्थ 'गुरुलघुसम्बन्धी नियम' है, यह कैसे जाना जा सकता है? इस लाक्षणिक प्रयोग का हेतु क्या है?

डा० अग्रवाल गुरु-लघु का अर्थ 'ह्रस्व-दीर्घ' समझते हैं (संभावना के रूप में)। पर यह संभावना भी उपपन्न नहीं होती, क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ और लघु-गुरु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पदार्थ नहीं हैं। ह्रस्व=एकमात्रिक अच्; दीर्घ=द्विमात्रिक अच्, पर लघु या गुरु कोई 'अक्षर' ही (स्वरयुक्त व्यञ्जन) होगा—इसी अर्थ में लघु-गुरु का मुख्य प्रयोग है। पाणिनि के 'ह्रस्वं लघु' (१।४।१०), 'संयोगे गुरु' (१।४।११) और 'दीर्घं च' (१।४।१२) सूत्रों की व्याख्याओं से यही जाना जाता है[1]। जो गुरु है वह सदैव दीर्घ ही होगा—ऐसी बात नहीं है; पिष्टक में 'पि' (इकार) ह्रस्व है, पर गुरु है। छन्दः शास्त्र में लघु-गुरु के जितने लक्षण हैं, उन पर ध्यान देने से ह्रस्व-दीर्घ से उनका भेद स्पष्ट होगा।

'पाणिनि का ह्रस्वदीर्घ-प्रकरण' ऐसा अग्रवालजी कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्यय,कारक, समास,इट्, ङित्कित्, संहिता, प्रकृतिभाव आदि से संबद्ध प्रकरण हैं, उसी प्रकार क्या ह्रस्वदीर्घपरक कोई व्यवस्थित प्रकरण अष्टाध्यायी में है? अष्टाध्यायी में गुरु-लघु-सम्बन्धी कोई व्यवस्थित प्रकरण भी नहीं है, अतः अष्टाध्यायी के मूलभूत आपिशालि व्याकरण में भी एतत्-सम्बन्धी व्यवस्थित प्रकरण था, यह कहना भी असिद्ध है, जबतक न प्रत्यक्ष प्रमाण से ऐसा सिद्ध हो जाए। यह भी विचार्य है कि यदि गुरु-लघु=ह्रस्व-दीर्घ हैं, तो गुरु-लघु के बाद अण् प्रत्यय कर 'गुरुलाघवम्' बनाने की क्या आवश्यकता है (ह्रस्वदीर्घ 'रूप अर्थ में)? 'आपिशल्युपज्ञं गुरुलघु' भी तो कहा जा सकता है।

जब पूर्वोक्त दो अर्थ उपपन्न नहीं हुए, तब यह विचार्य होता है कि 'गुरु-लाघवम्'का अर्थ क्या है? यह आचार्यविशेष का उपज्ञानभूत है,यह भूलना नहीं चाहिए, अतः यह रचना या विचार से सम्बद्ध शैली या रीति विशेष का लक्षण करता है, अतः 'गौरव-लाघव-परक विचार' ही यहाँ विवक्षित अर्थ होगा; पर वह विचार किस प्रकार का है, इसका परिज्ञान ग्रंथदर्शन के विना नहीं हो सकता। गौरव-लाघव शब्ददृष्टि से भी होता है, अर्थदृष्टि से भी, अन्य दृष्टि से भी। न्याय-शास्त्रगत 'फलमुख गौरव' आदि परक विचार गौरव-लाघव-विचार के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त अर्थों में 'गुरुलाघव' शब्द का प्रचुर प्रयोग है। कौटल्य कहते हैं—पुरुषं चापराधं च देशकालौ समीक्ष्य च। उत्तमाधम–मध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि (अर्थशास्त्र ४।१०); कठ० १।२।२ गत 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः' मन्त्र की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं—'मनसाऽलोच्य

१—ह्रस्वमक्षरं लघूच्यते (भाषावृत्ति १।४।१०; द्र० प्र० सर्वस्व १।४।१०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्'। शाकुन्तलगत 'भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि' वाक्य भी इस प्रसंग में स्मरणीय है।[1]

गौरवलाघवतत्त्व विचारविशेष से सम्बन्ध रखता है, अतः वह 'उपज्ञा' हो सकता है; ह्रस्वदीर्घ से उपज्ञा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आपिशलि या काशकृत्स्न में से किसी ने व्याकरणरचना में गौरव-लाघव सम्बद्ध दृष्टि अपनाई थी। लाघव के विना भी व्याकरण बनाया जा सकता है, यही कारण है कि भाष्यकार कभी-कभी 'तच्च लघ्वर्थम्' कहकर यह दिखाना चाहते हैं कि पाणिनि का अमुक निर्देश लाघव-संपादनार्थ है। संभवतः प्रतिपद-पाठरीति के बाद लाघव-गौरव-विचारपूर्वक सूत्रप्रणयन आरब्ध हुआ था। यह लाघवविचार शब्द, अर्थ, प्रक्रिया और चिन्तनपद्धति—इन चारों में हो सकता है; आपिशलि या काशकृत्स्न ने जो लाघव-विचार शुरू किया था, वह कीदृश था, यह अज्ञात है[2]।

१—द्र० गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् (हरिकृत दीपिका); अथापि लोके गुरुलाघवं प्रत्यनादराच्छब्दमपि प्रयुङ्क्ते (प्रसाद २।३।२७ धृत पाणिनीयमत-दर्पणवाक्य); प्रपञ्चे च गुरुलाघवमचिन्त्यमित्यदोषः (प्रसाद १।४।२५)।

२—इतना ज्ञात होता है कि आपिशलि व्याकरण में भी प्रपञ्चार्थक सूत्र थे। पुण्डरीक विद्यासागर ने कातन्त्रप्रदीप में लिखा है—आपिशलीयमते हृक्रोर्वाचनम् प्रपञ्चार्थमिति पुरुषोत्तमः (कारक २१९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिंश परिच्छेद

भाष्यादि के कुछ पाठों की समीक्षा

[१]

तृज्वत् क्रोष्टुः (७।१।९५) सूत्र के भाष्य का पाठ है—एवं तर्हि न चापरं निमित्तं संज्ञा च प्रत्ययलक्षणेन। हमारी दृष्टि में यह पाठ प्रामादिक है; प्रकृत पाठ होगा—'एवं तर्हि न—चापरं निमित्तं च संज्ञा प्रत्ययलक्षणा'। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियां द्रष्टव्य हैं—

(क) 'न चापरम्..... ' वाक्य को एक पूर्ण वार्त्तिक समझना चाहिए; यही कारण है कि इसका व्याख्यानभूत भाष्य पठित हुआ है—न चापरं निमित्तमाश्रीयते······। अतः इसको वार्त्तिकरूप से मानना ही उचित होगा।

(ख) अब विचारना चाहिए कि यह श्लोकवार्त्तिक है या गद्यवार्त्तिक। हमारी दृष्टि में यह श्लोकवार्त्तिक है; यह वाक्य पूर्ववार्त्तिकोक्त दोष के समाधान के लिये है, अतः दोष और तत्समाधानपरक यह वचन यदि एककर्तृक हों तो यह स्वाभाविक ही है (दोष और तत्समाधान-प्रदर्शक श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य में बहुत्र मिलते हैं)।

(ग) अब देखना चाहिए कि दोषप्रदर्शक वार्त्तिक (तेनैव भावनं चेत् स्यात् अनिष्टोऽपि प्रसज्यते) यदि अनुष्टुप् में रचित हो तो समाधानपरक वार्त्तिक (जो उसका अर्धांश है) भी अनुष्टुप् में ही रचित होगा—इसमें कोई संशय नहीं है।

ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि 'न चापरम् ..' इत्यादि वाक्य अनुष्टुप् छन्द में ही रचित हुआ था। 'प्रत्ययलक्षणेन' इस पद के स्थान पर 'प्रत्ययलक्षणा' ऐसा पाठान्तर मिलता है, अतः यदि 'चकार' का व्यत्यासमात्र कर दिया जाय तो 'संज्ञा प्रत्ययलक्षणा' ऐसा चतुर्थचरण का पाठ संगतरूप से ही उद्भूत होगा। च-कार को तृतीय चरण में पढ़ना चाहिए, जिससे 'न चापरं निमित्तं च' ऐसा तृतीय चरण का पाठ निश्चित हो जाए।

यदि प्रश्न हो कि एक ही श्लोकचरण में (न चापरं निमित्तं च) दो चकारों का पाठ क्यों किया गया? उत्तर यह है कि वृत्त की रक्षा के लिये ऐसा किया गया है। वस्तुतः शास्त्रीय नियम के अनुसार चकार का पाठ संज्ञाशब्द के बाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए (अर्थात् 'संज्ञा च प्रत्ययलक्षणा—ऐसा पाठ होना चाहिए), क्योंकि यहाँ संज्ञा का समुच्चय भाष्यकार को इष्ट है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—अङ्गसंज्ञा च भवति प्रत्ययलक्षणेन। पर छन्दोदोष के परिहार के लिये चकार को अस्थान में पढ़ा गया है। वृत्तरक्षार्थ च, एव आदि का इस प्रकार का अस्थान में पाठ सर्वत्र देखा जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि 'न चापरम्' का एक पाठान्तर 'न वा परम्' के रूप में मिलता है; यह पाठ निश्चयेन पक्षान्तर का सूचक है। यदि इस पाठ को ही मूल पाठ मान लिया जाए तो 'एक श्लोकचरण में दो चकारों का पाठ क्यों किया गया' यह प्रश्न उठता ही नही हैं।

यदि 'न चापरं निमित्तं च संज्ञा प्रत्ययलक्षणा' यही मूल पाठ है तो प्रामादिक पाठ का उद्भव ही क्यों हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना यह है—भाष्यकार ने व्याख्या की है—अङ्गसंज्ञा च भवति प्रत्ययलक्षणेन; अतएव कालान्तर में किसा ने यह सोचा कि लक्षित वार्त्तिक में भी वार्त्तिककार ने 'प्रत्ययलक्षणेन' ऐसा पद अवश्य ही पढ़ा होगा; देखा भी जाता है कि वार्त्तिकोक्त शब्दों को ही भाष्यकार बहुलतया स्वव्याख्या में ले लेते हैं। इस चिन्ताधारा से ही बाद में भ्रमवश वार्त्तिक में भी 'प्रत्ययलक्षणेन' ऐसा पाठ चिन्तित हुआ, जिससे श्लोकवार्त्तिक का श्लोकत्व ही नष्ट हो गया (अक्षराधिक्य होने के कारण)। इस प्रकार 'निमित्तं च संज्ञा प्रत्ययलक्षणा' ऐसा वार्त्तिकशरीर बन जाने पर किसी ने चकार को संज्ञा के बाद रखा, क्योंकि यहां संज्ञा का समुच्चय अभीष्ट है। जिसका समुच्चय इष्ट हो उसके बाद चकार को रखने की रीति प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार 'न चापरम्' इत्यादि श्लोकवार्त्तिक प्रचलित रूप से पठित हुआ है।

[२]

अचः कर्तृयकि (६।१।१९५) सूत्रभाष्य में कहा गया है—"यकि रपर उपसंख्यानम् कर्तव्यम् स्तीर्यते स्वयमेव"। हमारी दृष्टि में यह पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस सूत्र में उदात्त का वैकल्पिक विधान किया गया है, अतः स्वरभेद-प्रदर्शन के लिये एक उदाहरण को दो बार पढ़ना आवश्यक है। इसी सूत्र के भाष्य में 'उपदेशे जनादीनाम्' वार्त्तिक के उदाहरण में 'जायते स्वयमेव' उदाहरण दो बार पढ़ा गया है (स्वरभेद-प्रदर्शन के लिये)। इस सूत्र के भाष्य के अन्त में समाधानवार्त्तिक के उदाहरण में भाष्यकार ने 'चीयते स्वयमेव' उदाहरण को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो बार पढ़ा है, अतः हमारा अनुमान है कि 'यक्चि रपर......' वार्त्तिक का उदाहरण भी दो बार पढ़ा गया होगा। उपसंहार में यदि पतञ्जलि 'स्तीर्यते स्वयमेव' वाक्य को दो बार पढ़ सकते हैं (स्वरवैकल्पिकत्व-प्रदर्शन के लिये) तो उपक्रम में भी ऐसा ही किया गया होगा—ऐसा सहजतः अनुमित होता है।

किसी-किसी संस्करण में उपक्रम में 'स्तीर्यते स्वयमेव, जीर्यते स्वयमेव' ऐसा पाठ मिलता है, पर द्वितीय उदाहरण 'जीर्यते' ऐसा यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरवैकल्पिकत्वप्रदर्शन के समय उदाहरण में परिवर्तन करना अन्याय्य है। 'जीर्यते' यह अशुद्ध उदाहरण ही ज्ञापित करता है कि यहाँ कोई शुद्ध उदाहरण था; वह शुद्ध उदाहरण 'स्तीर्यते' ही हो सकता है, यह भी स्पष्ट ही है।

[३]

कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८०) सूत्र के निर्णयसागरमुद्रित भाष्य में यह वाक्य हैं—तथा कर्मदृष्टश्चेत् समानधातौ। तथा कर्मदृष्टश्चेत् समानधाताविति वक्तव्यम् (पृ० ११७)। कीलहर्न संस्करण में पाठ है—तथा कर्म दृष्टश्चेत् ...। निर्णयसागर के पाठ में जहाँ 'कर्मदृष्ट' ऐसा समस्त पद है, वहां कीलहर्न संस्करण में 'कर्म दृष्टः' ऐसा दो पृथक् पद हैं।

सामान्यदृष्टि से जान पड़ता है कि 'कर्मदृष्टः' पाठ संगत ही है; यह पद 'कर्ता' का विशेषण है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं होती (कर्मणा दृष्टः = कर्मदृष्टः)। पर धीर बुद्धि से विचारने पर ज्ञात होगा कि क्या कर्मकर्तृवाच्य में कर्ता कर्म द्वारा दृष्ट होता है?

बात वस्तुतः यह है कि यहाँ कर्म एक पृथक् पद है, तदनुसार अर्थ होगा—कर्ता कर्म (= कर्मरूपः) यदि दृष्टः, तर्हि कर्मवद्भावो भवति—कर्ता यदि कर्मरूपेण दृष्ट हो तभी कर्मवद्भाव होता है। 'कुसूलः स्वयमेव भिद्यते' वाक्य में यह बात पूर्णतया घटती है, यह स्वीकार्य है। कैयट भी ऐसा ही कहते हैं, अतः कर्म को पृथक्पद मानना कैयट को भी अनुमत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कीलहर्न संमत पाठ ही संगत है।

[४]

पाणिनिकालीन भारतवर्ष (पृ० ३३७) ग्रन्थ में यह सन्दर्भ है—घु = उत्तरपद (भाष्य ७।३।३); श्लोकवार्त्तिक ३,—किमिदं घोरिति, उत्तरपदस्येति, और भी भाष्य ६।४।१४९;[1] सूत्र ७।१।२१ के भाष्य में अघु को अनुत्तरपद

१—ग्रन्थ में मुद्रित पाठ ६।४।१६ है, पर प्रकृत आकरस्थल ६।४।१४९ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है। कीलहर्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ 'द्यु' होना चाहिए (इन्डियन एन्टिकरी १६।१०६)।

'घु के स्थान पर द्यु का सुझाव' कहाँ तक युक्तिसङ्गत है—यह विचार्य है।

सूत्र ७।३।३ का श्लोकवार्त्तिक यह है—'यत्र वृद्धि रचामादेः तत्रैचावत्र घो हि सा'। यहाँ 'घोः' के स्थान पर कहीं-कहीं 'द्योः' पाठान्तर मिलता है। पर यदि हम घोः के स्थान पर द्योः का पाठ करें तो एक निकृष्ट छन्दोदोष होगा—द्योः पाठ कर देने से 'त्र' गुरु हो जाएगा, और 'सर्वत्र लघु पञ्चमम्' इस नियम का उल्लङ्घन होगा।

हम जानते हैं कि कुछ ऐसे भी अनुष्टुप्-भेद हैं,[1] जिनमें यह नियम माना नहीं जाता,[2] पर जिस अनुष्टुप्-प्रकार में यह श्लोक लिखा गया है, उसमें द्वितीय चरण के पञ्चम अक्षर को लघु होना ही होगा। महाभाष्य में नवाक्षर चरणात्मक अनुष्टुप् प्रयुक्त हुआ है[3] (जो शास्त्रसिद्ध है), पर यहाँ पञ्चम अक्षर को गुरु करने के लिये कोई भी वैकल्पिक मत उपलब्ध नहीं है।

यदि पाठकों को यह संशय हो कि क्या छन्द के बल पर पाठ का निर्णय करना कोई शास्त्रसम्मत मार्ग है, तो उत्तर यह है कि पूर्वाचार्यों ने स्वयं ही ऐसा किया है। पाणिनि के 'आकर्षात् ष्ठल् (४।४।९) सूत्र का एक पाठान्तर[4]

१—अनुष्टुप् १२ प्रकार का है—वक्त्र, पथ्यावक्त्र, विपरीतपथ्यावक्त्र चपलावक्त्र, विपुलावक्त्र, इत्यादि।

२—भ-विपुलावक्त्र और र-विपुलावक्त्र आदि कुछ अनुष्टुपों में पञ्चम अक्षर गुरु नहीं होता (पिङ्गलछन्दःसूत्र ५।१९ की हलायुधवृत्ति; वृत्तरत्नाकर २।४८); भ-विपुलावक्त्र के विवरण में विभिन्न छन्दःशास्त्रवित् आचार्यों में मतभेद हैं, पर पञ्चम अक्षर की लघुता में सभी एकमत हैं।

३—महाभाष्य में एक श्लोकवार्त्तिक है—'प्रधानकर्मण्याख्येये............।' इसका प्रथम चरण नवाक्षर है। अन्यत्र भी ऐसा उदाहरण मिलता है। पुराणों में कई नवाक्षरचरण हैं—'जनमेजयस्य राजर्षेः...........'। यह कोई दोष नहीं है। भाषावृत्ति (पृ० ३२९) में 'भागवृत्ति के मत से नवाक्षरवृत्तभेद भी शास्त्रसिद्ध है,' यह दिखाया गया है।

४—द्र० सारस्वती सुषमा में प्रकाशित मेरा लेख—'पाणिनीयसूत्रपाठान्तरसङ्कलनम् (९।१)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है—आकषात् ष्ठल्। पूर्वाचार्यों ने स्वयं ही कहा है कि 'आकषात् ष्ठल्' यह पाठभेद भ्रष्ट है, क्योंकि 'आकर्षात् पर्पादेः ········ ····· ठगधिकारे' रूप एक श्लोकवार्त्तिक मिलता है; यदि इस श्लोकवार्त्तिक में 'आकर्षात्' के स्थान पर 'आकषात्' पाठ किया जाए तो छन्दोभग होगा, अतः 'आकषात्' रूप सूत्रपाठ मान्य नहीं है।[1]

उपर्युक्त विचार के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि कम से कम श्लोक-वार्त्तिककार ने स्वयं 'घोः' पाठ ही रखा था, 'द्योः' पाठ नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ७।३।३ में 'घु' पाठ ही उचित है, 'द्यु' नहीं।

यह पूर्णतः सम्भव है कि अन्य किसी श्लोकवार्त्तिक में उत्तर पद के लिये 'द्यु' यह पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुआ हो। सभी श्लोकवार्त्तिक एक आचार्य कृत नहीं हैं; सभी गद्य-वार्त्तिक भी एक आचार्य-कृत नहीं हैं,[2] अतः अन्य किसी आचार्य ने यदि उत्तरपद के लिये 'द्यु' शब्द रखा हो तो कोई विचित्र बात नहीं है। स्वयं पाणिनि ने एक ही शब्द को अष्टाध्यायी में पारिभाषिक और अपारिभाषिक के रूप में व्यवहृत किया है।[3] पारिभाषिक शब्दों में एतादृश वैचित्र्य सर्वत्र रहता है, क्योंकि इन शब्दों के निर्माण में तत्तत् ग्रन्थों के रचयिता स्वतन्त्र बुद्धि से भी कार्य कर सकते हैं। पाणिनि ने स्वयं 'घु' शब्द को एक अन्य पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत किया है (दाधा घ्वदाप्—१।१।२०)। इस 'घु' शब्द को अन्य आचार्य 'उत्तर पद' के अर्थ में भी व्यवहृत कर सकते हैं, तथा अन्य आचार्य इस अर्थ में 'द्यु' शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि एक ही आचार्य एक ही ग्रन्थ में एकाधिक पारिभाषिक शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं—पाणिनि भी एक ही अर्थ में आङ्—टा, जस्—जसि इत्यादि दो-दो शब्दों का व्यवहार करते हैं, अतः ऐसी कोई अनिवार्यता उत्पन्न नहीं हो सकती जिसके लिये 'घु' को 'द्यु' बनाना ही पड़े (जब तक इसके लिये कोई स्पष्ट प्रमाण न मिले।)

१—ज्ञानेन्द्र सरस्वती कहते हैं—एतच्च कषखष इत्यादि दण्डके माधवेनो-पन्यस्तम्। किन्तु आकर्षात् पर्पादेः इति वार्त्तिकस्य अननुगुणम्। तत्र हि नीरेफपाठे वृत्तावसंगतिप्रसंगात् (तत्त्वबोधिनी ४।४।९)।

२—द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, अध्याय ८।

३—'गुण' शब्द का व्यवहार पारिभाषिक और अपारिभाषिक—दोनों अर्थों में अष्टाध्यायी में है; उसी प्रकार स्वाङ्ग शब्द भी। पाणिनि ने अमनुष्य शब्द का प्रयोग रक्षः-पिशाचादि कई अर्थों में किया है। शब्दों का इस प्रकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम ६।४।१४९ सूत्रगत वार्त्तिक पर विचार करते हैं। यहाँ 'द्योलोपो-ऽन्तिषदित्यत्र' श्लोकवार्त्तिक है; कैयट कहते हैं—'द्यु-शब्देन उत्तरपदं पूर्वाचार्यप्रसिद्धयोच्यते' (प्रदीप)। यहाँ द्यु-पाठ के स्थान पर 'घु' करने की आवश्यकता नहीं है, और यह प्रतीत होता है कि यह अन्य किसी आचार्य का श्लोकवार्त्तिक है, जिसने उत्तरपद के लिये 'द्यु' यह पारिभाषिक शब्द रखा था। पर यह भी ज्ञातव्य है कि यहाँ भी 'द्यौ' के स्थान पर 'घौ' यह पाठान्तर मिलता है (भाष्य में भी, प्रदीप में भी—निर्णयसागर संस्क० द्रष्टव्य) अतः ऐसी कल्पना की ही जा सकती है कि 'घु' पाठ ही लिपिसाम्य के कारण 'द्यु' हो गया है। यदि यहाँ 'द्यौ' के स्थान पर 'घौ' पाठ किया जाए तो कोई छन्दोदोष नहीं होता, यह ज्ञातव्य है।

हम इस पक्षको युक्ततर समझते हैं कि मूल में 'घु' पाठ ही था और बाद में कारणविशेष से 'घु' को 'द्यु' बना दिया गया। वह कारण यह है—जैनेन्द्र व्याकरण में समासगत उत्तर पद को 'द्यु' माना गया है (१।३।१०४; समासे यदुत्तरपदं तद् द्युसंज्ञं भवति, (जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति)। इस प्रकार हो सकता है कि अन्य प्राचीन सम्प्रदायों में भी उत्तरपद के लिये 'द्यु' संज्ञा का प्रचलन था जिसके कारण पाणिनीय सम्प्रदाय में स्वीकृत 'घु' को भी भ्रम से 'द्यु' माना गया था (लिपिसाम्य भी इस भ्रम का कारण हो सकता है)। द्यु-पाठी शायद यह भी समझते थे कि चूँकि पाणिनीय तन्त्र में 'घु' संज्ञा अन्य अर्थ के लिये नियत है (द्र०अष्टा० १।१।२०) अतः उस 'घु' शब्द का पुनः 'उत्तर पद' के अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता। पर यह दृष्टि असङ्गत है, क्योंकि श्लोक-वार्त्तिककार पाणिनिव्यवहृत पारिभाषिक शब्द को अन्य अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं, जैसा कि पहले कहा गया है।

अष्टा० ७।१।२१ के श्लोकवार्त्तिक में 'घौ' के स्थान पर 'द्यौ' पाठान्तर मिलता है, यह भी उपर्युक्त भ्रम के कारण ही है; यहाँ 'घौ' को 'द्यौ' मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

[५]

वात्रादीनाम्—सारस्वतीसुषमा के ज्येष्ठ २०१० में श्रीशांति भिक्षुमहोदय का एक लेख प्रकाशित हुआ है। लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि सिद्धान्त-

विचित्र प्रयोग सकारण है। यतः विभिन्न स्रोतों से पाणिनीय सामग्री सङ्कलित हुई है, अतः तत्तत् संप्रदायों में असंकीर्ण रूप से व्यवहृत शब्द पाणिनितन्त्र में संकीर्ण हो गए हैं; लेखान्तर में यह विषय विवृत हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौमुदी में पठित 'वाचादीनामुभावुदात्तौ' (८३) यह फिट् सूत्रपाठ अशुद्ध है और शुद्ध पाठ 'वावादीनां उभावुदात्तौ' ही है। इस प्रमाणीकरण के लिये श्री भिक्षुजी ने जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है।

पर यह पूरा प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि हम गुरुपरम्परा से 'वावादीनां' ही पढते आये हैं; 'वाचादीनां' रूप पाठान्तर है—ऐसा हमारे सम्प्रदाय में ज्ञात नहीं है; प्रतीत होता है कि ग्रन्थसंपादक के प्रमाद से सिद्धान्तकौमुदीगत सूत्र का पाठ भ्रष्ट हो गया है। शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने 'वावादीनां' पाठ की ही व्याख्या की है; प्रक्रियाकौमुदी (पृष्ठ ७५३) में 'वावादीनामुभावुदात्तौ' ही पाठ मुद्रित हुआ है।

इस विषय में इतना और जानना चाहिए कि शब्देन्दुशेखर में 'वावादीना-मुभौ' इतना ही सूत्र हैं, 'उदात्तौ' यह पद अनुवृत्ति के रूप में आया है।

[६]

नान्तः पादम् और प्रकृत्यान्तःपादम्—६।१।११५ सूत्र का पाठ 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे है या 'नान्तःपादमव्यपरे'—इसपर पूर्वाचार्यों में मतभेद है, जिसका समाधान अपेक्षित है। कई पूर्वाचार्यों ने 'नान्तःप्रादम्' पाठ का निर्देश किया है[1]। शब्दकौस्तुभ (१।१।३) आदि में भी यह पाठभेद निर्दिष्ट हुआ हैं।

पूर्वापर विचार कर हम समझते हैं कि प्रकृत (पाणिनिसंमत) पाठ'प्रकृत्यान्तः-पादम्'है, न कि 'नान्तःपादम्…'। वार्त्तिककार ने ही 'नान्तः पादम्' ऐसा कहा है। इस विषय में निम्नोक्ति युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जो कहते हैं कि 'नान्तःपादम्' ही सूत्र है उनका कहना है कि एतत्-सूत्र-सम्बद्ध वार्त्तिकों (अर्थात् नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधः[2] और नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधश्चेदतिप्रसंगः) का आरम्भ ही ऐसा है कि उससे सूत्र का पाठ 'नान्तःपादम्' ही सिद्ध होता है। यदि 'नान्तःपादम्' ऐसा पाठ न होता—

१—काशिका में 'प्रकृत्या…' पाठ है और साथ ही कहा गया है—केचिदिदं सूत्रं नान्तःपादमव्यपरे इति पठन्ति, ते संहितायामिह (६।१।७२) यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेधं वर्णयन्ति।

२—'नान्तःपादमिति सर्वप्रतिषेधः' को वार्त्तिक मानना संगत ही है। यदि ऐसा न माना जाए तो 'नान्तः पादमिति सर्वस्यायं प्रतिषेधः' रूप भाष्यव्याख्या-पंक्ति का कोई सार्थक्य नहीं रहता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रकृत्यान्तः पादम् पाठ होता) तो वार्त्तिककार सहज रूप से 'प्रकृत्येति सर्वप्रतिषेधः'—ऐसा कह सकते थे।

उत्तर में वक्तव्य है कि वार्त्तिककार निश्चित ही जानते थे कि अष्टाध्यायी का यह प्रकरण प्रकृतिभाव से संबद्ध है; यही कारण है कि उन्होंने 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) सूत्र के वार्त्तिक में 'तत्तु तस्मिन् प्रकृतिभावार्थम्' ऐसा कहा है।[1] यदि वार्त्तिककार 'नान्तः पादम्' के रूप में ही ६।१।१२५ सूत्र को जानते तो वे 'प्रकृतिभाव' रूप एक नूतन विशिष्ट शब्द (६।१।१२५ सूत्र द्वारा कृत) का प्रवर्तन नहीं करते।

इस समाधान पर प्रश्न हो सकता है कि यदि वार्त्तिककार ने 'प्रकृत्यान्तःपादम्' पाठ को ही सूत्र रूप में देखा था तो उन्होंने 'नान्तःपादम्' के रूप में सूत्र का निर्देश अपने वार्त्तिक में क्यों किया ? हमारा कहना है कि अनेक स्थलों में सूत्रव्याख्यान, सूत्रोल्लेख आदि में वार्त्तिककार सूत्रगत शब्दों का अविकल उल्लेख नहीं करते हैं। अतः सन्देहास्पद स्थलों में वार्त्तिकमात्र से सूत्रपाठ का निर्णय नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ—जिस सूत्र में 'विभाषा' शब्द है, वार्त्तिककार उसके निर्देश में 'वा' शब्द का प्रयोग करते हैं;[2] जिस सूत्र में 'संप्रसारण' शब्द है, उसके निर्देश में वे 'प्रसारण' शब्द का प्रयोग करते हैं; सूत्र में जहां 'अन्यतरस्याम्' है, वहां सूत्रनिर्देशक वार्त्तिक में 'वा' है (६।१।१८८)।

वार्त्तिककार चूंकि स्वयं ही 'प्रकृतिभाव' शब्द का व्यवहार करते हैं (६।१।१२५) इसलिये सहजरूप से ही निश्चित किया जा सकता है कि यह प्रकरण 'प्रकृतिभाव' से ही सम्बद्ध है, और विचार्यमाण ६।१।११५ सूत्र (एक अवान्तर प्रकरण के प्रारम्भिक सूत्र होने के कारण) में अवश्य ही 'प्रकृत्या' (अर्थात् प्रकृतिभाव) शब्द था। यतः ११५ सूत्र में प्रकृत्या का

१—तु० अथाज्ग्रहणं किमर्थम् ? अचि प्रकृतिभावो यथा स्यात् (भाष्य ६।१।१२५)।

२—६।१।१८८ सूत्र में ६।१।१८७ सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आती है, और काशिकाकार ने ६।१।१८८ की व्याख्या में 'अन्यतरस्याम् आदिरुदात्तो भवति' कहा भी है। पर इस सूत्र के वार्त्तिक में 'स्वपादीनां वावचनात् ....' ऐसा कहा गया है, जहां 'स्वपादीनाम् अन्यतरस्यां वचनात्' ऐसा कहना उचित होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक अर्थ 'सन्धिकार्य का निषेध' हो है, अतः निषेधपरक रूप में ११५ सूत्र को निर्दिष्ट करने में कात्यायन ने कोई दोष नहीं देखा।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि सूत्र निषेधरूप न होकर विधिरूप में है तो क्यों पतञ्जलि ने सूत्रविचार का आरम्भ निषेधप्रदर्शन से किया है ('कस्यायं प्रतिषेधः' कहकर); सूत्र निषेधप्रदर्शक नहीं है, क्योंकि प्रकृत्या = स्वभावेन विद्यमानता है (यही प्रकृतिभाव है)। हमारा उत्तर है कि महाभाष्य का साक्षात् व्याख्येय मूल (जिसका आश्रय कर भाष्य प्रणीत हुआ है) पाणिनि का सूत्र नहीं है, बल्कि वार्तिक है, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—आक्षेपसमाधानपरो ग्रन्थो भाष्यम्, तदिह कात्यायनप्रणीतानां वाक्यानां पतञ्जलिप्रणीतं विवरणम्[1] (पदमञ्जरी)। चूंकि वार्त्तिकशब्द को लेकर भाष्यकार को चलना है, अतः उन्होंने 'नान्तः... ..' रूप पाठ के अनुरूप भाष्य का आक्षेपवाक्य कहा है (वार्तिक में 'न' है, अतः उनको 'प्रतिषेधः' कहना पड़ा है)।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भाष्यकार निश्चयेन जानते थे कि यह प्रकरण 'प्रकृतिभाव' प्रकरण है और ६।१।११५ सूत्र में 'प्रकृत्या' शब्द है (न कि सूत्र सन्धिनिषेधप्रदर्शक निषेधमूलक है)। यही कारण है कि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२१) के भाष्य में उन्होंने कहा है—किमर्थश्चकारः? प्रकृत्येत्येतद् अनुकृष्यते। 'अनुकृष्यते' शब्द निःसंशयरूपेण सिद्ध करता है कि इससे पूर्व 'प्रकृत्या' पदघटित कोई सूत्र था, अतः ६।१।११५ सूत्र में 'प्रकृत्या' शब्द है, यह निश्चित है।

इस प्रसङ्ग में यह भी विचार्य है कि पाठभेद के इतने महत्त्वपूर्णस्थल में कैयट सर्वथा मौन हैं। अत्यन्त साधारण स्थलों में भी कैयट पाठान्तर दिखाते हैं, अतः यह मानना होगा कि कैयट के पास पाठभेदसम्बन्धी कोई सूचना नहीं थी। अब सोचना चाहिए कि यदि 'नान्तः' रूप पाठ को कैयट जानते तो 'प्रकृत्या इत्येतद् अनुकृष्यते' पर वे मौन न रहकर अवश्य ही कुछ विचार करते, अतः यही सोचना सङ्गत है कि कैयट की दृष्टि में सूत्रपाठ 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' ही था।[2]

१—यही कारण है कि भाष्यकार को विवरणकार भी कहा जाता है—भाष्यकारो विवरणकारत्वात् (प्रदीप)।

२—प्रकृतिभाव का व्यावहारिक रूप एतत्-प्रकरणोक्त सन्धिकार्य का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम यह समझते हैं कि वार्त्तिककार का वाक्य (विधिपरक सूत्र में निषेधपरक वार्त्तिक का उपस्थापन) ही इस प्रकार के पाठभेद का जनक है। वस्तुतः 'प्रकृत्यान्तः पादम्' पाठ को मानने पर भाष्यवाक्यों की सङ्गति में कोई बाधा नहीं होती [१]।

[७]

स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) के भाष्य का प्रथम वार्त्तिक है—स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्च। उसके बाद यह वार्त्तिक पठित हुआ है—'कृत्वे ह्यत्वे न लुग् भवेत्।'

हम समझते हैं कि यहाँ एक ही श्लोकवार्त्तिक का पूर्वार्ध है जो किंचित् भ्रष्ट हो गया है। इसका प्रकृत पाठ होगा—स्वमोर्लुक् च त्यदादीनां कृते ह्यत्वे न लुग् भवेत्। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अष्टाभ्य औश् (७।१।२१) सूत्र में दो श्लोकवार्त्तिक हैं। उनमें द्वितीय श्लोकवार्त्तिक का जो उत्तरार्ध है (स्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्) उसका कोई प्रयोजन ७।१।२१ सूत्र में नहीं है, जैसा कि कैयट ने कहा है—स्वमोरिति उत्तरसूत्रोपस्थाप्यमानार्थसंग्रहः। वस्तुतः इस वाक्य का उपयोग ७।१।२३ सूत्र में ही है।

अब सोचना चाहिए कि यदि 'स्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्' वाक्य का उपयोग ७।१।२३ में ही हो तो वहां इसी वचन का पाठ इस रूप से ही होना चाहिए—'स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्च' इस प्रकार भिन्न रूप से पाठ करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। देखा जाता है कि ७।१।२१ सूत्रभाष्य में इस वचन के उत्तरार्ध का जो पाठ है, वही अविकृत रूप से ७।१।२३ में पठित हुआ है

प्रतिषेध ही है, अतः ६।१।११५ भाष्य के आरम्भ में 'नान्तः पादम्...' यह वाक्य देखकर भी कैयट को 'प्रकृत्यान्तःपादम्....' सूत्र के किसी पाठान्तर की सत्ता की सम्भावना प्रतीत नहीं हुई—यह स्पष्ट है।

१—'नान्तःपादम्' यह वाक्य वार्त्तिक ही हो सकता है, सूत्र नहीं, क्योंकि भाष्य में इस वाक्य की वैसी ही व्याख्या की गई है, जैसी व्याख्या वार्त्तिकों की की जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कृते ह्रस्वे न लुग् भवेत्)। अतः यह अनुमान करना सर्वथा संगत ही होगा कि प्रथम चरण का पाठ भी 'स्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्' ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा पाठ मानने पर अनुष्टुप् का एक अर्ध पूर्ण हो जाता है तथा अर्थ भी समीचीन ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

श्लोकवार्त्तिक के पाठ में (७।१।२३ में) जो भ्रंश हुआ है, उसका कारण भाष्यकार का 'स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'—यह वाक्य है। इस वाक्य को देखकर किसी को यह भ्रम हुआ होगा कि व्याख्येय वार्त्तिक भी इस प्रकार का ही होगा, क्योंकि भाष्य-शब्दानुसार वार्त्तिक होता है। पर यहाँ चूंकि वाक्य का श्लोकवार्त्तिकत्व बलवत् प्रमाण से सिद्ध है, अतः यहाँ विचारित पाठ ही संगत है।

[८]

हेलाराजीय टीका का एक भ्रष्ट पाठ—वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड, जातिसमुद्देश ३४ कारिका की व्याख्या में हेलाराज लिखते हैं—सा च उदयव्ययरहितत्वात् नित्या सत्प्रत्ययस्य सर्वदानुवृत्तेः। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड् विशेषपरिणामाः यत् तत् परं विशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय यत् तन्निःसत्तासत्तं निःसदसद् अव्यक्तमलिङ्गं तस्मिन् प्रतियन्तीत्येवं सांख्ये बुद्धितत्त्वं महच्छब्दवाच्यमाद्यं जगत्कारणं निर्दिष्टम् (पृ. ४२, सुब्रह्मण्य अय्यारसम्पादित संस्क०)।

यहाँ 'षड् विशेष परिणामाः' पाठ अशुद्ध है; समीचीन पाठ है—'षड् अविशेषपरिणामाः'। महदात्मा के छह अविशेष परिणाम सांख्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं—पञ्चतन्मात्र और अस्मिता (इन्द्रियोपादानभूत; यह अहंकार या षष्ठ अविशेष भी कहलाता है)। इस स्थल के दो पाठान्तर भी टिप्पणी में संगृहीत हुए हैं (यद् विशेषाः परि; षद्भिशेषपरिणामाः), पर ये दो भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं।

हेलाराजोक्त सन्दर्भ व्यासभाष्य में इसी आनुपूर्वी में मिल जाता है (ईषत् पाठवैलक्षण्य सहित)। पाठकों के ध्यानाकर्षणार्थ हम अपेक्षित भाष्यगत वाक्य उद्धृत कर रहे हैं—एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः ...... तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय...(२।१९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[९]

वाक्यपदीय (२।३६६) का पाठ है—तुल्यायामनुनिष्पत्तौ ज्ये-द्रा-घा इत्यसाधवः। न ह्यन्वाख्यायते शास्त्रे तेषु दत्तादिवत् स्मृतिः॥ यह श्लोक कैयट कृत प्रदीप टीका (५।३।८४) में उद्धृत है, जहां पूर्वार्ध का पाठ है—'दे-य-सो इत्यसाधवः'।

यह आश्चर्य का विषय है कि उद्धरण देते समय न कैयट ने और न प्रदीप-व्याख्याकार नागेश ने पाठान्तर का कोई उल्लेख किया; नागेश ने 'दे-य-सो' का 'देव-यज्ञ-सोम' रूप लक्षित शब्दों का उल्लेख भी कर दिया है। वाक्यपदीय-व्याख्याकार पुण्यराज का संमत पाठ 'ज्ये-द्रा-घा' ही है, क्योंकि उन्होंने 'ज्येष्ठादिषु न ज्यादयः' ऐसा कहा है।

—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकत्रिंश परिच्छेद

आचार्यनाम एवं विभाषा-वा-घटित सूत्रों का तात्पर्य

यह बात असन्दिग्ध है कि अष्टाध्यायी की रचना से पहले व्याकरणशास्त्र की सर्वांगीण आलोचना हुई थी और यह भी एक प्रमाणित सत्य है कि आचार्य पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों से सामग्री का यथेच्छ चयन किया है।

इस निबन्ध में पाणिनिस्मृत पूर्वाचार्यमतसंबंधी कुछ प्रश्नों को लेकर एक संक्षिप्त आलोचना की जा रही है।

पाणिनिकर्त्तृक आचार्यनामस्मरण—इस विषय में कई प्रश्न विचारणीय हैं। यथा—पाणिनि ने जिन आचार्यों के नाम लिए है, उनसे भी प्राचीन अनेक प्रसिद्ध आचार्य थे, जिनके नाम उन्होंने छोड़ दिए; इस वर्जन का कारण क्या हो सकता है? क्या उन सबों के मत पाणिनिसंस्मृत आचार्यो के ग्रथों में सङ्गृहीत हो चुके थे, इसीलिये सूत्रकार ने इन्द्र आदि आचार्यों के नामों का स्मरण नहीं किया? क्या यह भी हो सकता है कि पाणिनि के समय अतिप्राचीन इन्द्रादि-आचार्यों द्वारा परिगृहीत विशिष्ट प्रयोगों का प्रचलन नहीं था, इसलिये उनकी दृष्टि में आचार्यों का नाम लेने की कोई सार्थकता नहीं थी? इसके साथ यह भी विचार्य है कि पणिनि पर प्राचीन आचार्यो का ऋण कितना है, अर्थात् उन्होंने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों के कितने अंश का ग्रहण किया तथा कितने का बहिष्कार किया—यह भी विचारणीय है।

सूत्रस्मृत आचार्य नामों का विश्लेषण—अष्टाध्यायी में जिन आचार्यनामों का उल्लेख है, उनके स्वरूप के विषय में कुछ आलोचना आवश्यक है। ६।२।३५ सूत्रोक्त 'आपिशलि' नाम तथा अन्य कतिपय नाम अपत्यप्रत्ययान्त हैं। १।२।२५ सूत्रगत काश्यप नाम 'गोत्रप्रत्ययान्त' है (गोत्र और अपत्य में भेद है)। ७।१।१४ में प्रयुक्त 'गालव' नाम की प्रकृति क्या है, यह कहना कठिन है। यह गलु भी हो सकता है, गलव भी। शाकटायन का नाम कई स्थलों पर है (३।४।११, ८।३।१८, ८।४।५० सूत्रों में)। अष्टाध्यायी के नडादिगण में शकट शब्द है, तदनुसार शाकटायन के पूर्वपुरुष का नाम शकट रहा होगा। परन्तु भाष्यकार ने ३।३।१ सूत्र के भाष्य में शाकटायन को शकट का तोक=

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र कहा है। यह हो सकता है कि भाष्यकार ने तोक शब्द का पौत्र अर्थ में प्रयोग किया हो, क्योंकि निघण्टु ग्रन्थ (२।२) में तोक शब्द अपत्य-सामान्यवाची के रूप में पठित है। आचार्य सेनक का नाम ५।४।११ सूत्र में है। इस नाम के शाब्दिक विश्लेषण के विषय में कुछ अधिक ज्ञातव्य नहीं है। आचार्य स्फोटायन का स्मरण ६।१।१२३ सूत्र में किया गया है। हरदत्त की व्याख्या के अनुसार जाना जाता है कि आचार्य का नाम स्फोटायन नहीं था, परन्तु यतः वे स्फोटतत्त्वपरायण थे अतः उनका नाम स्फोटायन पड़ गया था। अन्य किसी भी सूत्र में इस प्रकार का गुणानुसारी नाम दृष्ट नहीं होता। यदि हरदत्त की बात सत्य मानी जाए तो यह भी मानना होगा कि आचार्य का यथार्थ नाम विस्मृत हो गया था। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जो लोग इस सूत्र में स्फोटायन के स्थल पर 'स्फौटायन' पाठ करते हैं, उनके मतानुसार, स्फोट नामधेय कोई पुरुष स्फौटायन का पूर्वपुरुष रहा होगा। बहुसंमति के अनुसार यथार्थ नाम स्फोटायन ही है, परन्तु यह उपाधि है अथवा गोत्रापत्यवाची, इस विषय का निर्णय करना कठिन है। व्याख्याकारों ने स्फोटायन नाम की व्याख्या में प्रचलित प्रथा का अतिक्रमण क्यों किया, यह गवेषणीय है।

'प्राचामुदीचाम्' पदघटित सूत्र—कुछ सूत्र ऐसे हैं, जिनमें आचार्य-विशेष का नाम नहीं लिया गया, प्रत्युत सम्प्रदाय-विशेषवाची 'प्राचाम्' (प्राचाम् = पूर्वाचार्याणाम् वा प्राग्देशीयानां वा—३।१।९०, ४।१।१७) और 'उदीचाम्' (४।१।१५७, ६।३।३२, ७।३।४६) शब्द कहे गए हैं। १।१।४४ भाष्यानुसार ये पद भी केवल विकल्पार्थक हैं। यह मत कहाँ तक समीचीन है, यह आगे कहा जाएगा।

कुछ सूत्रों में जो 'प्राचाम्' पद है, उसका अर्थ 'प्राग्देश' है, जैसा कि ४।२।१२३ में देखा जाता है। 'प्राचाम्' पद से कहाँ देश और कहाँ आचार्य लिए जायेंगे, यह व्याख्यान से ज्ञात होता है। कहीं-कहीं सूत्राभिप्राय से भी देशरूप अर्थ प्रतिभात हो जाता है, जैसा कि प्राचां कटादेः (४।२।१३९), प्राचां ग्रामनगराणाम् (७।३।१४), प्राचां नगरान्ते (७।३।२४) आदि सूत्रों में देखा जाता है।

ऐसे भी सूत्र हैं, जिनमें 'प्राचाम्' पद के तात्पर्य के विषय में मतभेद देखा जाता है। 'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७५) इसका एक उदाहरण है। काशिका में देशार्थ लिया गया है (तथा प्राग्-उदक्-देशभेद का ज्ञापक वाक्य भी कहा गया है), पर कुणि नामक प्राचीन वृत्तिकार ने प्राक्-पद को आचार्य-विशेष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानकर सूत्र की व्याख्या की है। भाष्यकार कुणिमत को ही युक्त समझते हैं[1]। ऐसे सूत्र भी हैं जिनमें 'प्राचाम्' पद की द्विविध व्याख्या संगत हो सकती है, (लक्ष्यानुसार व्याख्या में संकोचादिकर) जहाँ एकतरपक्ष का निर्धारण करना अवश्य ही दुष्कर है; कारनाम्नि च प्राचां हलादौ (६।३।१०) सूत्र गत 'प्राचां' पद की द्विविध व्याख्या की जाती है और दोनों व्याख्याएं दृष्टिभेद से स्वीकृत होती हैं[2]।

हम समझते है कि ऐसे स्थलों में प्राचीनतर व्याख्यान के विना अन्तिम निर्धारण करना दुष्कर है।

सूत्र में आचार्यशब्दोल्लेख—पाणिनि ने कुछ सूत्रों में 'आचार्याणाम्' (७।३।४९) पद का व्यवहार किया है। यहाँ आचार्य पद का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है—यह चिन्त्य है। किसी के मतानुसार पाणिनि ने इसका प्रयोग अपने गुरु के लिये किया है। गुरु के निर्देश में बहुवचन का प्रयोग करने की परिपाटी अनतिप्राचीन है, अतः यह मत सांशयिक है। अन्यों का मत है कि 'आचार्याणाम्' अर्थात् 'केषाञ्चित् आचार्याणाम्'। हमारे मत से 'आचार्याणाम्' पद की महिमा से पाणिनि जिन पदों की सिद्धि करना चाहते हैं, वे पद अधिकांश आचार्यों द्वारा अभ्युपगत हो चुके थे और कुछ आचार्य उनके विरोधी भी थे। अभिप्राय यह है कि जिन प्रयोगों के समर्थक और खण्डनकारी दोनों तुल्यबल थे उनको 'इको यणचि' (६।१।७७) आदि की भांति नित्य नहीं कहा जा सकता, न पूर्ण रूप से उनका अभ्युपगम ही किया जा सकता, अतः दोनो पक्षों का सामञ्जस्य करने के लिये सूत्रकार को 'आचार्याणाम्' कहना पड़ा।

१—कुणिना प्राग् ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं चेति व्याख्यातम्, तेन क्रोडो नामोदग्ग्रामस्तत्र भवः 'क्रौड' इत्यणेत्र भवति। अन्येन तु प्राग्ग्रहणं देशविशेषणं व्याख्यातम्।...भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत् (प्रदीप १।१।७४)। 'आचार्यनाम' मानने पर मतभेद ज्ञात होता है, पर देश-नाम मानने पर सूत्रोक्त कार्य वैकल्पिक नहीं होता—प्राचामिति देशविशेषणं न विकल्पार्थमिति दर्शयति (द्र० न्यास—एङ् प्राचां देशे)।

२—प्राचामिति चैतदुभयथा व्याख्यायते—प्राचामाचार्याणां मतेन, हलादावुत्तरपदे कारनाम्न्यलुक् भवति. ....अथवा प्राचां देशे यत् कारनाम... चेति (प्रदीप)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकांश आचार्य उन प्रयोगों को मानते थे, अतः उन सबों का नाम देना सम्भव न था। यही कारण है कि सूत्रकार ने बह्वाचार्य-सम्मति-ज्ञापनार्थ 'आचार्याणाम्' पद का प्रयोग न्याय्य समझा[1]।

शंका हो सकती है कि सर्वाचार्यसम्मत विधि में यदि आचार्य नाम का प्रयोजन न हो तो 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) सूत्र में 'सर्वेषाम्' पद क्यों है? उत्तर यह है कि आचार्य की सूत्ररचनाशैली ही यहाँ इस प्रयोग का कारण है। यदि सूत्रों का क्रम अन्य रूप से किया जाए तो 'सर्वेषाम्' पद की कोई भी सार्थकता नहीं रह जाती, जैसा कि काशिकाकार ने स्पष्ट कहा है—'सर्वेषां ग्रहणं शाकटायनस्यापि लोपो यथा स्यात्।' यह निश्चित है कि इस सूत्र में यदि 'सर्वेषाम्' पद न रहता तो सन्देह हो सकता था कि ८।३।२८ सूत्रोक्त लोप शाकटायन के मत में होगा या नहीं। अतः यह मानना होगा कि सन्देह-निरसन के लिये ही आचार्य ने 'सर्वेषाम्' पद पढ़ा है।

८।३।१०४ सूत्र में 'एकेषाम्' पद का प्रयोग है। यद्यपि 'एकेषाम्' पद को सामान्यतः विकल्पार्थ समझा जाता है, (एकेषां ग्रहणं विकल्पार्थम्—न्यास ८।३।१०४), पर इसका अभिप्राय क्या है, यह विचार्य ही है। यह पद किसी भी विशिष्ट सम्प्रदाय का साक्षात् वाचक नहीं है। पता नहीं कि 'एक' शब्द 'मुख्य सिद्धान्त' के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा ऐसे प्रयोगों के लिये जिनको पाणिनि स्वयं नहीं मानते थे, अथ च कुछ प्रमाणभूत आचार्य उनको मानते थे। 'इत्येके' ऐसा वाक्य भी तभी लिखा जाता है, जब ग्रन्थकर किसी बहु-अभ्युपगत मत का उल्लेख करना चाहता है, चाहे उसमें उसकी रुचि हो या नहीं। 'मुख्य' अर्थ में 'एक' पद का प्रयोग बहुत्र किया गया है।

आचार्य-नाम-ग्रहण की पाणिनीय शैली—पाणिनि ने अनेक सूत्रों में प्राचीन आचार्यों के नाम लिए है, परन्तु जिस रीति से उन्होंने ऐसा किया है वह अनेक अनेक आर्ष ग्रन्थकारों की रीति से भिन्न है। देखा जाता है कि अन्य शास्त्रों के आचार्य अन्य आचार्यों के नामस्मरण के समय नाम के पूर्व 'इति' शब्द का और स्मर्यमाण नाम में प्रथमाविभक्ति का प्रयोग करते है।

---

१. पूर्व सूत्र से अनुवृत्त अन्याचार्यमतों की निवृत्ति की लिये 'आचार्याणाम्' पद प्रयुक्त हुआ है, ऐसा भी देखा जाता मत है। आदाचार्याणाम् (६।३।४९) की व्याख्या में न्यासकार कहते हैं—असति आचार्यग्रहणे उदीचामित्यधिकाराद् विकल्पः स्यात्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु आचार्य पाणिनि ने न तो 'इति' शब्द का प्रयोग किया है और न 'प्रथमा विभक्ति' ही का। प्राचीन आचार्य जहाँ 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (ब्रह्मसूत्र १।४।२२), अविवेकनिमित्त इति पञ्चशिखः (सांख्यसूत्र ६।६९), इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः' (निरुक्त १।१) इत्यादि प्रयोग करते हैं, वहाँ पाणिनि कहते हैं—'ओतो गार्ग्यस्य' (८।३।२२) या 'अड् गार्ग्यगालवयोः' (७।३।९९)। यह पाणिनीय शैली प्रातिशाख्यों में भी है, यथा—उदात्तो वाल्मीकेः (तै० प्रा० १८।६)। यदि पाणिनि प्राचीनतर आचार्य की रीति को मानते तो उन्हें कहना पड़ता 'ओत इति गार्ग्यः' या 'अडिति गार्ग्य-गालवौ'। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अवश्य ही प्राचीन पद्धति का त्याग कर नवीन पद्धति के आश्रयण में सूत्रकार का कोई विशिष्ट उद्देश्य रहा होगा।

यह ज्ञातव्य है कि सांख्य-वेदान्तादि के ग्रन्थों में प्राचीन आचार्यों का केवल मत ही उपन्यस्त रहते हैं, उनके द्वारा व्यवहृत वर्णानुपूर्वी नहीं। हम समझते हैं कि 'इति' पद से मत का निर्देश हो सकता है, व्यवहृत शब्दावली मात्र का नहीं, और चूंकि सूत्रकार को पूर्वाचार्य-व्यवहृत शब्दावली अभीष्ट थी, अतः परि उन्होंने 'इति' पद का त्याग किया है। ऐसा करने का विशेष प्रयोजन है। दर्शनादि-शास्त्र चिन्ता-प्रधान है, अतः दर्शनशास्त्रकारों के मतोद्धरण में यदि अर्थभेद न हो, तो शब्दभेद होना कोई दोष नहीं, क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थों में सिद्धान्त का ही खण्डन-मण्डन होते हैं, प्रतिपक्ष द्वारा व्यवहृत शब्दानुपूर्वी-मात्र का नहीं।

परन्तु व्याकरण-शास्त्र में यह बात नहीं है। इस शास्त्र का विषय और प्रमाण, दोनों शब्द ही हैं। महाभाष्यकार ने कहा है—शब्द-प्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदेवास्माकं प्रमाणम्[1]; इसी कारण जब पाणिनि ने आचार्यों के नामों का उल्लेख किया तब उन्हें आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दावली का भी ग्रहण यथासंभव करना पड़ा। तात्पर्य यह है कि सांख्यसूत्रगत 'अविवेकनिमित्त इति पञ्चशिखः' सूत्र का यह अभिप्राय मानना आवश्यक नहीं है कि आचार्य पञ्चशिख ने अपने ग्रन्थों में 'अविवेकनिमित्त' शब्द का ही व्यवहार किया था, प्रत्युत यह सम्भव है कि उन्होंने 'अविवेकनिमित्त' मत का प्रतिपादक किसी अन्य शब्द का (अविद्या, अदर्शन आदि) व्यवहार किया हो। परन्तु

१—शब्दानुसारेणैवार्थगतिर्न वस्त्वनुसारेण, तदुच्यते-यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति (उद्योत ७।१।२३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनिस्मृत 'ओतो गार्ग्यस्य' से यही समझना चाहिए कि गार्ग्य के ग्रन्थ में 'ओत्' शब्द एतत्सम्बन्धी सूत्र में था (पूर्ण संभावना ऐसी ही है)।

'इति' शब्द के प्रयोग से मतमात्र लक्षित होता है, शब्दानुपूर्वी नहीं,[1] इसका एक उदाहरण लीजिए। निरुक्त (१।४ पा०) में नाम के धातुजत्व के विषय में शाकटायन के मत को दिखाया है—नामानि आख्यातजानीति शाकटायनः। महाभाष्य में पतञ्जलि भी इसी मत को उद्धृत करते हैं—'शाकटायन आह धातुजं नामेति' (१।३।१)। यहाँ एक ही पदार्थ के लिये पहले वाक्य में 'आख्यात' शब्द है, दूसरे में 'धातु'। यदि 'इति' से शब्दानुपूर्वी के ग्रहण का ही नियम होता तो ये दो वाक्य एक ही प्रकार के होते।

आचार्यनामघटित सूत्रों में आचार्य-व्यवहृत शब्द—इस शब्द-निर्देश का सबसे बलिष्ठ प्रमाण यह है कि पाणिनि के आचार्यपदघटित सूत्रों में व्यवहृत कई पद पाणिनि से प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत हुए हैं। एक उदाहरण लीजिए। पाणिनि का एक सूत्र है—'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२) हमारे सिद्धान्तानुसार इसका तात्पर्य यह है कि 'सुप्' शब्द आपिशलिद्वारा व्यवहृत है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय है। और वस्तुतः सुप् शब्द प्राक् पाणिनीय है भी, क्योंकि पाणिनीय सम्प्रदाय में एक प्राक् पाणिनीय परिभाषा व्यवहृत होती है, जिसमें 'सुप्' शब्द है—गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः'। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि आचार्य-नामघटित सूत्रों के शब्द प्राक्-पाणिनीय हैं।

किसी का मत है कि पाणिनि ने 'इति' का त्याग शाब्दिक लाघव के लिये किया है, परन्तु केवल शाब्दिक लाघव के लिये एक सफल प्राचीन रीति का बहिष्कार पाणिनि ने किया, ऐसा विश्वास नहीं होता। यदि यह मान लिया जाय तो यह भी स्वीकरणीय होगा कि पाणिनि की रचनाशैली में सर्वत्र आचार्य कृत शब्दप्रयोग की अपेक्षा शाब्दिक लाघव अधिक है। परन्तु पाणिनि की रचनापद्धति में ऐसे स्थल हैं जहाँ पूर्वाचार्यों के सूत्रों की अपेक्षा अधिक

१—अर्थाभ्युपगम के लिये पाणिनि ने 'इति' शब्द का प्रयोग किया है, यह 'नवेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्र से जाना जाता है।—'न-वा शब्दाभ्यां परः इतिशब्दः प्रयुज्यमानः तौ स्वरूपपदार्थकात् प्रच्याव्य अर्थपदार्थकत्वे व्यवस्थापयति (न्यास)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाब्दिक गौरव है और स्वेच्छा से पाणिनि ने ऐसा किया है। यथा—प्राक्-पाणिनीय व्याकरण में कार्यी और कार्य दोनों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया था (द्र० प्रदीप टीका ६।१।१६३ और ८।४।७), परन्तु पाणिनि ने कार्यी में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है, जिसमें अधिक शाब्दिक गौरव होता है; संस्कृत के प्रायः सभी शब्दों में प्रथमा की अपेक्षा षष्ठी में अधिक शाब्दिक गौरव है। इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि ने 'इति' का त्याग केवल शाब्दिक लाघव के लिये न कर किसी गूढार्थ के द्योतन करने के लिये किया है। इस गूढार्थ पर हमारा अनुमान यही है कि पाणिनि को प्राचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दावली अभीष्ट थी; जिन पाणिनि ने अनेक सूत्रों में पूर्वाचार्य-व्यवहृत शब्दों का यथावत् व्यवहार किया है, जिसके कारण कहीं-कहीं सूत्रार्थ में संशय उत्पन्न हो गया है, वे यदि आचार्यनामघटित सूत्रों में आचार्यव्यवहृत शब्दों का प्रयोग करें तो उसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं है।

पूर्वाचार्यनामघटित अनेक सूत्र पाणिनि द्वारा स्वीकृत नियम के अनुसार नहीं हैं, अतः वे सूत्र प्राक्पाणिनीय हैं—ऐसा मानना पड़ता है। पाणिनिसूत्रगत शब्दवैचित्र्य भी कुछ सूत्रों के प्राक्पाणिनीयत्व का ज्ञापक है, यथा—

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य (७।१।७४) सूत्र में 'तृतीया' शब्द प्राक्पाणिनीय है। उसी प्रकार गार्ग्यादि-नामघटित ८।४।६७ सूत्र में परवाची 'उदय' शब्द है, जो पूर्वाचार्य-व्यवहृत है।

उसी प्रकार 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' (७।३।४६) सूत्र की स्त्रीलिङ्ग-घटित रचना भी पाणिनीय रीति के अनुसार असमञ्जस है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वाचार्य-नामघटित सूत्रों में प्राचार्य-व्यवहृत शब्द ही व्यवहृत हुए हैं—ऐसा कहना संगत ही है।

सूत्रान्तर्गत नामस्मरण—प्रायः सभी सूत्रों में प्राचीन आचार्यों के नाम सूत्र के अन्त में लिए गए हैं। परन्तु कहीं-कहीं सूत्र के मध्य में भी नाम प्रयुक्त हुए हैं, यथा—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१।१।१६); यहाँ 'सम्बुद्धावितावनार्षे शाकल्यस्य' होना चाहिए था। यह चिन्तनीय है कि सूत्र के बीच में आचार्य का नाम क्यों पढ़ा गया।

सब प्रकरणों में पूर्वाचार्यस्मरण क्यों नहीं है? यह भी आचार्यनाम-स्मरणपरक विमर्श में विचार्य वस्तु है। अष्टाध्यायी के प्रायः सभी मुख्य मुख्य प्रकरणों में किसी न किसी प्राचीन आचार्य का नाम है, पर कृत्,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्धित और समास प्रकरण में किसी भी आचार्य का नाम नहीं है। समासान्त (५।४।११२) में सेनक का नाम है, जिससे जान पड़ता है कि सेनक के व्याकरण में समास का विचार था। इतने विशाल तीन प्रकरणों में किसी का भी मत उपन्यस्त न होने से यह संदेह हो जाता है कि कदाचित् प्राचीन आचार्यों के शब्दशास्त्रों में इन तीन विषयों का सामान्य निर्देश ही था। प्रचलित प्रातिशाख्यों में इन विषयों का विवेचन दृष्ट नहीं होता। यह भी हो सकता है कि इन तीन विषयों में पूर्वाचार्यों से पाणिनि का कोई मतभेद नहीं था, इसीलिये कहीं भी उन्होंने मतान्तर का उल्लेख नहीं किया; परन्तु यह समाधान विचारणीय है[1]।

प्राक्पाणिनीय वैयाकरणों के जितने उद्धृत वचन आजतक मिले हैं, उनमें विदित होता है कि प्राचीन व्याकरणग्रन्थों में तद्धित आदि का समावेश था। पर संभवतः वह विषय वहां 'सामान्य' रूप से विवृत था, पाणिनि ने अनेक 'विशेष' सूत्रों का प्रवर्त्तन कर उन-उन सामान्य विचारित विषयों को पूर्णाङ्ग किया। लोक में एक आभाणक प्रचलित है—'विशेषः पाणिनेरिष्टः' (मुग्ध व्याकरण सूत्र ९२० पर दुर्गादास की टीका), अतः किसी विरोधस्थल के उपस्थित न होनेके कारण सूत्रकार ने मतान्तर का उल्लेख नहीं किया।

पूर्वाचार्यनामोल्लेख का हेतु—यह प्रश्न उठ सकता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों में आचार्यों के नाम पढ़े ही क्यों? कहा जा सकता है कि जिस मत के साथ किसी आचार्यविशेष का उल्लेख है, वह मत अन्य आचार्य द्वारा अभ्युपगत न हो। परन्तु पाणिनि उस मत को मानते थे या नहीं, यह एक अनुसन्धेय विषय है। हम समझते हैं कि आचार्यनाम के साथ कथित मत को पाणिनि भी मानते थे अन्यथा वे उसका बहिष्कार कर सकते थे[2]। आचार्य के मत के प्रति आग्रह यदि न हो तो उनका नाम लेना अनर्थक है। निरुक्तधृत वार्ष्यायणि नाम पर

१—कृत् तद्धित और समास में व्याकरण की अपेक्षा अभिधान अधिक प्रामाणिक माना जाता है। भाष्यकारने कहा है—'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धित-समासाः'। मुग्धबोधव्याकरणकार ने भी कहा है—कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम् (सू० ११८३)। संभव है इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने कृत्तद्धितसमास पर अधिक विचार नहीं किया था।

२—आचार्यनामस्मरण का यह उद्देश्य अवश्य है कि वह मत स्वाभिप्रेत है—इस तथ्य का ज्ञापन करना। व्यासभाष्य २।५५ में प्रत्याहारविषयक जैगीषव्यमत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कन्द कहते हैं—वाष्यायणिरिति आचार्यग्रहणं न स्वमतं व्युदसितुं, किन्तर्हि उक्तस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थं मतान्तरस्यानुपन्यासात् (पृ० २६)।

पाणिनि ने अपने से प्राचीन चाक्रवर्मण आदि शाब्दिकों के कुछ वचनों को तो अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है, किन्तु कुछ का पूर्णतः बहिष्कार किया है, यद्यपि वे नामग्रहणपूर्वक सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकते थे। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने केवल उसी मत का उल्लेख नहीं किया है जिसे वे अपनी दृष्टि में असम्यक् समझते थे, या अपने व्याकरण की परिधि में नहीं लाना चाहते थे। जहाँ-जहाँ सूत्रकार ने विकल्प का विधान किया है, वहाँ मानना होगा कि वे दोनों ही प्रयोगों को साधु समझते थे। किन्तु कुछ स्थलों में सूत्रकार ने प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन भी किया है, अतः उनके ग्रन्थों में अभ्युपगत सभी सूत्र उनके मतानुसार किसी न किसी रूप से साधु रहे होंगे, अन्यथा वे असाधु मतों का खण्डन करते।

सूत्रकार ने जिन-जिन मतों के साथ प्राचार्य-नामों का उल्लेख किया है, वे अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में वैकल्पिक विधि के रूपमें उपन्यस्त हुए हैं और अर्वाचीन वैयाकरणों ने प्रायः पाणिनि की भाँति आचार्यों के नामों का स्मरण न करमत का वैकल्पिकत्व ही दिखाया है। जैसे—लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९); सब अर्वाचीन व्याकरणों में यह लोपविधि सर्वथा वैकल्पिक रूप से उपदिष्ट है।

परन्तु यहाँ एक और विषय द्रष्टव्य है। यदि यह माना जाए कि आचार्य नाम केवल 'वैकल्पिकत्व' के ही अभिप्राय से लिए गए हैं, तो यह प्रश्न उठता है कि 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२) सूत्र में एक साथ 'वा' और 'आपिशलि' इन दोनों शब्दों का युगपत् प्रयोग क्यों है ? प्राचीन व्याख्याकारों का कथन है कि

उद्धृत है, जिसपर विवरणकार कहते हैं—स्वाभिप्रेता [वक्ष्यता] आख्यायते। यह भी मानना होगा कि चूंकि वैयाकरण स्मर्ता होते हैं, अतः शिष्टलोकविदित किसी शब्द (अर्थात् साधु शब्द) का स्मरण यदि कोई आचार्य करते हों, और पाणिनि स्मरण नहीं करते (या पाणिनि अपनी दृष्टि से उसको असाधु समझते हों) तो वह शब्द साधु ही माना जाएगा, भले ही पाणिनीयानुसारी वैयाकरण उसका प्रयोग न करें। वैयाकरण साधुत्व का नियामक या प्रतिपादक नहीं है—लोक ही नियामक है। व्याकरण साधुत्व का ज्ञापनमात्र करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे स्थलों पर आचार्य-नामों का ग्रहण 'पूजार्थ' है[1]। परन्तु इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। सच बात यह है कि 'वा सुपि' यह आपिशालि का मत है, अर्थात् 'ऋकारादि सुब्धातु परे रहते वृद्धि विकल्प करके होती है'—यह आपिशलि का मत है, जिसे पाणिनि भी मानते हैं।

हम पहले कह चुके हैं पाणिनि शाकल्यादि आचार्यों के मतों को प्रमाण मानते थे, अतः उन्होंने उनके नामों का उल्लेख किया है। यह भी देखा जाता है कि किसी मत के प्रतिपादन में दो आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, यथा—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८।४।५०) और सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१)। यहाँ यह कहना होगा कि पाणिनि दोनों ही मतों को साधु मानते थे, अतः उन्होंने दोनों नामों का स्मरण किया।

सूत्रों में आचार्य-नाम निर्देश का हेतु क्या है, इस पर पतञ्जलि ने विचार किया है। उनका कहना है कि यदि 'कार्यशब्दवाद' माना जाए तो आचार्य-नामघटित सूत्र वैकल्पिक नहीं होगा, बल्कि एकपक्षीय प्रयोग का विधायक होगा, अर्थात् आचार्यविशेष के प्रामाण्य के कारण तत्तत् प्रयोग साधु माना जाएगा। यदि 'नित्यशब्दवाद' माना जाए तो आचार्य प्रयोग का व्यवस्थापक न होकर स्मर्ता मात्र होगा, अतः स्मर्ता आचार्य का नामनिर्देश पूजार्थक होगा, क्योंकि अन्य मान्य आचार्य उस विशेष सूत्र-कार्य का स्मरण नहीं करते हैं।

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१) सूत्र का उदाहरण देकर भाष्यकार ने समझाया है कि कार्यशब्दवाद में अर्थ होगा—यतः गालव ह्रस्वप्रयोगकारी है, अतः ह्रस्व का ही प्रयोग करना चाहिए (इस प्रकार यह सूत्र वैकल्पिक नहीं होगा)। नित्यशब्दवाद में अर्थ होगा-गालव ने ह्रस्व का ही स्मरण किया है, पर अन्यों ने ऐसा स्मरण नहीं किया, अतः अन्य स्मृति के अनुसन्धान द्वार से यह सूत्र वैकल्पिक हो जाता है। पाणिनीय सम्प्रदाय 'नित्यशब्दवादी' है, अतः

१—तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य (१।२।५५) काश्यपग्रहणं पूजार्थं वेत्येव हि वर्तते (भाष्य); गिरेश्च सेनकस्य (५।४।११२) सेनकग्रहणं पूजार्थं किल्वपोऽनुवर्तेत एव (काशिका); अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३) स्फोटायनग्रहणं पूजार्थं विभाषेत्येव वर्तते, व्यवस्थितविभाषेयं तेन गवाक्ष इत्यत्र नित्यमवङ् भवति (काशिका ६।१।१२३); वा सुप्यापिशलेः (६।१।९२) आपिशलिग्रहणं पूजार्थं वेत्युच्यते एव (काशिका ६।१।९२); इको ह्रस्वोऽङ्योगालवस्य (६।३।६१)—गालवग्रहणं पूजार्थमन्यतरस्यामिति हि वर्तते (काशिका)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यनाम नियामक नहीं हो सकता, सुतरां आचार्यनामघटित सूत्र वैकल्पिक होता है (स्मर्ता का एक मत तथा अन्यों का उससे भिन्न मत)।

इस विषय में निम्नोक्त युक्ति विचार्य है। यदि आचार्यनाम केवल विकल्पार्थक होता तो कुछ सूत्रों में एकाधिक आचार्यों के नाम क्यों पढ़े जाते ? वैकल्पिकता का सम्यक् प्रतिपादन एक आचार्य के नाम से भी किया जा सकता है। किंच कुछ सूत्रों में वैकल्पिकरीति के ज्ञापनार्थ 'वा' पद भी है (द्र० वा सुप्यापिशलेः)। कुछ सूत्रों को आचार्यनाम के रहने पर भी नित्य माना जाता है (द्र० ओतो गार्ग्यस्य)। हम समझते हैं कि आचार्यों के सम्प्रदायों में या उनके अनुगामियों में आचार्यमतों का ही प्रचलन था। शाकल्य पर प्रमाणबुद्धि रखने वाले ही लोप करते थे (द्र० 'लोपः शाकल्यस्य'); अन्य लोग नहीं करते थे। पाणिनि उस एकदेशी मत को भी युक्त समझते हैं, अतः वे आचार्यनाम के साथ उस विधि को कहते हैं, अन्यथा वे भी 'वा' पद का प्रयोग कर सकते थे। शाकल्यमत से भिन्न मत को पाणिनि अयुक्त समझते हैं, यह बात नहीं; सुतराम् आचार्यनामघटित प्रत्येक सूत्र विकल्पार्थक है, पूजार्थक भी; पूजार्थक इसलिये कि सूत्रकार आचार्यमत पर 'प्रामाण्यबुद्धि' रखते थे [1]।

हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जब पाणिनि ने ग्रन्थ लिखा था तब वस्तुतः आचार्यनामसंयुक्त विधि तदनुगामियों को अनुमत थी और भाषा की गति के साथ उनकी समञ्जसता देख कर पाणिनि ने नामोल्लेख-पूर्वक उनके स्वीकार किया। उनके काल में आचार्यविशेष पर प्रामाण्यबुद्धि न रखने वाले व्यक्ति उनके द्वारा अस्वीकृत प्रयोगों का व्यवहार नहीं करते थे, अन्यथा नाम का उल्लेख करना निश्चय ही पाणिनि के लिये निरर्थक होता। परन्तु परवर्ती काल में जब संस्कृत भाषा का अत्यन्त ह्रास हुआ और शाब्दिक सम्प्रदायों का उच्छेद होने लगा, तब पुरुष-भेदप्रयुक्त व्यवस्था का

१—ननु च नित्येषु शब्देषु विकल्पिते विधौ विकल्पमात्रं प्रदर्शयितव्यम्। तत्र कस्य किं मतं यत् प्रच्यावितं स्यात् ? उच्यते-विकल्पप्रतिपादनाय वा-ग्रहणे एव कर्तव्ये पूजार्थमाचार्या उपादीयन्ते। सा चैवं पूजा भवति-यदि येनाचार्येण यः शब्दः स्मृतः स तेनैव स्मृर्तत्वेनोपादीयते। एवं हि तस्य स्मर्तृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुतिः कृता भवति। एवञ्चाङ् गार्ग्यगालवयोः इत्यादौ अनेकाचार्योपादानमर्थवद् भवति, विकल्पस्यैकाचार्योपादानेनापि सिद्धत्वात् (प्रदीप ७।२।६३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषत्व नहीं रहा, सभी मत सभी सम्प्रदायों में सामान्य रूप से चलते रहे। तब (अर्थात् भाष्यकार के समय) भाष्यकार की दृष्टि में विकल्पार्थत्व को छोड़ कर आचार्यनामों का और कोई सार्थक्य नहीं रहा, अतएव भाष्यकार ने वैसी ही व्याख्या की है। अवहित होकर अनुसन्धान करने पर ज्ञात होगा कि स्वयं पाणिनि को भी ऐसा ही करना पड़ा था। 'लुब् योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) सूत्र इस विषय में साक्षात् प्रमाण है। यथा जनपदे लुप् (४।२।४१) सूत्र से जाना जाता है कि जनपद का नाम कदाचित् योद्धृजाति के अनुसार होता था। पञ्चालादि-देशवाची शब्दों के साथ अवश्य ही पञ्चालादि जातियों का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु परवर्ती काल में पञ्चालजाति का अस्तित्व नष्ट होने पर भी पञ्चालरूप देशवाची शब्द नष्ट नहीं हुआ, अतः पाणिनि के काल में 'जाति के अनुसार देश का नामकरण' रूप एक तथ्य कालगर्भ में विलुप्त हो गया। अतएव पाणिनि ने सूत्र किया—'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्' (१।२।५५)। जिस प्रकार पाणिनि ने अपने समय में पञ्चाल जाति के नाम का सार्थक्य न रहने के कारण जातिनिमित्तक देशनामों का होना अस्वीकार किया, उसी प्रकार भाष्यकार ने भी अपने काल में शाकटायन, शाकल्य आदि शाब्दिकसम्बद्ध पुरुषभेदप्रयुक्त व्यवस्था की सर्वथा अव्यवहार्यता को देखकर आचार्यनामों को केवल विकल्पार्थक ही प्रख्यापित किया। इस विषय में हम विद्वद्वर्ग से अन्य युक्ततर उत्तर के लिये अनुरोध करते हैं।

विभाषा, वा आदि का तात्पर्य—अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में विकल्पवाची 'वा,' 'विभाषा,' 'अन्यतरस्याम्' और 'विभाषित' पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों का तात्पर्य क्या हैं, यह यहाँ विचारित हो रहा है। आधुनिक विद्वानों के मतों के अनुसार 'बोली' के अर्थ में 'विभाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है या नहीं, यह भी प्रसङ्गतः विचारित होगा।

विभाषा—'विकल्प' अर्थ में 'विभाषा' का प्रयोग सर्वत्र है। वायुपुराण में विभाष् धातु का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है—तस्माद् विवस्वान् मार्तण्डः पुराणज्ञैर्विभाष्यते (८४।२९) अर्थात् विवस्वान् को मार्तण्ड भी कहा जाता है—ये दो एक के नामान्तर हैं। 'विभाषित' शब्द भी इस अर्थ को कहता है—'वेति वैभाषिकः' सूत्र (तै० प्राति० २२।७) में वैभाषिक शब्द है, जो विभाषावाची है (वाशब्दो विभाषायां भवति। यत्र यत्र वाशब्दः श्रूयते तत्र तत्र विभाषायामिति वेदितव्यम्—पदक्रमसदनभाष्य)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विभाषा' शब्द अव्यय नहीं है—यह एक मत है। इसीलिये 'विभाषया' या 'विभाषायाम्' शब्द का भी प्रयोग होता है, जो इसके अव्यय होने पर नहीं हो सकता। बालमनोरमाकार ने इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट किया है—विभाषा-शब्दस्तु अव्ययमिति न भ्रमितव्यम्, न वेति विभाषायामिति भाष्यप्रयोगात्। विभाष्यते विकल्प्यते इति विभाषा, गुरोश्च हल इत्यप्रत्ययः (६।१।१३०)। यदि विभाषा अव्यय नहीं है तो विभाषा-पदघटित सूत्रों में 'विभाषा' न कह कर 'विभाषायाम्' क्यों नहीं कहा जाता (जैसा कि विभिन्न सूत्रों में प्रयोगस्थल दिखाने में सूत्रकार ने 'मन्त्रे' 'यजुषि काठके' 'छन्दसि' 'निगमे', 'संज्ञायाम्' आदि सप्तम्यन्त शब्दों का ही व्यवहार किया है), यह प्रश्न उठता है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभाषा शब्द को 'भाषा का एक विशेष रूप' इस अर्थ में पाणिनि ने प्रयुक्त नहीं किया।

वि + भाष् धातु का प्रयोग (= विभाषिन्) पुराणों में 'शब्दोच्चारण-विशेष' के अर्थ में मिलता है। स्कन्दपुराण में प्रभासस्थ स्त्रियों के लिये 'देशभाषाविभाषिण्यो रामामण्डलमध्यतः (प्रभासक्षेत्र माहात्म्य ३१३।६६) कहा गया है। यहाँ जो 'देशभाषाविभाषिणी' पद आया है, उसका 'देशभाषा बोलने वाली' रूप अर्थ स्पष्ट है।

'विभाष्' का प्रयोग देशभाषाशब्द के साथ लगने से शायद यह कहा जा सकता है कि विभाषा का प्रयोग बोली से सम्बन्ध रखता है। पर यह कहना तब तक संगत नहीं है, जब तक इसके लिये प्राचीन अनेक शब्द-प्रयोग न मिल जायें।

इसी स्कन्दपुराण (प्रभासक्षेत्र ०१।१९) में 'कथा' के विशेषण में 'विभाषा-भूषिता' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह निश्चित नहीं है कि यहाँ 'विभाषा' शब्द का क्या अर्थ है? नाट्यशास्त्र १८।४८ में 'विभाषा' शब्द है। यहाँ

१—'विभाषा' जब अव्यय नहीं है, तब उसका अन्वय सूत्रगत पदों के साथ किस रूप से होता है, यह विचारणीय है। सूत्र है—विभाषा कृञि (१।४।९८), अर्थात् 'अधिः कर्मप्रवचनीयो विभाषा कृञ्धातौ परे भवति'। यहाँ 'विभाषा' पद किस रूप से पदान्तरों के साथ अन्वित होता है, यह वैयाकरणों को देखना चाहिए। कोई इसको नित्यस्त्रीलिंग मानता है। गणरत्न० १।९ में इसे अव्यय माना गया है, जिससे समस्या नहीं रहती।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शबर, आभीर आदि की भाषा को विभाषा कहा गया है। पर पाणिनिसूत्रों में ऐसी विवक्षा नहीं है, क्योंकि पाणिनि का शब्दानुशासन साधु शब्दों का अनुशासन है; साधु शब्द में अपभ्रंश नहीं आते।[१]

'न वेति विभाषा' कोई परिभाषा नहीं है; न+वा, का जो अर्थ है, उस अर्थ की 'विभाषा' यह संज्ञा है। यह संज्ञा 'अर्थ' की है, 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) की तरह शब्द की नहीं। सभी टीकाकारों ने विशद रूप से यही प्रतिपादित किया है।[२]

संस्कृत भाषा के किसी असंस्कृत शब्द या शैली या रूपविशेष के लिये 'विभाषा' शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है, ऐसा प्रतीत नहीं होता (जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वान् समझते हैं)। पाणिनि की दृष्टि में दोनों वैकल्पिक शब्द समानरूप से साधु हैं और दोनों के अर्थ भी समान हैं (यदि व्यवस्थित विभाषा न हो) तथा दोनों रूप किसी देशविशेष या कालविशेष के लिये नियत भी नहीं हैं।

वैकल्पिक शब्दों के अन्तर्गत नियमन—यद्यपि व्याख्याकारों के अनुसार पाणिनि का मत यही है, पर यह असंभव नहीं है कि पाणिनिस्मृत वैकल्पिक शब्दों में 'देश, काल या आचार्य का नियमन' हो। पाणिनि के समय जिस रूप से उन शब्दों का व्यवहार होता था (अर्थात् देश-काल-आचार्य-नियमन-हीन केवल वैकल्पिक रूप से) पाणिनि ने उसी का उस रूप से अन्वाख्यान किया—यह कहना न्याय्य है। व्याकरण काल से अवच्छिन्न होता है, यह पूर्वाचार्यों का

१—साधु-अपभ्रंश-शब्द के लक्षण के विषय में हरदत्त का विचार (प्राचीन-परम्परानुसारी) द्रष्टव्य है—यद्यपि गाव्यादयोऽपि लोके विदिताः तथापि ते न सर्वलोके विदिताः, प्रतिदेशं भिन्नत्वादपशब्दानाम्। लोकशब्दश्चायं सर्वस्मिल्लोके वर्तते संकोचकाभावात्, अतः सर्वलोकप्रसिद्धानां गवादीनामित्यर्थः, साधूनामिति यावत् (पदमञ्जरी पृ० १५)। गवादयोऽनादयःसाधवस्त एव साक्षाद् वाचकाः। गाव्यादयस्तु बालादिभिरशक्त्यादिना गवाद्युच्चारणेच्छयैव तथा तथोच्चार्यन्ते। आदिमन्तोऽपभ्रंशाः...(पृ० ८)।

२—तयोः प्रतिषेधविकल्पयोरित्यनेन अर्थयोरेषा संज्ञेति दर्शितम् (पदमञ्जरी १।१।४४); न वेति यावर्थौ प्रतीयेते प्रतिषेधविकल्पौ तयोरेवेयं संज्ञा भवति न नवाशब्दयोः (न्यास)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत है, इसलिये जिस समय जिस प्रकार का शब्दव्यवहार प्रचलित, उस समय के व्याकरण में तदनुसारी का अन्वाख्यान भी बहुलतया कृत होगा (एवं अप्रचलित शब्दों का विवरण अल्पमात्रा में रहेगा)—यह स्पष्ट है।

अनुशासन कभी कभी अनुशास्य विषय को सभी विशेष बातों के साथ स्पष्ट नहीं कर सकता और इसलिये यदि हमें पाणिनीय अनुशासनों के सामान्य मत के विषय में विशेष मत प्रामाणिक रूपेण उपलब्ध हो, तो हम उस विशेष मत को प्रमाण मानेंगे,[1] यही पाणिनिसम्मत मार्ग है। निम्नोक्त विचार से यह बात स्पष्ट होगी—

पाणिनि ने जिन विधियों के साथ किसी न किसी आचार्य का नाम पढ़ा है, वे विधियाँ मुग्धबोध, कातन्त्र, संक्षिप्तसार आदि व्याकरणों में वैकल्पिक रूप से पठित हुई हैं (आचार्यों के नाम नहीं दिए गए हैं); जैसे—'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र का कार्य अन्यान्य व्याकरणों में शाकल्य के नाम लिये विना केवल 'वा' कहकर निर्दिष्ट किया गया है,[2] क्योंकि व्यवहार में आचार्य नामयुक्त विधि वैकल्पिक ही होती है (आचार्यानुसार एक कार्य; उस आचार्य को न मानने वालों के अनुसार अन्य कार्य) और इसी लिये आधुनिक प्रक्रियाग्रन्थों में आचार्यनामयुक्त सूत्रों के विचार में उस सूत्र को 'वैकल्पिक सूत्र' माना गया है; 'वा' पद आचार्य नाम के स्थान पर दिया जाता है, क्योंकि उन उन आचार्यों के सम्प्रदाय न होने के कारण प्रयोग में आचार्य-नियमन व्यवहार्य नहीं होता। हम जब 'लोपः शाकल्यस्य' (अष्टा०) सूत्र के अनुसार लोप करते हैं तब इसलिये लोप नहीं करते कि हम शाकल्याचार्य के ही प्रामाण्यवादी हैं, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो हम लोप न कर प्रयोग भी कैसे करते। आज आचार्यनियमनयुक्त सभी विधियाँ कार्यतः वैकल्पिक ही हैं, और अन्यान्य वैयाकरणों ने भी इसे मानकर अपने अपने व्याकरण के सूत्रों की रचना की है।

१—शब्दशास्त्र में सामान्यार्थक निर्देश रहने पर भी उसका तात्पर्य विशेष अर्थ में हो सकता है (प्रयोगानुसार)—द्र० न्यास ७।४।६३।

२—जहाँ पाणिनि का सूत्र है—लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) व हाँ कातन्त्र का सूत्र है—अयादीनां य-व-लोपः पदान्ते न वा लोपे तु प्रकृतिः (सन्धि० ३९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि ने जब आचार्यों का नाम अपने सूत्रों में लिया था तब उनका तात्पर्य यह दिखाने में था कि इन विधियों की मान्यता उन-उन आचार्यों के अनुसार है, अर्थात् आचार्यनामयुक्त सूत्र शुद्ध वैकल्पिक नहीं हैं। यदि पाणिनि का तात्पर्य भी इन विधियों के शुद्ध वैकल्पिकत्व में होता, तो वे कुछ सूत्रों में दो या तीन आचार्यों के नाम न लेते जैसा कि 'अड्गार्ग्य-गालवयोः' आदि सूत्रों में देखा जाता है। वस्तुतः पाणिनि यह मानते ही थे कि आचार्यनाम-घटित सूत्र का कार्य तत्-तत् आचार्य के प्रामाण्य के मानने वालों द्वारा किया जाएगा। कैयट ने इस मत को माना है (७।२।६३ प्रदीप); 'न वेति विभाषा (१।१।४५ सूत्र-भाष्य) में पतञ्जलि ने कहा है कि आचार्यनियमन व्यर्थ है, क्योंकि कोई भी आचार्य शब्दप्रयोग का नियामक नहीं है—शब्द नित्य है और आचार्य स्मर्ता हैं, शब्दों के कर्ता नहीं। इसी लिये उन्होंने आचार्यनामघटित सूत्रों का तात्पर्य शुद्ध विकल्प में लिया है। पतञ्जलि का यह मत कहाँ तक पाणिनि-सम्मत है, यह देखना चाहिए (व्यवहारतः ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है, पर तत्त्वतः वैकल्पिकत्व का स्वरूप क्या है, यह यहां विचारित हो रहा है)।

इस विवेचन का सार यह है कि 'विभाषा', 'वा', 'अन्यतरस्याम्' पद-घटित सूत्रों से निष्पन्न शब्द अवश्यमेव शुद्ध वैकल्पिक ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि उनमें भी आचार्यनियमन रहा हो, पर उस नियमन की अव्यवहार्यता होने के कारण पाणिनि ने आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया (जैसा कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने पाणिनि-दर्शित आचार्यनियमन-परिपाटी की जानबूझ कर अवहेलना की है) क्योंकि उनके काल में वे नियम अव्यवहार्य हो गये थे।

अर्वाचीन वैयाकरणों ने जिस प्रकार आचार्यनामघटित नियमों को सामान्यतः वैकल्पिक बनाया, स्वयं पाणिनि ने भी वैसा ही किया है। पाणिनि ने कहा है—जराया जरसन्यतरस्याम् (७।२।१०१)। यहाँ सूत्र में 'अन्यतर-स्याम्' ही कहा गया है, जो शुद्ध वैकल्पिक अर्थ का वाचक है, पर यह जाना जाता है कि जरा के स्थान में जो 'जरस्' आदेश होता है, वह आचार्य इन्द्र के मतानुसार है (जैन शाकटायन व्याकरण १।२।३७)। पाणिनि को यहाँ 'जराया जरसिन्द्रस्य' कहना चाहिए था, 'अवङ् स्फोटायनस्य' (अष्टा०) की तरह। ऐसा न कहने का कारण यही प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय जरस्-विधिसम्बन्धी आचार्यनियमन अव्यवहार्य हो गया था, अतएव उन्होंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जरस् विधि को शुद्ध वैकल्पिक ही कहा। जैन शाकटायन ने आचार्य-गत मतान्तर को दिखाने के लिये आचार्य का नाम लिख दिया यद्यपि उनके समय भी यह विधि शुद्ध वैकल्पिक रूप में नहीं थी। संभवतः जैन शाकटायन व्याकरण के रचयिता ने तथ्य की सूचना देने की दृष्टि से ही यह सूचना दी है। यह सूचना कहाँ तक प्रामाणिक है, इसका परिज्ञान नहीं है। (इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि वायु-यम-ब्रह्मादि कई व्याकरणों के नाम कवीन्द्राचार्य सूची पत्र में हैं, अतः यदि इन्द्र का नाम कहीं से विदित हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं, यद्यपि हमें इस सूचना के प्रामाण्य में संशय है)।

पाणिनि ने जहां 'वा' कहा है, वहाँ सर्वत्र शुद्ध वैकल्पिकता नहीं है, इसका प्रमाण है। पाणिनि ने कहा है 'स्वरितो वानुदात्तोऽपदादौ' (८।२।६); पर यह सूत्र शुद्ध वैकल्पिक नहीं है और इसके वैकल्पिकत्व में विषय-भेद है (जो प्रातिशाख्यों में वर्णित है)। यहाँ पाणिनि का अनुशासन सामान्य है, यद्यपि प्रयोग में विषयविभाग है और संक्षेपार्थ पाणिनि ने विषयों का उल्लेख न कर सामान्य विधि का ही निर्देश कर दिया है। ऐसे स्थलों पर यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि के समय स्वरित का प्रयोग शुद्ध वैकल्पिक था और प्रातिशाख्यों के काल में इस स्वरित-विधि का विषय शाखानुसार विभक्त हो गया था[1]।

१—कुछ 'विभाषा' 'व्यवस्थित विभाषा' भी होती हैं अर्थात् दोनों वैकल्पिक शब्दों के अर्थ समान न होकर भिन्न-भिन्न होते हैं। तत्त्वतः वे दो शब्द एक ही शब्द के दो पृथक् रूप नहीं, पर लाघवार्थ पाणिनि ने दोनों को वैकल्पिक कहा है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने दिखाया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वात्रिंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी के पाठान्तरों का विवेचन

पाठान्तर की महत्ता—आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के लगभग २०० सूत्रों में पाठान्तर हो चुके हैं। दर्शनशास्त्र की अपेक्षा शब्द-शास्त्र के पाठान्तर अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि दर्शनशास्त्र का मुख्य विषय 'अर्थ' है, शब्द नहीं। पाठान्तर होने पर भी यदि अर्थान्तर न हो, तो दर्शनशास्त्र में उस पाठान्तर का कुछ महत्त्व नहीं रहता; परन्तु शब्दशास्त्र में यह बात नहीं है। इस शास्त्र का विषय और प्रमाण शब्द ही हैं, अतः इस शास्त्र का प्रायः प्रत्येक पाठान्तर-चाहे उससे अर्थान्तर हो, या न हो—महत्त्वपूर्ण हैं, विचारणीय[1] है।

पाठान्तरों की इस महत्ता के कारण उच्चारणादि से पाठान्तर हो जाने की संभावना को ध्यान में रखकर कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों ने सूत्रगत पदों के वर्णादि का स्पष्ट निर्देश भी किया है। यदि कहीं भ्रमवश पाठभेद उत्पन्न हो गया हो, तो उसकी निवृत्ति करना भी एतादृश निर्देशों का अन्तर्निहित उद्देश्य है; यथा—विदूराञ् ञ्यः (४।३।८४) पर दीक्षित कहते हैं—दन्त्यमध्योऽयं शाद्वलवत्, न तु नड्वलवन् मूर्धन्यमध्यः (शब्दकौ०); तथैव 'नडशादा ड्वलच्' (४।२।८८) पर

१—पाठसमीक्षा में वे वचन भी विचार्य होते हैं, जो किसी के मत में सूत्र हैं, और किसी के मत में वार्त्तिक। पाणिनीय तन्त्र में लगभग ८।१० वचन ऐसे हैं, जिनकी सूत्रता पर मतभेद है, यथा—'अडभ्यासव्यवायेऽपि' यह काशिकाधृत सूत्र है (६।१।१३६), पर अन्य व्याख्याकार इसे अनार्ष (=अपाणिनीय) मानते हैं (एवं च अडभ्यासव्यवायेऽपीत्यनार्षः सूत्रपाठ इति भावः—उद्द्योत ६।१।१३१)। काशिकाधृत सूत्र है—नित्यमाम्रेडिते डाचि (६।१।१००), पर अन्य आचार्य इसे वार्त्तिक समझते हैं–वार्त्तिकदर्शनात् सूत्रे कैश्चित् प्रक्षिप्तम् (प्रदीप ६।१।९९)। अचि शीर्षः—यह काशिका-धृत सूत्र है (६।१।६२), पर कैयट कहते हैं—वार्त्तिकं दृष्ट्वा सूत्रेषु कैश्चित् प्रक्षिप्तम् (प्रदीप)। ध्यान देना चाहिए कि ऐसे स्थलों पर काशिकाकार कभी नहीं कहते हैं कि इन वचनों के सूत्रत्व में मतभेद है। वे इन वचनों को सूत्ररूप में ही असन्दिग्ध रूप से जानते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में सूत्रत्वनिर्णय पर विचार नहीं किया जाएगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागेश कहते हैं–शादो दोपधः (शब्देन्दु०)। (देखा जाता है कि प्रक्रियासर्वस्वादि में विद्रूरश्रा पाठ स्वीकृत हुए हैं)। इन निर्देशों से अध्येता सावधान हो सकते हैं और यदि इन निर्देशों पर उनकी श्रद्धा है तो अन्य प्रकार के पाठों का संशोधन भी कर सकते हैं।

सूत्रक्रमभेद—पाठभेदों के अतिरिक्त (१) सूत्रपाठों का क्रम-व्यत्यास और (२) सूत्रपदच्छेद आदि में मतभेद[1] रूप दो विषय विचार्य होते हैं, पर इस निबन्ध में इन पर कोई चर्चा न की जाएगी।

क्रमव्यत्यास के उदाहरण अत्यल्प हैं। एक उदाहरण दिया जा रहा है—शब्देन्दुशेखर (तुदादि०) में सूत्रक्रम में एक मतभेद (भाष्यसंमतपाठक्रम एवं अन्य पाठक्रम) दिखाया गया है। यहाँ काशिकोक्त सूत्रक्रम और भाष्योक्त सूत्रक्रम में स्पष्ट अन्तर है (अध्याय ८, पाद ४, सूत्र ५२ से ६३ सूत्रों का क्रम)।

स्वाभाविक पाठभेद—यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि मूल पाठ यदि अस्पष्टार्थक हो या उसमें कोई ऊह्य भाव हो तो स्वभावतः बाद में इस 'दोष' का 'परिमार्जन' हो जाता है, जिससे पाठान्तर का उद्भव होता है। यथा—भाष्यानुसार सूत्र है—प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः (३।१।११८), जिसका काशिकानुसार पाठ है—प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः छन्दसि। इस सूत्र पर यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि पाणिनि ने इस सूत्र का वैदिकत्व कहा नहीं है, पर प्रकृतितः यह वैदिक ही है, क्योंकि इसका उदाहरण वेद में ही मिलता है (उदाहरणं तु छन्दस्येव—तत्त्व०)। वार्त्तिककार ने सूत्रकारसंमत (पर सूत्रकारानुक्त) तत्त्व को शब्दतः कह दिया है (छन्दसीति वक्तव्यम्), अतः सूत्रीय कार्य के लिये अपरिहार्य होने के कारण सूत्रानुक्त 'छन्दसि' पद को बाद में सूत्र में ही पाठ कर लिया गया है–ऐसा प्रतीत होता है।

१—यथा—भ्यसो भ्यम् (७।१।३०) में भ्यसोऽभ्यम् रूप पदच्छेद; दो दद् घोः (७।४।४६) में दथ्-दद्-दध् रूप पदच्छेद; तदो दा च (५।३।१९) में तदोऽदा च रूप पदच्छेद; काम्यच् च (३।१।९) के च् काम्यच् च रूप की कल्पना; इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः, दयायासश्च (३।१।३६-३७) में संहितापाठ मानकर 'अनृच्छो दयायासश्च' वाक्य का निश्चित करना और फिर 'अनृच्छ+उ+दयायासश्च' पदच्छेद करना; स्थानेऽन्तरम उरणग्परः (१।१।५०-५१) में अन्तरतमे रूप पदच्छेद; विशेषणानां चाजातेः (१।२।५२) में च+अजातेः या च+आजातेः पदच्छेद; इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह समझना असंगत होगा कि सूत्रकार के काल में यह सूत्र लौकिक था और बाद में यह वैदिक मान लिया गया। छान्दसत्वज्ञापक निर्देश न रहने मात्र से ही कोई सूत्र अवैदिक होता है—ऐसी बात नहीं, यह पूर्वाचार्यों ने बहुधा कहा है (द्र० सनिससनिवांसम् ७।२।६९ सूत्रीय व्याख्याएँ)।

इस शैली का अन्य उदाहरण 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः (५।४।५०) में दृष्ट होता है। इस सूत्र पर वार्त्तिक है—अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्। किन्हीं संप्रदायों में सूत्र में वार्त्तिक का संमिश्रण हो गया है और वे 'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे......' सूत्र पढ़ते हैं। यह प्रक्षेप अर्थपूरण की दृष्टि से अत्यन्त स्वाभाविक है (क्योंकि च्वि-प्रत्यय परिणामविषयक होता है और परिणाम में 'अभूततद्भाव' होना अनिवार्य है), अतः यह अंश सूत्र में मिल गया है। यह नया पाठ काशिका द्वारा स्वीकृत हुआ है, जिसकी व्याख्या में हरदत्त कहते हैं- वृत्तिकारेण च्विविधौ अभूततद्भावग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदवश्यं कर्तव्य-मिति सूत्रे एव प्रक्षिप्य व्याचष्टे (पद०)

हम समझते हैं कि ३।२।१४६ सूत्र के 'विनाश' पाठ के स्थान पर जो 'विनाशि' (ण्यन्त नशधातु) पाठान्तर मिलता है, उसका भी यही हेतु है। ण्यन्त धातु के निर्देश में 'विनाशि' पाठ ही स्वाभाविक है, अतः प्राचीनतर 'विनाश' पाठ के स्थान पर बाद में 'विनाशि' रूप स्पष्टतर पाठ स्वीकृत हुआ है।

आनुमानिक सूत्रपाठ—कुछ ऐसे पाठभेदों का उल्लेख भी मिलता है, जिनका अभ्युपगम यद्यपि किसी भी आचार्य के द्वारा नहीं किया गया, पर व्याख्यानविशेष के बल पर तादृश पाठ की सत्ता अनुमित होती है। पाणिनि का सर्वाचार्यस्वीकृत सूत्र है—टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)। इसके भाष्य में सूत्रसम्बन्धी जो विचार किया गया है, उससे यह अनुमित होता हैं कि सूत्र का अन्य एक पाठ भी था[1]। किसी भी व्याख्याकार ने इस अनुमित पाठ को सूत्र रूप में नहीं माना, यह द्रष्टव्य है।

ऐसा ही एक आनुमानिक पाठ अनुपसर्गाज् ज्ञः (१।३।७६) सूत्र में उपलब्ध होता है। भट्टोजि के कथनानुसार ज्ञात होता है कि 'अनुपसर्गात्' के

१—कैयट कहते हैं—अथवा केचित् टितामित्येव पठन्ति, तदाश्रयेण एतदुक्तम्; नागेश ने स्पष्ट ही कहा है—टिदात्मनेपदानामिति भाष्यस्य तदर्थकं यदि विज्ञायते इत्यर्थः। भाष्यप्रामाण्यात् तादृश एवाष्टाध्यायीपाठ इत्यन्ये (उद्द्योत)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकार में श्चुत्व न कर पढ़ने का एक सम्प्रदाय भी था (द्र० शब्दकौ० १।१।८)। पर इस पाठ की सत्ता प्रत्यक्षतः स्वीकृत नहीं हुई है।

इसी प्रकार नपरे नः (८।३।२७) सूत्र का एक आनुमानित पाठ 'न परे न' है, ऐसा अत्रत्य न्यास से जाना जाता है, यद्यपि किसी भी व्याख्याग्रन्थ में इस पाठ का संकेत नहीं मिलता। अतो लृान्तस्य (७।२।२) सूत्र का 'अतो र्लान्तस्य' रूप जिस पाठ की सत्ता उद्द्योत में कही गई है, वह पाठ भी ईदृश आनुमानिक ही है।

पाठान्तर की समूलता—पाठान्तर होने से ही कोई पाठ निर्मूल नहीं हो जाता। क्वचित् पूर्वाचार्यों ने पाठान्तर की वैधता का प्रतिपादन भी किया है। समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२९) का पाठान्तर है—समो गम्यृच्छिप्रच्छि स्वरति.......... । प्रच्छि आदि का पाठ वार्त्तिक में है, अतः यह स्पष्ट है कि वार्त्तिक का पाठ सूत्र में मिला दिया गया है (दीक्षित आदि का यही उत्तर है, जो स्वाभाविक है)। इस प्रक्षिप्तता को मानकर भी उसकी वैधता का प्रतिपादन हरदत्त करते हैं कि वार्त्तिककार भी शास्त्रकार (सूत्रकार)—सदृश हैं, इसे दिखाने के लिये वार्त्तिक को सूत्र से मिला दिया गया है! (प्रच्छादयस्तु वार्त्तिकदृष्टाः सूत्ररूपेण पठिताः, सूत्रकारवत् वार्त्तिककारोऽपि शास्त्रस्य कर्ता न व्याख्यातेति दर्शयितुम्)। पाठसमीक्षाविचार की दृष्टि से ऐसा कहना व्यर्थ ही है।

पाठभेदनिर्देशमात्र—कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ पूर्वाचार्य पाठभेद का निर्देश कर ही निवृत्त हो जाते हैं, पाठभेद की समीक्षादि नहीं करते। पाठान्तरों का निर्देश कर उनपर कुछ भी समीक्षा न करने का एक हेतु यह हो सकता है कि व्याख्याकारों के पास ऐसी कोई सामग्री नहीं थी, जिससे वे एकतर पाठ का निर्धारण कर सकें, अतः उनके लिये पाठभेदों का निर्देश करने के अतिरिक्त (चूंकि प्रत्येक पाठ मान्य आचार्य द्वारा अभ्युपगत हुआ है) और कोई मार्ग नहीं था।

एक उदाहरण लें। किसी के अनुसार ४।३।९४ सूत्र में 'सलातुर' शब्द है। काशिका के अनुसार 'शलातुर' पाठ है। शब्दकौ० का मुद्रित पाठ शलातुर है; प्र० स० का सलातुर। नागेशभट्ट केवल इतना ही लिख सके हैं—शलेति तालव्यपाठो वृत्तौ (शब्देन्दु०)। यह भौगोलिक शब्द है, अतः तद्विषयक ज्ञान के विना सांशयिक स्थल में वैयाकरण कुछ भी नहीं कह सकते; ऐसी स्थिति में नागेश श-घटित पाठ के अभ्युपगमकारी का नाम देने के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी स्थिति 'किसरादिभ्यः ष्ठन्' (४।४।५३) सूत्र में दिखाई पड़ती है। नागेश कहते हैं—तालव्यमध्यपाठो वृत्तौ (अर्थात् वृत्ति में किशर शब्द है)। वस्तुतः प्राचीन व्याख्यान या प्रयोगदर्शन के विना केवल युक्ति से ऐसे स्थलों में पाठ का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतः प्रमाणभूत आकरग्रन्थ का नाम कह देना ही पर्याप्त है [1]।

उभयविध पाठों का समर्थन—ऐसे स्थल अनेक हैं, जिनमें सूत्रों के पाठान्तरों का औचित्य या समर्थन किया गया है, यथा—

अवाद् ग्रः (१।३।५१) का पाठान्तर है—अवाद् गिरः। हरदत्त कहते हैं—गिर इति पाठे धात्वनुकरणत्वाद् विभक्ताविस्त्वम्। ग्र इति पाठे रूपमात्रानुकरणं द्रष्टव्यम्। तथैव 'शक्तौ हस्तिकपाटयोः' (३।२।५४) के पाठान्तर (हस्तिकवाटयोः) के विषय में कहा गया है—पाठान्तरे तु अटतेः पचाद्यच्। कवं चोष्णे इत्यत्र योगविभागात् कोः कवादेशः (पदमञ्जरी)।

ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों में व्याख्याकार एक पाठ को मूल पाठ के रूप में मानकर भी अन्य पाठ को सर्वथा हेय नहीं समझते थे। ऐसे पाठों [2] को 'प्रक्षिप्त' या 'अनार्ष' आदि जो नहीं मानते, वे निश्चित ही इनका प्रामाण्य मानते थे।

१—पाठभेद निर्देशमात्रपरक कुछ विशिष्ट स्थल ये हैं—जृस्तम्भुसूत्रे ग्रुचिमपि केचित् पठन्ति (धातुवृत्ति, भ्वादि ग्रुचुधातु); अत्र मैत्रेयः बिन्दुरिच्छुः (३।२।१६९) इति सूत्रं बशादि पठन् बिन्दुशब्दं व्युदपादयत्। वृत्तौ तु वेत्तेरेव तत्र पाठः (धातुवृत्ति, भ्वादि बिदिधातु); व्रजयजोः... पर वासुदेव कहते हैं—वृजयजोरिति पाठे वृजी वर्जने इत्यस्मात् क्यप्, वृज्या (बालमनो०)। ४।१।८१ में 'काण्डेविद्धि' शब्द हैं; भट्टोजि कहते हैं—पाठान्तरे तु कण्ठेविद्धमस्य कण्ठे वा विद्धः कण्ठेविद्ध (शब्दकौ०); काण्डेविद्धीति पाठे काण्डेन विद्ध इति समासेऽतएव निपातनात् काण्डस्यैकारः (शब्देन्दु०); नडशादा ड्वलच् (४।२।८८)—शादो दन्त्योपधः, डोपध इत्यन्ये (बालमनो०)। आयुधजीविभ्यः छः पर्वते (४।३।९१) पर नागेश कहते हैं—पर्वतादिति पाठान्तरम् (शब्देन्दु०)।

२—अन्तर्घनो देशे (३।३।७८)—अन्ये णकारं पठन्ति अन्तर्घणो देश इति, तदपि ग्राह्यमेव (काशिका); सहस्रेण संमितौ घः (४।४।१३०)—समित इति पाठान्तरम्, उभयथाऽपि तुल्य इत्येवार्थः (शब्दकौ०); त्रिंशच्-चत्वारिंशतो ब्राह्मणे (५।१।६२) का पाठान्तर है—चत्वारिंशतः। ज्ञानेन्द्र कहते हैं—समाहारद्वन्द्वादेकवचनम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठभेद और दृष्टिभेद—भिन्न पाठ मानने वालों का दृष्टिकोण कभी-कभी विभिन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक आचार्य स्वाभीष्ट पाठ के लिये युक्ति देते हैं। निम्नोक्त उदाहरणों को देखें—

४।३।११९ सूत्र में पादप पाठ है, जिसका पदप रूप पाठान्तर का उल्लेख कर भट्टोजि कहते हैं—केचित्तु पादपस्थाने पदपशब्दं पठन्ति, तन्मते अण एवायमपवादः (शब्दकौ०)। तथैव धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) का 'धुरो यड्ढकञौ' पाठान्तर (द्र० प्रक्रियासर्वस्व) दिखाकर नागेश लिखते हैं—धौरेयक इति ढकञ्प्रत्यय इत्यन्ये। मूलपाठे तु धौरेयक इति स्वार्थिककन्नन्तम् (शब्देन्दु०)। ५।४।५७ में भी यह रीति लक्षित होती है, जहाँ अर्घ के स्थान पर अर्घ्य पाठान्तर दिखाकर काशिकाकार कहते हैं कि इस पाठ में यकार स्वार्थिक (स्वार्थ में तद्धित य प्रत्यय, यथा—शाखा इव शाख्यः) है।

व्यक्तिनाम रूप संज्ञा के पाठान्तर में भी दृष्टिभेद से समर्थन करने का एक ही दृष्टान्त ६।१।१२३ सूत्र में है, जहां स्फोटायन के स्फौटायन पाठान्तर पर हरदत्त कहते हैं ये तु औकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते (पद०)।

इस प्रसंग में हम एक असाधारण पाठभेद की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। सूत्र है—शाकलाद् वा (४।३।१२८)। काशिकाकार जिनेन्द्र, हरदत्त, भट्टोजि आदि सब आचार्य यही पाठ मानते हैं, पर आधुनिक स्वामी दयानन्द सरस्वती ही 'शकलाद् वा' पाठ स्वीकार करते हैं ('शाकलाद्' वा पाठ का खण्डन कर)। वैयाकरणों को स्वामीजी की युक्ति पर ध्यान देना चाहिए (द्र० ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृष्ठ ९-१०)।

पाठान्तर पर उपेक्षा—यह देखा जाता है कि कभी-कभी व्याख्याकार अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थ में धृत (स्वाभिमत पाठ से पृथक्) पाठ को देखकर भी मौन रहते हैं[1], जहाँ उनको कम से कम पाठान्तर का निर्देशमात्र कर ही देना चाहिए था (क्योंकि ग्रन्थान्तरधृत पाठ के अनुसार प्रयोग में भिन्नता होती है)। इस

१—काशिका (४।२।१२६) में 'गर्त' है, पर प्रक्रियाकौमुदी में वर्त; प्र० कौ० कार नारायण काशिका-पाठ पर मौन ही हैं। तथैव ४।२।१४२ में काशिकासंमत पाठ पलद है; प्रक्रियासर्वस्व में फलद है। तथैव ४।३।३२ सूत्र में काशिका-संमत पाठ अपकर है और प्र०स० का पाठ अवकर है। तथैव ५।१।४४ में काशिका का पाठ है—लोकसर्वलोकात् और प्र०स०का 'लोकसर्वलोकाभ्याम्'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्ति का कारण क्या है—यह चिन्त्य है। प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों के पाठ को वे देख नहीं सके—यह नहीं कहा जा सकता; संभवतः उपेक्षाबुद्धि (पाठान्तर को नगण्य समझना) ही यहां मौन का कारण है। पाठान्तर का उल्लेख कर उस पर विचार कर ग्रन्थ को विस्तृत न बनाना भी एक हेतु हो सकता है। चाहे जो भी हो, इस अनुक्तिमात्र से पाठान्तरों की असत्ता या अज्ञातता सिद्ध नहीं होती।

काचित्क पाठ—व्याख्याकारों ने यह लक्ष्य किया था कि कोई 'पाठ' कदाचित् ही (किसी ग्रन्थ में) स्वीकृत होता है। ऐसे पाठ प्रायः मूलपाठ नहीं होते। ऐसे 'काचित्क' पाठ अष्टाध्यायी में अल्प हैं, यथा—

५।२।७९ का पाठ है—शृङ्खलमस्य............। नागेश कहते हैं—शृङ्गलमिति क्वचित् पाठः (उद्द्योत)। शब्देन्दु० में कहा गया है—भाष्ये क्वचित् पाठः। नागेश के इन कथनों से ज्ञात होता है कि यह 'शृङ्गल' पाठ भाष्य के प्रामाणिक कोश में उन्हें उपलब्ध हुआ था। नागेश ने यहाँ 'यह लेखक प्रमाद है' या 'अपपाठ है' आदि वाक्य क्यों नहीं कहे—यह विचार्य है।

'काचित्क' आदि वाक्य न रहने पर भी यह देखा जाता है कि कुछ पाठभेद किन्हीं आचार्यों द्वारा उल्लिखित मात्र हुए हैं (विचारपूर्वक समर्थन करने की प्रबल चेष्टा नहीं की गई); और अन्य आचार्य इस पाठ के विषय में कुछ कहते नहीं है; ऐसे पाठ भी 'काचित्क' ही माने जा सकते हैं। यथा—ओजःसहोम्भसस्तमसस्तृतीयायाः (६।१।३) पर पुरुषोत्तम कहते हैं—इह तमः शब्दं तप इति केचिदूचिरे (भाषावृत्ति); यह पाठ अन्यत्र अलक्षित ही हुआ है, अतः यह भी 'काचित्क' ही है। प्रयोग की प्रचुरता भी इस पाठान्तर के पक्ष में नहीं है। ६।३।६५ सूत्र का 'हारिषु' पाठ (भारिषु के स्थान पर) भी काचित्क है (उपर्युक्त युक्ति से; द्र० धातुवृत्ति—केचित्तु तत्र हारीति पठन्ति—स्रादि मल धारणे)।

पाठान्तर रूप निर्देश न होने पर भी आचार्यविशेषसम्मतपाठ 'काचित्क पाठ' माना जा सकता है; यथा—

१. कुछ काचित्क पाठ ऐसे हैं, जो विस्मरण या प्रमादमूलक ही प्रतीत होते हैं। रुज धातु (६।१२१) की व्याख्या में वीरुक् शब्द की निष्पत्ति के प्रसङ्ग में क्षीरस्वामी ने 'नहि वृति...(६।३।११६) सूत्र को उद्धृत किया है। ध्यान देना चाहिए कि कौमुदी, काशिका आदि प्रमाणिक ग्रन्थों में इस सूत्र का जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ है, उसमें 'रुचि' धातु ही पठित हुआ है, रुजि नहीं, अतः यह मानना उचित होगा कि क्षीरस्वामी प्रकृत-सूत्र-पाठ विस्मृत हो गए। रुच्-रुज् का अत्यन्त सादृश्य ही इस विस्मरण मूलक प्रमाद का हेतु है।

२. यही दृष्टि 'जनसनखनां सञ्झलोः' (६।४।४२) पर भी प्रयोज्य होती है। सूत्र का यह पाठ काशिकादि सर्वसम्मत है, पर क्षीरस्वामी 'जनखनसनां ..'रूप से इसका उद्धरण देते हैं (क्षीर० ४।४०)। धातुओं के क्रम में विस्मरण हुआ है—यही मानना सङ्गत है।

३. काचित्क पाठ सूत्र-संशोधन-हेतुक भी हो सकता है। ईदृश पाठ के उदाहरण कदाचित् मिलता है। न शसददवादिगुणानाम् (६।४।१२६) सूत्र को क्षीरस्वामी ने 'न शसददवादिगुणिनाम्' कहकर उद्धृत किया हैं (१।१७); 'गुणि' पाठ अन्य कहीं भी स्मृत नहीं हुआ है। यह ज्ञातव्य है कि गुणि-पाठ में लक्षणा की आवश्यकता नहीं पड़ती (द्र० अस्मत् सम्पादित धातुवृत्ति की टिप्पणी)। जश्शसोःशि (६।१।२०) का न्यासोक्त 'जसिशसोः' पाठ भी ७।१।५० सूत्रस्थ जसि के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिये है, जो अनावश्यक है।

सूत्रपाठ की संप्रदायनियतता—ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रपाठ संप्रदायानुसार नियत था, क्योंकि कोई भी व्याख्याकार स्वसंमत सूत्र के पाठ पर कोई संशय नहीं करते। क्वचित् ही पूर्वाचार्य उभयविध पाठों को मानते हैं; वे उभयविध पाठों को मानकर भी स्वानुमत पाठ को ही अधिकतर प्रमाणिक समझते हैं। भाष्य-वार्त्तिकादि को देखने से ज्ञात होता है कि उनका व्याख्यान मुख्यतः किसी एक पाठ को लेकर ही चलता है; यथा—

विष्किरः शकुनौ वा (६।१।१५०) का एक अन्य पाठ काशिका में है (विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा); कैयट कहते हैं—विष्किरः शकुनौ वेति सूत्रपाठमाश्रित्य वार्त्तिकारम्भः (प्रदीप)। तथैव ६।१।१२४-१२५ सूत्रों पर कैयट कहते हैं—इन्द्रे च इति ये सूत्रं पठन्ति, प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमिति द्वितीयं तन्मते नैष दोषः (प्रदीप ६।१।१२५)।

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सूत्रों का पाठ संप्रदायनियत हो गया था। अष्टाध्यायी के पौर्वपाठ आदि संप्रदायनियत पाठों की सत्ता पं० युधिष्ठिर मीमांसक भी मानते हैं (संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ०२११-२१३; अस्मत्संपादित क्षीरतरङ्गिणी की भूमिका, पृ० १४-१५)। यह आश्चर्य का विषय है कि प्राचीन व्याख्यानग्रंथों में प्राच्यपाठ इत्यादि रूप संप्रदायभेद का उल्लेख नहीं मिलता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में निम्नोक्त स्थल विशेषतः विचार्य है। पूर्वाचार्यों ने यह लक्ष्य किया था कि देशभेद से स्वाभाविक रूप से उच्चारण में भेद हो जाता है (तु० वृद्धमनु की उक्ति-वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते)। व्याकरण सूत्र में इसका विशिष्ट उदाहरण है--'उषसुषिमुष्कमधो रः' सूत्र (५।२।१०७)। इस सूत्र के प्राच्यपाठ में सुषि के स्थान पर 'शुषि' पाठ था, ऐसा नारायण (उच्चारण-कारण के साथ) कहते हैं—शुषिः शुषिरमित्यादिः स्वाम्याद्याः प्राङ्मते जगुः। प्राग्देशे हि सकारस्य शकारः पठ्यते क्वचित् ॥ (प्रक्रियासर्वस्व)।

'सूत्र पाठ की सम्प्रदायनियतता' में 'प्रकृत्याशिषि (६।३।८३) सूत्र और उसका काशिकोक्त पाठ (प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु) विचार्य है। प्रकृत्याशिषि रूप सूत्र पाठ पर वार्त्तिक है—'प्रकृत्याशिष्यगवादिषु' जहाँ 'गो आदि' तो कहा गया, पर 'आदि' पद से किन शब्दों का ग्रहण होगा—यह नहीं निर्दिष्ट हुआ। अतः यह मानना होगा कि इस वार्त्तिकमात्र को देखकर पूर्ति की दृष्टि से किसी ने 'प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु' ऐसा नहीं कहा। भाष्य में सगवे, सवत्साय, सहलाय उदाहरण दिए गए हैं। इस पर यह कहना कि भाष्य को देखकर काशिकाकार ने वत्स-हल-शब्द-द्वय का पूरण कर सूत्र को पढ़ा है -असङ्गत है, क्योंकि तब वे 'केचित् प्रकृत्याशिषि इत्येव पठन्ति' ऐसा निर्देश अवश्य करते (अन्यान्य स्थलों की तरह); न्यासकार भी इस पाठद्वैध पर मौन हैं। किञ्च भाष्यकार-प्रदत्त उदाहरण परिगणन है या उदाहरणमात्र है, इसका निर्णय भाष्य से नहीं होता; अतः भाष्यमात्र को देखकर काशिकाकार दोनों शब्दों का समावेश कर सूत्र को पूर्ण नहीं समझ सकते थे (अन्य शब्दों की भी अपेक्षा रहती), अतः यही कहना होगा कि काशिकाकार के पास परम्परारक्षित पाठ 'प्रकृत्याशिष्य-गोवत्सहलेषु' था और वे भाष्यसम्मत 'प्रकृत्याशिषि' पाठ को अपनी दृष्टि से अनावश्यक समझ कर (अपूर्णता-हेतु) उसका कोई निर्देश वृत्तिग्रन्थ में नहीं किया।

सूत्रांश या सूत्रानुवाद—पाठान्तरों के प्रसंग में यह भी विचार्य है कि पाणिनीय वैयाकरण (पाणिनि सूत्रों के आश्रय से व्याख्या लिखने वाले) जब अपने ग्रन्थ में कोई सूत्र उद्धृत करते हैं (सूत्रकार का नाम न लेकर) और वह सूत्र अष्टाध्यायी में यथावत् नहीं मिलता है, तब क्या सर्वत्र यह सोचना होगा कि उद्धृत पाठ पाणिनि-सूत्र का पाठान्तर ही है या अन्य किसी व्याकरण का सूत्र आचार्य ने उद्धृत किया है? ईदृश कुछ स्थलों में यह भी संशय हो सकता है कि व्याख्याकार ने सूत्र का अपेक्षित अंश ही उद्धृत किया है या पूरणादि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वक सूत्र को उद्धृत किया है इत्यादि। ऐसे स्थलों में कौन दृष्टि संगत होगी, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी। यथा—काशिकादिसंमत सूत्रपाठ है—विभाषा लीयतेः (६।१।५१), पर क्षीरस्वामी 'लियो वा' पाठ करते हैं (२।६६); यहाँ 'विभाषा लीयतेः' सूत्र ही तदर्थप्रतिपादक 'लियो वा' रूप में उद्धृत किया गया है—ऐसा सोचना सर्वथा असंगत नहीं होगा। तथैव काशिकादिसंमत 'स्फुरति-स्फुलत्योर्घञि' (६।१।४७) सूत्र इसी ग्रन्थ में 'स्फुरि-स्फुल्योर्घञि' रूप में उद्धृत हुआ है (६।९६)। ईदृश पाठ पाठान्तररूपेण ही गराय होंगे—ऐसा कहना कठिन है, क्योंकि काशिका-प्र० स०-प्र०कौ--सि०कौ-भाषावृत्ति आदि में ये पाठ स्मृत नहीं हुए हैं। यदि ये विस्मृतिमूलक पाठ नहीं हैं तो ये सूत्र अन्य व्याकरण के हैं–यह भी सोचा जा सकता है। सूत्रार्थस्मरण कर ये वचन प्रयुक्त हुए हैं—ऐसा मानना ही अधिकतर संगत है, क्योंकि इन स्थलों में व्याकरणान्तरनिर्देश में ग्रंथकार की प्रवृत्ति थी, इसका ज्ञापक प्रमाण कुछ भी नहीं मिलता।

पाठ की पाणिनीयता—साधारणतया यह सोचा जा सकता है कि सर्व-प्राचीन व्याख्यानग्रन्थ में जो पाठ है, वही पाणिनिसम्मत है—ऐसा मानना ही युक्तियुक्त होगा। पर यह नियम यहाँ पूर्णरूपेण घटता नहीं है। प्राचीन एवं प्रमाणभूत महाभाष्य के अनुसार भी पाणिनि-सम्मत पाठ का न्याय्य निर्णय सर्वस्थल में नहीं किया जा सकता है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भी महाभाष्य की सर्वोच्च प्रामाणिकता के विषय में मान्य ग्रन्थकारों में ऐकमत्य नहीं था, क्योंकि काशिका आदि ग्रन्थों में सूत्रों के ऐसे पाठ और अर्थ दिए गए हैं, जो भाष्य-दर्शित पाठ-अर्थों से विरुद्ध हैं (केवल भिन्नार्थक नहीं)[1]।

१—अष्टाध्यायी के प्राचीन वृत्तियों में भी सूत्रार्थ तथा सूत्र पाठ में पर्याप्त भिन्नता और विरोध था, जिसके उदाहरण प्रदीप आदि टीकाग्रन्थों में प्रचुर मिलते हैं। फलतः हम लोगों को यह कहना पड़ता है कि 'परम्परा-रक्षित पाठ' तथा 'परम्परागत व्याख्या' के रहने पर भी कार्यक्षेत्र में परस्पर विवाद और परमतखण्डन प्रचुर मात्रा किए जाते थे। स्वविरुद्ध मतों का खण्डन कर सभी अपने मतों को यथार्थ प्रतिपादित करते हैं। ऐसी स्थिति में एक तृतीयपक्ष को मुख्यतः युक्तिबल पर ही सत्यासत्य का निर्णय करना पड़ता है, किसी एक व्याख्याकार के प्रति अनन्य श्रद्धा से नहीं। 'पाठ की प्राचीमता' का जो स्थान पाठनिर्णय विद्या में है, वह यथायथरूप से सबको

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतञ्जलि ने कण्ठतः जिस सूत्र का जैसा पाठ कहा है, क्षीरतरङ्गिणी, काशिका आदि ग्रन्थों में उससे भिन्न पाठ दृष्ट होता है, और ऐसे स्थलों पर व्याख्याकारों ने सर्वत्र पाठान्तर का निर्देश भी नहीं किया हैं (जब कि अन्य अनेक स्थलों में पाठान्तर का निर्देश किया गया है), जिससे यह अनुमित होता है कि ऐसे स्थलों पर वे कोई पाठान्तर नहीं मानते थे या पाठान्तर को उल्लेखयोग्य नहीं समझते थे। महाभाष्य से प्राचीनतर श्लोकवार्त्तिक में भी जिस सूत्र का पाठ जैसा रक्षित हुआ है, उसका भी पाठान्तर दृष्ट होता है,[1] अतः यह मानना पड़ता है कि प्राचीन व्याख्याकारगण प्राचीनतर व्याख्यान के प्रामाण्य को सदा चरम प्रमाण रूप से नहीं मानते थे।

पाठनिर्णय की दुरूहता—कहा जा सकता है कि जिन पाठान्तरों में सूत्र और वार्त्तिकों का संयोग हो गया है[2] उन स्थलों पर पाणिनि-सम्मत सूत्रपाठ का निर्णय करना सरल है (अर्थात् ऐसे सूत्रों से वार्त्तिकांश को निकाल देने पर सूत्र का यथार्थ कलेवर ज्ञात हो जाएगा) पर बात ऐसी नहीं है। वार्त्तिक-संयुक्त सूत्र काशिका में मिलते हैं, पर विशद आलोचना करने पर पता चलता है कि काशिकाकार ने स्वयं वार्त्तिकों का प्रक्षेप सूत्रों में नहीं किया है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसकजी ने इसका सप्रमाण निरूपण किया है (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इति० भाग १, पृष्ठ २०७-२११)। अतः वार्त्तिक और काशिका की पारस्परिक तुलना से सर्वत्र पाणिनि-सम्मत पाठ का अन्तिम निरूपण किया जा सकेगा—ऐसी आशा नहीं है।

मान्य ही है। काशिका-भाष्य-विरोध के विषय में The Mahabhasya Vs. the Kasika शीर्षक मेरा लेख द्रष्टव्य है (J. V. O. I. XV. 1).

१—द्र० आकर्षात् ष्ठल् सूत्र की तत्त्वबोधिनी और प्रौढमनोरमा।

२—भट्टोजि आदि ने बहुत्र यह दिखाया है कि सूत्रों के साथ वार्त्तिकों का मिश्रण काशिकाकार ने किया है, यथा—कृत्या इत्येतावदेव सूत्रं पठितं सूत्रकारेण। वृत्तिकारस्तु भाष्ये पूर्वपक्षरूपेण पठितं सूत्रे प्रचिक्षेप (पद० ३।१।९५); वृत्तिकृता तु अत्रत्य ख्युन्ग्रहणं (सूत्रे प्रक्षिप्य कञ्ख्युनामिति पठितम्, तच्च भाष्यविरुद्धम् (टिड्ढाणञ्...४।१।१५); बहुवचनमिति भाष्ये दृष्टं वृत्तिकृता सत्रे प्रक्षिप्य पठितम् (विभाषितं विशेषवचने ८।१।२ की स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका); पूजनात् पूजितमनुदात्तम् (८।१।६७)—एतावदेव सूत्रम्, काष्ठादिभ्य इति तु वार्त्तिके दृष्टं वृत्तिकृता सूत्रे प्रक्षिप्य पठितम् (स्व० सि० च)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त तथ्य में युक्ति यह है कि ऐसे अनेक वार्त्तिक हैं, जिनसे सूत्र में अनुक्त पदों की सिद्धि की गई है। ऐसे वार्त्तिकों में कुछ वार्त्तिकों का मिश्रण (या वार्त्तिकधृत शब्दों का पाठ) सूत्रों के साथ काशिका में मिलता है, पर इस प्रकार के सभी वार्त्तिकों का मिश्रण सूत्रों के साथ काशिकाकार ने नहीं किया है, जिससे मालूम पड़ता कि काशिकाकार ने ऐसा प्रक्षेप नहीं किया है। यदि ऐसा प्रक्षेप काशिकाकार का होता, तो ऐसे सभी वार्त्तिकों का प्रक्षेप काशिकासंमत सूत्रपाठ में दृष्ट होता। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि काशिकाकार को अपने सम्प्रदाय में प्रचलित जो पाठ मिला, उन्होंने वैसा ही पाठ अपने ग्रन्थ में पढ़ा।

यह भी देखा जाता है कि कभी-कभी 'सूत्र में वार्त्तिकप्रक्षेप' के प्रसंग में काशिकाकार का साक्षात् नाम नहीं लिया गया; 'केचित्', 'अभियुक्ताः' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया गया। यह संभव है कि व्याख्याकार यह समझते थे कि काशिकाकार की तरह अन्यों ने भी ऐसा प्रक्षेप किया है, अतः काशिका का नाम लेना अनावश्यक है। विशेष छानबीन करने का उद्देश्य न हो तो भी ईदृश सामान्य शब्दों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। एक उदाहरण लें— ३।३।१२२ की व्याख्या में कैयट कहते हैं—अध्यायसूत्रे आधारावयशब्दौ वार्त्तिके दर्शनाद् अभियुक्तैः प्रक्षिप्तौ (प्रदीप)। यह पाठ काशिका का है। लाक्षारोचनाट्ठक् (४।२।२) पर 'शकलकर्दमाभ्यमुपसंख्यानम्' वार्त्तिक है; काशिकाधृत सूत्र में शकल-कर्दम का पाठ भी है। इन दोनों के पाठ को 'अनार्ष' (प्रदीप) और 'वार्त्तिकदर्शनजनित प्रक्षिप्त' (शब्दकौ०; पद०) माना गया है, पर प्रक्षेपकर्ता के रूप में किसी का नाम नहीं लिया गया है। प्रक्रियासर्वस्व में भी इन दो शब्दों का पाठ सूत्र में है और पाठविषयक कोई चर्चा नहीं की गई है। यहाँ भी उपर्युक्त समाधान ही संगत होता है।

जिस प्रकार काशिका और वार्त्तिकों की तुलना करने पर सूत्र के प्राचीनतम स्वरूप का ज्ञान सदैव नहीं हो सकता, उसी प्रकार वार्त्तिक और सूत्रों की पारस्परिक तुलना करने से भी सर्वत्र पाणिनिसम्मत सूत्रपाठ का ज्ञान नहीं हो सकता। कितने ही ऐसे वार्त्तिक हैं, जिनमें वार्त्तिककार ने स्वेच्छा से सूत्रांश के साथ वार्त्तिकों को पढ़ा है तथा कितने ही ऐसे वार्त्तिक हैं जो सूत्र-शब्दानुसारी नहीं हैं। जिस सूत्र में 'विभाषा' पद है, उस सूत्र के ग्रहण में वार्त्तिककार ने 'वा' का प्रयोग किया है। तथैव विधिमुख सूत्रों के निर्देश में वार्त्तिककार ने निषेधमुख शब्द का प्रयोग किया है, इत्यादि। अतः पाणिनि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मत सूत्रपाठ का निर्णय वार्त्तिक या श्लोकवार्त्तिक की सहायतामात्र से सर्वत्र नहीं किया जा सकता[१]।

सूत्रपाठपरक आलोचना—प्राचीन व्याख्यानग्रन्थों में भी सूत्रपाठसम्बन्धी आलोचना का दर्शन अनेक स्थलों पर हो जाता है। प्राचीन व्याख्याकारों ने जहाँ पाठान्तरों का निर्देश किया है, वहाँ कौन पाठ पाणिनि-सम्मत है—इसका निरूपण सर्वत्र नहीं किया है। किसी-किसी विशेष पाठान्तर के विषय में विशद विचार यत्र-तत्र मिल जाता है।

सब स्थलों पर पाठान्तरों में युक्तायुक्तत्व का निरूपण करना दुरूहतम कार्य प्रतीत होता है। भाष्यकार ने भी 'उभयथा ह्याचार्येण शिष्या : सूत्रं प्रतिपादिताः' (भाष्य १।४।१) ऐसा कहा है; काशिका, न्यास आदि ग्रन्थों में भी इस मत की प्रतिध्वनि मिलती है[२]। एक ही आचार्य ने दो प्रकार का सूत्र बनाया—ऐसा मानना (वह भी सूत्र-ग्रन्थों में) क्या न्याय-संगत है? ऐसे वाक्यों का यथार्थ तात्पर्य क्या है—यह चिन्तनीय है। यदि प्रवचनकाल में ही पाणिनि ने

१—त्यदादीनामः (७।२।१०२) पर जो श्लोकवार्त्तिक है (त्यदादीनामकारेण......ततोऽदिति), उससे यह भ्रम हो सकता है कि सूत्र 'त्यदादीनामत्' है। ऐसे स्थलों पर वार्त्तिकदर्शनमात्र से सूत्रपाठ का निर्णय नहीं करना चाहिए—न तु वार्त्तिके दर्शनेन सूत्रे तपरपाठ इति भ्रमितव्यम् इत्यर्थः (उद्द्योत)।

२—सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, तदुभयमपि ग्राह्यम् (काशिका ५।१।५९); शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणम् उभयथा सूत्रप्रणयनात् (काशिका ४।१।११७); ४।१।११७ में शुङ्ग और उसका पाठान्तर शुङ्गा है। इसपर न्यास में कहा गया है—द्वयमपि चैतत् प्रमाणमिति। कथं पुनः परस्परविरुद्धमपि प्रमाणं भवतीत्याशङ्क्याह-उभयथा सूत्रं प्रणयनादिति। उभयथा ह्येतत् सूत्रमाचार्येण प्रणीतम् तस्मात् को विरोधः। २।१।६७ में जरद्भिः-जरतीभिः पाठद्वय हैं। व्याख्याकार कहते हैं—उभयथाऽपि शिष्या आचार्येण प्रतिपादिताः इत्युभयं सिध्यति (न्यास); जरद्भिरित्यपि पाठः शिष्या आचार्येण बोधिता इति युवजरन् इत्यपि भवति (प्रदीप)। गाण्ड्यजगात् ......(५।२।११९)—तुल्या च संहिता ह्रस्वदीर्घयोः। उभयथा च सूत्रं प्रणीतम् (काशिका)। ५।४।१२१ में सक्थि और शक्तिरूप दो पाठ हैं। विट्ठल कहते हैं—उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः इत्युभयमपि प्रमाणम् (प्रसाद)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषपरिहारार्थ सूत्र में परिवर्तन किया है—ऐसा मान लिया जाय, तो भी २।४ स्थलों पर ही ईदृश पाठान्तरों की संभावना की जा सकती है। पूर्वाचार्यों के विषय में पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि 'आचार्याः सूत्राणि कृत्वा न निवर्तयन्ति' अतः पाणिनि ने स्वयं पाठान्तर किया—इस वाक्य की संगति लगती नहीं है। किंच पाणिनि ने कुछ काल बाद सूत्र में परिवर्तन किया—ऐसा मानने पर, यह भी मानना होगा कि पहले सूत्रों में किसी प्रकार की कमी थी; पर क्या ऐसा सोचना संगत है ? यह भी सोचना चाहिए कि जो पाठ बाद में शुद्ध कर निश्चित किया गया, वही पाठ क्यों न प्रचलित हो गया—पहले के अशुद्ध पाठ का प्रचलन क्यों रहा गया ?

अतः 'पाणिनिकर्तृक पाठान्तर' एक विवादास्पद विषय है, जिसके समाधान के लिये विद्वानों को चेष्टा करनी चाहिए।

इस विषय में हमारा मत यह है कि वस्तुतः सूत्रकार ने पूर्वप्रणीत सूत्र का संशोधनपूर्वक नया सूत्र बनाया है—ऐसा नहीं हो सकता (क्योंकि तब प्राक्तन सूत्र का प्रचलन नहीं हो सकता था—उस काल की परिपाटी के अनुसार), पर ऐसे वाक्यों का तात्पर्य यही है कि सूत्रकार ने सूत्रीय शब्दों का वैसा तात्पर्य (या व्याख्यान) भी कहा (न्यायादि-दर्शनों में भी सूत्रों का एकाधिक तात्पर्य होते ही हैं)। न्यायप्रयोग या प्रक्रिया से संबद्ध पाठभेदों में तो यह समाधान किया जा सकता है, पर जहाँ शब्दविशेष का अधिकपाठ रूप पाठान्तर है, वहां 'प्रतिपादन-भेद मात्र' कहकर उचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। ऐसे स्थलों पर 'उभयथा प्रतिपादन' रूप मत के प्रतिपादन का कारण यही हो सकता है कि व्याख्याकार एकतर पक्ष के निर्धारण के लिये समर्थ नहीं थे या वे पर्यवेक्षण कर अन्तिम निर्णय करना नहीं चाहते थे; अतः उन्होंने शंकाकारी को प्रसन्न करने के लिये ऐसा उत्तर दिया है।

पूर्वाचार्यकृत पाठविचार--युक्ति से निर्णीत सूत्रपाठ बाद के आचार्यों द्वारा मान्य ही होता था, ऐसी बात नहीं है। चटकाया ऐरक् (४।१।१२८) सूत्र के पाठान्तर के विषय में न्यासकार ने जिस पाठ को युक्ति से ठीक माना है, अर्वाचीन भट्टोजि दीक्षित ने उस पाठ की समीचीनता का प्रत्याख्यान किया है (शब्दकौ०)। प्रमाणभूत वैयाकरणों ने कभी कभी अपने पाठ की समीचीनता के लिये युक्ति दी है तथा परमतानुसार पाठ का प्रबल खण्डन भी किया है। अष्टाध्यायी के पाठान्तरों में कुछ ऐसे पाठान्तर हैं, जहाँ पाणिनि-सम्मत पाठ का निर्णय करने के लिये कुछ भी उपाय दृष्ट नहीं होता। ऐसे स्थलों पर स्वयं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन व्याख्याकारगण ने भी अपनी असमर्थता प्रकट की है, और दोनों पाठों का ही समर्थन किया (द्र० पूर्व पृष्ठ ३७२) ।

प्राचीन टीकाकारों ने जहाँ पर पाठान्तरों में 'पाणिनिसम्मत पाठ' पर विचार किया है, वहाँ सर्वत्र ऐसी युक्ति नहीं दी है कि 'चूँकि यह पाठ प्राचीनतम ग्रन्थ में उल्लिखित है इसलिये यही पाठ पाणिनि-सम्मत है'। वे अधिकांश स्थलों में पाणिनि की प्रवृत्ति का अन्वेषण कर तदनुसार पाणिनि-सम्मत पाठ का निरूपण करते हैं। यदि प्राचीन विषय में प्राचीन व्याख्याकार ही प्रमाण माने जाते[1], तो पतञ्जलि अपने से प्राचीन वृत्तिकारों द्वारा स्वीकृत पाठ तथा सूत्रार्थों का बहुत्र खण्डन नहीं करते। प्राचीनता के आधार पर प्राचीन आचार्य प्रामाण्याप्रामाण्य का विचार प्रायः नहीं करते हैं (क्वचित् विशिष्ट स्थलों को छोड़कर, जहाँ युक्ति का प्रयोग करना संभव नहीं होता)। प्रमाद और अनवधानता से भ्रान्ति होती है (जो प्राचीन व्याख्यान में भी संभव है), अतः प्राचीन आचार्य की तुलना में यदि नवीनों में अल्प प्रमादादि हों तो नवीन आचार्य प्राचीन से अधिक प्रामाणिक हैं—यह चिन्ता आचार्यों के हृदय में थी।

यद्यपि भाष्यादि से अनेक स्थलों पर निश्चित पाठ का पता लग जाता है तथापि भाष्यकार से परवर्त्ती वैयाकरणों ने चूँकि सर्वत्र भाष्यनिरूपित पाठ को माना नहीं है (भाष्य का प्रामाण्य मानकर भी) इसलिये हमलोगों को निरपेक्ष होकर कहना पड़ता है कि 'भाष्यनिर्णीत पाठ पाणिनि से भी सम्मत होगा' ऐसा सर्वत्र निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। काशिका और भाष्य में इतने विरोध (सूत्रार्थ, सूत्रपाठ आदि विषयों में) हैं[2], जिनका समन्वय

१—'प्राचीनाचार्यसंमत पाठ की प्रामाणिकता अधिक होती है' इस नियम को सामान्यतया पूर्वाचार्यों ने स्वीकार किया है; यही कारण है कि जब किसी पाठ की उपेक्षा करनी होती है तब उस पाठ को 'अर्वाचीन पाठ' कह दिया जाता है। भट्टोजि कृपो रोलः (८।२।१८) सूत्र के 'कृपे रोलः' पाठ को 'अर्वाचीनों का पाठ' कहते हैं (प्रौढमनो०), जिसकी ध्वनि यही है कि यह पाठ उपेक्षणीय है। प्राचीनशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों के शब्दार्थ-निर्णय में पूर्व-पूर्वतर आचार्यों के संमत शब्दार्थ सामान्यतः अधिक प्रामाणिक होते हैं, यह नियम धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों को भी मान्य है।

२. महाभाष्य के व्याख्यान पर जो अतिशयित श्रद्धाबुद्धि कैयट, भर्तृहरि, भट्टोजि, नागेश आदि में देखी जाती है, वह प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना संभव नहीं है, अतः एक तृतीय पक्ष द्वारा यही कहना न्याय्य होगा कि दोनों ने ही अपने अपने प्रमाणभूत आचार्यों के अनुसार ग्रन्थों की रचना की है, और हमलोग एक के वचनमात्र से अन्य के वचनों का अनादर नहीं कर सकते हैं। भाष्यकार को जैसा सूत्रपाठ मिला (अपनी परम्परा में) उन्होंने तदनुसार व्याख्या की और काशिकाकार को जैसा मिला, उन्होंने तदनुसार व्याख्या की— ऐसा कहना ही इस विषय पर संगत होगा। जब भाष्यकार ने सूत्र-पाठान्तरों पर विचार किया है तब यह निश्चित है कि वे पाठान्तर किसी सम्प्रदाय में मूल पाठ के रूप में प्रचलित थे, अन्यथा सविस्तर खण्डन की कोई भी आवश्यकता नहीं होती। अतः भाष्यकार का जैसा सम्प्रदाय था, वैसा वार्त्तिककार का भी था, (ये सम्प्रदाय सर्वथा समान नहीं थे—ऐसा जाना जाता है) और सभी अपने अपने सूत्रपाठ तथा सूत्रार्थ को पाणिनि-सम्मत ही समझते थे। अतः सूत्रपाठनिर्णय में किसी एक के ऊपर निर्भर न कर अन्य उपाय (अर्थात् युक्ति, प्रयोगदर्शन आदि) का आश्रय करना ही होगा।

अन्त में व्याख्याकारों द्वारा चिन्तित पाठ-निर्णय-कौशलों का एक संक्षिप्त विवरण उपनिबद्ध हो रहा है। यहाँ इन कौशलों का उल्लेख मात्र (उदाहरण-स्थल-निर्देश सहित) किया जाएगा। कभी कभी एकाधिक कौशलों का प्रयोग एक पाठनिर्णय में किया गया है—ऐसा देखा जाता है।

(क) भाष्यविरोध या वार्त्तिकविरोध या भाष्यवार्त्तिकविरोध को देखकर भाष्याद्यनुगुण पाठ को पाणिनीय पाठ माना गया है।[1]

(ख) सूत्र के अंशविशेष का कार्य यदि अन्य सूत्र से सहजतः ज्ञापित हो जाय

काशिकाकार एवं प्रक्रियाकौमुदीकार आदि में नहीं दृष्ट होती। यही कारण है कि भाष्यानुकूल्य या भाष्यविरोध मात्र से सूत्रपाठों की पाणिनीयता या अपाणिनीयता का निर्णय सर्वत्र नहीं किया जा सकता। जब पतञ्जलि नहीं थे, तब भी सूत्रों का अध्ययनाध्यापन एवं सूत्रानुसार शब्दप्रयोग सफलतापूर्वक किया ही जाता था, अतः 'यथोत्तरम् मुनीनां प्रामाण्यम्' न्याय भी कल्पित ही है। यदि महाभाष्य के विना सूत्रों का अन्तिम तात्पर्य नहीं जाना जा सकता तो भाष्य जब नहीं था तब सूत्रों का तात्पर्यविधारणपूर्वक प्रयोग कैसे किया जाता था?

१. १।३।२९ पदमञ्जरी आदि; ३।३।१२१ प्रदीप; ४।१।१५ तत्त्व; ४।१।१२८ तत्त्व०; ४।२।२ पद०, शब्दको०; ४।४।९ शब्दको०; ५।१।६६ शब्देन्दु; तत्त्व०, प्रौढ मनो०; ५।२।१०१ पद० इत्यादि अनेक स्थल।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उस ज्ञापकसिद्ध अंश को प्रक्षिप्त माना गया है।[1]

(ग) जिस सूत्रपाठ में सूत्रीय कार्य की प्रकृति का उल्लेख किया गया है, यदि वह उल्लेख भाषा प्रकृति के अनुसार अनायास ही ज्ञात हो जाता है तो उस निर्देश को प्रक्षिप्त माना गया है।[2]

(घ) जिस पाठ के अनुसार निष्पन्न शब्द असिद्ध होता है, वह पाठ अशास्त्रीय माना गया है।[3]

(ङ) वैदिक सूत्रों का पाठ 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के अनुसार निर्णय होता है। वैदिक संप्रदाय में यादृश पाठ है, तदनुकूल सूत्रपाठ ही प्रामाणिक माना गया है।[4]

(च) लौकिक-प्रयोगदर्शन की तरह कोशादि के वचन पर भी ध्यान रखकर सांशयिक स्थलों में सूत्रागत शब्द की आनुपूर्वी का निश्चय किया गया है।[5]

(छ) पाणिनीय व्याकरण में कई 'न्याय' प्रयोज्य होते हैं; सूत्र का जो पाठ इन न्यायों का अनुवर्तन आधिक्येन करता है, वह पाठ मौलिक है—यह नियम बाहुल्येन माना गया है।[6]

(ज) स्वर (उदात्तादि) से भी कुछ स्थलों में मौलिक पाठ का निर्णय किया गया है।[7]

(झ) जिस पाठ में अप्रचलितता, क्लिष्टता आदि हो, वह पाठ प्राचीनतर है, क्योंकि सौकर्य के लिये बाद में सरल और स्पष्ट पाठ प्रस्तुत किया जाता है।[8]

एतदतिरिक्त अन्य उपायों का ऊहन भी किया जा सकता है। 'पाणिनि-संमत-पाठ-निर्णय' एक पृथक् विषय है, जिस पर प्रौढ विचार अन्यत्र किया गया है, अतः इस विषय को यहीं समाप्त किया जाता है।[9]

---

१. तत्त्व, शब्दकौ० प्रौढमनो० ३।१।९५;

२. तत्त्व, प्रौढमनो० ३।१।११८;

३. तत्त्व० ३।१।१४९;

४. ४।१।३० का शब्दकौ०; ७।१।४३ सुबोधिनी;

५. ४।२।१०१ प्रौढमनो०;

६. ४।४।१० शब्दकौ०; उद्द्योत;

७. ५।३।१०२ शब्देन्दु० उद्द्योत; ४।१।३७ पद०, शब्दकौ०;

८. ३।२।१४६ तत्त्व० आदि;

९. द्र० मेरा अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ—श्रीमद्भगवत्पाणिनिसंमत—सूत्रार्थनिर्णयः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रयस्त्रिंश परिच्छेद

पाणिनीय-सूत्र-पाठान्तर-संकलन

विभिन्न व्याख्यानग्रन्थों में अष्टाध्यायी के जो पाठान्तर निर्दिष्ट हुए हैं, उनका एक संग्रह यहाँ उपनिबद्ध हो रहा है। यह संग्रह कुछ अपूर्ण है; काव्यादि के व्याख्यान ग्रन्थ, कोषों की टीकाएं एवम् व्याकरण के अप्रचलित ग्रन्थों को देखने पर कुछ और पाठान्तर मिलेंगे—यह निश्चित है।[1] इस संग्रह में भाष्यस्थ उन न्यासों को भी स्थान दिया गया है, जो सूत्रवत् प्रतिष्ठित हो चुके हैं। पाठान्तरों का संकलन कुछ उदारता से किया गया है; हो सकता है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन पाठान्तरों के कुछ स्थल पाठान्तर रूप से सिद्ध न हों।

यहाँ मूल पाठ के रूप में काशिका का पाठ ही रखा गया है। यतः प्रत्येक सूत्र पर महाभाष्य मिलता नहीं है, अतः काशिका का पाठ ही रखा गया है। यह वृत्ति प्राचीन है एवम् महाभाष्य से भी प्राचीनतर स्रोतों से इसकी सामग्री आहृत हुई है, अतः काशिकासंमत पाठ को प्रथम स्थान देना दोषावह नहीं है।[2]

यह जानना चाहिए कि सूत्र का स्थलनिर्देश काशिकानुसारी दिया गया है। सि० कौ० आदि में (कुछ स्थलों में) सूत्रसंख्या में व्यत्यास है, अतः सूत्र को देखकर ही कौमुदी आदि में सूत्र का स्थान अन्वेषणीय है—पता को देखकर नहीं।

पाठान्तर के साथ जिन ग्रन्थों के नाम लिए गए हैं, तदतिरिक्त ग्रन्थों में भी दर्शित पाठ मिल सकता है—यह ज्ञातव्य है। काशिकादर्शित पाठान्तर

१—व्याकरणातिरिक्त अन्यान्य वाङ्मय से भी सूत्रपाठ परक सामग्री का संकलन किया जा सकता है। सायणकृत ऋग्भाष्य में कुछ सूत्रपाठ ऐसे हैं जो सर्वसम्मत नहीं हैं। अमर आदि के कोषों की टीकाओं से भी ऐसी सामग्री मिलती है। अमर० २।५।२४ की क्षीरस्वामिकृत टीका में ६।१।१५० (विष्किर०...) का पाठ काशिकानरूप है। तथैव २।६।५७ टीकागत अष्टा० ५।२।१०१ का पाठ काशिकानुरूप है।

२—काशिकाधृत सूत्रपाठ में पदमञ्जरी और न्यास के अनुसार कहीं-कहीं मतभेद मिलते हैं; प्राचीनता की दृष्टि से न्यास-पाठ को ही 'काशिका-मूल पाठ' के रूप में माना गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यास-पदमञ्जरी में प्रायेण व्याख्यात हुआ है, अतः काशिकोक्त पाठान्तर के साथ न्यासादि के नाम साधारणतया नहीं लिए गए हैं। यही बात सिद्धान्तकौमुदी और उसकी टीकाओं पर भी घटती है। यह नियम सापवाद है। क्वचित् टीकाकार ही पाठान्तरों की चर्चा करते हैं। तत्त्वबोधिनी के सब पाठविचार प्रौढमनोरमा में दृष्ट होते हैं। बालमनोरमा के अधिकांश पाठान्तरनिर्देश शब्देन्दु० में मिलते हैं।

अधिकांश स्थलों में पाठान्तर क स्पष्ट निर्देश मिलते हैं; कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहां व्याख्या के अनुसार पाठ को निश्चित करना पड़ता है।

चूंकि मूल सूत्रपाठ काशिकोक्त माना गया है, इसलिये जहाँ काशिका का पाठ ही प्रक्रियासर्वस्व आदि में स्वीकृत हुआ है (सि० कौ० आदि में जहाँ काशिका से पृथक् पाठ माना गया है), वहाँ इन ग्रन्थों के नामों का निर्देश करना (पाठ के साथ) प्रसक्त नहीं हुआ, यह ज्ञातव्य है।[1]

आकर ग्रन्थनामों में निम्नोक्त संक्षिप्तशब्द प्रयुक्त हुए हैं—

सि० कौ० = सिद्धान्तकौमुदी। बाल० = बालमनोरमा। तत्त्व० = तत्त्वबोधिनी। शब्दकौ० = शब्दकौस्तुभ। शब्देन्दु० = लघुशब्देन्दुशेखर। क्षीर० = क्षीरस्वामिकृत क्षीरतरङ्गिणी नामक धातुवृत्ति (इसका अस्मत्-सम्पादित संकरण—रामलाल कपूरट्रस्ट प्रकाशित—व्यवहृत हुआ है। धा० वृ० = माधवीय धातुवृत्ति (प्राच्यभारती प्रकाशन प्रकाशित)। पद० = पदमञ्जरी। न्यास = विवरणन्यासपञ्जिका। का० = काशिका। बृहत् = बृहच्छब्देन्दुशेखर।

यह ज्ञातव्य है कि पाठान्तरों के साथ जिन ग्रन्थों के नाम लिए गए हैं, उन ग्रन्थों में वे पाठ सिद्धान्तरूपेण स्वीकृत हुए हैं, यह बात नहीं। अधिकांश स्थलों में पाठान्तर का निर्देश कर व्याख्यान ही किया गया है या उसकी अप्रशस्तता दिखाई गई है। दर्शित ग्रन्थों में पाठान्तर का निर्देश है—इतना ही तात्पर्य है।

इस सङ्कलन में वे पाठान्तर सङ्कलित नहीं हुए हैं, जो ग्रन्थसम्पादकादि के प्रमाद से उद्भूत हुए हैं—यह ज्ञातव्य है।

१—काशिका का ४।२।२, ५।१।६६, ५।२।१०१, ५।३।५, ५।४।५० सूत्रपाठ प्रक्रियासर्वस्व का मूलपाठ है। काशिका का ४।३।१४२ धातुवृत्ति का मूलपाठ है। काशिका का ४।४।६४ पाठ बालमनोरमा का मूल पाठ है। काशिका का ४।४।८२, ६।१।११७ सि०कौ० का मूलपाठ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[प्रथमाध्याय]

(१) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।५०)
स्थानेऽन्तरतमे (भाष्य)

(२) रुदविदमुषग्रहि............ (१।२।८)
रुद............गृहि............ (बाल०)

(३) विशेषणानां चाजातेः (१।२।५२)
'च अजातेः', 'च आजातेः' (भाष्य; शब्दकौ०)

(४) समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः (१।३।२९)
समो गम्यृच्छिभ्याम् (भाष्य, क्षीर० १।७१०; ६।११७; पद०)

(५) अवाद् ग्रः (१।३।५१)
अवाद् गिरः (न्यास)

(६) अनुपसर्गाज् ज्ञः (१।३।७६)
अनुपसर्गाद् ज्ञः (शब्दकौ० १।१।८)

(७) आकडारादेका संज्ञा (१।४।१)
प्राक्कडारात्परं कार्यम् (भाष्य)

(८) विरामोऽवसानम् (१।४।११०)
अभावोऽवसानम् (प्रदीप)

[द्वितीयाध्याय]

(९) युवा खलतिपलितबलिनजरतीभिः (२।१।६७)
.... जरद्भिः (प्रदीप)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[तृतीयाध्याय]

(१०) मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (३।१।६)
'दीर्घश्च अभ्यासस्य', दीर्घश्चाभ्यासस्य (भाष्य)

(११) काम्यच् च (३।१।९)
च्काम्यच् च (भाष्य)

(१२) गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः (३।१।२८)
गुपू............विछ............(क्षीर० १।२९६, १।२८०)

(१३) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६)
इजादेर्गुरुमतोऽनृछः (क्षीर० ६।१९)
अनृच्छ उ = अनृच्छो [दयायासश्च] (भाष्य)

(१४) उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् (३।१।३८)
उषविदजागुरन्यतरस्याम् (क्षीर० ५।५९)

(१५) जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च (३।१।५८)
जॄस्तन्भु............(क्षीर० १।७४१; ४।२०)

(१६) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)
× वा सरूप आस्त्रियाम् (उ०)

(१७) कृत्याः प्राङ् ण्वुलः (३।१।९५)
कृत्याः (भाष्य)

(१८) प्रत्यपिभ्या ग्रहेः छन्दसि (३।१।११८)
प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ,, (भाष्य)

× (१९) अमावस्यदन्यतरस्याम् (३।१।१२२) का०
अमावास्यदन्यतरस्याम् (क्षीर० १।७३३)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२०) आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च (३।१।१२६)
आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च (सि० कौ०)

(२१) श्याद्व्यधास्रुसंस्रुतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसश्च (३।१।१४१)
श्याद्व्यधाश्रुसंस्रतीण्वसावहृलिहश्लिषश्वसश्च (सि०कौ०; प्र०कौ०)

(२२) प्रुसृल्वः समभिहारेवुन् (३।१।१४९)
प्रुस्रुल्वः समभिहारे वुन् (बालशास्त्रिसंपा० काशिका)

(२३) शक्तौ हस्तिकपाटयोः (३।२।५४)
शक्तौ हस्तिकवाटयोः (पद०, तत्त्व०) सूत्रपाठान्तर नहीं

(२४) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (३।२।६५)
हव्यपुरीष............ ..(अमरकोषोद्घाटन १।१।५५)

(२५) अनौ कर्मणि (३।२।१००)
अनौ कर्मणः (क्षीर० ४।४०) पाठ भ्रष्ट: (सं.टि.)

(२६) अर्हः प्रशंसायाम् (३।२।१३३)
अर्हः पूजायाम् (क्षीर० १।४८८)

(२७) आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४)
प्राक् क्वेः .... (भाष्य)

(२८) शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (३।२।१४१)
शमित्यष्टाभ्यो घिनिण् (क्षीर० ४।९४)

(२९) निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादि............ (३।२।१४६)
निन्द...................विनाशि...............................(बाल०,पद०, तत्त्व०)

(३०) सूददीपदीक्षश्च (३।२।१५३)
सूददीपदीक्षां च (क्षीर० १।२१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३१) जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् (३।२।१५५)
जल्प·········लुण्ठ·········· (क्षीर० १०।२५)

(३२) सनाशंसभिक्ष उः (३।२।१६८)
सनाशंसमिक्षामुः (क्षीर० १।४१७)

(३३) विन्दुरिच्छुः (३।२।१६९)
बिन्दुरिच्छुः (धा०वृ० १।५४)

(३४) लृट् शेषे च (३।३।१३)
लृट्शेषे (उद्द्योत, शब्देन्दु०)

(३५) एरच् (३।३।५६)
एरजण्यन्तानाम् (का० ६।१।१६१; प्रदीप ३।३।५६)

(३६) अन्तर्घनो देशे (३।३।७८)
अन्तर्घणो देशे (का०, सि०को०)

(३७) व्रजयजोर्भावे क्यप् (३।३।९८)
वृजयजोः·········· (बाल०)

(३८) विभाषाख्यानपरिप्रश्नयोरिञ्च (३।३।११०)
प्रश्नाख्यानयोरिञ् च (क्षीर० ८।११)

(३९) अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च (३।३।१२२)
अध्या·········द्यावसंहाराश्च (प्रदीप; सि० को०)

(४०) स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः (३।४।६१)
स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभुवोः (क्षीर० ८।११)

(४१) टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)
टिदात्मनेपदानाम्····· (प्रदीप-उद्द्योत)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[चतुर्थाध्याय]

(४२) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप्ख्युनाम् (४।१।१५)
टिड्............क्वरपः (सि० कौ०; परि०; प्रौढमनो०; पद०; प्रदीप)

(४३) प्राचां ष्फ तद्धितः (४।१।१७)
प्राचां ष्फस्तद्धितः (न्याससम्पादकटिप्पणी)

(४४) केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च (४।१।३०)
केवल ... पापावर ... (पद०; शब्दकौ०)

(४५) वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः (४।१।३७)
वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः (शब्दकौ०; पद०)

(४६) दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् (४।१।८१)
दैवयज्ञि ....काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् (शब्दकौ०; शब्देन्दु०)

(४७) विकर्णशुङ्गच्छगलाद् वत्सभरद्वाजात्रिषु (४।१।११७) सि० कौ०
विकर्णशुङ्गाच्छगलात् ...... (का०, शब्दकौ०)

(४८) कल्याणादीनामिनङ् (४।१।१२६)
कल्याणादीनामिनङ् च (सि०कौ० मोतीलाल बनारसीदास संस्क०)

(४९) चरकाया ऐरक् (४।१।१२८)
चटकाद् ऐरक् (न्यास, शब्दकौ०, तत्त्व०)

(५०) कम्बोजाल्लुक् (४।१।१३७)
काम्बोजाल्लुक् (शब्दकौ०)

(५१) लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट् ठक् (४।२।२)
लाक्षारोचनाट् ठक् (प्रदीप, पद०, शब्दकौ०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५२) सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् (४।२।२१)
सास्मिन् पौर्णमासीति (प्रदीप, सि० कौ०)

(५३) ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् (४।२।४३)
ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् (सि० कौ०; तत्त्व०)

(५४) नडशादाड् ड्वलच् (४।२।८८)
नडशाडाद् ड्वलच् (बाल०, शब्देन्दु०)

(५५) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (४।२।१०१)
द्युप्रागवाक् ... (प्र० स०, प्रौढमनो०, शब्दकौ०)

(५६) प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् (४।२।११०)
पलद्यादि = पलदिन्, पलदी वा (तत्त्व०)

(५७) कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात् (४।२।१२६)
कच्छा............वर्तोत्तरपदात् (प्र० स०)

(५८) कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् (४।२।१४२)
कन्थाफलद ...... (प्र० स०)

(५९) अमावास्याया वा (४।३।३०)
अमावस्याया वा (पद०, न्यास०, तत्त्वबो०)

(६०) सिन्ध्वपकराभ्यां कन् (४।३।३२)
सिन्ध्ववकराभ्यां कन् (प्र० स०)

(६१) श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक्
(४।३।३४)
श्रविष्ठा......स्वाती......(प्र० स०; धा० वृ० १।३३, तत्त्व०; प्रौढ०)

(६२) विदूराञ्ञ्यः (४।३।८४)
विडूराञ्ञ्यः (प्र० स०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६३) आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते (४।३।९१)
आयुध ....पर्वतात् (शब्देन्दु०; प्र० स०)

(६४) तूदीशलातुरवर्मतीकुचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः (४।३।९४)
तूदीसलातुर ....(सि० कौ०; शब्दकौ०; प्र० स०)

(६५) संज्ञायाम् ॥ ४।३।११७ ॥ कुलालादिभ्यो वुञ् ॥ ११८ ॥
संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुञ् (प्रत्याख्यानसंग्रह)

(६६) क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ् (४।३।११९)
क्षुद्रा............पदपादञ् (शब्दकौ०; पद०; शब्देन्दु०)

(६७) शाकलाद्वा (४।३।१२८)
शकलाद् वा (दयानन्दकृत अष्टाध्यायी वृत्ति; द्र० ऋग्वेद पर व्याख्यान पृ ..७-१२)

(६८) शम्याः ष्ट्लञ् (४।३।१४२)
शम्याः ष्लञ् (शब्देन्दु०; बाल०; शब्दकौ०)

(६९) नोत्त्वद्वर्ध्रबिल्वात् (४।३।१५१)
नोत्त्वद्वध्रबिल्वात् (शब्दकौ०)

(७०) कुलत्थकोपधादण् (४।४।४)
कुलस्थकोपधादण् (पद०)

(७१) आकर्षात् ष्ठल (४।४।९)
आकषात् ष्ठल् (तत्त्व०; शब्दकौ०; प्र०स०; धा०वृ० १।४४७)

(७२) विभाषा विवधवीवधात् (४।४।१७)
विभाषा विवधात् (तत्त्व०; शब्दकौ०; पद०; उद्द्योत; प्रदीप)

(७३) प्रतिपथमेति ठंश्च (४।४।२४)
प्रतिपथमेति ठञ् च (शब्देन्दु०)

(७४) किशरादिभ्यः ष्ठन् (४।४।५३)
किसरादिभ्यः ष्ठन् (सि०कौ०; शब्देन्दु०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७५) बह्वच्पूर्वपदाट् ठच् (४।४।६४)
बह्वच्पूर्वपदाट्ठञ् (अमरटीकासर्वस्व; सि०कौ० मोतीलाल बनारसीदास संस्क०)

(७६) धुरो यड्ढकौ (४।४।७७)
धुरो यड्ढञौ (शब्देन्दु०, प्र०स० ८।२।७९)
धुरो यड्ढकञौ (शब्देन्दु०; प्र० स०)

(७७) संज्ञायां जन्या (४।४।८२)
संज्ञायां जन्याः (सि०कौ० मोतीलाल बनारसीदास संस्क०)

(७८) परिषदो ण्यः (४।४।१०१)
पर्षदो ण्यः (व्याख्यासुधा १।१।३५)

(७९) मधोर्ञ च (४।४।१२९)
मधोरञ् च (ऋग् १।९०।६ सायणभाष्य)

(८०) वेशोयशआदेर्भगाद् यल् (४।४।१३१)
वेशो ---------- ----------यल्खौ (सि०कौ०; शब्दकौ०)

(८१) सहस्रेण संमितौ घः (४।४।१३५)
सहस्रेण समितौ घः (का०; शब्दकौ०)

[पञ्चमाध्याय]

(८२) कंसाट्टिठन् (५।१।२५)
कंसाट् टिट्ठन् (उद्द्योत)

(८३) लोकसर्वलोकाट् ठञ् (५।१।४४)
लोकसर्वलोकाभ्यां ठञ् (प्र०स०)

(८४) दण्डादिभ्यो यः (५।१।६६)
दण्डादिभ्यो यत् (सि०कौ०, शब्देन्दु०-चन्द्रकला-टीका; तत्त्व०)
दण्डादिभ्यः (बालमनो०, तत्त्व०; द्र० सि० कौ० मोतीलाल संस्क०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८५) कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च (५।१।६९)
कडङ्गर-दक्षिणाच्छ च (तत्त्व०)

(८६) पथो ण नित्यम् (५।१।७६)
पथोऽण् नित्यम् (शब्देन्दु०)

(८७) कर्मवेषाद् यत् (५।१।१००)
कर्मवेशाद् यत् (भाषावृत्ति; रामाश्रमी पृ० २०९; अमरकोशोद्घाटन पृ० १०७; सर्वानन्द टीका १।३६०)

(८८) ऐकागारिकट् चौरे (५।१।११३)
ऐकागारिकट् चोरे (प्र०स०)

(८९) न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः (५।१।१२१)
न नञ्················ वटयुध············(प्र०स०)

(९०) आकर्षादिभ्यः कन् (५।२।६४)
आकषादिभ्यः कन् (सि०कौ०; प्र०स०)

(९१) सस्येन परिजातः (५।२।६८)
शस्येन परिजातः (प्र०स०; पद०)

(९२) शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे (५।२।७९)
शृङ्गलमस्य ············ (उद्द्योत)

(९३) कुल्माषादञ् (५।२।८३)
कुल्मासादञ् (प्र०स०)

(९४) प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः (५।२।१०१)
प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः (तत्त्व०; पद०)

(९५) उषसुषिमुष्कमधो रः (५।२।१०७)
उषशुषि ·········· (प्र०स०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९६) गाण्ड्यजगात् सञ्ज्ञायाम् (५।२।११०)
गाण्ड्यजकात् संज्ञायाम् (टीकासर्वस्व भाग १ पृ.२३; अमरकोशाद्घाटन,पृ.८) (अत्र गाण्डी-गाण्डि-शब्दौ स्वीकृतौ काशिकायां प्र० सर्वस्वे च)।

(९७) काण्डाण्डादीरन्नीरचौ (५।२।१११)
अत्र अण्ड-आण्डेति च्छेदौ (प्र० स०)

(९८) रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२)
रजः कृष्यासुतिपर्षदो वलच् (पद०; गण० ७।४३०; सि०कौ०)

(९९) एतदोऽश् (५।३।५)
एतदोऽन् (प्रदीप; सि०कौ०; उद्द्योत)

(१००) दानीञ्च (५।३।१८)
इदानीम् (प्रदीप; उद्द्योत)

(१०१) तदो दा च (५।३।१९)
तदोऽदा च (प्रदीप)

(१०२) शाखादिभ्यो यत् (५।३।१०३)
शाखादिभ्यो यः (उद्द्योत; बालमनो०;प्र०स०; शब्देन्दु० ६।३।४६)

(१०३) पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ (५।३।११७)
पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ (सि०कौ०)

(१०४) अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः (५।४।५०)
कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः (सि०कौ०; प्रदीप; पद०)

(१०५) तदधीनवचने (५।४।५४)
तदधीनवचने च (प्र०स०)

(१०६) अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (५।४।५७)
अव्यक्ता.......... ....राध्यादनितौ डाच् (का०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०७) सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने (५।४।६१)
सपत्र ---------- व्यधने (बालमनो०)

(१०८) सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः (५।४।१२०)
सुप्रात ---------- प्रोष्ठपदभद्रपदाः (अमरकोश १।३।२२ की रामाश्रमी)
सुप्रात ---------- श्रेणीपदाजपदाः (धा०वृ० ४।६४)

(१०९) नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् (५।४।१२१)
नञ्दुः ---------- शक्त्योरन्यतरस्याम् (पद०;प्र०कौ०; प्रसाद)

[षष्ठाध्याय]

(११०) स्फुरतिस्फुलत्यो र्घञि (६।१।४७९)
स्फुरिस्फुल्योर्घञि (क्षीर० ६।९२)

(१११) विभाषा लीयतेः (६।१।५१)
लियो वा (क्षीर० १०।२०६)

(११२) प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे (६।१।११५)
नान्तः पादमव्यपरे (का०; सि०कौ०; पद०; शब्दकौ० १।१।३; दीपिका)

(११३) अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च (६।१।११६)
अव्याद ---------- दवचक्रमु ---------- (पद०; सुबोधिनी)

(११४) यजुष्युरः (६।१।११७)
यजुष्युरो (का०)

(११५) अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३)
अवङ् स्फोटायनस्थ (पद०; शब्देन्दु०)

(११६) इन्द्रे च नित्यम् (६।१।१२४)
इन्द्रे च (सि०कौ०; प्रदीप)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११७) प्लुतप्रगृह्या अचि (६।१।१२५)
प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (सि०कौ०; प्रदीप)

(११८) आङोऽनुनासिकःछन्दसि (६।१।१२६)
आङोऽनुनासिकः छन्दसि बहुलम् (का०)

(११९) संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे (६।१।१३७)
सम्परिभ्यो करोतौ भूषणे (सि० कौ०; प्रौढमनो०)

(१२०) किरतौ लवने (६।१।२४०)
किरतेर्लवने (क्षीर० ६।१११)

(१२१) विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (६।१।१५०)
विष्किरः शकुनौ वा (सि०कौ०; प्रदीप; उद्द्योत)

(१२२) तित् स्वरितन् (६।१।१८५)
तित् स्वरितः (स्व०सि० च)

(१२३) मतोः पूर्वमात् संज्ञायां स्त्रियाम् (६।१।२१९)
मतोः पूर्व आत्.......... (स्व०सि० च; सुबोधिनी)

(१२४) कुरुगार्हपत··तैतिलकद्रूः.......... (६।२।४२)
क्वचित् काशिकादिषु निर्विसर्गः कद्रूशब्दो दृश्यते (द्र०प्रत्याख्यानसंग्रह) ।

(१२५) चूर्णादिन्यप्राणिषष्ठ्याः (६।२।१३४)
चूर्णादिन्यप्राण्युपग्रहात् (का०)

(१२६) ओजःसहोम्भसस्तमसस्तृतीयायाः (६।३।३)
ओजः.......... तपसस्तृतीयायाः (भाषावृत्ति)

(१२७) स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि (६।३।४०)
स्वाङ्गाच्चेतः (सि०कौ०; प्रदीप)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२८) पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु (६।३।५२)
पादस्य पदाज्यति ………… (क्षीर० १।३३)

(१२९) इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु (६।३।६५)
इष्ट ………… ………… तूलहारिषु (धा०वृ० १।३२३)

(१३०) प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु (६।३।८३)
प्रकृत्याशिषि (प्रदीप; सि०कौ०; उद्योत)

(१३१) विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये (६।३।९२)
विष्वग्देवयोश्च टेरद्रिः (उद्योत ६।३।९५)

(१३२) समः समि (६।३।९३)
समः सम्यञ्चतावप्रत्यये (उद्योत ६।३।९५)

(१३३) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ (६।३।११६)
नहि ………… रुजि ………… (क्षीर० ६।१२१)

(१३४) दंशसञ्जस्वञ्जां शपि (६।४।२५)
दन्शसन्जस्वन्जां शपि (क्षीर० १।७१६)

(१३५) जनसनखनां सञ्झलोः (६।४।४२)
जनखनसनां सञ्झलोः (क्षीर० ४।४०)

(१३६) ल्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६)
ल्यपि लघुपूर्वस्य (पद०)

(१३७) इस्मन्त्रन्क्विषु च (६।४।९७)
इस्मन्त्रन्क्विप्सु च (क्षीर० १०।३६)

(१३८) घसिभसोर्हलि च (६।४।१००)
घसिभसोर्हलि (प्रदीप; पद०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३९) न शसददवादिगुणानाम् (६।४।१२६)
न शसददवादिगुणिनाम् (क्षीर० १।१७)
न शशददवादिगुणानाम् (तत्त्व०)

[सप्तमाध्याय]

(१४०) जश्शसोः शिः (७।१।२०)
जसिंशसोः शिः (न्यास)

(१४१) भ्यसोभ्यम् (७।१।३०)
भ्यसोऽभ्यम् (का०)

(१४२) यजध्यैनमिति च (७।१।४३)
यजध्वैनमिति च (सुबोधिनी; सि०कौ०;पद०)

(१४३) गोतो णित् (७।१।९०)
ओतो णित् (का०; प्रसाद; व्याख्यासुधा १।१।६)

(१४४) अतो लृान्तस्य (७।२।२)
अतो लन्तिस्य (शब्देन्दु०; उद्द्योत)

(१४५) ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् (७।२।५)
ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् (क्षीर० १।४८०)

(१४६) अग्रुकः किति (७।२।११)
अग्रुकः क्निति (का०; ३।२।१३९ भा०)

(१४७) घृषिशसी वैयात्ये (७।२।१९)
घृषशसी वैयात्ये (क्षीर० १।४८०)

(१४८) प्रभौ परिवृढः (७।२।२१)
प्रभौ परिबृढः (क्षीर० ६।५६; १।४८५)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४९) ग्रसितस्कभित ....क्षरितिक्षमितिवमित्यमितीति च (७।२।३४)
ग्रसित ....क्षरितिवमित्यमिति च (सि० कौ०)

(१५०) सिचि च परस्मैपदेषु (७।२।४०)
सिचि परस्मैपदेषु (क्षीर० १।६९४)

(१५१) तीषसहलुभरुषरिषः (७।२।४८)
तीषु सह............(क्षीर० ६।२६, प्रदीप ७।२।४९; का०)

(१५२) सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णु भरज्ञपिसनाम् (७।२।४९)
सनीव............भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम् (का०)

(१५३) सेऽसिचिकृतचृतच्छृदतृदनृतः (७।२।५७)
सेऽसिचि कृति............(क्षीर० ७।९)

(१५४) यमरमनमातां सक् च (७।२।७३)
यमरमनमातां सुक् च (क्षीर० १।७११; २।४२)

(१५५) स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि (७।२।७४)
स्मिङ्पूङ्.........सनि (क्षीर० ७।२६)

(१५६) ईडजनो र्ध्वे च (७।२।७८)
ईडजनोःस्ध्वे च (उद्द्योत ७।२।७९; का०)

(१५७) अतो येयः (७।२।८०)
अतो यासियः (का०; प्रदीप)

(१५८) किमः कः (७।२।१०३)
इमः कः (न्यास)

(१५९) परिमाणान्तस्याऽसञ्ज्ञाशाणयोः (७।३।१७)
परिमाणान्तस्याऽसञ्ज्ञाशाणकुलिजानाम् (का०)

(१६०) यथातथयथापुरयोः पर्यायेण (७।३।३१)
यथातथायथा......(सि० कौ०; उद्द्योत)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६१) शाच्छासा......(७।३।३७)
शाछासा .....(क्षीर० १।७३७)

(१६२) लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने (७।३।३९)
लीलो .....स्नेहविपाटने (क्षीर० २ ५१)

(१६३) ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति (७।३।७५)
ष्ठिवुक्लमुचमां शिति (सि० कौ०; उद्द्योत; प्रदीप)

(१६४) इषुगमियमां छः (७।३।७७)
इषगमियमां छः (शब्देन्दु, तिङन्त पृ० ५४७, चन्द्रकला; प्रदीप)

(१६५) भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् (७।४।३)
भ्राजभासदीप......(क्षीर० १।३४५)

(१६६) लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य (७।४।४)
लोपः पिबतेरीचाभ्यासस्य (क्षीर० १।६५७)

(१६७) नीग्वञ्चु स्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् (७।४।८४)
नीग्वन्चुसन्सुध्वन्सुभ्रन्सुकसपतपदस्कन्दाम् (क्षीर० १।६०१)

[अष्टमाध्याय]

(१६८) पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः (८।१।६७)
पूजनात् पूजितमनुदात्तम् (स्व० सि० च०; प्रदीप; सुबोधिनी; शब्देन्दु०)

(१६९) विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् (८।१।७४)
विभाषितं विशेषवचने (स्व० सि० च०)

(१७०) आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती (८।२।१२)
आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवद्द्रुमण्वच्चर्मण्वती (उद्द्योत)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७१) कृपो रो लः (८।२।१८)
कृपे रोलः (तत्त्व०; प्रौढ०; क्षीर० १।५०८)

(१७२) दादेर्धातो र्घः (८।२।३२)
दादेर्घः (क्षीर० १।७।१८)

(१७३) ल्वादिभ्यः (८।२।४४)
ल्वादिभ्यश्च (क्षीर० ९।१२)

(१७४) वसु स्रंसु ध्वंस्वनडुहां दः (८।२।७२)
वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहो दः (क्षीर० १।५०१)

(१७५) न भकुर्छुराम् (८।२।७९)
न भकुरुच्छुराम् (क्षीर० ६।७७)

(१७६) नपरे नः (८।३।२७)
नपरे न (न्यास)

(१७७) सदिरप्रतेः (८।३।६६)
सदेरप्रतेः (क्षीर० १।५९४)

(१७८) अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः (८।३।६८)
अवादौर्जित्यालम्बनाविदूर्येषु (क्षीर० १।२७२; इदं चान्द्रं सूत्रं ६।४।५३ अपि स्यात्)

(१७९) प्रष्ठोऽग्रगामिनि (८।३।९२)
प्रष्ठोऽग्रगामिणि (न्यास ४।१।४८ सम्पादकीया टिप्पणी द्र०)

(१८०) अम्बाम्बगोभूमिसव्याप............(८।३।९७)
अम्बाम्बगोभूमिसव्येऽप............(सि०कौ०मोतीलाल बनारसीदास संस्क०)

(१८१) सदिष्वञ्जोः परस्य लिटि (८।३।११८)
सदेः परस्य लिटि (भा०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१८२) प्रनिरन्तः शरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिर............(८।४।५)
प्रतिरन्त......................कार्श्य............(तत्त्व)

(१८३) वमोर्वा (८.४।२३)
वृमोर्वा (क्षीर० २।२)

(१८४, उपसर्गाद् बहुलम् (८।४।२८)
उपसर्गादनोत्परः (भा०)

(१८५) वा निसनिक्षनिन्दाम् (८।४।३३)
वा निक्षनिसनिन्दाम् (क्षीर० १।४३९)

—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुस्त्रिंश परिच्छेद

'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्रस्थ छन्दः शब्द का अर्थ

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) सूत्र में छन्दः पद का अभिप्राय क्या है—यह यहाँ विचारित हो रहा है। एक ही शब्द ईषत् अर्थभेद में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त हुआ है,[१] अतः 'छन्दः का अर्थ वेद है' ऐसा कहने पर भी यह संशय रह ही जाता है कि क्या सभी छन्दःपदघटित सूत्रों में छन्दः का अर्थ वेद (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक) है या किसी सूत्र में छदोः के तात्पर्य का कुछ संकोच या विस्तार किया गया है।[२] वेद से असंबद्ध-'इच्छा'-वाची छन्दःशब्द के साथ इस लेख का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह पहले ही ज्ञातव्य है (द्र० ४।४।९३)।

व्याख्याकारों के मत—इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में पूर्वाचार्यों ने छन्दः का अभिप्राय व्यक्त किया है। कैयट कहते हैं कि यहाँ छन्दः पद से गो-वलीवर्द-न्याय के बलपर मन्त्र रूप अर्थ का ग्रहण किया जाएगा—गोबलीवर्दन्यायेन छन्दःपदेन मन्त्राणां ग्रहणमिति (प्रदीप १।३।१०)।[३] पूर्वाचार्य कहते हैं कि

१—वैदिक 'चरण' शब्द अष्टाध्यायी में एकाधिक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। किन्हीं सूत्रों में चरण का अर्थ वेदशाखा है और किन्हीं में 'वेदशाखाध्येता' है (द्र० २।४।३, ४।१।६३, ६।३।८६ सूत्रों की व्याख्याएं)। इसी प्रकार 'ऋक्' शब्द 'ऋचि तु ———' (६।३।१३३) सूत्र में ऋग्वेद का वाचक है (द्र०शब्देन्दु०), पर 'टाबृचि' (४।१।९) में मन्त्रविशेष-रूप अर्थ ही ग्राह्य होगा; यजुष्युरः (६।१।११७) में यजुः का अर्थ पादहीन यजुर्मन्त्र है, पर 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७।४।३८) में यजुः यजुर्वेद का वाचक है (वेद = मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय है)।

२—अर्थ का संकोच-विस्तार सर्वत्र दृष्ट होता है। वायु० ५९।३१ में श्रुति की परिधि दिखाने के समय 'ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि च श्रुतिः' कहा गया है। यहाँ वेदाङ्गों की गणना भी श्रुति में की गई है। पुराणस्थ श्लोक को भी 'मन्त्र' कहा गया है।

३—वासुदेव कहते हैं–छन्दांसि मन्त्राः, ब्राह्मणानि विधिवाक्यानि (बाल०)। विशेषवाचकपदसन्निधाने सामान्यवाचक शब्दानां तद्विशेषातिरिक्तपरत्वमिति न्यायाश्रयणेनात्र छन्दःपदं ब्राह्मणातिरिक्त-परत्वेन मन्त्रपरमेव (रघुनाथशास्त्रिकृत टिप्पणी)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दः का मूल अर्थ वेदहै, पर ब्राह्मण पद के पृथक् प्रयोग से छन्दः पद केवल मन्त्र का वाचक होगा। पूर्वाचार्य यह भी कहते हैं कि गायत्र्यादि-छन्दोयुक्त मन्त्रों का ही (न कि गीतिरूप साममन्त्र और पादहीन गद्यरूप यजुर्मन्त्र) ग्रहण इस सूत्र में इष्ट है; मन्त्र के ग्रहण में तद्विलक्षण ब्राह्मण का ग्रहण नहीं होता, अतः ब्राह्मण के ग्रहण के लिये पृथक् रूप से ब्राह्मण शब्द भी सूत्र में पढ़ा गया है—छन्दःपदेन गायत्र्यादिछन्दोयुत-मन्त्राणामेव ग्रहणमिति ब्राह्मणग्रहणम् (शब्देन्दु० ४।२।६६)।[1]

इस सूत्र का 'छन्दः' पद वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि छन्दः के स्वरूप पर निर्भर कर गूढ़ नियम का ज्ञापन करने की चेष्टा पूर्वाचार्यों ने की है यथा—छन्दः यदि वेदवाची हो तो छन्दःपद से ब्राह्मण का भी ग्रहण हो जाएगा, अतः ब्राह्मण का पृथक् उपादान व्यर्थ होगा और व्यर्थ होकर वह किसी न किसी सूक्ष्म अर्थ को ज्ञापित करेगा, जैसा कि भट्टोजि ने कहा है—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मण-ग्रहणं तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन पुराणप्रोक्तानामेव तद्विषयता (प्रौढमनो० ४।२।६६)।[2] अब यदि यह सिद्ध हो जाए कि इस सूत्र में छन्दः पद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदवाची नहीं है, तो ब्राह्मण पद का पृथक् ग्रहण सार्थक होगा, सुतरां यह 'ज्ञापक' भी असिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार यह निश्चित है कि छन्दः पद के विवक्षित अर्थ को जानना आवश्यक है।

प्रस्तुत निबन्ध में यह दिखाया जाएगा कि छन्दः का कैयटादि-दर्शित अर्थ असमीचीन है तथा इस सूत्र में छन्दः में ब्राह्मण का अन्तर्भाव नहीं होता (अन्य सूत्रों में होता है)। इस सूत्र के विचार से यह भी स्पष्ट होगा कि वैदिक ग्रन्थों के नामकरण का यथावत् ज्ञान भी आधुनिक विद्वानों में कुछ अंश तक विपर्यस्त हो गया है।

१—छन्दःपदेन गायत्र्यादिछन्दोयुतमन्त्रवती संहितैव गृह्यते (बृहच्-शब्देन्दु)। वस्तुतो गायत्र्यादिछन्दोबद्धेषु मन्त्रेष्वेव छन्दस्त्वमिति बोधयितुं तत्र ब्राह्मणग्रहणम्। (उद्द्योत)।

२—ज्ञानेन्द भी यही कहते हैं—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मणग्रहणं चिरन्तन-प्रोक्त-ब्राह्मणानामेव तद्विषयार्थम्। तेनेह न—याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्कानि·········याज्ञवल्क्यादयो हि पाणिन्यपेक्षया नूतना इति वृत्तिकृतां व्यवहारः (तत्त्व०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्द-पद के प्रचलित अर्थ में विप्रतिपत्ति—यह सोचना चाहिए कि इस सूत्र का प्रकरणानुसार जो अर्थ किया जाता है, उस अर्थ के स्वारस्य के अनुसार छन्दः का 'मन्त्र' रूप अर्थ घट सकता है या नहीं। सूत्र का अर्थ है—छन्दांसि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि अध्येतृवेदितृप्रत्ययं विना न प्रयोज्यानि। छन्दः का अभिप्राय यदि मन्त्र[1] हो तो प्रश्न होगा कि क्या कोई एक मन्त्र या मन्त्र-समुदाय प्रोक्तप्रत्ययान्त होता है? क्या 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि कोई एक मन्त्र या बहुमन्त्र-समुदायात्मक कोई सूक्त प्रोक्तप्रत्यय युक्त हो भी सकता है? मन्त्र या मन्त्रसमुदाय के कभी-कभी विशिष्ट नाम भी देखे जाते हैं, यथा—चमक, नमक, ज्योतिष्मती ऋक्, अघमर्षण सूक्त, त्वरितमन्त्र, पुरुषसूक्त आदि। क्या ये नाम-वाचक शब्द कभी प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं? व्याकरणग्रन्थों में या वैदिक अनुक्रमणी आदि में ऐसा कोई भी अनुशासन नहीं है जिससे ज्ञात हो सके कि मन्त्र या मन्त्रसमुदाय के नाम प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि 'छन्दःपदेन मन्त्राणां ग्रहणम्' रूप कैयटसंमत अर्थ असंगत ही है।

जब छन्दः का मन्त्र रूप अर्थ सिद्ध नहीं है तब 'गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र ही यहाँ छन्दः पद का अर्थ है'—यह विचार भी अप्रसक्त ही हुआ।

ऊपर यह भी कहा गया है कि कुछ व्याख्याकार छन्दः का अभिप्राय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद समझते हैं। वे ब्राह्मण का अभिप्राय ब्राह्मणविशेष भी समझते हैं (ब्राह्मणग्रहणं किम्? यावता छन्द एव तत्। ब्राह्मणविशेष-प्रतिपत्त्यर्थम्—काशिका); ब्राह्मणविशेष का अभिप्राय पुराणप्रोक्त ब्राह्मण (चिरन्तन ब्राह्मण) से है, अतः अपुराण ब्राह्मणों (जैसे याज्ञवल्क्यप्रोक्त, सुलभाप्रोक्त ब्राह्मण) में ४।२।६६ सूत्रीय तद्विषयता का नियम[2] नहीं लगता।

१—यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि मन्त्र के लिये छन्दः पद बहुलतया प्रयुक्त होता है; निरुक्तारम्भगत 'छन्दोभ्यः समाहृत्य' पर दुर्ग 'छन्दांसि मन्त्राः' ही कहते हैं। प्रकृत सूत्र में छन्दः का अर्थ क्या है, यह यहाँ दिखाया जा रहा है। इस विचार के साथ मन्त्रसंकलनात्मक संहिता ही वेद है या मन्त्र-ब्राह्मण वेद है—इस विचार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

२—'तद्विषयता-नियम' का अर्थ यह है—'तेन प्रोक्तम्' सूत्र द्वारा प्रत्यय हो कर जो शब्द बनेगा, उसका प्रयोग नहीं होगा, बल्कि 'उस प्रोक्त ग्रन्थ का अध्येता-वेदयिता' रूप अर्थ के ज्ञापक नूतन प्रत्यय का संयोजन कर हीप्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग किया जाएगा। यह नियम छन्दः और ब्राह्मण में लगता है (मुख्यतः) अर्थात् 'कठेन प्रोक्तम्' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय होकर जो शब्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी दृष्टि में यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि इस नियम के मूल में जो प्रोक्तप्रत्यय हैं, वे आचार्य-नाम-हेतुक ग्रन्थनामों से सम्बद्ध हैं; यही कारण है कि अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय के संयोग से 'शौनकिनः' 'तैत्तिरीयाः' 'कठाः' 'शैशिरीयाः' आदि प्रवक्तृनाम-घटित शब्द (बहुवचनान्त पद) सिद्ध होते हैं। अब विचारना चाहिए कि ग्रन्थ तो संहिता, ब्राह्मण आदि रूप ही होते हैं, 'वेद' किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है[1] ('वेद' यह शब्द आचार्यनामघटित ग्रन्थनामात्मक नहीं है—तैत्तिरीय, ऐतरेय आदि वैदिक ग्रन्थों के नामों की तरह)। यही कारण है कि 'छन्दोब्राह्मणानि—' सूत्र में छन्दः पद से वेदरूप (मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय) अर्थ नहीं लिया जा सकता। यह भी विचारणीय है कि यदि छन्दः पद से वेदरूप अर्थ लिया जाता तो 'प्रोक्तप्रत्ययान्त वेद (वेदनाम) अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्ययों के विना प्रयोज्य नहीं है', यह अर्थ होता। क्या ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-रूप चार वेद-नामों[2] में यह नियम कदापि घट सकता है ?

बनेगा, उसका प्रयोग नहीं होगा; इस प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द के बाद 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) सूत्र से जो प्रत्यय होगा, उसका संयोजन कर ही 'कठाः' (लुक् आदि होकर) यह प्रयोग होगा। जो छन्दः आदि नहीं हैं उनमें यह नियम नहीं लगता, जैसे—'पाणिनिना प्रोक्तम्' इस अर्थ में 'पाणिनीयम्' यह प्रयोग होता है। यदि विवक्षा हो तो 'तदधीते' अर्थ में प्रत्यय जोड़ा जा सकता है, जिससे 'पाणिनीयाः' यह प्रयोग निष्पन्न होता है। छन्दः आदि के क्षेत्र में 'कठेन प्रोक्तं ब्राह्मणम्' इस अर्थ में कोई परिनिष्ठित प्रयोग नहीं होगा, बल्कि 'कठेन प्रोक्तं ब्राह्मणम् अधीयते ये' इस अर्थ में 'कठाः' ही बनेगा। क्यों छन्द आदि में ही यह नियम लगता है, इतिहास-पुराणादि के क्षेत्र में यह नियम नहीं लगता—इसका ऐतिहासिक कारण है, जिस पर अन्यत्र विचार द्रष्टव्य है। भारतीय शिक्षापद्धति का इतिहास ऐसे नियमों से ज्ञात होता है।

१—'वेद' यह विद्याविशेष का नाम है—आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण आदि की तरह। 'आचार्यकृत शब्दानुपूर्वी से युक्त होना' ही ग्रन्थ का लक्षण है; 'संहिता—ब्राह्मण' ग्रन्थ के प्रकारों के नाम हैं; शौनकीयसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता आदि 'ग्रन्थव्यक्ति' के नाम हैं। तथैव 'व्याकरण' किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है—'अष्टाध्यायी' ग्रन्थविशेष का नाम है। उपचारप्रयोग की संभावना सर्वत्र रहती है—यह भी ज्ञातव्य है।

२—'ऋग्वेद' आदि वस्तुतः एक ग्रन्थसमूह के नाम हैं—संहितादि के प्रवक्तृनामानुसार नाम ही प्रकृत ग्रन्थनाम हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र में छन्दः पद से वेदरूप अर्थ नहीं लिया जा सकता है; सुतरां इस अर्थ को मानकर जो 'ज्ञापक' दिखाया गया है (काशिकादि में) वह 'असति कुड्ये न चित्रम्' न्याय का उदाहरण बन जाता है।

प्रश्न होगा कि तब 'छन्दः' पद का अभिप्राय क्या है? हमारा कहना है कि इस सूत्र में 'छन्दः' का अभिप्राय 'संहिता' (ग्रन्थरूप) है, इसी प्रकार 'ब्राह्मण' का अभिप्राय 'ब्राह्मणग्रन्थ' (ब्राह्मणविशेष) है और सूत्र का तात्पर्य संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के नामकरण से है। यह संहिता बाहुल्येन मन्त्रमयी है, क्वचिद् मन्त्र-ब्राह्मणमयी भी हो सकती है (तैत्तिरीय-काठक-मैत्र्यायणी की तरह)। सूत्रगत छन्दः का तात्पर्य संहितामात्र है—वह मन्त्रमयी हो या नहीं—इसकी कोई विवक्षा नहीं है। इस अर्थ को मान लेने पर सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—'संहिता[1] और ब्राह्मणों के जो नाम प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं, वे अवश्य ही अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय-युक्त होकर ही प्रयोगार्ह होते हैं'।

यतः यह सूत्र नामकरणविषयक,[2] है अतः छन्दः (संहिता) और ब्राह्मण का पृथक् उल्लेख करना पड़ा, क्योंकि वैदिक साहित्य संहिता-ब्राह्मण रूप में द्विधा विभक्त है। यदि 'वेद' शब्द सूत्र में रहता या वेदवाचक छन्दः शब्द ही सूत्र में रहता (छन्दांसि तद्विषयाणि या छन्दः तद्विषयम्—ऐसा सूत्र होता) तो उसका कोई अर्थ न होता, यह पहले ही दिखाया गया है।

१—संहिता का अर्थ स्पष्टतः समझना चाहिए। मन्त्रों का संहनन कर (यज्ञकार्य की दृष्टि से) जो संग्रहात्मक ग्रन्थ (यहाँ ग्रन्थ से लिखित ग्रन्थरूप अर्थ न लेकर निश्चित वाक्यानुपूर्वी रूप अर्थ लेना चाहिए) बनाया जाता है, वह संहिता है (क्वचित् कारणविशेष से मन्त्रों के साथ तत्संबद्ध ब्राह्मण भी सङ्कलित हुए हैं)। मेरे प्रकाश्यमान ग्रन्थ 'पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' (संहिता परिच्छेद) में यह विषय विस्तार के साथ विवेचित हुआ है।

२—छन्दः=छन्दोनाम, ब्राह्मण=ब्राह्मणनाम रूप अर्थ संगत है या नहीं—इस प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य है कि अनेक पाणिनिसूत्रों में ऐसा व्यवहार देखा गया है। 'नदीभिश्च' सूत्रगत 'नदी' से गङ्गा-यमुना आदि नदीनाम गृहीत होते हैं। ५।१।६२ सूत्र में ब्राह्मण शब्द है; नारायण जिसका 'ब्राह्मणनाम' रूप अर्थ कहते हैं (प्र० स०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि यहाँ छन्दः का अर्थ एक मन्त्र या मन्त्रसमुदाय रूप सूक्त या अनुवाक आदि नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा और सूक्तानुवाकादि के द्रष्टा के नाम में अध्येतृ-वेदितृप्रत्यय लगाने का कोई शास्त्रीय अनुशासन नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र या प्रथम सूक्त के द्रष्टा 'मधुछन्दाः' के नाम के साथ अध्येतृ-वेदितृप्रत्यय जोड़ने की कोई वैदिक परम्परा नहीं है। हम द्रष्टा-अर्थ में 'माधुच्छन्दसं सूक्तम्' कह सकते हैं। यहाँ तद्विषयता का नियम लगता ही नहीं है; यदि लगता तो 'माधुच्छन्दसं अधीयते ये' इस अर्थ में 'माधुच्छन्दसाः' यही प्रयोग होता (कठाः, तैत्तिरीयाः की तरह), पर ऐसा व्यवहार नहीं है।

वस्तुतः संहिता (छन्दः)-ब्राह्मण के नाम में ही तद्विषयता नियम लगता है, संहिता-ब्राह्मणान्तर्गत मन्त्र-सूक्तादि के साथ नहीं। यह स्पष्टतया देखा जाता है कि प्रोक्ताधिकार (४।३।१०१—१११) में संहिता, ब्राह्मण आदि के नाम हैं, किसी मन्त्र, मन्त्रसमुदायविशेष या अनुवाकादि के नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक परिपाटी के अनुसार संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ 'प्रोक्त' हैं; प्रत्येक मन्त्र या अनुवाक-सूक्तादि के लिये 'प्रोक्त' व्यवहार नहीं होता, उनमें 'दृष्ट' शब्द का व्यवहार होता है ('दृष्ट' के तात्पर्य पर यहां कुछ कहना नहीं है)। पूर्वसिद्ध मन्त्रों का (क्वचित् मन्त्र-ब्राह्मण का) संहनन कर जो ग्रन्थ प्रणीत होता था वह तात्कालिक रीति के अनुसार 'प्रोक्त' कहलाता था; संहननकर्ता (=प्रवक्ता) के नाम से उस कृति का नाम पड़ता था। पर यह प्रवक्ता प्रत्येक मन्त्र का प्रवक्ता नहीं माना जाता था। शिशिरप्रोक्त संहिता =शैशिरीया (ऋग्वेदीया) है, पर संहितान्तर्गत प्रत्येक मन्त्र के प्रवक्ता के रूप में शिशिर को नहीं माना जाता है; सूक्त-मन्त्र के 'द्रष्टा' के रूप में अन्य ऋषियों के नाम दिए गए हैं। पूर्वसिद्ध मन्त्रों और ब्राह्मणों का यथाकार्य संकलन कर सज्जीकरण करना और उनका व्यवस्थित अध्यापन करना—ये प्रवक्ता के कार्य हैं। इन संकलन-सज्जीकरण-अध्यापनकर्मों में भेद के अनुसार संहिता-ब्राह्मणग्रन्थ आचार्य-प्रवचनानुरूप भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः प्रवक्ता आचार्य के नाम के अनुसार इन ग्रन्थों का नामकरण स्वभावतः होता था।

सूत्रगत बहुवचन और 'च'कार का तात्पर्य—४।२।६६ सूत्रोक्त 'बहुवचन' (छन्दोब्राह्मणानि) और 'च-कार' का सार्थक्य विचार्य है। हम समझते हैं कि बहुवचन के कारण यहाँ छन्दः में 'अर्थ-ग्रहण' होगा; छन्दांसि =संहिताविशेषाः कहना होगा, जिससे शौनकिनः, तैत्तिरीयाः आदि पद निष्पन्न होंगे। 'कठाः'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि तद्धितप्रत्ययान्त शब्द नित्यबहुवचनान्त ही होंगे—इसके ज्ञापन के लिये यह बहुवचन है—ऐसा कहना संगत है या नहीं—यह विचार्य है। संहिता-ब्राह्मण में प्रोक्तप्रत्यय के साथ बहुवचनान्तता का नित्ययोग संभवतः तात्कालिक वेदाध्ययन-परिपाटी को ही ज्ञापित करता है।

इस सूत्र में जो 'च' है, उसके विषय में व्याख्याकार कहते हैं कि वह अनुक्त-समुच्चयार्थक है,[1] अर्थात् संहिता-ब्राह्मण से पृथक् कल्पसूत्र आदि कुछ अभीष्ट नामों पर भी अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय-प्रयोग का नियमन (तद्विषयतानियम) प्रयोज्य हो—इसलिये च-कार का प्रयोग सूत्रकार ने किया है। तदनुसार कल्प में काश्यपिनः, कौशिकिनः, भिक्षुसूत्र में पाराशरिणः, कार्मन्दिनः और नटसूत्र में शैलालिनः, कृशाश्विनः (प्रोक्तप्रत्यय के बाद अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय जोड़कर बहुवचनान्त पद का प्रयोग) प्रयोग निष्पन्न होंगे।

कल्प का तात्पर्य—व्याख्याकारों ने कल्प आदि के ग्रहण के विषय में यह भी कहा है कि सभी कल्प गृहीत नहीं होंगे—छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति अध्येतृ-प्रत्ययान्तत्वनियमस्तु कल्पेषु न सर्वत्र प्रवर्तते इति छन्दोब्राह्मणानीति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् (बाल० ४।३।१०५)। तथैव पुरुषोत्तम कहते हैं—केचन पुराण-प्रोक्ताः कल्पाः सूत्राणि च तद्विषयाणि अध्येतृ-वेदितृप्रत्ययविषयाणि स्युः (भाषावृत्ति)।

कौन कल्प गृहीत होंगे, कौन नहीं—इसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि पुराणप्रोक्त कल्प पर तद्-विषयता-नियम लागू होगा। यह पुराणकल्प कौन है, पुराण और अपुराण कल्प की सीमारेखा क्या है—यह एक महत्त्वपूर्ण अवश्यविचार्य विषय है। इस विषय में संभवतः सबसे पहले पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी ने ही विचार किया है[2] कि कृष्णद्वैपायन से पूर्व काल में प्रोक्त कल्प

१—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन काश्यपिनः कौशिकिनः इत्यत्र कल्पेऽपि तद्विषयत्वं सिद्धम् (तत्त्व०)।

२—पाणिनि निर्दिष्ट पुराणप्रोक्त और अर्वाक्प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों की सीमा का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विचार में वह सीमा है कृष्ण द्वैपायन का शाखा प्रवचन; अर्थात् कृष्णद्वैपायन के शाखाप्रवचन से पूर्व प्रोक्त पुराण और उसके शिष्यप्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त अर्वाचीन है। इसकी पुष्टि काशिकाकार के याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता (४।३।२०५) वचन से भी होती है (सं० व्या० शा० इ० भा० १ पृष्ठ २३८)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराणकल्प और पुराणब्राह्मण है। इस विषय में यह भी विचार्य है कि प्रचलित सभी कल्प-ब्राह्मण से पूर्व कुछ पृथक् प्रकार के कल्प-ब्राह्मण 'पुराण' माने जाते थे या नहीं। वेदाङ्ग से पृथक् भी एक कल्पवाङ्मय था। उसी प्रकार वैसा भी ब्राह्मण था जिसमें प्रचलित ब्राह्मणगत अर्थवाद नहीं थे। इस प्रकार के कुछ विलक्षण प्रकार के कल्प-ब्राह्मण (जो आज स्वतन्त्ररूपेण प्रचलित नहीं हैं, जो प्रचलित कल्पब्राह्मणकारों द्वारा कुछ अंशों में गृहीत हो गए हैं)—'पुराण' कल्प-ब्राह्मण हो सकते हैं। यह भी चिन्तनीय है कि संहिता का ऐसा विभाग क्यों नहीं हुआ। क्या संहिताप्रणयन में कालभेदानुसार पृथक् रीति का आश्रयण नहीं किया गया? इस विषय पर विशद विचार किसी लेखान्तर में किया जाएगा।

तद्विषयतानियम के अज्ञानहेतुक अपप्रयोग—तद्विषयतानियम के अज्ञान के कारण कभी-कभी असाधु प्रयोग भी किए गए हैं, जिन पर आलोचना करना आवश्यक है। जब यह निश्चित है कि संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम अध्येतृ-वेदितृप्रत्यययुक्त होकर ही प्रयुक्त होंगे तो 'तित्तिरिणा प्रोक्ता संहिता' इस अर्थ में हम 'तैत्तिरीया [संहिता]' का प्रयोग नहीं कर सकते हैं, पर भ्रमवश आधुनिक विद्वान् ईदृश प्रयोग करते ही हैं। वस्तुतः प्राचीन परिपाटी के अनुसार 'तैत्तिरीयाणां संहिता' ऐसा व्यस्त प्रयोग होगा और समस्त प्रयोग यदि हो तो इस विग्रह में ही 'तैत्तिरीय-संहिता' शब्द प्रयुक्त होगा, न कि कर्मधारय समास में ('तैत्तिरीया' को संहिता का विशेषण मानकर) 'तैत्तिरीय संहिता' (पुंवद्भाव होकर) शब्द का प्रयोग साधु होगा। अतः 'तैत्तिरीय' शब्द को संहिता का विशेषण बनाकर 'तैत्तिरीया संहिता' ऐसा प्रयोग (जो आजकल प्रायः देखा जा रहा है) नहीं करना चाहिए; उसी प्रकार 'तैत्तिरीयं ब्राह्मणम्' ऐसा भी नहीं लिखना चाहिए। तैत्तिरीयाणां ब्राह्मणम्' या इस विग्रह में समास कर 'तैत्तिरीय-ब्राह्मणम्' ऐसा प्रयोग करना चाहिए।[1]

सूत्राभिप्राय—यह स्पष्टतया जानना चाहिए कि 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र का अभिप्राय संहिता आदि के ही नामकरण से सबद्ध है, न कि वेदनामों से। ऋक्,

१—शंकरादि प्राचीन आचार्य इस विषय में अवहित थे; यही कारण है कि वे 'काठकानां संहितायां श्रूयते' (शारीरक ३।४।३१) ऐसा षष्ठ्यन्त पद लिखते हैं। श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि (विष्णुसहस्रनाम-भाष्य), तैत्तिरीयाणा माम्नायः इत्यादि वाक्य इसी दृष्टि से कहे गए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यजुः, साम, अर्थर्वा[1] रूप चार नाम या अनुवाक, कण्डिका आदि के नामों के साथ इस सूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है; यही कारण है कि 'आथर्वण' वेद या 'वासिष्ठ' अनुवाक आदि में तद्विषयता-नियम नहीं लगता और प्रोक्तप्रत्ययान्त प्रयोग उपपन्न होते हैं। इस हेतु से ही 'वासिष्ठ', 'आथर्वण' आदि प्रयोग महाभाष्यादि में मिलते हैं। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि तद्विषयता का नियम यहाँ इसलिये नहीं लगता क्योंकि यह नियम वैकल्पिक है[2] (जैसा कि भ्रमवश नागेश समझते हैं), बल्कि यह नियम यहाँ प्राप्त ही नहीं है (संहिता आदि न होने के कारण)।

इस सूत्र में जो 'ब्राह्मण' शब्द है, उसके विषय में एक विशिष्ट विचार किया गया है कि चिरन्तन प्रोक्त ब्राह्मण में ही तद्विषयता का नियम प्रवर्तित होगा, अपुराण ब्राह्मणों में यह नियम लागू नहीं होगा; यथा—'याज्ञवल्क्यद्वारा प्रोक्त ब्राह्मण' इस अर्थ में प्रोक्तप्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त होगा—'याज्ञवल्क्यानि' (ब्राह्मणानि); न कि यहाँ 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि ये अधीयते ते' इस अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होगा।

ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण-विशेष कैसे हुआ—इस पर कैयट कहते हैं कि छन्दोग्रहणेनैव तु ब्राह्मणग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेष-प्रतिपत्त्यर्थं पुनर्ब्राह्मणग्रहणम् तेन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीति तद्विषयता न भवति (प्रदीप १।३।१०)।

१—अथर्व-शब्द पर कई बातें ज्ञातव्य हैं। मुख्यतः यह शब्द (ऋषिनाम) पुंलिङ्ग है, अतः 'अथर्वा' यह प्रथमान्त पद होगा। 'वेद चार हैं, ऋग् यजुः साम और अथर्व' ऐसा हिन्दीभाषी लिखते रहते हैं, 'अथर्वा' लिखना चाहिए। 'वेदो हि अथर्वा' ऐसा संस्कृत के विद्वान् लिखते हैं। समास में 'अथर्ववेद' होगा—'अथर्ववेदे संप्रोक्तं कर्म चैवाभिचारिकम्'; नान्त अथर्वन्-शब्द एकदेशि-मत में नपुंसकलिङ्ग माना गया है, अतः 'अथर्व' प्रयोग भी होगा; पुराणों में 'अथर्व च' प्रयोग भी है। इन प्रयोगों में अथर्व-रूप ऋषिनाम के बाद प्रोक्तप्रत्यय नहीं जुड़ा गया है। प्रत्यय लगने पर 'आथर्वण' होगा, क्वचित् मतान्तर में 'अथर्वण' भी।

२—वसन्तादिभ्यः ४।२।६३। अथर्वाणमिति। अथर्वणा प्रोक्तमित्यर्थः। तेन प्रोक्तमिति प्रकृत्य ऋषिभ्यो लुग् वक्तव्यः, वसिष्ठोऽनुवाकः अथर्वणो वा, अथर्वा आथर्वण इति रैवतिकादिभ्यः छ इति सूत्रभाष्योक्तेः साधुः। अस्मादेव भाष्यप्रयोगात् तद्विषयता वैकल्पिकीति बोध्यम् (बृहच् शब्देन्दु० पृ० १३११)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानेन्द्र कहते हैं—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मणग्रहणं चिरन्तन-प्रोक्तब्राह्मणानामेव तद्विषयार्थम् (तत्त्व०) ।

हमारी दृष्टि में यह व्याख्या काल्पनिक है, क्योंकि इस सूत्र में छन्दः में (संहिता में) ब्राह्मण का अन्तर्भाव नहीं होता । पुराणों में संहिता और ब्राह्मणों के प्रवक्ताओं में भी भेद माना गया है, अतः अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता । इस सूत्र में छन्दः शब्द वेदवाची नहीं है, अतः ब्राह्मण से ब्राह्मण-विशेष का अर्थ कैसे लिया जाएगा—इसके उत्तर में हमारा वक्तव्य है कि ब्राह्मण शब्द में जो बहुवचन है, उससे ही अर्थ का नियमन होगा और ब्राह्मण से ब्राह्मणविशेष (=चिरन्तन ब्राह्मण) का ही ग्रहण होगा। यह दिखाया गया है कि बहुवचन से ईदृश अर्थनियमन पाणिनिसूत्रों में बहुत्र किया गया है । इस सूत्र में बहुवचन का इससे अतिरिक्त अन्य अर्थ हो भी नहीं सकता । 'अविशेषविहिताः शब्दा विशेषविहिता दृश्यन्ते' यह न्याय व्याकरण में स्वीकृत होता है, अतः ब्राह्मण से कहीं (लक्ष्यानुसार) यदि 'पुराणब्राह्मण' ही गृहीत हो तो यह स्वाभाविक बात है, इसके लिये गोबलीवर्द-न्याय का आश्रय करना एकान्तरूप से आवश्यक नहीं है ।

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चत्रिंश परिच्छेद

एक लुप्त भ्राज श्लोक

पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रसङ्ग में एक श्लोक का उद्धरण दिया है, जो इस प्रकार है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

भाष्य में कहा गया है कि यह 'भ्राज' श्लोक है (क्व पुनरिदं पठितम् ? भ्राजा नाम श्लोकाः—पस्पशाह्निक)। कैयट और हरदत्त दोनों ही मानते हैं कि भ्राजश्लोकों का रचयिता वैयाकरण कात्यायन है (द्र० सं० व्या० शा० इ० भाग १, पृ० २९४–२९५)।

व्याकरणसम्बन्धी साहित्य में इन श्लोकों का प्रमुख स्थान है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भ्राज-संज्ञक श्लोक अब लुप्त हो चुके हैं और इस प्रकार का अन्य कोई श्लोक प्रचलित नहीं है।

अपने अध्ययनकाल में मुझे एक दूसरा भ्राज-श्लोक मिला है जो 'प्रत्ययः' (३।१।१) सूत्रीय भाष्य की प्रदीपटीका में विद्यमान है। वह इस प्रकार है—

अर्थविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्यः समानशब्दो यः ।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्याच् छ्लाघादि विशेषणं यद्वत् ॥

वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में (२।२।६० पृ० ४७६ चौखम्बा संस्करण) कात्यायन को इसका रचयिता माना है—तथा च भगवान् कात्यायनः—'तदन्तवाच्यः समानशब्दोऽयम्'।[1] यहाँ विशेषण 'भगवान्' यह सिद्ध करता है कि कात्यायन एक विख्यात विद्वान् थे और यही

१—यहाँ पाठभेद द्रष्टव्य है (यः के स्थान में अयम्)। तात्पर्य टीका में इस श्लोक का पूरा तात्पर्य व्याख्यात हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषण पतञ्जलि के उस सङ्केत को उचित सिद्ध करता है कि 'भ्राजश्लोक 'अप्रमत्तगीत' है ।[1]

हम समझते हैं कि इस श्लोक का रचयिता कात्यायन और भ्राजप्रणेता कात्यायन अभिन्न हैं। चूंकि नैयायिक-सम्प्रदाय में कोई नैयायिक कात्यायन नहीं है, इसलिये इस श्लोक का सम्बन्ध संगत रूप से ही वैयाकरण कात्यायन के साथ जोड़ा जा सकता है, जो भ्राज श्लोकों का रचयिता है। यह भी द्रष्टव्य है कि यहाँ 'उपाधि' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में किया गया है जिस अर्थ से वैयाकरण नैयायिकों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं। इस श्लोक का 'श्लाघादि' शब्द प्रत्यक्षतः पाणिनि के सूत्र 'गोत्रचरणाच् श्लाघात्याकारतदवेतेषु' (५।१।१४८) की ओर संकेत करता है, इसलिये इसके रचयिता को पाणिनि-सम्प्रदाय के आचार्यों के बीच में स्थान प्रदान करना होगा, अतः दोनों कात्यायनों की एकता बहुत दूर तक सिद्ध हो जाती है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य सिद्ध हुआ तो यह भी कहा जा सकता है कि उन पाणिनिमतव्याख्यानपरक श्लोकों में से कुछ श्लोक भ्राज श्लोकों के प्रणेता द्वारा प्रणीत हुए हैं, जिन्हें (रचयिता के नामोल्लेख के विना) कैयट ने प्रदीप में यत्र-तत्र उद्धृत किया है।[2]

यह 'अर्थविशेष उपाधिः' वचन अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है; यही कारण है कि हेलाराज ने वाक्यपदीय ३।८।३ की व्याख्या में इसको उद्धृत किया है ('तथा चोक्तम्' कहकर)।

कैयट ने इस श्लोक को ५।१।६६ प्रदीप में भी उद्धृत किया है ('उपाधिविशेषण-शब्दयोश्च क्वचित् पर्यायत्वं क्रियाभावशब्दयोरिव, क्वचित्तु भेदेन व्यवहारः, तदुक्तम्'—कहकर)।

उपर्युक्त श्लोक में जो 'तदन्तवाच्यः' पद है, उसका अर्थ है—प्रत्ययान्त-शब्दवाच्यः। समानशब्दः=समानाधिकरणशब्दः, यथा 'हृतिहरिः पशुः इति,

१—'भ्राज'-संज्ञक श्लोक की प्रसिद्धि के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी की वृत्ति में कात्यायन को 'स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नां च कारकः' (वृत्तिभूमिका) कहा गया है। मुद्रित पाठ 'भ्राजमानां' है, जो भ्रष्ट है (भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ६७)।

२—६।१।८४ प्रदीप में 'सूत्रद्वयप्रमाणत्वात्..........' श्लोक उद्धृत हुआ है। इस प्रकार के श्लोक भ्राजश्लोक कहला सकते हैं या नहीं, यह अभी विचार्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तुः प्रत्ययेनाभिधानात् पशोरुपाधित्वम् । अतोऽन्यः प्रत्ययवाच्यः व्यधिकरणश्च । यथा गार्गिकया श्लाघते इति श्लाघा (उद्द्योत)। तात्पर्य यह है कि 'दृतिहरिः पशुः' ('हरते र्दृतिनाथयोः पशौ' सूत्र का उदाहरण) में समानाधिकरण पशुरूप अर्थ 'दृतिहरि' शब्द से उक्त होता है (इन् प्रत्ययान्त दृतिहरि पद से पशु उक्त होता है), अतः 'पशु' उपाधि है; गार्गिका शब्द (गार्गिकया श्लाघते-वाक्य) में जो वुञ् प्रत्यय है (गोत्रचरणात्...सूत्रविहित) वह श्लाघा को कहता नहीं है, क्योंकि श्लाघा के विषयभूत होने पर वुञ् का विधान किया जाता है। वुञ् प्रत्ययान्त गार्गिकापद से श्लाघा उक्त नहीं होती है, अतः सूत्रोक्त श्लाघा उपाधि नहीं है, बल्कि विशेषण है। ५।१।१३४ सूत्रोक्त श्लाघादि 'विषयभूत' है—यह काशिका में भी कहा गया है। वस्तुतः सूत्रविहित वुञ् भाव और कर्म में ही होता है; गार्गिका = गर्गगोत्रीय भाव और कर्म।

प्रतीत होता है कि विशेषण के रूप में श्लाघादि का उपन्यास करना पाणिनीय सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रसिद्ध था और यही कारण है कि भ्राज श्लोक में भी श्लाघादि शब्द ही उल्लिखित हुआ है। कैयट १।३।२ की व्याख्या में भी उपाधि-विशेषण के प्रसङ्ग में 'गार्गिकया श्लाघते' को उदाहृत करते हैं— उपाधिविशेषणयोश्च वाच्यत्वावाच्यत्वाभ्यां विशेषः; तथाहि—दृतिहरिरिति प्रत्ययेन पशुः कर्ताभिधीयते इति पशुरुपाधिः। गार्गिकया श्लाघते इति श्लाघा वुञा नाभिधीयते इति विशेषणमुच्यते (प्रदीप)।

कभी-कभी उपाधि और विशेषण का पर्याय की तरह व्यवहार होता है (उपाधिश्चेह तुल्यन्यायत्वाद् विशेषणमप्युच्यते—प्रदीप ३।१।१)। अन्यत्र नागेश ने कहा है—विशेषणमात्रमत्रोपाधिशब्देन नत्वर्थविशेष उपाधिरिति लक्षितः (उद्द्योत ७।२।१५)। बृहच्छब्देन्दु गत 'विषयो देशे' सूत्र की व्याख्या में यह विचार और भी स्पष्ट है, यथा—देशोऽत्र प्रत्ययोपाधिः, प्रकृतिप्रत्यय-समुदायशक्य इति यावत्। क्वचिद् देशपदप्रयोगस्तु नानार्थत्वात् सन्देहवारणाय। प्रयोगोपाधिस्तु न शक्यः इति ततो विशेषः (अयमेव विशेषणमुच्यते—यह अधिक पाठ क्वचित् है)। यथा गार्गिकया श्लाघते इत्यादौ श्लाघादयः। ते हि पदान्तरसमभिव्याहारेण गम्यन्ते, न तु तत्पदजन्यबोधविषयाः। यथा वा 'शास्त्रे नयते' इत्यत्र शास्त्रस्थसिद्धान्त-प्रापणफलत्वेन शिष्यसम्माननं मानस-बोधविषयो न शाब्दबोधविषय इति। एवं जातीयकमेत्र विशेषणमित्युच्यते। स्पष्टं चेदं प्रत्यय इति सूत्रे उपदेशेऽजनुनासिक इति सूत्रे च कैयटे (पृ० १३०७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षट्त्रिंश परिच्छेद

वाक्यपदीय का एक सांशयिक श्लोक

कीलहर्न (Kielhorn) महोदय वैयाकरण समाज में सुपरिचित हैं। उन्होंने महाभाष्य का जो सुसंस्कृत सम्पादन किया है[1] वह चिरकाल तक गुणग्राही अध्येताओं का भूषण रहेगा। भारतीयों ने इससे अच्छा संस्करण अभी तक नहीं निकाला।

यहाँ एक ऐसा स्थल उपस्थित किया जा रहा है, जिससे यह सूचित होगा कि आचार्य कीलहर्न भी एकस्थल में शायद अनवेक्षणदोष में पतित हो गए थे। हम चाहते हैं कि शब्दशास्त्ररसिक विद्वान् इस स्थल पर ध्यान दें जिससे तथ्य का ज्ञान हो जाय। बात इस प्रकार है—

म०म० पाण्डुरङ्ग वामन काणेजी Hist. of Dh. में लिखते हैं—'मनु के १२।११८ श्लोक पर भाष्यकार मेधातिथि ने वाक्यप्रदीप ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है'(भाग १, पृ. २७२)। यह कहकर उन्होंने यह पादटिप्पणी दी है–'उक्तं च वाक्यप्रदीपे-न तदस्ति च तन्नाग्नि' इत्यादि; Dr. Kielhorn told Dr. Buhler that this verse is not found in the वाक्यप्रदीप of हरि (S. B. E. भाग २५, पृ. १२३, टि० १)[2] अर्थात् डा० कीलहर्न ने डा० बुहलर को कहा था कि मेधातिथि के द्वारा वाक्यप्रदीप के नाम से उद्धृत 'न तदस्ति............' इत्यादि श्लोक भर्तृहरिकृत वाक्यप्रदीप ग्रन्थ में नहीं मिलता।

१—कीलहर्नजी की दूसरी कृति है—परिभाषेन्दुशेखर का अंग्रेजी अनुवाद। इस अनुवाद (सटिप्पण) की प्रशंसा सबको करनी ही होगी। कीलहर्नजी के कुछ शब्दशास्त्रसम्बन्धी लेख हैं, जो बहुत ही उपादेय हैं। भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका की सूचना शायद इन्होंने ही सबसे पहले दी थी। कीलहर्नजी अपने को नागेशीय परम्परा के व्यक्ति कहते थे और उन्होंने यह बात परिभाषेन्दुशेखर की भूमिका में स्पष्टतः कही है।

२—Prof. Kielhorn informs me that the verse does not occur in हरि' s वाक्यपदीय, which sometimes is called वाक्यप्रदीप।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त विषय में पहले ही यह ज्ञातव्य है कि 'वाक्यप्रदीप' पाठ के स्थान पर 'वाक्यपदीय' होगा। मनुस्मृति के सुसंपादित संस्करणों में 'वाक्यपदीय' पाठ ही है। हरि या भर्तृहरि का वाक्यप्रदीप नामक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ज्ञात नहीं है।

अब उपर्युक्त श्लोक वाक्यपदीय में है या नहीं—इसपर विचार किया जा रहा है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में एक श्लोक इस प्रकार है—

न तदस्ति च तन्नास्ति न तदेकं न तत् पृथक्।
न संसृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा॥

(वाक्य प० ३।२।१२; द्रव्यसमुद्देश)। हमारा कहना है कि मेधातिथि का लक्ष्य यह श्लोक है।

इस विषय में ये युक्तियाँ हैं—

मनु के १२।११८ श्लोक में आत्मज्ञान (सर्वात्मदर्शन) का विचार है। (इससे पहले श्लोक में मनुकर्तृक शास्त्रप्रवचन की बात कही गई है)। कुल्लूक कहते हैं—'आत्मज्ञानं प्रकृष्टमोक्षोपकारकतया पृथक्कृत्याह सर्वमिति' (१२।११८ श्लोकटीका की पातनिका)। यह अन्य टीकाकारों का भी सम्मत है। यहाँ जो 'संपश्येत्' क्रिया है, उसके विषय में मेधातिथि कहते हैं—'अतः संपश्येदिति ज्ञेयान्तरविषयज्ञाननिराकरणेन तदेकज्ञेयनिष्ठाम् अनुब्रूयात्'; अतः जो अद्वैतात्मक एकमेव ज्ञेय विषय है, तत्सम्बन्धी विषय ही इस श्लोक का प्रतिपाद्य है।

श्लोक में जो 'आत्मन्' शब्द है, उसका विवक्षित अर्थ 'परमात्मा' है, यह मेधातिथि ने बहुत विचार कर दिखाया है (शरीरात्मा आदि अन्य अर्थ यहाँ अप्रयोज्य हैं)। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस श्लोक के मेधातिथिभाष्य में उद्धृत श्लोक परमात्मविषयक या परमब्रह्मविषयक या अद्वैतवस्तुविषयक होगा।

अब यदि हम वाक्यपदीय के ३।२।१२ श्लोक को देखें तो प्रतीत होगा कि मेधातिथि ने जिस प्रसङ्ग में वाक्यपदीय श्लोक का उद्धरण दिया है, उस प्रसङ्ग में यह श्लोक ठीक बैठता है। वाक्यपदीय-टीकाकार हेलाराज 'न तदस्ति' श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—...'वैकारिकसर्वव्यवहारातीतत्वात् परमार्थिकेन रूपेण विकारात्मकं तत्त्वं न भवति। तथाहि-अस्तीति न शक्यते व्यवहर्तुम्, सत्त्वोपाधिकस्य स्वरूपस्य तत्त्वस्वरूपायोगात् तेनात्मना व्यवहारानवतारात्। नापि नास्तीति अभावोपाधिकस्यापि अतथात्वात्। प्रमाणेन भावात्मकस्य तत्त्वस्य अचोदितत्वात्। एकसंख्योपाधीयमानस्वरूपविशेषं तत्त्वं न भवति, निरूपाधिनः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वस्य वस्तुतःअभिन्नत्वात् तथा च एकमित्यप्रतीतेः। नापि पृथक्त्वाहितविशेषं तद्भिन्नस्य असत्वात्। नापि संसर्गोपाधिकं विभागोपाधिकं वा। ततो द्वितीयस्य प्रमाणेन अनुपपत्तेः, कुतः अभिन्नं विभक्तं च केन वा संसृष्टं स्यात्। परिणाम-निषेधेन विवर्ताभ्युपगमात् न विकृतम्। अनेकभावग्रामरूपतया चाद्भुतया वृत्त्या विवर्तनाद् अविकृतमित्यपि न शक्यते व्यवहर्तुं मिति सर्वव्यपदेशातीतं परं ब्रह्म"।

इस व्याख्या से सूचित होता है कि वाक्यपदीय का 'न तदस्ति..........' (३।२।१२) श्लोक को ही मेधातिथि ने मनुभाष्य (१२।१८) में उद्धृत किया है।

'नास्ति' के स्थान पर 'नाम्नि'[1] पाठ हो जाना बहुत साधारण बात है; जो लोग ग्रन्थसम्पादन करते हैं, वे जानते हैं कि ऐसा भ्रम हो ही जाता है।

इतना होने पर भी हम यह कहना चाहते हैं कि कीलहर्नसदृश विद्वान् में ऐसे अनवेक्षण दोष का होना एक आश्चर्य की बात है। क्या कीलहर्न के पास कोई अन्य संस्करण था या किसी ऐसे हस्तलेख के आधार पर उन्होंने अपना निर्णय दिया था, जिसमें यह श्लोक नहीं था? मेधातिथि ने पूरे श्लोक का उद्धरण नहीं दिया, अतः हम अधिक विचार भी नहीं कर सकते। मेधातिथि ने 'न तदस्ति च तन्नाम्नि' इतना ही अंश उद्धृत किया है। वाक्यपदीय में ऐसा अन्य श्लोक नहीं मिल रहा है, अतः अन्तिम निर्णय विद्वानों पर छोड़कर लेख की समाप्ति कर रहा हूँ।

इति महावैयाकरण-श्रीरघुनाथशर्मान्तेवासिना गार्ग्येण तैत्तिरीयेण
रामशंकरभट्टाचार्येण विरचितः 'पाणिनीयव्याकरण का
अनुशीलन'-नामा ग्रन्थः समाप्तः॥

—❀—

१—मेधातिथिभाष्य के सभी संस्करणों में 'तन्नाम्नि' पाठ ही है, यह आश्चर्य का विषय है। मानवधर्मशास्त्र में कृतभूरिपरिश्रम डा० गङ्गानाथ झा महोदय भी यही पाठ स्वीकार करते हैं जो कि उनके द्वारा कृत अनुवाद (There is nothing in name..........) से ज्ञात होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमुखशब्द-सूत्र-वाक्यादि की सूची

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1582

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1582

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.